रण, १९८३

६·००]

* श्रीहरिः *

प्रथम-संस्करणस्य प्राक्कथनम्

यद्यपि वाग्देवतावतारेण श्रीमम्मटाचार्येण काव्यस्य यशः प्राप्त्यादीनि प्रयोजनानि प्रतिपादितानि, तथापि श्रवण-समनन्तरमेवानन्दाधिगमस्यैव मुख्य-प्रयोजनत्वमुरीकृतम्। "काव्येषु नाटकं रम्यम्" इत्यभियुक्तोक्त्या सरसतया, सरलतया प्राञ्जलतया च नाटकानां विशिष्टं स्थानं विद्यते। कवि-कुल-गुरोः कालिदासस्य कलाकोविदत्त्वन्तु रसभावानुभूति-चणानां प्रतीतमेवेति नास्ति संशय-दोलावलम्बावसरः। परं महाकवेर्भवभूतेरपि विशेषतयोत्तररामचरिते भगवती सरस्वती प्रतिपदं रसमुद्गिरन्तीव परिलक्ष्यत एव। नाटकस्य रस-प्रवणत्वे सहृदयानां हृदयानि नितरामुत्फुल्लानि सन्ति। यत्सत्यं वशगेव तत्रभवती हंसवाहिनी वीणा-निक्वाणन-परिलसितामन्दानन्द-संदोह-समुद्रेकं कुर्वाणा कां कामसीम-रस-धारां सचेतसां चेतसि न प्रवाहयति ? कत्रयितुरस्य रस-प्रतिपादनचातुरी सर्वेषां विद्याजुषां मनांस्युद्वेलयतीत्यत्र नास्ति संशीत्यवकाशोऽपि कोऽपि।

निज-गुण-गणगौरवेणैव नाटकमदो विश्व-विद्यालय-परीक्षासु प्रायेण सर्वत्र लब्धादरमिति महान् प्रमदः। परिष्कृतमतिभिः सुमतिभिश्चास्य विविधाष्टीका, विनिर्मितास्तत्र-तत्रसमुपलभ्यन्ते। पुनरस्या निर्माणे किं कारणमिति नैसर्गिकोऽयं पर्यनुयोगः। एतस्य विशदमुत्तरन्तु सहृदय-शिरोमणिभिरेव दास्यते, न नोऽत्राधिकारः। इयत्तूच्यत एव यदेकत्रैवंविधप्रचुरसम्भारोऽन्यत्र नास्त्येवेत्याकलय्य प्रसीदतितमामस्माकं मनः। व्याख्यामार्गस्तु सरलतमोऽपि भवभूति-भावाविष्करणे काममपि कमनीयता-मावहत्येव तत्र-तत्र साहित्य-तत्त्व-सन्निवेशोऽपि विच्छित्तिं वर्धयत्येव।

सटिप्पण-हिन्दी रूपान्तर-विधानाय ममात्मजाभ्याम्—चि० कृष्णकान्त शुक्लेन, साहित्याचार्य—एम० ए० (संस्कृत-हिन्दी)-साहित्यरत्नेन, बरेली-कालेजे संस्कृत-विभागे प्राध्यापक-पदभाजा, चि० रमाकान्त शुक्लेन, साहित्याचार्य–एम० ए० (हिन्दी [लब्धस्वर्णपदक]-संस्कृत)-उपाधिधारिणा, इन्द्रप्रस्थ कालेजे दिल्ल्यां-हिन्दी-विभागे प्राध्यापकपदभाजा च) कियान् परिश्रमः कृत इति कृतानुभवा एव कथयिष्यन्ति।

खुरजास्थ श्री गंगासागरट्रस्टस्थ-संस्कृत-विद्यालये उपाचार्येण साहित्याचार्य-एम० ए० (संस्कृत-हिन्दी)-उपाधिधारिणा मम द्वितीयपुत्रेणायुष्मता उमाकान्तशुक्लेन सर्वेषामङ्कानां विश्लेषणात्मकसार-प्रदानेन नाटकस्यास्य सुषमा सम्पादिता।

एम० ए० (हिन्दी)-उपाधियुक्तेन साहित्यशास्त्रिणा मम सुतेन विष्णुकान्त शुक्लेन चास्य मुद्रणार्ह-कापिकालेखने संशोधनकर्मणि चातीव प्रयासो विहितः।

इत्येदर्थं चतुरोऽप्येतान् भ्रातॄन् शुभाशीराशिभिः सम्वर्धयामि। अपि च, मम सहधर्मिण्याः साहाय्येनैव टीकेयमुल्लिखितेति सापि धन्यवादमर्हत्येव। अन्यथा वहुलकार्य-व्यापृतस्य कुतः समयोपलम्भः? इति तन्नाम्नैव टीकेयं विरचिता, अन्याश्चापि।

एतस्यां रचनायां श्रीमताम्—पी० वी० काणे—एम० आर० काले—शारदा रञ्जन रे-भाट-घाटेशास्त्रि-वीरराघव-घनश्याम—विद्यासागर-शेषराजशास्त्रि—महाभागानां कृतिभ्यः साहाय्यं स्वीकृतम्। आदर्शपाठश्च चौखम्भा-मुद्रित-पुस्तकादुन्नीतः। एतदर्थमेषामुपकारभारं नतशिरसा वहामि। स्वकीयानुभवोऽपि क्वचिद् प्रदर्शितः यदि सद्भ्यो रोचेत। टिप्पण्यां पाठान्तराण्यपि दत्तानि, परमाकारवृद्धिभयान्न विपुलानि। परिशिष्टभागे चावश्यकतत्त्वानां सन्निवेशोऽपि प्रमोदायैव भविष्यति ममायं विश्वासः।

एवं यथामति कृतेऽपि प्रयासे मुद्रणयन्त्रस्य दूरतया काश्चिदशुद्धयः सञ्जाता एव; किङ्कुर्मः?

साहित्य-भण्डार-स्वामिनां श्री रतिरामशास्त्रिणां तु सहज-सौजन्यवशादेतस्य प्रकाशोऽजनीति भूयोभूयस्तान्धन्यान्वदामि। मुद्रणालयाधिपतयोऽपि विशेषरूपेण धन्यवादार्हाः, यैर्महता परिश्रमेण स्वल्पीयसा समयेन प्राकाश्यं नीतोऽयं ग्रन्थः।

टीकेयं विशेष रूपेण "एम० ए०" शास्त्रिपरीक्षार्थिनां कृते लिखितेति जाते तेषामुपकारे सर्वेषां नः परिश्रमः सफलो भविष्यतीति शम्।

दिनाङ्क १५ अगस्त १९६३
भाद्रपद-कृष्ण-एकादशी,
गुरुवारः,
सं० २०२० वि०।

विदुषामाश्रवः—
ब्रह्मानन्द शुक्लः, साहित्याचार्यः, एम० ए०
साहित्यविभागाध्यक्ष
श्री राधाकृष्ण संस्कृत कालेजः,
खुरजा (उ० प्र०)

द्वितीय संस्करण-सम्बन्धे

अथेदं प्रस्तूयते उत्तररामचरितस्य द्वितीयं संस्करणम्। पूर्वसंस्करणे सञ्जातानां मुद्रणसम्बन्धिनीनां त्रुटीनामत्र प्रायशः परिमार्जनं कृतम्। सत्यप्यभिलाषेऽस्य मुद्रणावसर एवास्वास्थ्याद् भूमिकायां परिवर्धनं कर्तुं नापारि।

एषु वर्षेषु चिरञ्जीविनौ उमाकान्त-रमाकान्तशुक्लावन्यत्र विनियुक्तौ। तयोः परिवर्तितसङ्केतौ मुखपृष्ठाद् ज्ञातुं शक्ये।

चि० विष्णुकान्त शुक्लश्च जे० वी० जैन कालेजस्य सहारनपुरस्य हिन्दी-विभागे नियुक्तः। मन्ये सहृदय-धुरीणाः पूर्ववदिदमुररीकरिष्यन्तीति।

दीपावली,
सं० २०२६,

—ब्रह्मानन्द शुक्लः

षष्ठ संस्करण-सम्बन्धे

अस्मिन् संस्करणे मुद्रणसम्बन्धिन्योऽशुद्धयः प्रायेण दूरीकृताः। यत्र-तत्र क्वचित्परिवर्धनमपि कृतम्। विश्वस्यते कृपालवः पाठकाः कृपां विधास्यन्तीति।

गणतन्त्र-दिवसः
२६-१-१९८३

शुक्लबान्धवः।

समर्पण

पुत्रसंङ्क्रान्तमनसोर्जन्मजातवियोगयोः ।
पित्रोः प्रसत्तये भूयात्, कृतिरेषा नवाक्षरा ।।

समर्पकः—

ब्रह्मानन्द शुक्लः

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ

नाटकीय पात्र-परिचय

पुरुषाः—

सूत्रधारः — प्रधाननटः ।
नटः — सूत्रधारसहकारी ।
रामचन्द्रः — अयोध्याऽधिपः सूर्यवंशीयो राजा ।
लक्ष्मणः — सुमित्रासुतो रामाऽनुजः ।
शत्रुघ्नः — सुमित्रायाः कनीयान्पुत्रो रामाऽनुजः ।
जनकः — मिथिलाऽधीश्वरो रामस्वशुरः ।
अष्टावक्रः — मुनिविशेषः ।
वाल्मीकिः — रामायणनिर्माता महर्षिः ।
सौधातकिः — वाल्मीकिशिष्यः ।
दण्डायनः — " " ।
कुशलवौ — रामपुत्रौ ।
चन्द्रकेतुः — लक्ष्मणपुत्रः ।
सुमन्त्रः — सारथिः ।
विद्याधरः — देवयोनिविशेषः ।
कञ्चुकी — अन्तःपुरचरो वृद्धब्राह्मणः ।
दुर्मुखः — गुप्तचरः ।
शम्बूकः — शूद्रतापसः ।
मुनिकुमारः— सैनिकादयश्च ।

स्त्रियः—

सीतादेवी — जनकतनया रामस्य पत्नी ।
वासन्ती — वनदेवता सीतायाः सखी ।
आत्रेयी — काचिद् ब्राह्मणजातीया ब्रह्मचारिणी ।
तमसा — काचिन्नदीविशेषाऽधिष्ठात्री देवी ।
मुरला — " " " " ।
भागीरथी — गङ्गादेवी ।
कौशल्या — रामजननी ।
पृथिवी — सीताजननी ।
अरुन्धती — वसिष्ठस्य पत्नी ।
विद्याधरी — विद्याधरपत्नी ।
प्रतीहारी — अन्तःपरद्वारस्य रक्षित्री ।

भूमिका
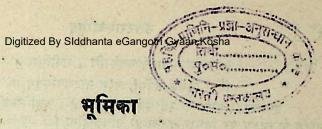
(क) नाटक

नाटक की उपयोगिता एवं स्वरूप—

आनन्दस्वरूप परमात्मा का अंश होने के कारण मनुष्य का समस्त क्रियाकलाप आनन्दानुभूति के लिये ही होता है। आनन्दाधिगम के लिए उद्भूत अनेक पदार्थ-संघातों में ललित-कलाओं का महत्त्व सहृदय-समाज से छिपा हुआ नहीं है। उनमें भी काव्य की महत्ता असन्दिग्ध है। यद्यपि वेद और पुराण भी इसी दिशा में अग्रसर रहते हैं परन्तु उनके मार्ग अपेक्षाकृत भिन्न हैं। वेद प्रभुसम्मित हैं और पुराण सुहृत्सम्मित। इनकी उपेक्षा भी मन्दमति व्यक्ति कर सकते हैं और दूसरी बात यह भी है कि इनमें प्रत्येक व्यक्ति की गति भी नहीं। परन्तु कान्तासम्मित उपदेश देने वाले काव्य की अवहेलना सरलतया सम्भव नहीं है। पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति सत्काव्यों के सेवन से सुकुमार-मतियों को भी सुगमता से ही सम्भव है। काव्य की माधुरी अन्य समस्त माधुर्यों को तिरस्कृत करने वाली है।

इन्द्रिय सन्निकर्ष के आधार पर काव्य के दो भेद किए गए हैं:—(१) श्रव्य एवं (२) दृश्य। श्रव्यकाव्य विशेषतः श्रवणीय या पठनीय होता है। दृश्यकाव्य की सौन्दर्यानुभूति में चक्षुओं की ही प्रमुखता होती है और इसका प्रभाव भी हृदय पर साक्षात् रूप से पड़ता है। 'सद्यःपरनिर्वृत्ति' का झटिति अनुभव दृश्यकाव्य के माध्यम से ही हो सकता है। विभिन्न भूमिकाओं के आरोप (अभिनय) के कारण इसका नाम 'रूपक' भी है :—तद्रूपारोपात्तुरूपकारा' इसके दस भेद होते हैं—

१ २ ३ ४ ५ ६
नाटकमथ प्रकरणं, भाण व्यायोग-समवकारडिमाः।
७ ८ ९ १०
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश॥

इन दस भेदों के अतिरिक्त अठारह उपरूपक भी होते हैं; यथा—

१ २ ३ ४ ५
'नाटिका, त्रोटकं, गोष्ठी, सट्टकं, नाट्यरासकम्।
६ ७ ८ ९ १०
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि, प्रेङ्खणं रासकं तथा॥
११ १२ १३ १४
संलापकं, श्रीगदितं, शिल्पकं च विलासिका।
१५ १६ १७ १८
दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीशो; भाणिकेति च॥

अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि, मनीषिणः ।
विना विशेषं सर्वेषां, लक्ष्म नाटकवन्मतम् ॥ (साहित्यदर्पण)

इस प्रकार रूपक के २८ भेदोपभेद होते हैं। यहाँ सबकी परिभाषाएँ न देकर नाटक के स्वरूप पर विचार करना ही उचित होगा।

नाटक की कथावस्तु प्रख्यात होनी चाहिए। उसमें मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श एवं उपसंहृति पाँच सन्धियों का निर्वाह होना चाहिए; रस का परिपाक होना चाहिए; पाँच से दस तक अङ्क होने चाहिएँ; नायक प्रख्यात वंश का राजा या महान् व्यक्ति होना चाहिए जो कि धीरोदात्त एवं प्रतापी हो; वह दिव्य या दिव्यादिव्य कोटि का हो सकता है; शृङ्गार या वीर रस में एक प्रधान (अङ्गी) रस होना चाहिए और शेष सहायक अङ्ग रूप में उपनिबद्ध होने चाहिएँ; निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस का सञ्चार होना चाहिएँ; चार या पाँच पात्र प्रमुख रूप में घटना-चक्र की गतिशीलता में सहायक होने चाहिएँ और उसका विधान गोपुच्छ के अग्रभाग के समान उतार चढ़ाव वाला होना चाहिये :—

"नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पञ्चसन्धिसमन्वितम् ।
विलासद्धर्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः ॥
सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिन्तरम् ।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः ॥
प्रख्यातवंशो राजर्षिधीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ॥
एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा ।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यं निर्वहणेऽद्भुतम् ।
चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः ।
गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ॥ (साहित्यदर्पण)

नाटकों का प्रारम्भ—

नाटकों के प्रारम्भ के विषय में भारतीय तथा विदेशी विद्वानों ने अपनी बुद्धि के अनुसार विविध कल्पनाएँ की हैं। भारतीय मत प्रस्तुत करने से पूर्व हम तथा-कथित विदेशी विद्वानों के मतों का संक्षिप्त परिचय यहाँ देना उचित समझते हैं।

(१) डॉ० रिजवे 'वीरपूजावाद' से नाटकों की उत्पत्ति मानते हैं। उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार ग्रीक देश में नाटकों का जन्म दिवङ्गत पुरुषों के प्रति किए गये सम्मान के परिणामस्वरूप हुआ, उसी प्रकार भारतवर्ष में भी नाटकों की उत्पत्ति वीरपूजा से हुई। रामलीला और कृष्ण-लीला इसी प्रकार की भावनाओं के परिणाम हैं। परन्तु इस मत को बहुत से योरोपीय विद्वान् भी नहीं मानते।

(२) जर्मन विद्वान् पिशेल (Pischel) नाटक की उत्पत्ति पुत्तलिका-नृत्य (Puppet-Show) से मानते हैं। उसकी मान्यता का आधार 'सूत्रधार' शब्द है। डोरी पकड़ कर पुतली नचाने वाले व्यक्ति को वे सूत्रधार मानते हैं। परन्तु भारतीय

नाट्यशास्त्र में 'सूत्र' शब्द का एक विशिष्ट अर्थ है—नाट्य के उपकरण, उनको धारण करने वाले व्यक्ति की सूत्रधार संज्ञा है—

"नाट्योपकरणादीनि, सूत्रमित्यभिधीयते ।
सूत्रं धारयतीत्यर्थं, सूत्रधारो निगद्यते ।।"

इस अर्थ को न समझने से ही यह अनर्थकारी मत प्रकाश में आया। इस मत में यदि कोई सार है तो वह केवल इतना ही है कि पुतलियों का नृत्य इसी देश में उत्पन्न हुआ और यहीं से अन्य देशों में प्रसृत हुआ। इस पामरजनमनःप्रसादक काष्ठनृत्य से रसभावभूयिष्ठ नाटक की उत्पत्ति मानना स्थूलमतिता का ही परिचायक है।

(३) कुछ विद्वानों ने नाटक की उत्पत्ति में पोल (May Pole) नृत्य से मानी है। पश्चिमी देशों में मई मास बड़ा ही आनन्ददायक होता है। वहाँ के निवासी मैदान में एक लम्वा बाँस गाड़कर उसके चारों ओर नृत्य करते हैं। उन्होंने 'इन्द्रध्वज' महोत्सव का सम्वन्ध इसी नृत्य से स्थापित किया है परन्तु यह कोई तर्क नहीं है। वसन्त ऋतु में उत्सव मनाना स्वाभाविक ही है। और इन दोनों में काल-भेद भी है। पोल-उत्सव वसन्त में होता है जबकि इन्द्रध्वज भारत में वर्षा के अन्त में होता है क्योंकि यह इन्द्र की वृत्र (मेघ) पर विजय का सूचक है। इस प्रकार यह मत इधर की ईंट और उधर का रोड़ा जोड़कर भानुमती का पिटारा सजाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

(४) डॉ० कीथ ने प्राकृतिक परिवर्तनों को जनसाधारण के सामने मूर्तरूप से दिखलाने की अभिलाषा से ही नाटकों का जन्म हुआ—यह माना है। उनका कहना है कि भाष्य में कंसवध नामक नाटक से उनके मत की पुष्टि होती है। कंस और उसके अनुयायी अपना मुख काला रखते थे तथा कृष्ण और उनके अनुयायी अपना मुख लाल रखते थे। डॉ० कीथ का विचार है कि वसन्त ऋतु की हेमन्त ऋतु पर विजय दिखलाना ही इस नाटक का मुख्य उद्देश्य है। कृष्ण की विजय प्रकृति के भीतर विलास करने वाली जीवनी शक्ति का प्रतीक है। इस पुच्छ-विषाण-हीन मत की अवधारणा के अतिरिक्त और क्या गति हो सकती है?

(५) डॉ० ल्यूडर्स (Luiders) और डॉ० कॉनो (Konon) के द्वारा समर्थित तथा पिशेल द्वारा उद्भावित इस मत का सार यह है कि छाया नाटकों (Shadow-Plays) से नाटक की उत्पत्ति हुई। इस मत की दुर्बलता यह है कि नाटकों की सत्ता इन छाया द्वारा दिखाये जाने वाले नाटकों से पहले ही स्वीकार करनी पड़ती है। नाटकों से छाया-नाटक का तो जन्म सम्भव है पर छाया नाटकों से नाटक का नहीं। वैसे 'दूताङ्गद' नामक छाया-नाटक संस्कृत में है पर वह न अधिक प्राचीन है और न अधिक प्रसिद्ध। अतः छाया-नाटक जैसे सामान्य अभिनय से नाट्यकला का उद्भव मानना बालकौतुक ही है।

(६) कुछ विद्वान् 'यवनिका' आदि शब्दों के प्रयोग से भारतीय नाटकों की उत्पत्ति यवनदेश (यूनान) से मानते हैं। परन्तु इन दोनों देशों के नाटकों में महान्

मौलिक अन्तर है। भारतीय नाटक सुखान्त होते हैं परन्तु ग्रीक नाटक नहीं। यूनानी नाटकों में 'सङ्कलनत्रय' पर बहुत ध्यान दिया जाता है परन्तु यहाँ केवल कार्य की एकता (Unity of Action) पर ध्यान रखा जाता है, देश (Place) और (Time) की एकता (Unity) पर नहीं। संस्कृत नाटक सुव्यवस्थित रङ्गमञ्च पर अभिनीत किये जाते थे जबकि यूनानी नाटक खुले मैदान में कनातों में। जहाँ तक 'यवनिका' का सम्बन्ध है, यह शुद्ध शब्द 'जवनिका' है जिसका तेजी से गिरने वाले पर्दे के अर्थ में प्रयोग किया गया है। इस पर विशेष प्रकाश हम 'संस्कृत नाटकों की विशेषताएँ' शीर्षक में डालेंगे। यह निर्भ्रान्त है कि ये नाटक हमारी अपनी ही सम्पत्ति हैं कहीं से आयात की हुई वस्तु नहीं।

(७) प्रो० हिलब्रे ण्ट तथा स्टेनकोनो का विचार है कि नाटक की उत्पत्ति स्वाँग से हुई है। उनका कहना है कि नाटकों में संस्कृत के साथ प्राकृत का प्रयोग, गद्य-पद्य का मिश्रण, रङ्गशालाओं में आडम्बरशून्यता और सादगी तथा विदूषक जैसे लोकप्रिय पात्र की कल्पना प्रचलित स्वाँगों के आधार पर ही हुई है। परन्तु डॉ० कीथ का कहना है कि नाटकों से पहले स्वाँगों की स्थिति का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। अतः विना किसी पुष्ट आधार के यह मत स्वतः धराशायी हो जाता है।

भारतीय मत (सिद्धान्त मत)

वेदों में ही नाटक के बीज उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद में संवाद-सूक्तों में **यम-यमी संवाद, उर्वशी-पुरुरवा संवाद, सरमा-पणी**—आदि संवादों की उपलब्धि से, सामवेद में सङ्गीत-तत्त्व की सत्ता से, यजुर्वेद में धार्मिक कृत्यों के अवसर पर नृत्य के विधान से नाटकीय तत्त्वों की वेदमूलकता में कोई सन्देह नहीं है।

रामायण—महाभारत-काल में तो रङ्गशाला, नट, कुशीलव जैसे शब्दों का प्रचुर प्रयोग हमारी नाट्यकला की उन्नति का द्योतक है ही।

पाणिनि ने "पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षु-नट-सूत्रयोः" (४/३/११०) सूत्र में नट-सूत्र अर्थात् नाट्यशास्त्र का उल्लेख किया है। इससे सिद्ध है कि पाणिनि के समय में अथवा उनसे पूर्व ही नाटक रचे जा चुके थे।

पतञ्जलि ने महाभाष्य (३/२/१११) में 'कंसवध' और 'बलिबन्ध' नामक दो नाटकों का स्पष्ट उल्लेख किया है।

जातकों में भी नाट्यकला का उल्लेख मिलता है।

कुछ दिन पूर्व ईसा पूर्व, दूसरी शताब्दी की एक प्राचीन नाट्यकला छोटा नागपुर की पहाड़ियों में पाई गयी है जो कि नाट्यशास्त्र में वर्णित प्रेक्षागृहों से बिल-कुल मेल खाती है।

'भरत नाट्यशास्त्र' में नाटक के आविर्भाव का बड़ा ही रोचक और युक्ति-सङ्गत वर्णन किया गया है। उसका सार यह है कि सतयुग में दुःखों की कल्पना थी ही नहीं, त्रेतायुग में दुःखों के आविर्भाव होने के कारण देवता और दानवों ने मिलकर ब्रह्माजी से किसी मनोविनोद के साधन की याचना की। ब्रह्माजी ने ध्यानाव-स्थित होकर सभी प्राणियों के लिये नाट्यवेद प्रकट किया। इसमें शूद्र स्त्री आदि

सभी का अधिकार था। उन्होंने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर नाट्य की सृष्टि की ओर उसे पञ्चम-वेद की संज्ञा दी—

"जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदाम्, सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान्, रसानाथर्वणादपि॥"

इसमें सभी समर्थ देवी-देवताओं ने अपना-अपना योगदान दिया। अनेक अप्सराओं ने स्त्री-पात्रों का अभिनय किया। चतुर शिल्पी विश्वकर्मा ने एक सुन्दर रङ्गमञ्च का निर्माण किया और 'इन्द्रध्वज' के अवसर पर 'त्रिपुरदाह' और 'समुद्र मन्थन' जैसे नाटक खेले गए। भरतमुनि को इस कला को मर्त्यलोक में पहुँचाने का कार्य सौंपा गया। इस प्रकार यह कला मर्त्यलोक में प्रसृत हुई। यह नाट्यकला समस्त शास्त्रों का सार मानी गयी और तीनों लोकों के भावों का अनुकरण करने का सामर्थ्य इसमें सन्निविष्ट हुआ—

"त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य, नाट्यं भावानुकीर्तनम्।"

यह कला दुःखार्त, शोकग्रस्त और संसारतप्त व्यक्तियों को विश्राम देने वाली थी। इसमें सभी शास्त्रों और कलाओं का समाहार था। नाटक का क्षेत्र बड़ा ही विस्तृत है। इस सम्बन्ध में भरतमुनि ने लिखा है—

"न तज्ज्ञानं, न तच्छिल्पं, न सा विद्या, न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म, नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥" (नाट्यशास्त्र, १/११४)

इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि संस्कृत नाटक क्रमशः विकसित हुआ है। वेदों से, पुराणों से, लोक गीतों से, धार्मिक सामूहिक उत्सवों से उसे सतत प्रेरणा प्राप्त हुई, और यह कला भारत में तभी विकसित हो गई थी जबकि आज सभ्य कहने वाले देश अन्धकार में ही पड़े हुए थे।

संस्कृत-नाटकों की विशेषताएँ—

संस्कृत-साहित्य में नाट्य-साहित्य बड़े ही वैभवमय रूप में दृष्टिगोचर होता है। काल के कराल प्रहारों से यद्यपि अनन्त ग्रन्थ-रत्न विलुप्तप्राय हो चुके हैं परन्तु जो कुछ भी इस समय उपलब्ध हैं, वह भी विश्व-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

संस्कृत-नाटकों की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं:—

(१) संस्कृत-नाटक रस-प्रधान होते हैं। उनमें कथावस्तु की यथार्थता पर इतना आग्रह नहीं किया जाता जितना कि रस-निष्पत्ति पर। कवि की सफलता उसकी रसाभिव्यञ्जना की शक्ति के अनुसार ही आँकी जाती है। इसलिये वे बहुधा कवित्व-प्रधान होते हैं।

(२) संस्कृत-नाटक आदर्शवादी होते हैं। उनमें आदर्श चरित्रों की सृष्टि की जाती है। उनमें दर्शकों के हृदय की शुद्धि का ध्यान रखा जाता है। वे मनोरञ्जन मात्र ही नहीं करते अपितु एक कल्याणकारी मार्ग की ओर प्रवृत्ति भी कराते हैं।

(३) इसके अतिरिक्त प्रथम अङ्क में ही दर्शक (या पाठक आगे आने वाली कुछ घटनाओं का नाटकीय सोत्प्रासों (Dramatic Irony) द्वारा अथवा अन्य प्रकारों द्वारा अनुमान लगा लेता है, जिसमें प्रधानतया, (१) सीता जी का विरह, (२) निर्वासनकाल में उनकी सुरक्षा तथा (३) पुनः गुरुजन से उनका मिलन तथा नाटक का सुखान्त होना सूचित होता है।

(१) सीता जी के शयन कर लेने के अनन्तर जब श्रीरामचन्द्र जी—

"इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयो—
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः,
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः॥" (१.३८)

कहते हैं 'उसी समय प्रतिहारी प्रवेश करके 'देव ! उवट्ठिहो' (देव ! उपस्थित हो गया) कह देती है, जिससे दुर्मुख की उपस्थिति की सूचना के साथ-साथ विरहोपस्थिति की भी सूचना मिल रही है।

(२) चित्रदर्शन के समय रामचन्द्र जी का भागीरथी के प्रति "सा त्वमम्ब ! स्नुषायामरुन्धतीव सीतायां शिवानुध्याना भव" और लवणत्रासित ऋषियों की सुरक्षा का प्रबन्ध करने के लिए एकान्त में सोयी हुई सीता की सुरक्षा के लिए पृथ्वी के प्रति "सुश्लाध्या दुहितरमवेक्षस्व जानकीम्" यह कथन निर्वासन काल में सीता जी की सुरक्षा की सूचना देता है, जिसका निर्वाह द्वितीय और सप्तम अङ्क में किया गया है।

(३) अष्टावक्र द्वारा "ननान्दुः पत्या देव्याः सन्दिष्टम् "वत्से ! कठोरगर्भेति नानीतासि। वत्सोऽपि रामभद्रस्त्वद्विनोदार्थमेव स्थापितः, तत्पुत्रपूर्णोत्सङ्गामायुष्मतीं, द्रक्ष्यामः, इति।" इस कथन से गुरुजन की सीता से पुनर्मिलन की सूचना मिलती है जो कि सप्तम अङ्क में दिखाया गया है।

(४) नाटककार प्रथम अङ्क में ही रामभद्र एवं सीता देवी के चरित्रों का भी उद्घाटन आरम्भ कर देता है। सीता जी को वन-यात्रा के व्याज से गर्भावस्था में ही निर्वासित किया जा रहा है, इससे दर्शक (अथवा पाठक) को उनके प्रति सहानुभूति बढ़ती हुई प्रतीत होती है।

(५) प्रथम अङ्क के चित्रदर्शन का अपना विशेष महत्त्व है। पूर्वचरित के बिना उत्तरचरित अधूरा ही रह सकता था; उत्तरचरित की पूर्ति के लिए भगवान् राम का, सीता जी की अग्निशुद्धि तक का, चरित्र चित्रवीथी में प्रस्तुत है; किन्तु सीता जी के थक जाने के कारण नाटक में उनका चरित्र माल्यवान् पर्वत की घटनाओं तक ही दिखलाया जाता है।

✻ श्रीहरिः ✻

महाकविश्रीभवभूतिप्रणीतम्

उत्तररामचरितम्

"श्री प्रियम्वदा"-ख्य-संस्कृत-हिन्दी-टीकोपेतम् ।

प्रथमोऽङ्कः

इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे ।
विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम् ॥१॥

✻ टीकाकृन्मङ्गलाचरण ✻

विघ्ननाशनिपुणो गणनाथः,
सर्वभक्तवरदो वरणीयः ।
चन्द्रमौलिगिरिजातनयो नः,
सन्ततं विशतु सिद्धिमशेषाम् ॥१॥

वज्र-प्रभा-भासुर-देह-कान्तिः,
सिंहासनासीनतया प्रसिद्धा ।
कल्याणहेतोर्जगतोऽवतीर्णा,
साम्बा सदा स्तात्प्रभवस्य हेतुः ॥२॥

अथ तत्रभवान् महाकविर्भवभूतिः 'उत्तररामचरितम्' नाम नाटकं चिकीर्षुरादौ मङ्गलरूपा नान्दीमवतारयति—इदमिति ।

अन्वयः—पूर्वेभ्यः, कविभ्यः, नमोवाकम्, "आत्मनः, अमृताम्, कलाम् देवताम्, वाचम्, विन्देम" इदं प्रशास्महे ॥१॥

अवतरणिका—महाकवि भवभूति अपने 'उत्तररामचरित'—नाटक की निर्विघ्न समाप्ति के लिये मङ्गलात्मक नान्दी की अवतारणा करते हैं । श्लोक के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं, संक्षेप में उनका निर्देश करने के अनन्तर हम अपने मत भी प्रदर्शित करेंगे ।

१. अर्थ—हम प्राचीन (वाल्मीकि आदि) कवियों को प्रणाम कर यह कामना करते हैं कि (हम) 'ब्रह्माजी की अंशभूत सनातनी सरस्वती (वाणी) को प्राप्त करें ।" [अर्थात् ब्रह्माजी की नित्यकला (सरस्वती) हमारे मन-मन्दिर में सदा प्रकाशित होती

और सम्भवतः प्रजाओं के लिए भी यह उपयोग में आता था। 'त्र्यस्र' तिकोने आकार का होता था; जिसकी प्रत्येक भुजा ३२ हाथ की होती थी। यह छोटे नाटकों के उपयोग में आता था।

रङ्गमञ्च की बनावट बड़ी वैज्ञानिक होती थी, जिसमें आवाज न गूँज सके तथा हवा एवं प्रकाश का समुचित प्रवन्ध रहे। इस विषय में बड़े ही सूक्ष्म निर्देश नाट्यशास्त्र से दिये गये हैं। प्रायः आधे भाग में रङ्गमञ्च होता था और आधे भाग में दर्शकों के बैठने का स्थान। रङ्गमञ्च का पिछला भाग रङ्गशीर्ष कहलाता था। उसके पृष्ठ में नेपथ्य होता था, वहाँ पात्र अपनी वेशभूषा आदि परिवर्तित करते थे। नेपथ्यगृह से आगे रङ्गपीठ होता था १६ हाथ लम्बा और ८ हाथ चौड़ा। रङ्गपीठ के दोनों ओर डेढ़ हाथ ऊँची मत्तवारिणी होती थीं। नाटचमण्डप को दोमंजिला (द्विभूमि) बनाया जाता था। ऊपरी खण्ड में, देवताओं से सम्बन्धित दृश्य दिखाये जाते थे। दर्शकों के वैठने के लिए आजकल के गैलरीनुमा आसनों की व्यवस्था थी। वास्तव में, जो लोग इस सीढ़ीनुमा बैठने की व्यवस्था को पश्चिम की देन मानते हैं वह उनके लिए एक विस्मयजनक और आँख खोलने वाली वात है।

रङ्गमञ्च पर, अङ्क की समाप्ति होने पर पर्दा गिराया जाता था। इस पर्दे का शुद्ध नाम **जवनिका है, यवनिका नहीं**। इसके **यवनिका** नाम को लेकर वहुत से समालोचक पुङ्गवों ने भारतीय नाटचकला पर यूनानी प्रभाव की घोषणा की है जिसका युक्तियुक्त उत्तर अनेक भारतीय विद्वानों ने दे दिया है। जवनिका शब्द का प्रयोग "जूयते=आच्छाद्यते यया यस्यां वा सा जवनिका"—इस अर्थ में किया गया है। '√जु' धातु का अर्थ 'वेग से चलना' भी होता है जिसके अनुसार पर्दों के वेग से उठाये और गिराये जाने के कारण इसका नाम 'जवनिका' पड़ा। अथवा, उस आवरण को, जिसमें नट भागकर छिप जाय, जवनिका कहा जाता है। 'जवनिका' की व्युत्पत्ति अनेक टीकाओं के अनुसार इस प्रकार है—

१. जवन्ति अस्यां जवनिका। (क्षीरस्वामी)

२. जनति अस्याम्। 'जुः' सौत्रो गतौ वेगे च' ल्युट्—करणाधिकरणयोश्च' (३/३/११६), स्वार्थे कन् (५/४/५ सूत्रेण ज्ञापनात्)। (रामाश्रमी)

३. जवनिका स्त्री। सौत्र धातु जु। करणे ल्युट् संज्ञायां कन्। (वाचस्पत्य)

४. जु इति सौत्रो धातुर्गतौ वेगे च। जवनः। 'जु चङ्क्रम्यदन्द्रम्य-सृ-गृधि-ज्वल-शुच-लष-पत-पदः' (३/२/५०) इति युच्—कौमुदी। स्त्रियां ङीप्, जवनी, जवनिका।

५. जवनं वेगेन प्रतिरोधनमस्ति अस्याः। जवनः ठन् टाप् च। (शब्दकल्पद्रम्)

यह बात और भी ध्यान देने योग्य है कि यवन देश में नाटक के लिए पर्दे की प्रथा ही नहीं थी। वहाँ तो नाटक दर्शकों की सुविधा के लिए खुले मैदान में ही किये जाते थे। जब वहाँ पर्दा था ही नहीं तो उसके अनुकरण का प्रश्न ही कहाँ उठता है! अतः **'भारतीय प्रतिभा जिस प्रकार नाटक के विन्यास में स्वतन्त्र है उसी**

प्रकार अभिनय कला में भी वह परमुखापेक्षी नहीं है। जवनिका के लिये भारतीय नाटककार यवनों के पराधीन नहीं हैं। नाटकीय पर्दा भारत की निजी वस्तु है, मँगनी की वस्तु नहीं।"[1]

(१०) संस्कृत नाटकों में प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। प्रकृति मानव-मन के अनुरूप चित्रित की गई है। अपने सरस और सजीव स्पर्श से प्रकृति-नटी रङ्गमञ्च को सदैव विभूषित करती रही है।

(११) संस्कृत नाटक दुःख, परिश्रम और शोक से ग्रस्त लोगों के मनोविश्रान्ति और विनोद का साधन हैः—

"दुःखार्त्तानां, श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रामजननं लोके, नाट्यमेतद्भविष्यति ॥"
× × ×
विनोदजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति ॥'

स्वयं भवभूति ने श्रेष्ठ नाटक के लक्षण इस प्रकार बताये हैंः—

"भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः सौहार्द्रहृद्यानि विचेष्टितानि ॥"
औद्धत्यमायोजितकामसूत्रं, चित्राः कथा वाचि विदग्धता च ॥"

(मालतीमाधव, १/६)

अर्थात् विभिन्न रसों का प्रचुर और प्रगाढ़ प्रयोग, सौहार्दपूर्ण हृदयहारी कार्य-कलापों का अभिनय, पराक्रम और प्रणय का चित्रण, विचित्र कथावस्तु तथा विदग्धता-पूर्ण संवादों से युक्त नाटक ही उत्कृष्ट कोटि के माने जाते हैं।

महाकवि भवभूति की इस कसौटी से बढ़कर उनके नाटकों की आलोचना करते समय और क्या पुष्ट आधार चाहिए ?

संस्कृत-नाट्य-साहित्य की सुदीर्घ परम्परा में उनका कृतित्व बड़ा ही प्रभावोत्पादक है। संस्कृत-नाट्यशाला में उनका प्राणवान् व्यक्तित्व उस उज्ज्वल मणिदीप के समान है जिसकी आभा को सहस्रों वात्याचक्र भी म्लान नहीं कर सकते और जिसे काल की कराल छाया भी शान्त नहीं कर सकती। निस्सन्देह वे उन रससिद्ध कवीश्वरों में से हैं जिनके यशःकाल में जरामरणजन्य भय कभी नहीं होता—जिनका कीर्तिकुसुम साहित्य-वाटिका को सदैव आमोद-परिपूरित करता रहता है। यहाँ हम उनके व्यक्तित्व तथा कृतित्व के सम्बन्ध में आवश्यक चर्चा करेंगे।

(ख) भवभूतिः स्थितिकाल, व्यक्तित्व तथा कर्तृत्व

स्थितिकाल—

भवभूति संस्कृत-साहित्य के जगमगाते हुए रत्न हैं। महत्व की दृष्टि से कालिदास के अनन्तर इन्हें स्थान दिया जाता है। उनकी रचनाओं ने संस्कृत साहित्य

---

१. बलदेव उपाध्याय, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', तृतीय संस्करण, १९५३, पृष्ठ ४०७। इस विषय पर विशेष विस्तार भी वहीं देखिये।

को एक नवीन आभा प्रदान की है। उनके स्थितिकाल के सम्बन्ध में कुछ निश्चित प्रमाण उपलब्ध हैं यद्यपि उन्होंने स्वयं इस दिशा में कोई प्रकाश नहीं डाला है। वास्तव में महाकवि किसी देश-विशेष या काल विशेष से परिच्छिन्न नहीं होते; उनका व्यक्तित्व तो इन सबसे ऊपर उठा हुआ होता है; वे सारे संसार की निधि होते हैं। इसीलिए संस्कृत-कवियों ने प्रायः अपने विषय में मौन का ही अवलम्बन किया है। यह हर्ष का विषय है कि भवभूति के सम्बन्ध में कुछ ऐसे साक्ष्य हैं जिनसे उनके स्थितिकाल के निश्चय करने में बहुत-सी सहायता मिलती हैं—

(१) मम्मट[२] (११००ई०), (२) महिमभट्ट[३] (११००ई०), 'औचित्यविचारचर्चाकार–आचार्य क्षेमेन्द्र[४] (११००ई०)

---

२. "............द्वयोः (यत्तदोः) उपादाने तु निराकाङ्क्षत्वं प्रसिद्धम्। अनुपादनेऽपि सामर्थ्यात्कुत्रचिद् द्वयमपि गम्यते। यथा—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां, जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा, कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥

अत्र य उत्पत्स्यते तं प्रतीति।" (काव्यप्रकाश, ७म उल्लास, १८९ श्लोक)

३. "......यथा च—

हे हस्त ! दक्षिण ! मृतस्य शिशोर्द्विजस्य,
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्।
रामस्य बाहुरसि निर्भरगर्भखिन्न–
सीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते ?"

(व्यक्तिविवेक, द्वितीय विमर्श, समास-विचार)

× × ×

'......यथा च—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयो–
रसावस्याः, स्पर्शो वपुषि, बहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः,
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः॥ इति॥

अत्र यत् साक्षान्नायिकावर्णनं तदवाच्यमेव। तत्सम्बन्धिनामेव स्पर्शादीनामिव रम्याणामर्थानां विरहव्यतिरेकेणाङ्गभावोपगमात्। न तस्य एव विरहस्य तत्सम्बन्धित्वेऽप्यसह्यत्वाभिधानादिति तस्यावचनं दोषः। तेन 'मुखं पूर्णश्चन्द्रो वपुरमृतवर्त्तिर्नयनयो'रित्यत्र युक्तः पाठः।" (व्यक्तिविवेक, २य विमर्श)

४. (क) 'पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां,

× × ×
× × ×

निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति। (उत्तर० २/२७)

धनञ्जय[1] (९९५ ई०) ने अपनी रचनाओं में भवभूति के उद्धरण दिये हैं।

(२) धनपाल (२० वीं शताब्दी) ने अपनी तिलकमञ्जरी' में भवभूति की प्रशंसा की है।[6]

(३) राजशेखर अपने को भवभूति का अवतार मानते हैं।[7] राजशेखर का स्थितिकाल ९०० ई० माना है।

(४) वामन ने अपने 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' ग्रन्थ में भवभूति के 'इयं गेहे लक्ष्मीः…'आदि पद्य (उत्त० १/२८) को उद्धृत किया है। वामन का समय ८०० ई० माना जाता है।

अत्र बहुभिर्वर्षसहस्रै रतिकान्तैः शम्बूकवधप्रसङ्गेन दण्डकारण्यं रामः पूर्व-परिचितं पुनः प्रविष्टः समन्तादवलोक्यैवं ब्रूते—'पुरा यत्र नदीनांप्र वाहस्तत्रेदानीं तटम्, वृक्षाणां घनविरलत्वे विपर्यश्चिराद्दृष्टं वनमिदमपूर्वमिव मन्ये, पर्वतसन्निवेशस्तु तदेवैतदिति बुद्धिं स्थिरीकरोति।' इत्युक्ते चिरकालविपर्ययपरिवृत्तसंस्थानकानन-वर्णनया हृदयसंवादी देशस्वभावः परमौचित्यमुद्घोषयति।"

(औचित्यविचारचर्चा, देशौचित्य)

[ख] "योऽयमश्वः पताकेयमथवा वीरघोषणा।
सप्तलोकैकवीरस्य दशकण्ठकुलद्विषः। (उत्तरराम०, ४/२७)

………अत्रार्थे रामायणकथातिक्रमेण नूतनोत्प्रेक्षिता रामतनयस्य सहज-विक्रमानुसारिणी शौर्योत्कर्षभूमिः परप्रतापस्पर्शासहिष्णुता प्रबन्धस्य रसबन्धुरामौ-चित्यच्छायां प्रयच्छति।" (औचित्यविचारचर्चा, प्रबन्धार्थौचित्य)

[ग] 'वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु किं वर्ण्यते।
× × ×
× × ×
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुनिधने तवाप्यभिज्ञो जनः॥ (उत्तरराम०, ५/३४)

अत्राप्रधानस्य राजसूनोः कुमारलवस्य परप्रतापोत्कर्षासहिष्णोर्वीररसोद्दीपनाय सकलप्रबन्धजीवितसर्वस्वभूतस्य प्रधाननायकगतस्य वीररसस्य ताडकादमन-खररणा-पसरण-अन्यरणसंसक्तबालिव्यापादनादिजनविहितापवादप्रतिपादनेन स्ववचसा कविना विनाशः कृत इत्यनुचितमेतत्।" (औचित्यविचारचर्चा)

५. उत्तरराम०; १/श्लोक २४, २६, २७, ३५, ३७, ३८, ३९; २/ 'स्वागतं तपोधनायाः, ३/ श्लोक २६, ३७; ५/ श्लोक ३४; ६/ श्लोक ११, १९। (दशरूपक। विस्तार वहीं देखें।)

६. "स्पष्टभावरसा चित्रैः पादन्यासैः प्रवर्त्तिता।
नाटकेषु नटस्त्रीव भारती भवभूतिना॥"

७. "बभूव वल्मीकभवः कविः पुराः ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया, स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥
(बालरामायण, १/१६)

इससे भवभूति के स्थितिकाल की परवर्ती सीमा सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित किया जा सकता है, क्योंकि—

(५) इससे पहले बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित' में अपने अनेक पूर्ववर्ती भास, कालिदास, भट्टार-हरिश्चन्द्र के सदृश भवभूति का उल्लेख नहीं किया है। इससे ज्ञात होता है कि तब भवभूति का आविर्भाव नहीं हुआ था। बाणभट्ट का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध था। इसलिए यह भवभूति के काल की पूर्ववर्ती सीमा निर्धारित की जा सकती है।

(६) इसके अतिरिक्त कल्हण (१२ वीं श०) की राजतरङ्गिणी' से ज्ञात होता है कि भवभूति कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रित थे।[८] ये यशोवर्मा बड़े गुणग्राही थे और स्वयं इन्होंने भी 'रामाभ्युदय' नाटक की रचना की थी। राजतरङ्गिणी (४/१४४) से ज्ञात होता है कि काश्मीर के राजा ललितादित्य ने यशोवर्मा को पराजित कर दिया था। डॉ० स्टीन ने अपने द्वारा सम्पादित 'राजतरङ्गिणी में इस घटना को ७३६ ई० के आस-पास निर्धारित किया है।

'राजतरङ्गिणी' के पूर्वोक्त श्लोक में भवभूति के साथ वाक्पतिराज का भी उल्लेख हुआ है। वाक्पतिराज ने अपने 'गौडवहो' नामक प्राकृत काव्य में यशोवर्मा के पराक्रम और उनकी गौड़देशाधिपति पर विजय का वर्णन किया है। यह काव्य अधूरा ही उपलब्ध होता है। इसका कारण यही ज्ञात होता है कि वाक्पतिराज ने इस काव्य की रचना यशोवर्मा के विजयी दिनों में की थी किन्तु ललितादित्य के द्वारा उनके पराजित हो जाने पर उन्होंने इस काव्य को बीच में ही छोड़ दिया।

अपने काव्य में वाक्पतिराज ने भवभूति की बड़ी प्रशंसा की है:—

भवभूइ-जलहि-णिग्गअ-कव्वामय-रसकणा इव फुरन्ति।
अस्स बिसेसा अज्ज वि, वियडेसु कहाणिवेसेषु॥
[भवभूति-जलधिनिर्गतकाव्यामृसरसकणा इव स्फुरन्ति॥
यस्य विशेषमद्यापि, विकटेषु॥ कथानिशेषु॥] (गौडवहो, ७९)

इस श्लोक के अज्जावि (अद्यापि)—इस पद से ज्ञात होता है कि भवभूति वाक्पतिराज से पहले हो चुके थे और तब तक उनकी पर्याप्त प्रसिद्धि हो चुकी थी।

गौडवहो (८३२ गाथा) में वर्णित एक सूर्यग्रहण के कालनिर्णय के अनुसार डॉ० जैकोबी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह ग्रहण १४ अगस्त ७३३ ई० को हुआ था। भवभूति, जो कि वाक्पतिराज के पूर्ववर्ती थे, निस्सन्देह इस समय से पहले ही

---

८. कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥
(राजतरङ्गिणी ४/१४४)

(वाक्पतिराज और भवभूति आदि कवियों से सेवित स्वयं (कन्नौज नरेश यशोवर्मा) काश्मीर नरेश (ललितादित्य से) पराजित होकर भाटों की भाँति उसकी स्तुति करने लगा।

हुए होंगे । इस प्रकार ७वीं शती का उत्तरार्द्ध या ८वीं शती का पूर्वार्द्ध भवभूति का काल सिद्ध होता है ।

कुछ दिन पूर्व श्री शङ्कर पाण्डुरङ्ग को 'मालतीमाधव' की एक प्राचीन हस्तलिपि प्राप्त हुई थी जिसके तृतीय अङ्क की पुष्पिका में लिपिकार ने उसके रचयिता के स्थान पर 'इति श्रीभट्टकुमारिलशिष्यकृते मालतीमाधवे तृतीयोऽङ्कः और षष्ठ अङ्क की पुष्पिका में 'इति श्रीकुमारिलस्वामिप्रसादप्राप्तवाग्वैभवश्रोमदुम्बेकाचार्यविरचिते मालतीमाधवे षष्ठोऽङ्कः' लिखा है इससे यह समस्या सामने आती है कि उम्बेक और भवभूति क्या एक ही थे ? उम्बेकाचार्य मीमांसा के बहुत बड़े विद्वान् थे और उन्होंने कुमारिल के श्लोकवार्तिक पर टीका लिखी है और वह टीका 'ये नाम केचिदिह··· से प्रारम्भ होती है जो कि मालतीमाधव में भी है । इससे भवभूति और उम्बेक के एक ही व्यक्ति होने की पुष्टि होती है ।

प्रत्यग्रूप भगवान् (१३००—१४०० ई०) ने चित्सुखाचार्य की तत्त्वदीपिका की नयनप्रसादिनी टीका लिखी है । इस टीका में उन्होंने उम्वेक का कई बार उल्लेख किया है और उनको भवभूति से अभिन्न बताया है ।

श्रीहर्ष के प्रसिद्ध ग्रन्थ खण्डनखण्डखाद्य आनन्दपूर्ण ने विद्यासागरी' नामक टीका लिखी है उसमें श्लोककार्तिक से दो श्लोक उद्धृत किए हैं । टीकाकार ने यह बताया कि उवैक (उम्वेक) ने इन श्लोकों की टीका की है ।

हरिभद्र सूरि 'षड्दर्शन समुच्चय' की टीका में गुण रत्ननामक जैन लेखक (१४०९ ई०) ने उम्बेक को कारिका (श्लोककार्तिक) का अच्छा ज्ञाता बताया है ।

'उम्वेक: कारिकां वेत्ति, तन्त्रं वेत्ति प्रभाकर: ।
वामनस्तूभयं वेत्ति, न किञ्चिदपि रेषण: ॥'

इस विवेचन से सिद्ध होता है कि भवभूति का ही दूसरा नाम उम्बेक था । साहित्य में वे 'भवभूति' के नाम से प्रसिद्ध हुए और मीमांसा में 'उम्वेक' के नाम से । यह मत यद्यपि निर्भ्रान्त नहीं है तथापि विचारणीय अवश्य है ।[1]

व्यक्तित्व

भवभूति ने अपने नाटकों की प्रस्तावना में अपना परिचय दिया है । महावीरचरित की प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि वे विदर्भ (बरार के पद्मपुर नगर के निवासी थे । उन्होंने उदुम्बुरवंशी ब्राह्मणों के परिवार में जन्म लिया था । ये ब्राह्मण

१. विशेष विस्तार के लिये देखिये—
(क) श्री काणे महोदय द्वारा सम्पादित 'उत्तररामचरित' की भूमिका ।
(ख) श्री बलदेव उपाध्याय—'संस्कृत-कवि-चर्चा' पृष्ठ ३०४—३१० ।
(ग) श्री वाचस्पति गैरोला—'संस्कृत साहित्य का सक्षिप्त इतिहास पृष्ठ ६१३—१४ ।

बड़े ही आदरणीय, धर्मनिष्ठ, सोमरस का पान करने वाले और वेद के ज्ञाता थे। भवभूति के पाँचवे पूर्वज का नाम 'महाकवि' था, 'उन्होंने 'वाजपेय' यज्ञ किया था। भवभूति के बाबा का नाम 'भट्टगोपाल' था, पिता का नाम 'नीलकण्ठ' था और माता का जतुकर्णी था।[१०] इनके गुरु का नाम 'ज्ञाननिधि' था। वे वास्तव में ज्ञान के निधि ही थे।[११]

भवभूति व्याकरण, न्याय, मीमांसा के अपूर्व पण्डित थे। उनका प्रारम्भिक नाम 'श्रीकण्ठ' था और भवभूति उनका साहित्यिक नाम था जो कि 'गिरिजायाः कुचौ वन्दे-भवभूति-सिताननौ' तथा 'साम्वा पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्तिः' जैसे पद्य लिखने से पड़ा था। भवभूति के नाम के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है।

'श्रीकण्ठपदलाञ्छनो भवभूतिर्नाम' पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम' आदि उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उनका वास्तविक नाम भवभूति ही था, श्रीकण्ठ उनकी उपाधि थी। टीकाकारों ने दोनों प्रकार की व्याख्या की है। अनन्त पण्डित ने अपनी 'आर्यासप्तशती' की टीका (१/३६) में 'श्रीधर' नाम स्वीकार किया है। वीरराघव ने इनके भवभूति नाम के सम्बन्ध में एक और विचार व्यक्त किया कि इन्हें भगवान् शङ्कर (भव) ने स्वयं भिक्षुरूप में आकर 'भूति' (ऐश्वर्य) प्रदान की थी इसीलिये इनका नाम भवभूति पड़ा।[१२]

---

१०. अस्ति दक्षिणपथे पद्मपुरं नाम नगरम्। तत्र केचित्तैत्तिरीयाः कश्यपाश्चरणगुरवः पङ्क्तिपावना धृतव्रता सोमपायिन 'उदुम्बरनामानो' ब्रह्मवादिनः प्रतिवसन्ति। यदमुष्यायणस्य तत्र भवतो वाजपेययाजिनो महाकवेः पञ्चमः; सुगृहीतनाम्नो भट्टगोपालस्य पौत्रः पवित्रकीर्तेर्नीलकण्ठस्यात्मसम्भवः श्रीकण्ठपदलाञ्छनः पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जातूकर्णीपुत्रः। (महावीरचरित, प्रस्तावना।)

११. (क) 'श्रेष्ठः परमहंसानां महर्षीणां यथाङ्गिराः।
यथार्थनामा भगवान् यस्य ज्ञाननिधिर्गुरुः॥' (महावीर०, १/५)

(ख) 'गुणैः सतां न मम को गुणः प्रख्यापितो भवेत्।
यथार्थनामा भगवान् यस्य ज्ञाननधिर्गुरुः॥' (मा० मा० १६)

१२. श्रीकण्ठपदलाञ्छनः। पितृकृतनामेदम्। भवभूतिर्नाम 'साम्वा पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्तिः श्लोकरचनासन्तुष्टेन राज्ञा 'भवभूति'रिति ख्यापितः।' (वीरराघव)

अथवा

"किञ्चास्मै कवये ईश्वर एव भिक्षुरूपेणागत्य भूतिं दत्तवानिति वदन्ति। एवं च भवान् भगवतो भूतिर्यस्येति 'भवभूति'रित्यन्वर्थं इत्याहुः।' (वीरराघव)

'नाम्ना श्रीकण्ठः, प्रसिध्यां भवभूतिरित्यर्थः।' (जगद्धर, मा० मा०)

भवभूतिरिति व्यवहारे तस्यैव नामान्तरम् (त्रिपुरारि मा० मा०)

'श्रीधर' इति कविनाम। भवभूति'रिति 'गिरिजायाः कुचौ' इति प्रकरणोत्तरं पदवीनाम। (अनन्तपण्डित, 'आर्यासप्तशती' श्लोक १.३६ की टीका)

भवभूति को विद्वता अपनी पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई थी। समस्त शास्त्रों में उनकी अप्रतिहत गति थी। वाणी अनुचरी की भाँति उनका अनुसरण किया करती थी।[१३] उनका सारस्वतस्रोत सदा प्रवाहित रहता था।[१४] गहन शास्त्रों के अध्ययन करने पर भी उनका हृदय शुष्क नहीं थां। वे 'वेदाभ्यासजड़' न होकर बड़े ही भावुक थे। रससिद्ध कवि थे। यद्यपि उन्होंने अपने नाटकों में सरसता को अक्षुण्ण रखा है तथापि उनका वैदग्ध्य पाण्डित्य से परिवेष्टित होकर ही आता है। वेद, उपनिषद्, निरुक्त, वेदान्त, व्याकरण, योग, सांख्य, तन्त्र, जातक, धर्मशास्त्र, न्याय, मीमांसा, राजनीति, कामसूत्र और नाट्यशास्त्र सम्बन्धी उनके पाण्डित्य की झलक उनके अनेक पद्यों से मिलती है। उदाहरणार्थ—

(क) वेद—उत्तररामचरित के २|१२ श्लोक में 'वैराज' लोकों का वर्णन ऋग्वेद के (६/११३/११) 'यत्रानन्दाश्च मोदश्च मुदः प्रमुद आसते' के अनुसार किया गया है। 'भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता' (४/१८) में ऋग्वेद के (१०/७१|२) भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि' का ही रूपान्तरण है। महावीरचरित में 'ब्रह्मद्विषी ह्येष विहन्ति सर्वानाथर्वणस्तीव्र इवाभिचारः' (१|६२) तथा विभ्रदिवाथर्वणो निगमः' (२/२४) से उनके अथर्ववेद की मर्मज्ञता का पता चलता है। अश्वमेधयज्ञ, द्वादश-वार्षिकसत्र, समांस मधुपर्क आदि प्रसङ्ग उनकी वेदज्ञता की ओर स्पष्ट संकेत करते है। कहीं-कहीं उनकी वाक्यरचना ही वैदिक शैली पर आधारित है। उदाहरणार्थ— 'देव ते ज्योतिः प्रकाशताम्। स त्वां पुनातु देवः परोरजा य एष तपति ' (उत्तर० ४) ,परंस्त्वां सविता धिनोतु' (उत्तर० ५|२७)। वैदिक शब्दावली अनायास ही उनके वाक्यों में आ जाती है। जैसे जनक के इस कथन में—'अन्धतामिस्रा ह्यसूर्या नाम ते लोकाः प्रेत्य तेभ्यः प्रतिविधीयन्ते य आत्मघातिन' इत्येवमृषयो मन्यन्ते।' यजुर्वेद के इस मन्त्र का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित हो रहा है—'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये केचन आत्महनो जनाः॥" (यजु० ४०|३)।

(ख) उपनिषद्—उत्तररामचरित के दूसरे अङ्क के तीसरे श्लोक में 'उद्गीथविदो वसन्ति' कहकर भवभूति छान्दोग्योपनिषद् के (१/१/१) 'उद्गीथ' का ही स्मरण कराते हैं। वाल्मीकि को शब्द-ब्रह्म का प्रकाश हो जाने के प्रसङ्ग, में उपनिषदों की ब्रह्म-विधा का ही निर्देश है। 'यत्रानन्दाश्च मोदाश्च' (२/१२) पर तैत्तिरीय उपनिषद के 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' का प्रभाव है। 'महावीरचरित' के प्रथम श्लोक अथ, स्वस्थाय'देवाय०' में औपनिषद ब्रह्म का ही निर्देश है। 'पन्थानो देवयानाः' में 'देवयान' उपनिषदों वर्णित हैं। जनक को याज्ञवल्क्य के द्वारा 'ब्रह्मपारायण' कराने के

---

१३. 'यं ब्रह्माणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्तते।' (उत्तर १/२)

१४. यद्वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च,
ज्ञानं तत्कथनेन किं नहि ततः कश्चिद् गुणो नाटके।
यत्प्रौढत्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवं,
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्धयोः॥' (मा० मा०, १/१६)

प्रसङ्ग (४/६) में बृहदारण्यकोपनिषद् (५/४/१-२३) की ओर स्पष्ट इङ्गित है। (ग) दर्शन—भवभूति ने अनेक स्थानों पर विभिन्न दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग किया है। उत्तररामचरित के (३/४७, ६/६) श्लोकों में प्रयुक्त 'विवर्त' वेदान्त के विवर्तवाद का स्मरण कराता है। 'प्रचीयमानसत्वप्रकाशाः' (पञ्चम अङ्क) में सांख्योक्त सत्वगुण का निर्देश है। महावीरचरित के "चतस्रो मैत्र्यादिभावनाः। विशोका ज्योतिष्मती चित्तवृत्तिः। ऋतम्भराभिधानं प्रज्ञानम्।" इस एक वाक्य में योगदर्शन के १/३३,३६,४७,४८ सूत्रों का स्पष्ट उल्लेख है। मालतीमाधव में ही 'आकर्षिणी (६/५३) आदि सिद्धियों एवं मन्त्रसाधना के वर्णन से योगदर्शन का क्रियात्मक ज्ञान प्रकट होता है। सौधातकि और दण्डायन के संवाद में 'निगृहीतोऽसि' के प्रयोग से वे न्यायदर्शन के 'निग्रहस्थान' की ओर संकेत करते हैं। (घ) धर्मशास्त्र—के सन्दर्भ भवभूति की रचनाओं में प्रचुरता से मिलते हैं। "समांस मधुपर्क' 'पराक' 'सान्तपन' आदि शब्दों का प्रयोग उनके पारिभाषिक अर्थों में ही किया है। अतिथिसेवा, अनुष्ठान नित्यता (१/८) वर्णाश्रम व्यवस्था (१/२२,१/२५), धार्मिक कृत्यों में पत्नी की सहयोगिता, कन्यापक्ष के लिए वरपक्ष की पूजनीयता (४/१७), राजा के लिये प्रजाओं का अनुरञ्जन १।११ युद्धक्षेत्र में रथी का पदाति से न लड़ना 'न रथिनः पादचारमभियुञ्जन्ति' (पञ्चम अङ्क) आदि प्रसङ्गों में उनके धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान का दर्शन होता है। (ङ) व्याकरण—'पद वाक्य प्रमाणज्ञः में 'पद्ज्ञता' उनके वैयाकरण होने की ओर संकेत है। वे शब्दब्रह्म के उपासक थे। 'वागात्मक ब्रह्म शब्दब्रह्म' (उत्तर० द्वितीय अङ्क) अमृता कला (१/१) आदि सङ्केत उनके सिद्ध वैयाकरण होने का परिचय देते हैं। (च) साहित्यशास्त्र—की मर्मज्ञता के लिए 'भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः (मालती० १/४), एको रसः करुण एव' (उत्तर० ३/४७) 'करुणादमृतरसम्' (उत्तर० सप्तम अङ्क), 'यत्प्रौढित्व-मुदारता' (मालती० १/१०) आदि संकेत पर्याप्त है। (छ) कामशास्त्र—मालतीमाधव सातवें अङ्क में कामसूत्र का एक वाक्य ही प्रयुक्त किया गया है—'कुसुमधर्माणो हि योषितः।......एवं किल कामसूत्रकारा मन्त्रयन्ति।' पत्नी की प्रसन्नता के लिए उनकी चाटुकारिता भी अपेक्षित हैं—'कान्तानुवृत्तिचातुर्यमपि शिक्षितं वत्से के (उत्तर० तृतीय अङ्क) पति-पत्नी के स्नेह में सन्तान की महत्वपूर्ण भूमिका है (३/१७) आदि प्रसङ्ग उनके कामशास्त्र विषयक ज्ञान के परिचायक हैं। (ज) राजनीति—राजनीतिक सन्दर्भ यथास्थान आते चले जाते हैं। राजा को प्रजा के कल्याण का ध्यान रखना चाहिए उत्तर० १/११), वस्तुस्थिति का पता लगाने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति करनी चाहिए। (प्रथम अङ्क) राजा को 'अपरिहीनधर्म' होना चाहिए। (तृतीय अङ्क)। सैनिकों को आश्रमों के आस-पास की भूमियों को नहीं रौंदना चाहिए—'न केन चिदाश्रमाभ्यर्णभूमय अक्रमितव्या।' (चतुर्थ अङ्क) युद्धभूमि में स्नेह बाधक नहीं होना चाहिए। वीराणां समयो हि दारुणरसः स्नेहक्रमं बाधते। (५/१६) युद्ध करना वीरों का धर्म है (५/२२) समान बलशाली से ही युद्ध करना चाहिए (५/१२) इनके अतिरिक्त उनकी अनेक सूक्तियों से नीतिशास्त्र एवं मनोविज्ञान की विदग्धता भी

प्रकट होती है। इतिहास-पुराण की गम्भीर पेठ उन्हें तात्विक कलाकार के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करती है। विविध शास्त्रों का ऐसा एकल समन्वय निस्सन्देह भवभूति के व्यक्तित्व को संस्कृत के अन्य नाटककारों की अपेक्षा सर्वदा पृथक् कर देता है।

भवभूति को अपनी विद्वत्ता पर स्वयं गर्व था और उन्होंने यत्र-तत्र इस प्रकार के भाव व्यक्त भी किये हैं; किन्तु उन्हें इस बात का दुःख था कि उसका सम्मान उनके जीवन में उतना नहीं हुआ जितना होना चाहिये था। फिर भी, उन्हें आशा थी कि कभी न कभी तो उन्हें पहचानने वाले लोग होंगे ही।[15] ऐसा प्रतीत होता है उनको प्रारम्भिक जीवन में सम्मान प्राप्त नहीं हुआ था। उत्तररामचरित' की रचना के पश्चात् उनका यश चारों ओर फैला और अपनी प्रौढ़ावस्था में उन्हें यशोवर्मा का आश्रय प्राप्त हुआ था। उनके नाटक भगवान् 'कालप्रियानाथ' की यात्रा के अवसर पर ही खेले गये थे। कालप्रियानाथ से कुछ लोग उज्जयिनी के महाकाल का ग्रहण करते हैं और कुछ राजशेखर के उद्धरण से 'कालप्रियानाथ' के मन्दिर का।[16] कुछ भवभूति के निवासस्थान 'पद्मपुर' में किसी मन्दिर की कल्पना करते हैं।

भवभूति स्वभाव से बहुत ही गम्भीर थे। उनके पात्रों में विदूषक का अभाव इसी का परिणाम है। यों एक-आध स्थल पर उनकी हास्य-प्रियता भी दृष्टिगोचर होती है। उत्तररामचरित में चित्रदर्शन के अवमर पर उर्मिला के विषय में सीता का यह पूछना—'वच्छ ! इयं वि अवरा का ? (वत्स ! इयमप्यपरा का ?)' चतुर्थ अङ्क में सौधातकि और दण्डायन का वार्तालाप तथा चतुर्थ अङ्क में ही ब्रह्मचारियों के द्वारा घोड़े का वर्णन उनके विनोदी स्वभाव की एक झलक देता है। किन्तु यह हास्य-स्मित से आगे नहीं बढ़ पाता।

भवभूति सुखमय परिवार के जीवन के बड़े ही चतुर चित्रकार थे। दाम्पत्य का जैसा सरल, स्वाभाविक, सजीव एवं मर्यादित चित्रण इन्होंने किया है, कदाचित्

---

१५. 'ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां,
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उपत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥' (मालतीमाधव १/८)

१६. अनियतत्वाद् 'दिशामनिश्चतो दिग्विभाग' इत्येके। तथाहि—
श्रीवामनस्वामिनः पूर्वः स ब्रह्मशिलायाः पश्चिमो, यो गाधिपुरस्य दक्षिणः स कालप्रियस्योत्तर इति। 'अवधिनिबन्धमिदं रूपमितरत्त्वनियतमेव' इति यायावरीयः।'
(राजशेखर, काव्यमीमांसा, कविरहस्य खण्ड)

ही कहीं मिले। उनके मत में स्त्री 'घर की लक्ष्मी',[१७] जीवनसङ्गिनी और पवित्रता की मूर्ति है। सन्तान परिवार के सुख में चार चाँद लगा देती है। विवाह केवल विलास के लिए नहीं है, अपितु कर्त्तव्य-पालन के लिए है; त्याग और तपस्या के लिये है; 'प्रजातन्तु विच्छिन्न न हो'—इसलिए है। दम्पती के अन्तःकरण की स्नेहमय आनन्द-ग्रन्थि ही सन्तान होती हैं।[१८]

ऐसा प्रतीत होता है कि भवभूति अपने जीवन के सरस दिनों में ही विधुर हो गये थे। उनका बारम्वार विधुरावस्था का मार्मिक[१९] वर्णन इसी ओर सङ्केत करता हुआ प्रतीत होता है। बहुत सम्भव है कि बहुत दिनों तक साहित्य-क्षेत्र में अपनी-उपेक्षा और अपने पारिवारिक जीवन के दुःखद अवसान ने उन्हें गम्भीर वना दिया हो।

भवभूति बड़ी ही सच्चरित्रता, निष्ठा और मर्यादा से जीवन व्यतीत करने वाले थे। धर्म के प्रति उनमें गहन आस्था थी। इस पवित्रता की धवल धारा में अवगहन करके उन्होंने जो कुछ दिया है, वह साहित्य-संसार की सचमुच अक्षय निधि है।

'भवभूति का व्यक्तित्व संस्कृत-साहित्य में जीवन की मधुरता और कटुता, अन्तःप्रकृति तथा बाह्यप्रकृति के कोमल और विकट दोनों रूपों का ग्रहण करने की क्षमता रखता है। भवभूति वे श्रीकण्ठ हैं जिन्होंने एक साथ चन्द्रकला की शीतल सरसता और विष की तिक्तता—दोनों को जीवन के उल्लासमय तथा वेदनाव्यथित दोनों तरह के पहलुओं को सहर्ष अङ्गीकार किया है।[२०]

कवित्व—

भवभूति की तीन रचनाएँ उपलब्ध होती हैं—(१) मालतीमाधव (२) महा-

---

१७. (क) इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयोः।' (उत्तर०, १/३८)

(ख) 'प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा,
सर्वे कामाः सावधिर्जीवितं वा।
स्त्रीणां भर्त्ता धर्मदाराश्च पुंसा-
मित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु।"

(ग) 'अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगत सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्न हार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसारे स्थितं,
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्रार्थ्यते॥' (उत्तर०, १/३९)

१८. 'अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति पठ्यते॥' (उत्तर०, ३/१७)

१९. (i) 'प्रियानाशे कृत्स्नं किल जगदरण्यं हि भवति।' (उत्तर०, ६/३०)

(ii) 'जगज्जीर्णारण्यं भवति च कलत्रेऽप्यु (ह्यु) परते।' (उत्तर०, ६/३८)

२०. डॉ० भोलाशंकर व्यास, 'संस्कृत-कवि-दर्शन' पृष्ठ, ४०८।

वीरचरित तथा (३) उत्तररामचरित । इन रचनाओं के कालक्रम के विषय में विद्वानों में मतभेद है। उत्तररामचरित को प्रायः सभी आलोचक, कवि की अन्तिम कृति मानते हैं, किन्तु श्री रे का मत है कि 'मालतीमाधव' कवि की अन्तिम रचना थी। परन्तु रे महोदय का मत युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। महावीरचरित और मालती-माधव के रचना-क्रम के विषय में पर्याप्त मतभेद है। पण्डित टोडरमल, डॉ० भण्डारकर, चन्द्रशेखर पाण्डेय आदि महावीरचरित को कवि की प्रथम कृति मानते हैं। डॉ० कीथ का भी ऐसा ही विचार है परन्तु वे निश्चित रूप से कोई व्यवस्था देने को तैयार नहीं हैं। हमारा अपना विचार है कि भवभूति ने अन्य अनेक रचनाएँ की होंगी, जिनका उचित सम्मान नहीं हुआ तब उन्होंने 'मालतीमाधव' प्रकरण की रचना की, जिसमें अपने आलोचकों के प्रति उनकी खोज स्पष्ट व्यक्त हुई है, किन्तु उसका भी अधिक सम्मान नहीं हुआ तब वे रामचरित की ओर उन्मुख हुए और प्रारम्भिक आलोचना के बाद अपने जीवन में ही एक उच्चकोटि के कलाकार की ख्याति प्राप्त करने में सफल हुए। उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

(१) मालतीमाधव—यह १० अङ्कों का प्रकरण है। इसमें मालती और माधव के प्रेम और विवाह की काल्पनिक कथा चित्रित की गई है। भूरिवसु और देवरात क्रमशः पद्मावती और विदर्भ के राजमन्त्री थे। उन्होंने यह प्रण किया था कि वे अपने पुत्र-पुत्रियों का परस्पर विवाह करेंगे। समय पर देवरात के पुत्र और भूरिवसु के पुत्री उत्पन्न हुई। भूरिवसु देवरात के पुत्र माधव के साथ, अपनी प्रतिज्ञा-नुसार, मालती का विवाह करना चाहते हैं, परन्तु राजा का साला और मित्र (नर्मसुहृद्) नन्दन मालती से अपना विवाह करना चाहता है। राजा का समर्थन भी उसे प्राप्त है। माधव का एक साथी मकरन्द है और नन्दन की बहिन मदयन्तिका मालती की सहेली है। मालती और माधव एक शिव-मन्दिर में मिलते हैं। वहीं मदयन्तिका को मकरन्द एक सिंह से बचाता है। तभी वे एक दूसरे पर अनुरक्त हो जाते हैं। इधर राजा मालती और नन्दन का विवाह कराने के लिए तैयार हैं। माधव अपनी प्रेमसिद्धि के लिए श्मशान में तन्त्र-सिद्धि कर रहा है कि उसे एक स्त्री की चीख सुनाई पड़ती है। वहाँ जाने पर उसे पता चलता है कि अघोरघण्ट और उसकी शिष्या कपालकुण्डला मालती को चामुण्डा की बलि चढ़ाने का उपक्रम कर रहे हैं। माधव अघोरघण्ट को मारकर मालती को बचा लेता है। राजा के सैनिक ढूँढते हुए श्मशान पहुँचते हैं और मालती को ले आते हैं। मालती और नन्दन के विवाह की तैयारी की जाती है परन्तु कामन्दकी (भूरिवसु की शुभ-चिन्तिका तापसी) की चतुरता से मकरन्द का विवाह नन्दन से हो जाता है और कामन्दकी शिव मन्दिर में ले जाकर मालती-माधव का गन्धर्व विवाह करा देती है। इधर प्रथम मिलन के अवसर पर मकरन्द नन्दन को पीट देता है। नन्दन वहाँ से चला जाता है। मदयन्तिका अपनी भाभी को समझाने जाती है, पर उसे अपना प्रेमी जानकर उसके

साथ भाग जाती है परन्तु सैनिकों द्वारा मकरन्द पकड़ लिया जाता है। यह सुनकर माधव मालती को छोड़कर अपने मित्र की सहायता करने के लिए चल पड़ता है। इसी बीच अपने गुरु का बदला लेने के लिए कपालकुण्डला मालती को चुराकर श्रीपर्वत पर ले जाती है। उधर सैनिकों और माधव-मकरन्द का भयङ्कर युद्ध होता है। राजा उनकी वीरता से प्रसन्न होकर उन्हें छोड़ देता है। माधव मकरन्द के साथ विक्षिप्तावस्था में विन्ध्य पर्वत पर मालती की खोज में घूम रहा है। वहीं कामन्दकी की शिष्या सौदामिनी बतलाती है कि मालती इसकी कुटिया में सुरक्षित है। इस समाचार को मकरन्द, भूरिवसु, मदयन्तिका आदि को देता है। बाद में मालती माधव के मिलन के साथ ही मकरन्द-मदयन्तिका का विवाह सम्पन्न हो जाता है।

'मालतीमाधव' की रचना में कवि को बहुत सम्भव है बृहत्कथा अथवा अन्य लोककथाओं से प्रेरणा मिली हो। कुछ विद्वानों की सम्मति में भास के 'अविमारक' का मालतीमाधव पर प्रभाव पड़ा है। वस्तुयोजना की दृष्टि से मालतीमाधव कथा बहुत विशृङ्खलित है। लम्बे-लम्बे समास और संवाद उसकी नाटकीयता में व्याघात उपस्थित करते हैं।

(२) महावीरचरित—यह सात अङ्कों का नाटक है। इसमें रामचन्द्र जी के राज्याभिषेक तक की घटनाओं का वर्णन हैं। मालतीमाधव की अपेक्षा यह नाटक अधिक संगठित हैं। कवि ने इसमें अनेक नवीन कल्पनाएँ की हैं। आरम्भ में ही रावण सीता-विवाह का अभिलाषी चित्रित करके कवि ने नाटक में संघर्ष की अवतारणा कर दी है। रामचन्द्रजी धनुष तोड़कर सीता जी से विवाह करते हैं। रावण अत्यन्त क्रुद्ध होता है, उसका मन्त्री माल्यवान् अपनी कूटनीति का प्रयोग करता है। पहले तो वह परशुराम को राम के विरुद्ध भड़काकर भेजता है पर जब यह युक्ति असफल हो जाती है तब वह शूर्पणखा को मन्थरा-वेश में भेजकर कैकयी से राम को वन भेजने का षड्यन्त्र करता है। वन में निवास करते समय माल्यवान् ही सीताहरण कराता है और बाली को भड़काता है। बाली राम से युद्ध करने आता है और मारा जाता है। अन्त में, सुग्रीव की सहायता से लङ्का पर चढ़ाई करते हैं और रावण-वध के अनन्तर पुष्पक-विमान से राम अयोध्या लौट आते हैं।

महावीरचरित मालतीमाधव से अधिक गठा हुआ होने पर भी वर्णनों की अधिकता, सटीक चरित्र-चित्रण के अभाव एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की न्यूनता के कारण प्रथम श्रेणी का नाटक नहीं कहा जा सकता है।

(३) उत्तररामचरित—भवभूति का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। इसमें कवि ने अपनी कल्पना का प्रयोग करके अद्भुद सृष्टि की है इसमें सात अङ्क है और इसमें रामचन्द्रजी के उत्तर चरित्र का वर्णन है। यह महावीरचरित का उत्तर भाग ही समझा जा सकता है। प्रथम अङ्क में राम को दुर्मुख नामक दूत से सीतापवाद विषयक सूचना मिलती है और वे प्रजारञ्जन के लिए उनका त्याग कर देते हैं। इसकी भूमिका बड़े ही कौशल से संयोजित की गई है। 'चित्रदर्शन' के अवसर पर

स्वयं सीताजी गंगा जी का दर्शन करने की इच्छा व्यक्त करती हैं और गंगा-दर्शन के लिये उनका जाना अनजाने में ही राम से बिछुड़ जाना होता है। दूसरे अङ्क का प्रारम्भ १२ वर्ष के बाद होता है। आत्रेयी नामक तापसी तथा वासन्ती नामक वनदेवी के सम्भाषण से हमें ज्ञात होता है राम ने अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ कर दिया है और महर्षि वाल्मीकि किसी देवता के द्वारा सौंपे गये दो प्रखरबुद्धि बालकों का पालन कर रहे हैं। राम दण्डकारण्य में प्रवेश कर शूद्रमुनि का वध करते हैं। तृतीय अङ्क में तमसा और मुरला दो नदियों के वार्तालाप से ज्ञात होता है कि परित्यक्त होने के अनन्तर सीता जी प्राण-विसर्जन करने के लिये गङ्गा जी में कूद पड़ी और वहीं उन्होंने लव-कुश को जन्म दिया। गङ्गाजी ने उनके पुत्रों की रक्षा करके वाल्मीकि जी को समर्पित कर दिया है। आज उनकी बारहवीं वर्षगाँठ है इसलिये भगवती भागीरथी ने सीता जी को आज्ञा दी है कि वे अपने कुल के उपास्य देव भगवान् सूर्य की उपासना करें। उन्हें भागीरथी का वरदान है कि उन्हें पृथ्वी पर देवता भी नहीं देख सकते, पुरुषों की तो बात ही क्या है ? गङ्गा जी को यह बात ज्ञात है कि अगस्त्याश्रम से लौटतें समय रामचन्द्र जी पञ्चवटी के दर्शन अवश्य करेंगे, कहीं ऐसा न हो कि पूर्वानुभूत दृश्य का स्मरण कर वे विक्षिप्त चित्त हो जायें। इसलिए उन्होंने सीता जी को राम का दर्शन करने की योजना बनाई है और उनकी देखरेख के लिए उन्होंने (तमसा) को उनके साथ भेजा है। इसके अनन्तर भगवान् रामचन्द्रजी का प्रवेश होता है। वह पञ्चवटी प्रवेश में वनदेवी वासन्ती के साथ पूर्वानुभूत दृश्यों को देखकर सीता की स्मृति से अत्यन्त व्याकुल होते हैं। सीता अदृश्य रूप में उन्हें स्पर्श करके प्रबुद्ध करती है। 'छाया' नामक इस तृतीय अङ्क में सीता के हृदय की शुद्धि हो जाती है। चतुर्थ अङ्क में वाल्मीकि-आश्रम में जनक, कौशल्या, वसिष्ठ आदि का आगमन होता है। कौशल्या और जनक का मिलन होता है। वहीं एक क्षत्रिय-बालक (लव) को ये देखते हैं। अन्य ब्रह्मचारियों द्वारा रामचन्द्रजी के यज्ञाश्व की सूचना सुनकर वह भाग जाता है। पाँचवे अङ्क में यज्ञाश्व के रक्षक चन्द्रकेतु से लव का वाद-विवाद होता है। और वे युद्ध करने के लिए तैयार हो जाते हैं; यद्यपि उनमें एक-दूसरे के प्रति प्रेम उमड़ता है। छठे अङ्क में एक विद्याधर-युगल के द्वारा दोनों के युद्ध का वर्णन प्राप्त होता है। इसी बीच रामचन्द्रजी के आ जाने से युद्ध रुक जाता है। कुश भी सूचना पाकर आ जाता है। राम के हृदय में उनके प्रति अत्यन्त प्रेम उमड़ पड़ता है। परन्तु उन्हें यह ज्ञात नहीं हो पाता कि ये उन्हीं की सन्तान हैं। सातवे अङ्क में 'गर्भांक'—नाटक का प्रयोग होता है। वहीं वाल्मीकि की योजना से सीता-राम का मिलन होता है।

(ग) उत्तररामचरित की नाटकीय विशेषताएँ

कथावस्तु का स्रोत और उसमें परिवर्तन—

उत्तररामचरित की कथावस्तु रामायण पर आधारित है, किन्तु भवभूति ने अनेक परिवर्तन किये हैं। निस्सन्देह उनकी प्रतिभा के बल से उत्तररामचरित का

कथानक एक नवीन रूप में अवतीर्ण हुआ है। और 'पद्मपुराण' में भी रामकथा का यह प्रसंग उत्तररामचरित की घटनाओं से मिलता है और इसी आधार पर वेलवल्कर प्रभृति विद्वानों का विचार है कि भवभूति के उत्तररामचरित का स्रोत वही पुराण था, किन्तु पुराणों की निश्चित तिथि निर्धारित न होने तथा उनमें समय-समय पर अनेक प्रक्षेप होने के कारण यह विचार हृदयङ्गम प्रतीत नहीं होता। बहुत सम्भव है उत्तररामचरित की रचना के अनन्तर किसी ने उसके आधार पर वह प्रसङ्ग पद्मपुराण में जोड़ दिया।

भवभूति ने रामायण की कथा में निम्नलिखित परिवर्तन किये हैं :—

(१) रामायण की कथा दुःखान्त है। सीता पृथ्वी में समा जाती है और राम हाथ मलते रह जाते हैं, किन्तु संस्कृत नाटचशास्त्र के नियमों का ध्यान रखते हुए भवभूति ने उसे सुखान्त चित्रित किया है। राम-सीता, लव-कुश आदि के साथ सुखद मिलन के साथ नाटक समाप्त होता है।

(२) प्रथम अङ्क में 'चित्रवीथी' की कल्पना कवि के उर्वर मस्तिष्क की उपज है। मूलकथा में उसका उल्लेख नहीं है। इस प्रयोग से राम के उत्तर-चरित के साथ पूर्व चरित भी संयोजित कर दिया गया है।

(३) शम्बूक की कथा यद्यपि रामायण में भी मिलती है, परन्तु उत्तर-रामचरित के द्वितीय अङ्क में वह एक नये रूप में प्रस्तुत की गई है, जिससे राम पञ्चवटी में पहुँच सकें।

(४) तृतीय अङ्क में 'छाया' सीता की कल्पना तो कवि की मौलिक सूझ है ही। 'छाया' सीता की अवतारणा नाटकीय दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। राम का पञ्चवटी में वासन्ती से मिलना भी कवि की अपनी उद्भावना है। इस पात्र की कल्पना से कवि ने राम के हृदय का सच्चा चित्र दर्शकों के सामने रखने में अपूर्व सफलता पाई है।

(५) चतुर्थ अङ्क में वसिष्ठ अरुन्धती, जनक आदि को वाल्मीकि-आश्रम में एकत्रित करना भी कवि का ही कौशल है।

(६) रामायण की कथा में यज्ञाश्व चुराने के प्रसङ्ग में राम और लव-कुश का युद्ध वर्णित है, और उसमें राम की पराजय भी दिखलाई गई है, परन्तु भवभूति ने बड़ी कुशलता से अपने नायक की मान-रक्षा की है। उन्हें ऐसी असमंजसकारी परिस्थिति से बचाया है। युद्ध लव और चन्द्रकेतु में ही दिखाया गया है, जो कि समन्वय आदि के कारण औचित्यपूर्ण है। युद्ध-वर्णन से राम के मञ्च पर आने में सहायता मिलती है।

(७) सातवें अङ्क में 'गर्भांक' कवि का नूतन प्रयोग है। उत्तररामचरित का प्रारम्भ भी नाटक से है और अन्त भी।

उत्तररामचरित का नामकरण ही बड़ा सारगर्भित है। हमने अपनी टीका में १९वें पृष्ठ पर इसकी विशद व्याख्या की है नामकरण की भाँति मङ्गलाचरण

भी कवि के मानसिक विकास को समझने में सहायक होगा। स्पष्टतः कालिदास की भाँति यद्यपि इनमें 'आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्' की-सी भावना नहीं है फिर भी उनके स्वभाव में महान् परिवर्तन दिखाई पड़ता है।

'उत्तररामचरित' भवभूति की सर्वश्रेष्ठ रचना है। उसकी प्रारम्भिक रचनायें भले ही असफल रही हों, परन्तु 'उत्तररामचरित' के विषय में 'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते' यह प्रशस्ति-पत्र उन्हें सहृदय समाज की ओर से दिया गया। वस्तु, नेता और रस की सुन्दर योजना ने इसे नाटच-साहित्य का उज्ज्वल रत्न बना दिया है।

कथावस्तु में मौलिक परिवर्तनों का संकेत हम ऊपर कर चुके हैं। उनका वस्तु विन्यास बड़ा ही कलापूर्ण है। कथावस्तु को अङ्कों में इस प्रकार विभाजित किया गया है कि आगामी घटना-चक्र पर उसका प्रभाव पड़ता चला जाता है। 'चित्र-दर्शन' नामक प्रथम अङ्क में ही हम नाटक के सुखान्त होने की सूचना पाते हैं—"सर्वथा ऋषियो देवताश्च श्रेयो विधास्यन्ति"। जृम्भकास्त्रों की सीता के पुत्रों को प्राप्ति, गङ्गा और पृथ्वी के द्वारा सीता की आगामी सहायता—सब का बीज इसी अङ्क में मिल जाता है। पताकास्थानकों के सुन्दर प्रयोग कथा को और भी अधिक प्रभावशाली बना देते हैं। राम के 'किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः' कहने पर प्रतीहारी का यह कहना 'देव! उपस्थितः' और राम का घबराकर यह पूछना—'अयि कः?' और प्रतीहारी का यह उत्तर देना—'आसन्न-परिचारको देवस्य दुर्मुखः' पताकास्थानक के प्रतिनिधि रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसी प्रकार के प्रयोग अनेक स्थलों पर नाटक के सौन्दर्य को बढ़ाते हैं।

दूसरे अङ्क की घटनायें बारह वर्ष के अनन्तर होती हैं। प्रजापालन के लिए शम्बूक का वध करने के हेतु राम दण्डकारण्य में आते हैं। कवि ने इन बारह वर्षों के बीतने का संकेत प्राकृतिक परिवर्तनों के आधार पर बड़ी कुशलता से किया है। (२/२७)। नदियों की धारायें बदल गई हैं, सीता के पालतू पशु-पक्षी बड़े हो गये हैं, परन्तु राम के हृदय में सीता का प्रेम ज्यों का त्यों है। वह प्रेम दण्डकारण्य में आकर एकदम प्रदीप्त हो उठता है। रामचन्द्रजी के चरित्र का विकास इस अङ्क में नाटककार ने बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढङ्ग में दिखाया है।

सीता के हृदय की शुद्धि के लिये तीसरा अङ्क अवतरित किया गया है। इस अङ्क का नाम 'छाया' रक्खा गया है। पञ्चवटी के पूर्वानुभूत दृश्यों को देखकर राम का फूट-फूट कर रोना निस्सन्देह सीता के 'परित्याग-शल्य' को उखाड़ फेंकता है और उनके हृदय में जो यत्किञ्चित रोष था, दूर हो जाता है। 'अहमेवैतस्य हृदयं जानामि ममैषः' कहकर वे अपने हृदय का परम विश्वास व्यक्त करती हैं। हिरण्यप्रतिमा का समाचार सुनकर तो उनका समस्त आक्रोश श्रद्धा और विश्वास में परिवर्तित हो जाता है। सीता का अदृश्य रूप में वर्णन कवि की निःसन्देह मौलिक सूझ है। बहुत से आलोचकों ने इस अङ्क पर यह आरोप लगाया है कि

इसके कारण नाटक की गतिशीलता में विघ्न उत्पन्न होता है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि तृतीय अङ्क में वाह्य गतिशीलता नहीं, आन्तरिक गतिशीलता है।

करुण रस के दीर्घ प्रवाह के अनन्तर हम पुनः एक वार औत्सुक्य, हास्य और प्रसन्नता के क्षणों में आते हैं। चतुर्थ अङ्क में कारुण्य की गहराई से निकलकर दर्शक कुछ विश्रान्ति का अनुभव करता है। इस अङ्क की घटनाओं का सम्बन्ध दूसरे अङ्क की घटनाओं से है। वहाँ आत्रेयी और वासन्ती के वार्तालाप से अरुन्धती, कौशल्या और वसिष्ठ जी के वाल्मीकि-आश्रम में गमन, लव-कुश, राम के अश्वमेध यज्ञ, यज्ञ के अश्व की रक्षा में संलग्न चन्द्रकेतु, वाल्मीकि के काव्य आदि के सम्बन्ध में चर्चा हुई थी। यहाँ उन तथ्यों का विस्तार दृष्टिगत होता है।

चतुर्थ अङ्क के अन्त से ही पाँचवें अङ्क की भूमिका प्रारम्भ हो जाती है और घटनाचक्र बड़ी तीव्रता से बढ़ता है।

कवि ने छठे अङ्क की भूमिका दूसरे अङ्क से ही प्रारम्भ कर दी थी। शम्बूक-वध करके राम विमान से अयोध्या लौटते समय वाल्मीकि-आश्रम में भी जायेंगे, यह सम्भावना होती है। रङ्गमञ्च पर उनके प्रवेश के लिये कवि ने समुचित भूमिका प्रस्तुत की है। लव-कुश से उनका मिलन बड़ी चातुरी से कराया गया है। नाटक की चरमावधि (Climax) तक पहुँचने के लिए इस अङ्क की महत्ता स्वतः सिद्ध है।

नाटक के सुखद उपसंहार में सातवें अङ्क का 'गर्भाङ्क' बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। कवि ने यदि 'चित्रवीथी' दृश्य से नाटक के प्रथम अङ्क में रामचन्द्रजी का पूर्व-चरित्र प्रदर्शित किया है तो गर्भाङ्क ने उनके उत्तर चरित्र पर प्रकाश डाला है। यह अङ्क समग्र नाटक की कथावस्तु का संक्षेप में परिचय प्रस्तुत कर देता है। नाटक के तृतीय अङ्क का 'छाया' चित्र सप्तम अङ्क में वास्तविक रूप धारण कर लेता है।

उक्त घटना यदि तृतीय अङ्क में स्वप्न थी तो यहाँ जागरण, यदि वहाँ कल्पना थी तो यहाँ प्रत्यक्ष; यदि वहाँ चित्र की एक प्रच्छन्न रेखा थी तो यहाँ उभरा हुआ मनोहर दृश्य। इन विविध भावों के सम्मेलन के साथ ही सम्मेलन नामक सातवाँ अङ्क समाप्त होता है। नाटक का आरम्भ राजमहलों के दृश्यों से होता है और समाप्ति महर्षि वाल्मीकि के गङ्गा तट के पवित्र आश्रम पर।

'उत्तररामचरित' में विष्कम्भकों का प्रयोग भी कुशलता से हुआ है। उनमें सभी आवश्यक घटनाओं की सूचना दे दी गई है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'उत्तररामचरित' एक सफल नाटक है। राम प्रजापालक हैं और अपना सर्वस्व प्रजाहित के लिये बलिदान कर सकते हैं। सीता—'करुणस्य मूर्तिः' अथवा 'शरीरिणी विरहव्यथा' होने पर भी अपने लोकोत्तर तेज से नाटक के प्रत्येक क्षेत्र को आभासित कर रही हैं। लक्ष्मण आज्ञापालक, कर्त्तव्यनिष्ठ, गम्भीर और कुछ तेजस्वी स्वभाव के चित्रित किये गये हैं। कौशल्या विपत्ति की मारी हुई, जनक दुर्भाग्य-ग्रस्त होने पर भी क्षात्र-धर्म से प्रदीप्त हैं। लव-कुश बाल-सुलभ चापल्य से युक्त होते हुए भी वीरता से युक्त हैं। चन्द्रकेतु राजकुमार होने पर

भी विनय और वीरता से युक्त हैं। तमसा, वासन्ती, आत्रेयी, नारी गुणों के साथ ही अपनी-अपनी भूमिकाएँ चित्रित करने में पूर्णतः सफल हुई हैं। अष्टावक्र, वाल्मीकि मितभाषी ऋषियों के रूप में चित्रित किये गये हैं। सुमन्त्र स्वामिभक्त वात्सल्यपूर्ण और नीतिज्ञ हैं। दण्डायन और सौधातकि अनध्यायप्रिय छात्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऋषि पत्नी अरुन्धती परम साध्वी के रूप में हमारे सामने आती हैं। दुर्मुख तो दुर्मुख है ही।

भवभूति की प्रतिभा की सशक्त तूलिका से ये सभी चित्र बड़े ही प्राणवान् चित्रित किये गये हैं। यह तो हो सकता है कि उनके ये चित्र बहुत भड़कीले न हों, परन्तु इनमें जो गम्भीर-प्रभावोत्पादन-क्षमता है वह किसी को मन्त्र-मुग्ध किये विना नहीं रह सकती।

नाटकीय संवाद अधिकांशतः छोटे-छोटे और सहज बोधगम्य हैं। कभी-कभी छोटे-छोटे वाक्य बड़े-बड़े अर्थों की अभिव्यक्ति करते हैं। सीता का 'वत्स ! इयमप्यपरा का ?' पूछना, लक्ष्मण का 'आर्ये ! दृश्यतां द्रष्टव्यमेतत्' यह कहना, वन देवता का 'हन्त ! तर्हि पण्डितः संसारः' कहना उनके सारगर्भित कथनोपकथनों के उदाहरण हैं। भवभूति के सम्वाद इस नाटक में न तो 'मालतीमाधव' की तरह दीर्घ-समास युक्त हैं और न ही 'महावीरचरितम्' की भाँति उनमें शब्दों का अकाण्ड ताण्डव तथा श्लथत्व ही हैं। 'उत्तररामचरितम्' में श्लोकों को विभक्त करके सम्वादोपयोगी रूप देने में भवभूति बहुत सफल हुए हैं।

प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से 'उत्तररामचरित' बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। वहाँ के द्रुम और मृग भी सीता-राम के बन्धु-वान्धव हैं। मयूर भी सीता का स्मरण करता है। वृक्ष भी पुष्पों से राम को अर्घ्य देते हैं और उनके रुदन पर पत्थर भी फूट-फूट कर रोने लगते हैं। प्रकृति-वर्णन में भवभूति का कौशल इस बात से आँका जाना चाहिए कि उन्होंने पञ्चवटी में सभी पशु-पक्षी 'युगल रूप' में चित्रित किये हैं, जबकि राम और सीता ही अकेले-अकेले हैं। राम के हृदय को रुला रुला कर 'काव्यन्याय' (Poetic justic) दिखाने में अपूर्व सफलता प्राप्त की है। विदूषक का अभाव भी इस नाटक की अन्य विशेषता है।

दाम्पत्य-प्रेम (Conjugal love) का 'उत्तररामचरित' में बहुत ही सुन्दर चित्रण किया गया है। संसार में सच्चा दाम्पत्य प्रेम बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है। प्रथम अङ्क के ३८—३९ वें श्लोकों में इस पर बहुत सुन्दर प्रकाश डाला है। न केवल दाम्पत्य प्रेम, अपितु सर्वविध प्रेम के विषय में भवभूति ने अपने विचार बड़े मञ्जुल रूप में व्यक्त किये है।[२१]

सारगर्भित सुभाषित उत्तररामचरित की अन्य विशेषता है। इन सूक्ति-रत्नों से नाटक की यह मञ्जूषा दमक रही है। सुभाषितों के लिये परिशिष्ट (घ) देखिये।

२१. उत्तररामचरित्, ५/१७. ६/१२।

भाषा की दृष्टि से उत्तररामचरित भवभूति के अन्य नाटकों की अपेक्षा सरल है यद्यपि एक-आध स्थल पर हमें कठिनता के भी दर्शन होते हैं। भावातिरेक के कारण कभी-कभी कवित्व नाटकत्व से बढ़ जाता है और वहाँ नाटकीय गतिशीलता दबी हुई सी प्रतीत होती है।

नाट्यशास्त्र की दृष्टि से इसकी कथावस्तु प्रख्यात है। नायक धीरोदात्त है। नायिका स्वकीया है। इसमें प्रतिनायक या प्रतिनायिका का अभाव है। अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं, सन्धियों का यथास्थान चारुता से सन्निवेश किया गया है। इसमें 'करुण विप्रलम्भ-रस' की प्रधानता है, वीर, अद्भुत आदि रस अङ्ग हैं। रस-विवेचन हम नीचे करेंगे।

उत्तररामचरित की रस-योजना के सम्बन्ध में प्रायः सभी आलोचकों ने 'करुण' रस को अङ्गी रस के रूप के स्वीकार किया है। उनकी मान्यता का आधार ही भवभूति का अपना ही श्लोक 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्...' (३/४७) इन विद्वानों के मत में भवभूति करुण रस के ही समर्थक थे और नाट्यशास्त्र के नियमों को चुनौती देकर वीर और श्रृङ्गार के स्थान पर 'करुण' को अङ्गी रस स्वीकार किया है।

परन्तु यहाँ विचारणीय प्रश्न उठता है कि उत्तररामचरित में 'करुण रस' है या 'करुण विप्रलम्भ' ? करुण का स्थायी भाव 'शोक' है जिसका लक्षण है—

"इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं 'शोक'—शब्दभाक्।"

इसमें पुनर्मिलन की आशा नहीं रहती परन्तु 'करुण विप्रलम्भ' में पुनर्मिलन की आशा बनी रहती है, जैसा कि उसके लक्षण से स्पष्ट है :—

"यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्ततो भवेत् करुणाविप्रलम्भाख्यः॥" (साहित्यदर्पण)

यहाँ राम और सीता का पुनर्मिलन होता है। अतः हमारे मत में 'करुणविप्रलम्भ' मानना ही उपयुक्त होगा।

रही 'करुण' की बात; उसके विषय में उत्तर यह है कि 'शोक' शोक तक ही रहता हैं, रस तक नहीं पहुँच पाता। वह 'अनिर्भिन्न, अन्तर्गूढ़ घ नव्यथ' तथा 'पुटपाक-प्रतीकाश' ही रह जाता है। कवि ने 'पुटपाक' शब्द का प्रयोग किया है। पुटपाक के अनन्तर ही 'रस'-सिद्धि होती है। अतः यह स्पष्ट है कि कवि भी अपने करुण को अभी पूर्ण परिक्व नहीं मानते। राम के हृदय की व्याकुलता का वर्णन करना उन्हें अभीष्ट है। भवभूति के प्रशंसकों ने उनके सम्बन्ध में जो प्रशस्तियाँ की हैं उनमें भी 'करुण रस' का प्रयोग नहीं आता अपितु 'कारुण्य' (करुण भाव) का ही उल्लेख है :—

'भवभूतेः सम्बन्धात् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ?

यह विचार कि भवभूति एकमात्र 'करुण' के ही समर्थक थे, उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि यदि उन्हें केवल करुण रस ही अभीष्ट होता तो ये 'रसः करुण एव' कहते, 'एकः' विशेषण उन्होंने अपने नाटक के तृतीय अङ्क के लिए ही दिया है। जहाँ तक 'करुण' निमित्त भेद से भिन्न-भिन्न पात्रों में विभिन्न रूप से प्रतिबिम्बित हो रहा है। भवभूति अन्य रसों को स्वीकार न करते हों, यह बात नहीं है, 'उत्तररामचरित' में उन्होंने 'जनितात्यद्भुतरसः' और 'वीरो रसः किमयम्' आदि रसान्तरों का स्पष्ट उल्लेख किया है। अतः भवभूति को केवल 'करुण रस' का ही समर्थक मानना सत्य का अपलाप करना है। वे 'करुण' के पक्षपाती हो सकते हैं, किन्तु रसान्तरों के विरोधी नहीं।[२२]

भवभूति ने १/३९ में व्यञ्जना से अपने नाटक की ओर भी संकेत किया है—

'उत्तररामचरित' सदृश मङ्गलकारी नाटक कठिनता से ही (देखने को या पढ़ने को) मिलता है। यह नाटक सभी अवस्थाओं में (कार्यावस्थाओं में) सुख-दुःख का अनुपम अद्वैत है; इसमें सर्वत्र आनन्द और करुणा की स्रोतस्विनी प्रवाहित होती रहती है; इस नाटक को देखने अथवा सुनने अथवा पढ़ने से हृदय अपार विश्राम का लाभ करता है; कहीं भी रस की धारा विच्छिन्न नहीं होती; हृदय में सत्त्वोद्रेक होने से तम का आवरण नष्ट हो जाने के कारण यह प्रेम-तत्वमय प्रतीत होता है।

इससे बढ़कर 'उत्तररामचरितम्' की विशेषता के सम्बन्ध में और क्या कहा जा सकता है ?

भवभूति : एक समीक्षा—

भवभूति अपने व्यक्तित्व और पाण्डित्य की दृष्टि से संस्कृत साहित्य की अनुपम निधि हैं। वाणी को अपने संकेत पर नचाने वाली कतिपय अङ्गुलिगण्य विभूतियों में उनकी गणना की जाती है। मानव-भावों के विश्लेषण में, प्रकृति-चित्रण में, कथा-शिल्प में, कल्पना की उड़ान में, रस की अवतारणा में विशुद्ध, प्रेम के चित्रण में, भवभूति का स्थान बहुत ही उच्च है।

उनकी शैली में भाषा और भाव का अद्भुत सामञ्जस्य है। उनकी भाषा विषयानुसारिणी है। भयावह दृश्यों के वर्णन में समास-संकुल ओजोगुणविशिष्ट पद्य भी लिख सकते हैं और कोमल प्रसङ्गों में असमस्त और सरल रचना भी कर सकते हैं। गौडी रीति के सम्राट् होने पर भी वे वैदर्भी के उपकरण हैं। एक ओर वे यदि—

"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ॥" (२/७)

---

२२. इस विषय पर विस्तार से विवेचन के लिये हमारी 'एको रसः करुण एव' श्लोक पर २७१–७५ पृष्ठ की टिप्पणी देखिये।

जैसे सरल पद्य लिख सकते हैं तो दूसरी ओर—

'ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्टमुद्भूरिघोरघनघर्घघोषमेतत् ।
ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्र-लीला विडम्बि विकटोदरमस्तु चापम् ।"

(४/२९)

जैसे विकटबन्ध वाले पद्य भी लिख सकते हैं। एक ओर यदि परम सुकुमार भावों का चित्रण कर सकते हैं तो दूसरी ओर पुरुष भावनाओं का चित्र उपस्थित कर करते हैं। उनकी रचनाओं में भाषा की प्रौढ़ता, शब्द-विन्यास की प्राञ्जलता और अर्थगौरव की प्रधानता प्रचुर रीति से उपलब्ध होती हैं। उन्होंने स्वयं अपनी शैली के विषय में संकेत किया है—

"यत्प्रौढत्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवम् ।
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्य-वैदग्ध्ययोः ॥"

भवभूति का भावपक्ष बहुत प्रबल है। भावनाओं का सटीक वर्णन करने में बहुत कम कवि उनकी तुलना कर सकेंगे। पञ्चवटी में राम का दर्शन कर सीताजी के हृदय की क्या अवस्था है, इसका वर्णन तमसा कर रही है :—

"तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशाद्,
वियोगे दीर्घेऽस्मिन् झटिति घटनात्स्तम्भितमिव ।
प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढकरुणं,
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव ॥ (३/१३)

एक साथ अनेक भावनाओं का कैसा सुन्दर चित्रण किया गया है। इस प्रकार भावशवलता के अनेक उदाहरण उनके नाटकों में उपलब्ध होते हैं।

'भवभूति की विशद वर्णन शक्ति अद्भुत है। वे प्रवाहयुक्त शोभा के साथ वर्णन कर सकते हैं और मार्मिक बेग के साथ भी। वे बाल्यावस्था की मुग्धकारी सरलता (१/२०, ४/४); किशोरावस्था की सहज चपलता (६/२६), यौवन का उद्दाम स्थिरता किन्तु मर्यादित शृङ्गारभावना (६/३५) तथा प्रौढत्व एवं वार्धक्य की स्नेहपूर्ण वात्सल्यवृत्ति (४/१९, ६/२२) का बड़ा ही सरस एवं हृदयग्राही वर्णन करते हैं।'[२३] विविध रसों तथा भावों का एक पद्य में ही वर्णन कर देना भवभूति की विशेषता है।

भवभूति में शब्दचित्र उतारने की बड़ी प्रबल क्षमता है। उनके शब्दों में अर्थ के अनुरूप ध्वनि स्वतः ही मुखरित हो जाती है।[२४]

भवभूति पात्रानुरूप ही भाषा का प्रयोग कराते हैं। अष्टावक्र, वाल्मीकि ब्रह्मचारी बटुओं की भाषा आश्रमों के अनुरूप है। जनक अरुन्धती तथा वसिष्ट आदि की

२३. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा।

२४. उत्तर०, २/३०।

भाषा दार्शनिक चिन्तन से ओतप्रोत है और तमसा, मुरला, विद्याधर-विद्याधरी आदि की भाषा कुछ अलौकिक तत्व से युक्त-सी है।

भवभूति के यहाँ अलङ्कार स्वतः ही उमड़ते चले आए हैं। भवभूति के पाण्डित्य से अपरिचित व्यक्ति को वे यत्नपूर्वक बिठाये हुए लग सकते हैं; परन्तु उनकी शैली से परिचित सहृदय को वे 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' ही प्रतीत होंगे। उपमा के प्रयोग में वे वहुधा मूर्त की उपमा अमूर्त से दिया करते हैं:—

'परिपाण्डुदुर्वलकपोलसुन्दरं दधती विलोलकवरीकमाननम्।
करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी, विरहव्यथेव समुपैति जानकी ॥' (३/५)

भवभूति के वर्णनों में विविध शास्त्रों के पारिभाषिक शब्द स्वतः उमड़ते चले आते हैं। इस सम्वन्ध में हम अनेक उदाहरण पीछे दे चुके हैं।

भवभूति अपने श्लोकों को अनेक संवादों में विभक्त कर देते हैं और वे वहुधा अपने श्लोकों को अपनी कृतियों में दुहराया करते हैं, कभी-कभी वे अपनी कृतियों के सम्बन्ध में प्रशंसासूचक संकेत भी करते चलते हैं। जैसे—अहो संवि-धानकम्! अहो! सरसरमणीयता संविधानकस्य! और 'अस्ति वा कुतश्चेदेवं-भूतमद्भुतं विचित्ररमणीयोज्वलं प्रकरणम्!'

वे अपनी रचनाओं में प्रायः हास्य को विशेष स्थान नहीं देते जहाँ प्रसङ्ग आये हैं, वे बड़े ही शिष्ट एवं मर्यादित हैं। वस्तुतः यह उनकी स्वाभाविक गम्भीरता का परिणाम है।

भवभूति ने प्रकृति के सुकुमार और भयावह दोनों ही रूपों का चित्रण किया है। तीनों नाटकों में प्रकति के चित्रण को उन्होंने प्रमुख स्थान दिया है। कालिदास ने अपनी रचनाओं में प्रकृति के मृदुल मांसल रूप के ही दर्शन किये हैं। किन्तु भवभूति ने उसके दोनों[२५] पक्षों का विस्तार से वर्णन किया है।

भवभूति प्रकृति का मानवीकरण कालिदास के समान तो नहीं कर सके परन्तु उन्होंने जिस प्रकार उसके दृश्यों का अङ्कन किया है वह हृदयस्पर्शी अवश्य है।

करुण भावनाओं के चित्रण में भवभूति के समान सफलता सम्भवतः बहुत कम कवियों को मिली हो भवभूति के कारुण्योत्पादक काव्य को सुनकर—

'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।"

समस्त तृतीय अङ्क इसी करुण-धारा से आप्लावित है। करुण भाव की अभिव्यक्ति से भवभूति छाँट-छाँट कर ऐसे विभावादि लाते हैं, जिससे बरबस हृदय पिघल जाता है वासन्ती राम को पहली बातों का स्मरण कराती हुई कहती है—महाराज! यह वही लताकुञ्ज है जहाँ बैठकर आप सीता के रास्ते में आँखें बिछाये रहते थे;

---

२५. देखिए उत्तररामचरित (२/२०, २/१६) विस्तारभय से अधिक उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं।

परन्तु उसे गोदावरी के किनारों पर हंसों से खेल करते हुए विलम्ब हो गया था। लौटने पर आपको कुछ खीजा हुआ-सा देखकर अत्यन्त कातरता से (क्षमायाचना के लिये) कमल-कोमल अंगुलियों को जोड़कर प्रणाम किया था:—

"अस्मिन्मेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः,
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य वद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः।" (३/३७)

भवभूति के सम्बन्ध में गोवर्धनाचार्य ने बहुत ही सुन्दर आर्या कही है:—

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा?"

भवभूति आदर्श प्रेम के व्याख्याता थे वासनामय कलुषित प्रेम को उन्होंने अपनी रचनाओं में कभी नहीं आने दिया। प्रेम किन्हीं बाह्य कारणों पर आश्रित नहीं होता उसमें तो कोई अनिर्वचनीय आन्तरिक कारण ही प्रमुख होता है। सूर्य के उदय होने पर ही कमल खिलता है और चन्द्रमा के उदय होने पर चन्द्रकान्त-मणि द्रवित होने लगती है (६/१२) सच्चा प्रेम सदा-सर्वदा एक-सा रहता है। उसमें समय के साथ कमी नहीं आती; वह उत्तरोत्तर-समृद्ध ही होता रहता है। उसमें हृदय को परम विश्राम मिलता है ऐसा दाम्पत्य प्रेम बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है। (१/३९) प्रेमी अपने प्रिय के लिये कुछ भी न करने पर भी एक बहुत बड़ी निधि होता है (६/५) सन्तान इस पारिवारिक प्रेम को बढ़ाने वाली होती है —वह दम्पती के अन्तःकरण की आनन्दग्रन्थि होती है (३/१७)। स्त्री के लिये उसका पति और पति के लिये उसकी पत्नी दोनों परमप्रिय मित्र हैं। यही सबसे बड़ा सम्बन्ध है। यह सारी इच्छाओं की पूर्णता सबसे बड़ी निधि है; यही साक्षात् जीवन भी है। (मा० मा० ६/८) ऐसे पवित्र प्रेम के धरातल पर भवभूति ने अपनी रचनाएँ अवतरित की थी।

इस क्षेत्र में कालिदास भी उनकी तुलना में पीछे ही रह जाते हैं। कालिदास के यहाँ यद्यपि सीता राम, शिव पार्वती आदि का प्रेम बड़ी सुन्दरता से चित्रित किया गया है परन्तु उसमें पवित्रता की वह ज्योति नहीं दिखाई देती जो भवभूति की रचनाओं में।

कभी-कभी मेघदूत और उत्तररामचरित के दाम्पत्य-प्रेम की तुलना की चर्चा की जाती है। इन दोनों में कोई समानता नहीं है। उत्तररामचरित का दाम्पत्य प्रेम विशुद्ध भावभूमि पर आधारित है। उसमें वासना का नाम भी नहीं है, जबकि मेघदूत का प्रेम कामी का प्रेम है। मेघदूत के दम्पती नव विवाहित है, जबकि उत्तर-रामचरित के प्रौढ़। यक्ष अपने प्रेमाक सन्देश देकर व्यक्त कर देता है, परन्तु राम

भीतर ही घुटते रहते हैं। वहाँ केवल यक्ष का ही प्रेम दिखलाया गया है, जबकि यहाँ दोनों का। यक्ष कर्त्तव्य च्युत होकर वियुक्त हुआ है और राम कर्त्तव्य के लिए वियुक्त हुए हैं। यक्ष का विरह सावधिक है, परन्तु यह निरवधिक। वह स्वच्छन्द व्यक्ति का प्रेम है जबकि यह मर्यादापुरुषोत्तम का। दाम्पत्य-प्रेम की तीव्रता दोनों में है, परन्तु दिशाएँ दोनों की भिन्न-भिन्न हैं।

भवभूति की इन विशेषताओं ने उन्हें महान कलाकारों की कोटी में ला बिठाया है, परन्तु उनके कुछ दोष भी हैं जिन पर एक विहङ्गम दृष्टिपात कर लेना उचित होगा, भवभूति लम्बे-लम्बे समासों से युक्त वाक्य और संवाद नाटकों में प्रयुक्त करते हैं। परिणामस्वरूप नाटकों की गतिशीलता रुक जाती है। यह दोष उनके प्रारम्भिक दो नाटकों में बहुत अधिक है। कहीं-कहीं पारिभाषिक शब्दावली की जटिलता भी उनके नाटकों की दृश्यकाव्यता में बाधक होती है। उनका वस्तुविन्यास भी कहीं-कहीं बड़ा शिथिल हैं। उत्तररामचरित का पाँचवा अङ्क यदि निकाल दिया जाय तो, कतिपय आलोचकों का विचार है कि नाटकीय गतिशीलता में कोई बाधा नहीं पड़ेगी। छठे अङ्क में लव-कुश के सामने रामचन्द्रजी का अपने एकान्त जीवन का वर्णन करना भी उचित नहीं है। बाल्मीकि आश्रम में प्रमुख व्यक्तियों में एकत्रित हो जाने पर भी भरत का अनुपस्थित रहना खटकने वाला है।

यह सब होने पर भी भवभूति को संस्कृत-साहित्य में बड़ा सम्मान प्राप्त है। उनके सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक प्रशस्तियाँ कहीं है, जिन्हें परिशिष्ट (ङ) में देखना उचित होगा, यहाँ कलेवर वृद्धि के भय से अधिक विवेचन नहीं किया जा रहा है। दो-एक शब्दों में कतिपय दोष होते हुए भी भवभूति का व्यक्तित्व संस्कृत साहित्य, में ऐसा प्रिय है जैसा कि भक्तों को भूति (भस्म) युक्त भव (शङ्कर) शरीर।

भवभूति और कालिदास

कविता-कामिनी के विलास कालिदास की समक्षकता में बैठने का श्रेय यदि किसी को प्राप्त है तो वह भवभूति को ही है। इन दोनों की तुलना साहित्य में एक मनोरञ्जक चर्चा का विषय है। कुछ विद्वानों के अनुसार कालिदास श्रेष्ठ हैं, तो कुछ के अनुसार भवभूति। भवभूति के समर्थकों का कथन है कि कालिदास तो केवल कवि हैं परन्तु भवभूति महाकवि। इस पर कालिदास के समर्थकों का कथन है कि स्वर्ग के पारिजात आदि भी तो केवल वृक्ष ही हैं, हाँ स्नुही वृक्ष केवल महावृक्ष है:—

'कवय: कालिदासाद्या भवभूतिर्महाकवि:।
तरव: पारिजाताद्या: स्नुही वृक्षो महातरु:॥'

भवभूति ने कालिदास की रचनाओं का पर्याप्त अध्ययन किया था। इससे जाने या अनजाने उन पर कालिदास का प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ा। 'उत्तररामचरित' की 'चित्रवीथी' की प्रेरणा सम्भवत: 'रघुवंश' के निम्नलिखित श्लोक से ली गई है:—

"तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थनासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुखाःन्यभिदण्डकेषु संचित्यमानानि सुखान्यभूवन्।'
[रघुवंश–१४/२५]

'उत्तररामचरित' के छठे अङ्क में राम और लव-कुश के मिलन दृश्य पर 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के सातवें अङ्क का स्पष्ट प्रभाव है। कुछ लोग 'छाया सीता' की कल्पना की प्रेरणा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के छठे अङ्क से मानते हैं, सानुमती अप्सरा अदृश्य रूप से दुष्यन्त की विरह दशा देखती है। परन्तु इतनी दूरारूढ कल्पना हमें उचित प्रतीत नहीं होती। 'मालतीमाधव' में विरही माधव अपनी प्रेमिका के मेघ द्वारा जो संदेश भेजता है वह तो 'मेघदूत' से स्पष्ट प्रभावित जान पड़ता है।

उन दोनों कवियों की अभिव्यक्ति में बहुत अन्तर है। भवभूति अभिधा से अधिक से अधिक भावप्रकाशन करते हैं, किन्तु कालिदास व्यञ्जना वृत्ति से अपने भावों को व्यक्त करते हैं किन्तु कालिदास के पात्र वियोग दशा के आँसू बहाकर ही समाप्त कर देते हैं परन्तु भवभूति के पात्र फूट-फूट कर रोते हैं। कालिदास की भाषा सरसता, वैदर्भी रीति और प्रसादयुक्त होती है, किन्तु भवभूति की शैली आडम्बर-युक्त, प्रौढ़ और दीर्घ समास वाली होती है। कालिदास ने प्रकृति के ललित एवं कोमल पक्ष को ही छुआ है परन्तु भवभूति ने उसके सुकुमार और भयावह दोनों ही रूपों का चित्रण किया है। कालिदास बहुदा मूर्त की उपमा मूर्त से देते हैं जबकि भवभूति मूर्त की उपमा अमूर्त से। कालिदास ने शृङ्गार का वर्णन किया है, भवभूति करुण का वर्णन करते हैं। कालिदास की दृष्टि बहुधा नारी के बाह्य सौन्दर्य पर रही है जबकि भवभूति ने उसके अन्तःसौन्दर्य का उद्घाटन किया है। कालिदास में यौवन की उद्दाम भावनाओं का ही प्रचुरता से वर्णन है जबकि भवभूति में दापत्य-प्रेम का ही आधिक्य है। कालिदास के नाटकों में विदूषकों का होना उनकी विनोदी प्रकृति का सूचक है जबकि भवभूति की रचनाओं में उसका अभाव उनकी गम्भीरता का सूचक है।

इन दोनों महाकवियों की तुलना करते हुए श्रीद्विजेन्द्रलाल राय ने लिखा है :—"विश्वास की महिमा, प्रेम की पवित्रता में भाव की तरङ्ग-क्रीड़ा में, भाषा के गाम्भीर्य में और हृदय के महात्म्य में 'उत्तररामचरित' श्रेष्ठ है। और घटनाओं की विचित्रता में, कल्पना के कोमलत्व में, मानचरित्र के सूक्ष्म विश्लेषण में, भाषा की सरलता और लालित्य में 'अभिज्ञानशाकुन्तल' श्रेष्ठ है। संस्कृत साहित्य में ये दोनों नाटक अद्वितीय हैं। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' शरद् ऋतु की पूर्ण चाँदनी है और 'उत्तररामचरित' नक्षत्र खचित नीलाकाश है। एक व्यञ्जन है दूसरा हविष्यान्न है; एक वसन्त है दूसरा वर्षा है; एक नृत्य है दूसरा अश्रू है; एक उपभोग है दूसरा पूजन है।"

महाकविश्रीभवभूतिप्रणीतम्

उत्तररामचरितम्

'प्रियम्वदा'-ख्य संस्कृत-हिन्दी-टीकोपेतम्

प्रथम अंक
(चित्रदर्शन)

"स्नेहं, दयाञ्च, सौख्यञ्च, यदि वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ।।"

प्रथम अङ्क की कथावस्तु का विश्लेषण

[स्थान—अयोध्या]

उत्तररामचरित के प्रथम अङ्क की वस्तु को प्रधानतया निम्नलिखित सात भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) प्रस्तावना, (२) अष्टावक्र और राम, (३) राम और लक्ष्मण, (४) चित्र-दर्शन एवं तज्जन्य राम तथा सीता की मनोदशा, (५) दुर्मुख और राम, (६) लवणत्रासित ऋषि-समुदाय की सुरक्षा में श्रीरामचन्द्र जी की सक्रियता एवं (६) सीता जी का वन-यात्रा के लिये प्रस्थान ।

(१) प्रस्तावना

नान्दी-पाठ के अनन्तर सूत्रधार का प्रवेश होता है । वह सर्वप्रथम नाटककार का परिचय देता है । उसके अनुसार नाटककार कश्यपगोत्र में उत्पन्न हुए हैं; वे व्याकरण, मीमांसा और न्याय-शास्त्र के विद्वान् हैं; उनके पिता का नाम जतुकर्णी है, उनका नाम श्रीकण्ठ है तथा वे 'भवभूति' इस उपाधि से विभूषित हैं ।

तदनन्तर नट प्रवेश करता है । नट तथा सूत्रधार की उक्तियों से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो जाती हैं :—

(क) लंका के युद्ध में सहायक बनने वाले महात्मा, राक्षस (विभीषण), ब्रह्मर्षि आदि को श्रीरामचन्द्र जी द्वारा उनके स्थानों पर भेज देने के कारण चत्वर-स्थान चारणों से शून्य दिखलाई दे रहे हैं ।

(ख) महाराज राम की माताएँ यज्ञ के लिये अपने जामाता ऋष्यशृङ्ग के आश्रम में गई हुई हैं । गर्भवती होने के कारण सीता जी उनके साथ नहीं जा सकी हैं ।

(ग) रावण के घर में रहने के कारण अग्नि-परिशुद्ध सीता जी को भी साधारणतया लोक विशुद्ध नहीं मानता, किन्तु श्रीरामचन्द्र जी अभी इस तथ्य से परिचित नहीं हैं।

(घ) गुरुजन के विरह से खिन्न सीता देवी को सान्त्वना देने के लिये रामचन्द्र 'धर्मासन' से उठकर 'वासगृह' में प्रविष्ट हो जाते हैं।

(२) अष्टावक्र और राम

[स्थान—वासगृह]

वासगृह में रामभद्र और सीता देवी के वार्त्तालाप के मध्य ही कञ्चुकी अष्टावक्र के आगमन की सूचना देता है। अष्टावक्र की उक्तियों से निम्नलिखित सूचनायें मिलती हैं:—

(क) रामचन्द्र और सीता देवी के कुशल-प्रश्न का उत्तर देते हुए अष्टावक्र कुलगुरु भगवान् वसिष्ठ के सीता जी को दिये गए 'केवलं वीरप्रसवा भूयाः (केवल तीरप्रसविनी हो)' इस आशीर्वाद को सुनाते हैं।

(ख) वे भगवती अरुन्धती, कौशल्या आदि रानियों तथा शान्ता का सन्देश भगवान् राम से कहते हैं कि सीता का जो भी गर्भ दोहद हो उसकी पूर्ति अवश्य करनी चाहिये।

(ग) ऋष्यश्रृङ्ग सीता जी को पुत्रपूर्णोत्सङ्गा रूप में देखने की कामना से युक्त हैं।

(घ) भगवान् वसिष्ठ का आदेश है कि महाराज राम पूर्ण रूप से प्रजा का पालन करे।

(३) राम और लक्ष्मण

[स्थान – वासगृह]

वासगृह में लक्ष्मण जी प्रविष्ट होते हैं। उनको देखकर अष्टावक्र निकल आते हैं। लक्ष्मण रामचन्द्र जी से अर्जुन नामक चित्रकार द्वारा चित्रित उनके (रामचन्द्र जी के) सीता जी की अग्नि परिशुद्धि तक के चरित्र को देखने की प्रार्थना करते हैं। रामचन्द्र जी उसको देखने के लिये सीता जी के साथ प्रस्तुत हो जाते हैं।

(४) चित्रदर्शन एवं तज्जन्य राम तथा सीता की मनोदशा

[स्थान—चित्रवीथी (Picture Gallery)]

इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम जृम्भकास्त्रों के दर्शन होते हैं, जिनको रामचन्द्र जी के आदेशानुसार सीता जी प्रणाम करती हैं तथा रामचन्द्र जी भी "सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति"—यह आशीर्वाद देते हैं।

तदनन्तर प्रधान रूप से (१) मिथिलावृत्तान्त, (२) अयोध्यावृत्तान्त एवं

(३) पञ्चवटीवृत्तान्त चित्रित किये गये हैं।

(३) **मिथिला-वृत्तान्त**—में रामचन्द्र जी का सौन्दर्य, जनक आदि द्वारा वसिष्ठ आदि की पूजा, कुशिक-नन्दन का स्मरण, केश-संस्कार-सम्पन्न चारों भ्राता, सीता, माण्डवी (भरतपत्नी) श्रुतकीर्ति (शत्रुघ्नपत्नी), उर्मिला, भार्गव-चरित्र का प्रदर्शन किया गया है।

(२) **अयोध्या-वृत्तान्त**— में माताओं का स्मरण, सीता का विवाह-कालीन अवस्था, मन्थरावृत्तान्त, इंगुदीपादप जहाँ निषाद-राज से रामचन्द्र जी की भेंट हुई, जटा-संयमन-वृत्तान्त, भागीरथी-दर्शन, श्याम नामक वट, उसके नीचे सीता देवी के शयन का स्मरण, विराध-वृत्तान्त, वैखानसाश्रित तपोवनों का दर्शन, जनस्थान के मध्य में प्रस्रवण नामक पर्वत, वहाँ की लक्ष्मण द्वारा की गई शुश्रूषा का स्मरण, गोदावरी, राम एवं सीता—दोनों के वन-निवास का रामचन्द्र जी द्वारा स्मरण चित्रित किया गया है।

(३) **पञ्चवटी-वृत्तान्त**—में शूर्पणखा-वृत्तान्त को चित्रित करने के साथ-साथ तीनों की पुरानी स्मृतियाँ जागृत हो जाती हैं। राम व्याकुल हो उठते हैं; लक्ष्मण सीता-हरण के अनन्तर पत्थरों को भी रुला देने वाले रामचन्द्र जी के चरित्र का वर्णन करते हैं और दोनों की व्याकुलता को जटायु का चित्र दिखाकर दूर करना चाहते हैं। जटायु-दर्शन के अनन्तर दण्डकारण्य, मुञ्जवान पर्वत, मतङ्गऋषि का आश्रम, श्रमणा नदी, शबरतपस्विनी, पम्पासरोवर, हनुमान, माल्यवान् पर्वत का प्रदर्शन किया जाता है। इसी बीच सीता जी थक जाती हैं, लक्ष्मण विश्राम की प्रार्थना करते हैं और सीता जी रामचन्द्र जी से वनभ्रमण के पश्चात् गंगा-स्नान की इच्छा प्रकट करती हैं, जिसको रामचन्द्र जी स्वीकार कर लेते हैं।

(५) दुर्मुख और राम

[स्थान—वातायन का उपकण्ठ]

चित्रदर्शनपरिश्रान्ता सीता वातायन के उपकण्ठ में रामचन्द्र जी का सहारा लेकर उनके वक्ष पर सो जाती हैं। प्रतिहारी प्रवेश कर गुप्तचर 'दुर्मुख' के आने की सूचना देती है। प्रतिहारी दुर्मुख को प्रविष्ट कराकर चली जाती है। दुर्मुख की वार्ता से यह सूचना मिलती है :—

"प्रजा महाराज रामचन्द्र जी से पूर्ण रूप से सन्तुष्ट है; किन्तु राक्षस के घर में रहने वाली सीता देवी की अग्निशुद्धि के विषय में उसका विश्वास नहीं है।"

इस पर लोकाराधक नूतन राजा राम अपने पूर्वजों और वसिष्ठ की लोकाराधन विषयक आज्ञा का स्मरण करते हुए जगत को पवित्र बना देने वाली देवी सीता का दुर्जनों के वचनों से परित्याग निश्चित कर लेते हैं।

(६) लवणत्रासित ऋषि—समुदाय की सुरक्षा में श्रीरामचन्द्र जी की सक्रियता
[स्थान—नेपथ्य]

नेपथ्य में यमुनातीर-निवासी ऋषियों का समूह लवण नामक राक्षस से त्रस्त होकर रक्षा के लिए रामचन्द्र जी के पास आता है। रामचन्द्र जी उसका संहार करने के लिए शत्रुघ्न को भेजने का प्रबन्ध करते हैं और भगवती पृथ्वी से सीता देवी की देखभाल की प्रार्थना करके रोते हुए मञ्च से निकल जाते हैं।

(७) सीता जी का वन-यात्रा के लिए प्रस्थान
[स्थान—वातायन का उपकण्ठ]

रामचन्द्र जी के चले जाने के अनन्तर सीता जी उत्कण्ठित होकर जाग जाती हैं। दुर्मुख वन-यात्रा के लिए रथ-सज्जित होने की सूचना देता है। सीता जी गर्भभार के कारण धीरे-धीरे वन-यात्रा के विचार से रथ की ओर चली जाती हैं। इस प्रकार प्रथम अङ्क समाप्त हो जाता है।

प्रथम अङ्क का नाटकीय महत्त्व—

(१) भवभूति 'उत्तररामचरित' के प्रथम अङ्क को 'चित्रदर्शन' की संज्ञा देते हैं; किन्तु सूक्ष्म रूप से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस अङ्क का प्रधान कार्य सीता-निर्वासन ही है। नाटक की विभिन्न परिस्थितियाँ इसी की पुष्टि करती हैं। यहाँ इतना अवश्य ध्यातव्य है कि सीता जी इस प्रकार के निर्वासन से पूर्ण अपरिचित हैं।

सीता-निर्वासन के दो प्रधान कारण है :—(१) चित्रदर्शन और (२) प्रजा की असन्तुष्टि। चित्रदर्शन से सीता जी पुनः वन-भ्रमण की इच्छा करती है; जिसकी अरुन्धती कौशल्या आदि के 'यः कश्चिद् गर्भदोहदो भवत्यस्याः सोऽवश्यमचिरात्मानयितव्यः" इस आदेश के अनुसार रामचन्द्र जी स्वीकृति दे देते हैं। उधर दुर्मुख के वचनानुसार प्रजा की असन्तुष्टि से रामचन्द्र जी के सीता-परित्याग का निश्चय, जिससे सीता जी अपरिचित हैं, उक्त स्वीकृति को निर्वासन रूप में परिणत कर देता है।

यदि अयोध्या में वसिष्ठ आदि गुरु या माताएँ उपस्थित होतीं अथवा लङ्का-समर के साथी उपस्थित होते तो रामचन्द्र जी का सीता विषयक निर्वासन का निश्चय और प्रजा का असन्तोष, आज्ञा एवं प्रमाणों द्वारा स्थगित किया जा सकता था; इसलिए नाटककार ने गुरुजन को जामाता के यज्ञ में और लङ्का-समर के साथियों को उनके निवास स्थान पर भेज दिया है।

(२) जृम्भकास्त्रों का अपना नाट्कीय महत्त्व है। इस अङ्क में रामचन्द्र जी सीता जी से इन अस्त्रों के विषय में "सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति" कहते हैं। आगे षष्ठ अङ्क में लव एवं कुश पर इन अस्त्रों को देखकर रामचन्द्र जी का इन बालकों के प्रति कौतूहल जाग्रत हो उठता है और यह कौतूहल सप्तम अङ्क में निश्चय की स्थिति को धारण कर लेता है।

(३) इसके अतिरिक्त प्रथम अङ्क में ही दर्शक (या पाठक आगे आने वाली कुछ घटनाओं का नाटकीय सोत्प्रासों (Dramatic Irony) द्वारा अथवा अन्य प्रकारों द्वारा अनुमान लगा लेता है, जिसमें प्रधानतया, (१) सीता जी का विरह, (२) निर्वासनकाल में उनकी सुरक्षा तथा (३) पुनः गुरुजन से उनका मिलन तथा नाटक का सुखान्त होना सूचित होता है।

(१) सीता जी के शयन कर लेने के अनन्तर जब श्रीरामचन्द्र जी—

"इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयो—
　　रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः,
　　किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः॥"　　(१.३८)

कहते हैं 'उसी समय प्रतिहारी प्रवेश करके 'देव ! उवट्ठिहो' (देव ! उपस्थित हो गया) कह देती है, जिससे दुर्मुख की उपस्थिति की सूचना के साथ-साथ विरहोपस्थिति की भी सूचना मिल रही है।

(२) चित्रदर्शन के समय रामचन्द्र जी का भागीरथी के प्रति "सा त्वमम्ब ! स्नुषायामरुन्धतीव सीतायां शिवानुध्याना भव" और लवणत्रासित ऋषियों की सुरक्षा का प्रबन्ध करने के लिए एकान्त में सोयी हुई सीता की सुरक्षा के लिए पृथ्वी के प्रति "सुश्लाघ्या दुहितरमवेक्षस्व जानकीम्" यह कथन निर्वासन काल में सीता जी की सुरक्षा की सूचना देता है, जिसका निर्वाह द्वितीय और सप्तम अङ्क में किया गया है।

(३) अष्टावक्र द्वारा "ननान्दुः पत्या देव्याः सन्दिष्टम् "वत्से ! कठोरगर्भेति नानीतासि। वत्सोऽपि रामभद्रस्त्वद्विनोदार्थमेव स्थापितः, तत्पुत्रपूर्णोत्सङ्गामायुष्मतीं, द्रक्ष्यामः, इति।" इस कथन से गुरुजन की सीता से पुनर्मिलन की सूचना मिलती है जो कि सप्तम अङ्क में दिखाया गया है।

(४) नाटककार प्रथम अङ्क में ही रामभद्र एवं सीता देवी के चरित्रों का भी उद्घाटन आरम्भ कर देता है। सीता जी को वन-यात्रा के व्याज से गर्भावस्था में ही निर्वासित किया जा रहा है, इससे दर्शक (अथवा पाठक) को उनके प्रति सहानुभूति बढ़ती हुई प्रतीत होती है।

(५) प्रथम अङ्क के चित्रदर्शन का अपना विशेष महत्त्व है। पूर्वचरित के बिना उत्तरचरित अधूरा ही रह सकता था; उत्तरचरित की पूर्ति के लिए भगवान् राम का, सीता जी की अग्निशुद्धि तक का, चरित्र चित्रवीथी में प्रस्तुत है; किन्तु सीता जी के थक जाने के कारण नाटक में उनका चरित्र माल्यवान् पर्वत की घटनाओं तक ही दिखलाया जाता है।

॥ श्रीहरिः ॥

महाकविश्रीभवभूतिप्रणीतम्

उत्तररामचरितम्

"श्री प्रियम्वदा"-ख्य-संस्कृत-हिन्दी-टीकोपेतम् ।

प्रथमोऽङ्कः

इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे ।
विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम् ॥१॥

॥ टीकाकृन्मङ्गलाचरण ॥

विघ्ननाशनिपुणो गणनाथः,
सर्वभक्तवरदो वरणीयः ।
चन्द्रमौलिगिरिजातनयो नः,
सन्ततं दिशतु सिद्धिमशेषाम् ॥१॥
वज्र-प्रभा-भासुर-देह-कान्तिः,
सिंहासनासीनतया प्रसिद्धा ।
कल्याणहेतोर्जगतोऽवतीर्णा,
साम्बा सदा स्तात्प्रमदस्य हेतुः ॥२॥

अथ तत्रभवान् महाकविर्भवभूतिः 'उत्तररामचरितम्' नाम नाटकं चिकीर्षुरादौ मङ्गलरूपा नान्दीमवतारयति—इदमिति ।

अन्वयः—पूर्वेभ्यः, कविभ्यः, नमोवाकम्, "आत्मनः, अमृताम्, कलाम् देवताम्, वाचम्, विन्देम" इदं प्रशास्महे ॥१॥

अवतरणिका—महाकवि भवभूति अपने 'उत्तररामचरित'—नाटक की निर्विघ्न समाप्ति के लिये मङ्गलात्मक नान्दी की अवतारणा करते हैं। श्लोक के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं, संक्षेप में उनका निर्देश करने के अनन्तर हम अपने मत भी प्रदर्शित करेंगे ।

१. अर्थ—हम प्राचीन (वाल्मीकि आदि) कवियों को प्रणाम कर यह कामना करते हैं कि (हम) 'ब्रह्माजी की अंशभूत सनातनी सरस्वती (वाणी) को प्राप्त करें ।" [अर्थात् ब्रह्माजी की नित्यकला (सरस्वती) हमारे मन-मन्दिर में सदा प्रकाशित होती

रहे जिससे सब अर्थों का हमारे अन्तःकरण में परिस्फुरण हो जाय। वह प्राचीन कवियों के ग्रन्थों के अनुशीलन से ही सम्भव है। अतः सर्वप्रथम उनको प्रणाम करना उचित ही है।]

२. अथवा—[मंगलवाचक 'इदम्' को विशेष्य तथा नमोवाकम्' को विशेषण मानकर यह अर्थ निकलता है—]

"हम इस नमस्कारात्मक मङ्गल को प्राचीन कवियों के लिये प्रयुक्त करते हैं (जिनके अनुग्रह से) हम शाश्वती शारदा को प्राप्त करें"

३. अथवा—[इदं कविभ्यः' को एक समस्त पद तथा 'नमः' और 'वाकम्' को भिन्न-भिन्न पद मानकर रामायण पद्य में यह अर्थ निकलता है—]

"हम (इदं कविभ्यः=इस राम-कथा के कवियों को वाचिक नमस्कार कर यह कामना करते हैं कि उस (अमृताम्) मोक्ष-प्रदायिनी परमात्मा का प्रतिपादन करने वाली (रामायण-स्वरूप कला=) विद्या को प्राप्त करें।"

[विशेष—'कला का प्रयोग निम्नलिखित अर्थों में होता है—"विद्यायां कालभेदे च मुक्तौ शिल्पे कलेति च" (वैजयन्ती) रामायण की मोक्षप्रदता सर्वशास्त्र-सम्मत है—"एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्।"]

४. अथवा—[आदिकवि बाल्मीकि के लिये आदरसूचक अर्थ में 'कविभ्यः इसमें बहुवचन का प्रयोग मानकर यह अर्थ अभिव्यक्त होता है—]

"हम आदिकवि श्रीबाल्मीकि जी को प्रणाम करते हैं जिससे कि हम उनकी अमरवाणी (रामायण) को प्राप्त कर सके।"

५. अथवा—"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः" के अनुसार 'कवि' शब्द से भगवान् श्रीराम का ग्रहण होता है। बहुवचन आदरार्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'देवता कला' से जगज्जननी सीता का ग्रहण होता है। तब इस प्रकार अर्थ होगा—]

"हम परमात्मा-स्वरूप भगवान् श्रीरामचन्द्र जी को प्रणाम कर प्रार्थना करते हैं कि (हम) उनकी अंशभूत श्री सीता देवी को प्राप्त करें।"

हमारे मत में तो—

१. 'इः'=काम को देने वाले (इः=कामस्तं ददाति—'इदम्'। 'नमोवाकं' का विशेषण)—मनोरथ सिद्ध करने वाले—नमस्कार को ब्रह्माजी, बाल्मीकि आदि रामकथा के कवियों तथा भगवान् श्रीरामचन्द्र जी के लिये प्रयुक्त करते हैं, जिससे कि हम आत्म-बोध तथा शक्ति-स्वरूपिणी सीता देवी को प्राप्त कर सकें। (क्योंकि 'उत्तररामचरित' में सीता जी की ही प्रधानता है। शक्तिस्वरूपिणी भगवती के बिना परमात्मा की प्राप्ति सम्भव नहीं है। और वह देवी शक्ति प्राचीन कवियों के ग्रन्थों के अनुशीलन से अनायास ही उद्बुद्ध हो जाती है। अतः उनकी वन्दना करना उचित है।)

२. अथवा—"इः=खेद, उसका विनाश करने वाले (इः=खेदस्तं द्यति—खण्डयति—इति—'इदम्'—मंगल का विशेषण, इस मंगल का प्रयोग करते हैं।

क्योंकि अपने गुप्तचर 'दुर्मुख' के (लोकापवाद-विषयक) कथन से भगवान् रामचन्द्र जी को अत्यन्त खेद हुआ था। (उसकी शान्ति नमस्कार-विधान से ही सम्भव है।)"

३. अथवा—"इ = कोपोक्ति को शान्त करने वाले (इः = कोपोक्तिस्तां द्यति = खण्डयतीदम् इस मंगल का प्रयोग करते हैं; क्योंकि श्रीसीता जी के उस प्रकार के परित्याग को जानकर (उनका मन रखने के लिए) सर्वज्ञ बाल्मीकि भी—"असत्येष मन्युर्भरताग्रजे मे" कह कर कुपित हो गये थे। उनके इस क्रोध को शान्त करने के लिये नमस्कार करना उपयुक्त ही है।"

४. अथवा—['कवि शब्द से भगवान् भास्कर का ग्रहण होता है। तब इस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है—]

"हम भगवान् भुवनभास्कर को नमस्कार करते हैं जिनकी कृपा से उस "गायत्री-स्वरूपिणी दिव्य-वाणी को प्राप्त कर सकें।"

(आशय यह है कि गायत्री के प्रसाद से ही सरस्वती की प्राप्ति होती है; क्योंकि वह वेद-जननी है। रामायण का 'गायत्री की व्याख्या होना सुप्रसिद्ध है। अतः उस कथा तक पहुँचने के लिये 'गायत्री' का अध्ययन परमावश्यक है। इसके लिये भगवान् सूर्य को नमस्कार करना नितान्त औचित्यपूर्ण है।)

तात्पर्य—"हम गुरु-तुल्य प्राचीन कवियों को प्रणाम करते हैं जिनके अनुग्रह से रस, भाव, गुण, अलङ्कार, रीति, ध्वनि आदि से युक्त, सहृदय-हृदयाह्लादिनी आत्म-प्रसादिनी, कविवरों से वन्दनीय सदातनी 'काव्य-स्वरूपिणी शक्ति' सदा हमारे हृदय में निवास करे, जिससे कि काव्य सफलतापूर्वक विकास प्राप्त कर सके"।

संस्कृत-व्याख्या

अस्य श्लोकस्यार्थ-विषये विदुषां विभिन्नानि मतानि सन्ति। तत्रान्येषां कानिचित्प्रदर्श्य स्वीयमपि मतं प्रदर्शयिष्यते।

१. 'नमोवाकम्' इति क्रियाविशेषणम्। वचनं वाकः; 'वच् परिभाषणे' इति धातोर्भावे घञ्प्रत्ययः कुत्वञ्च। ततश्च नमोवाको यस्मिन् तद् यथा स्यात्तथा। पूर्वेभ्यः = प्राचीनेभ्यः, कविभ्यः = वाल्मीक्यादिभ्यः, नमस्कारपूर्वकम् इदं = वक्ष्यमाणं प्रशास्महे = वाञ्छामः। किन्तदित्याह—(वयम्) "आत्मनः = विधेः, अमृतां = शाश्वतीं सर्वदा प्रकाशमानामिति यावत् देवतां—दिव्यगुणमयीं, सरस्वतीं, कलाम् = अंशभूताम्, विन्देम = प्राप्नुयाम। ब्रह्मणो नित्या कलाऽस्माकं मनोमन्दिरे सर्वदा प्रकाशिता भवतु, येन सर्वार्थप्रकाशोऽस्माकं स्यादिति भावः। प्राचीनकवीनां प्रबन्धाध्ययनं विना तादृशो बोधः सर्वथा दुर्लभः, इति तेषां प्रणामः पूर्वमुचितः, इति तत्वम्।

२. अथवा—इदमिति विशेष्यवाचकं पदम्। नमोवाकमिति च विशेषणम्। 'इद' मिति च 'मङ्गल'मित्यस्य वाचकम्। ततश्च नमो वाको यस्मिन्, तदिदं नमस्कारात्मकं मङ्गलं पूर्वेभ्यः कविभ्यः प्रशास्महे। यदनुग्रहेण सनातनी भगवती भारती सदैवास्माकं हृदये प्रकाशिता भवतु।

(३) अथवा—"इदं कविभ्यः" इत्येकं पदम् 'इदं' पदस्य 'कवि'—पदेन सह समासत्वात्। 'नमः' इति 'वाकम्' इति च पदद्वयम्। ततश्च—प्राचीनेभ्यः इदं-कविभ्यः = अस्या रामकथायाः कविभ्यः, उच्यतेऽनेन तद् 'वाकम्'। करणे घञ्प्रत्ययः। वाकं नमः = वाचिकं नमः, प्रशास्महे = इच्छामः। तां प्रसिद्धाम्, अमृताम् = मोक्षः, अस्या अस्तीति मोक्ष-दात्रीम्, आत्मनः = परमात्मनः प्रतिपादयित्रीं कलां = विद्यां ("विद्यायां कालभेदे च मुक्तौ शिल्पे कलेति च", इति वैजयन्ती) रामायणस्वरूपा-मित्यर्थः, प्राप्नुयाम। रामायणस्य मोक्षप्रदत्वञ्च—"एकैकमक्षरं पुंसां महापातकना-शनम्" इति "वेदवेद्ये परे पुंसि" इत्यादौ च विशदीकृतम्।

४. अथवा—"कविभ्यः, 'इत्यादिकवये' इत्यमर्थः। आदरार्थे च बहुत्वम्। ततश्च-आदिकवि-प्रणामपूर्वकमेव वाक् (रामायण)-प्राप्तिः सम्भवति, इति।

५. अथवा—"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः" इत्यादिवचनात् 'कविभ्यः' इत्यत्रादरार्थे बहुवचनात् 'कवि'-शब्देनात्र परमात्मरूपो भगवान् रामो गृह्यते। "देवता-कला" इति च शब्द-युगलेन शक्तिरूपिणी भगवती जगज्जननी सीता गृह्यते। ततश्च-भगवते श्रीरामाय नमोवाकं प्रशास्महे। दिव्यगुणोपेताम्, आत्मनः = परमेश्वरस्य श्रीरामस्य कलामंशरूपाम्, तां भगवतीं सीतां विन्देम, सा च परित्यक्ता सत्यपि नित्येति भावः।

वयन्तु—

१.—"इः" = कामस्तं ददातीति "नमोवाक"मितस्य विशेषणम्। ततश्च कामप्रपूरकं नमोवाकं पूर्वेभ्यः कविभ्यः ब्रह्मणे वाल्मीकिप्रभृतिभ्यो रामायण-कथा-कविभ्यः, भगवते परमात्मने रामाय आदिकवये च प्रशास्महे। अपि च—दिव्याम् आत्मनः सम्बन्धिनीं कलां शक्ति = बोधम् शक्तिस्वरूपिणीं सीतादेवीं विन्देम। उत्तरे रामचरिते तस्या एव प्राधान्यात् [इदमग्रे स्फुटिकरिष्यामः]। शक्तिरूपां भगवतीं विना भगवतः परमात्मनः प्राप्तिः सर्वदा दुर्लभा। सा च दैवी शक्तिः पूर्वतनेभ्यः कविभ्यस्ते-षामाराधनेनैव सम्प्राप्तुं शक्यते।

२. अथवा—"इः" = खेदः, तं द्यति (खण्डयति) इति 'इदम्'। दुर्मुख-वचनश्रवणाद्भगवतो रामस्य खेदः समजनि, तस्य प्रशमनं च प्रणाम-करणेनैव सम्भाव्यते।

३. अथवा—"इः" = कोपोक्तिः, तां द्यति खण्डयतीतीदम्। सीतादेव्यास्तथा-विधं परित्यागं विदित्वा विदितवेदितव्योऽपि देवी-प्रसादनाय कुपितो महामुनि-र्वाल्मीकिः। अतएवोक्तं कविकुलगुरुणाः—

"उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि, सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि।
त्वां प्रत्यकस्मात्कलुषप्रवृत्तावस्त्येष मन्युर्भरताग्रजे मे॥"

[रघुवंशे, सर्गः १४, श्लोकः ७३]

ततश्च आदिकवेः कोप-प्रशमनाय नमस्कार-करणमौपयिकमेव।

४. अथवा—"कवि"-शब्देन भगवान् भास्करो गृह्यते। श्री भास्करस्य याज्ञव-

त्वयात् विद्याप्रदानत्वं प्रसिद्धमेव । ततश्च भुवन-भास्कराय श्रीसूर्याय इदं नमस्कारात्मकं मङ्गलं समर्प्यते । तदनुग्रहेणैव आत्मनः प्रकाशिकां दिव्यां वाचं गायत्रीरूपां विन्देम । गायत्र्याः प्रसादादेव सरस्वत्याः प्राप्तिर्भवति । तस्याः वेदजननीत्वात् । रामायणस्य च गायत्री-व्याख्यान-स्वरूपत्वं प्रसिद्धमेव । भगवत्या वाचो मीमांसाशास्त्रे नित्यत्वम् । पुराणादौ च विष्णुरूपत्वं स्फुटमेव । तथाचोक्तं विष्णुपुराणे—

"काव्यालापाश्च ये केचिद् गीतकान्यखिलानि च ।
शब्दमूर्तिधरस्यैते, विष्णोरंशा महात्मनः ॥"

इत्येवमन्येऽपि बहवोऽर्थाः सम्भवन्ति, विस्तृति-भयादिहैव विरम्यते ।

सरलार्थस्तु—प्राचीनेभ्यो गुरुतुल्येभ्यः कविभ्यः इदं नमोवाकं प्रशास्महे । तेषां कृपा-लवेनैव रस-भाव-गुणालङ्कार-रीति-ध्वन्यादि-सहिता सहृदय-हृदय-प्रसादिनी, आत्माराधिनी च कविकुलवन्दनीया काव्यरूपा दिव्या शक्तिः सर्वदाऽस्माकं कल्याण-कारिणी साहाय्यं न कुर्यात्, ये "लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म काव्यम्" साफल्येन विकासं लभतामिति ।

'प्रशास्महे' इत्यत्राङ् पूर्वकत्वं शासेः प्रायिकमिति सिद्धान्तकौमुदीकारवचनान्न दोष-लेशः ।

अत्र काव्यार्थसूचकोऽर्थोऽपि ध्वन्यते । तथाहि—सीता-प्राप्त्यनन्तरं लक्ष्मणा-दीनां कथनम्,— "श्रीवाल्मीकिमुनये गङ्गादिभ्यो वा प्रणामं कुर्मः । येषां परमेणानुग्रहे-णाधुना वन्दनीयचरणाः परत्मानः श्रीमहाराजस्य ज्येष्ठभ्रातुः कलात्मिका भगवती सीतादेवी पुनः प्रत्यक्षीक्रियते" इति ।

"उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते" इति कथनानुसारमात्रद्यश्लोके एव कवे-वैशिष्ट्यं प्रतिभाति । "इद"मिति नपुंसकम् । "नमोवाक"मिति च पुल्लिङ्गपदम् । अत्र समाधानार्थं विदुषां बुद्धि-वैभवं प्रसृतम् । 'सामान्ये नपुंसक' मिति समाधानादि-प्रकारः प्रायः प्रदर्शितः । केचित्तु—"नमोवरम्" इति णमुल्-प्रत्ययान्तं वैदिकं मत्वा चकारस्य च छान्दस कुत्वं प्रतिपादयन्तः "नमः उक्त्वा" इत्यर्थमभ्युपगच्छन्ति ।

अपि च—यो हि मालतीमाधवे—

"ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां,
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा,
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥"

इति साहङ्कारमाह, स एवात्र पूर्वान् प्रणमति, इति सारल्यं स्वभावस्य प्रशंसनीयमेव । तथापि—"स्वभावो दुरतिक्रमः" इत्यभियुक्तोक्त्यनुसारं पूर्वानेव प्रणमति, न च वर्तमा-नान् । न वा भविष्यतः । अत्रापि स्वभावो गुप्तः । पूर्वगुरुजनप्रमाण-प्रणाली च प्रायः शिष्टैरनेकैः कविभिः स्वीकृतैव ।

अत्र कविनिष्ठा गुरुजनविषया भगवद्-विषया च रतिः प्रधानतया वर्तते ।

श्लेषालङ्कारः तल्लक्षणं च यथा—

"शिलष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते ।
वर्णप्रत्ययलिङ्गानां, प्रकृत्योः पदयोरपि ।
श्लेषाद्विभक्तिवचनभाषाणामष्टधा च सः ॥"

पथ्यावक्त्रं छन्दः । तल्लक्षणं यथा—

"युजोर्जेन सरिद्भर्तु पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ।" इति ॥

ग्रन्थादौ, ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते च मङ्गलाचरणं शिष्टजनसम्मतम् । तच्च मङ्गलम् आशीर्वादात्मकम्, नमस्कारात्मकम्, वस्तुनिर्देशात्मकमिति त्रिविधं भवति । अत्र च नमस्कारात्मकाशीर्वादात्मकयोरुभयोरपि स्वीकारः ॥१॥

टिप्पणी

(१) भारतीय परम्परा के अनुसार विघ्नविघातार्थ ग्रन्थारम्भ में मङ्गल का प्रयोग किया जाता है । वह मङ्गल तीन प्रकार का होता है—(१) आशीर्वादात्मक, (२) नमस्कारात्मक, (३) वस्तुनिर्देशात्मक । यहाँ नमस्कारात्मक एवं आशीर्वादात्मक मङ्गल है ।

(२) इस श्लोक से इस नाटकीय घटनाचक्र की ओर भी संकेत प्राप्त होता है जबकि सीता-प्राप्ति के अनन्तर लक्ष्मण आदि श्री वाल्मीकि सहित गङ्गा-प्रभृति को प्रणाम करते हैं और स्वीकार करते हैं कि उन्हीं के अनुग्रह से वे पुनः भगवान् श्रीरामचन्द्र जी की अंशभूत परमवन्दनीया सीता देवी का साक्षात्कार कर रहे हैं ।

(३) 'मालतीमाधव' में 'ये नाम केचिदिह······इत्यादि गर्वोक्ति करने वाले भवभूति के स्वभाव में 'उत्तररामचरित' तक पहुँचते-पहुँचते परिवर्तन हो गया था; परन्तु इस विनम्रता का प्रदर्शन उन्होंने केवल प्राचीन कवियों के ही प्रति किया है—समसामयिक अथवा भावी कवियों के प्रति नहीं ।

(४) (क) 'भविभ्यः' में प्रशास्महे' का उद्देश्य होने के कारण चतुर्थी हुई है । 'क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्' । 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्'—इससे भी चतुर्थी हो सकती है । कुछ विद्वानों के मत में 'नमः' के योग में चतुर्थी है । कुछ लोग वाल्मीकि के लिये ही आदरार्थ में बहुवचन का प्रयोग मानते हैं । (ख) नमोवाकम्—क्रिया विशेषण । वचनं वाकः । √'वच् परिभाषणे' इति धातोर्भावे घञ् प्रत्ययः, कुत्वञ्च अथवा—कुछ विद्वान् 'नम इति उक्त्वा नमोवाकम्' यह णमुलन्त प्रयोग भी स्वीकार करते हैं । (ग) प्रशास्महे—'आङ्' पूर्वक √'शास्' धातु इच्छार्थक है परन्तु यहाँ कवि ने 'प्र' पूर्वक √'शास्' धातु का प्रयोग इच्छार्थ में किया है । इसका समाधान यह है कि 'आङ्' का प्रयोग प्रायिक है—अनिवार्य नहीं । "आङ् पूर्वत्वं प्रयिकं, तेन "नमोवाकं प्रशास्महे' इति सिद्धम्" (सि० कौ०) । (घ) विन्देम—√विद् (तुदादि) लिङ् ।

(५) कुछ पुस्तकों में 'कविभ्यः' के स्थान पर 'गुरुभ्यः' तथा विन्देम देवतां वाचक' के स्थान पर 'वन्देमहि च तां वाणीम्' प्रयोग भी मिलते हैं । उनका अर्थ क्रमशः होगा 'गुरुओं को' और उस सरस्वती को प्रणाम करते हैं ।

(६) इसमें 'पथ्यावक्त्र' छन्द तथा श्लेष अलङ्कार हैं। कविनिष्ठ भगवद्-विषयक अथवा गुरुविषयक रतिभाव है। (विशेष विस्तार के लिए संस्कृत-टीका देखिये।)

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण। अद्य खलु भगवतः कालप्रियानाथस्य यात्रायामार्यमिश्रान्विज्ञापयामि—एवमत्रभवन्तो विदांकुर्वन्तु। अस्ति खलु तत्रभवान्काश्यपः श्रीकण्ठपदलाञ्छनः पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जतुकर्णीपुत्रः।

[नान्दी के अनन्तर]

सूत्रधार—बस, अधिक विस्तार मत करो। आज भगवान् कालप्रिय-नाथ (शङ्कर) की यात्रा के अवसर पर मैं सम्माननीय महानुभावों से निवेदन करता हूँ कि आप लोगों को ज्ञात हो कि काश्यपगोत्रोत्पन्न, व्याकरण, मीमांसा तथा न्याय के पण्डित 'भवभूति' उपाधि से विभूषित 'जतुकर्णी' के सुपुत्र आदरणीय 'श्रीकण्ठ' नामक कवि हैं।

संस्कृत-व्याख्या

नान्द्यन्ते इति—नाटकादौ भारतीय-नाट्यशास्त्रादेशानुसारम्—'पूर्वरङ्गः', 'सभापूजा', कविनाम्नो नाटकनाम्नश्च कीर्तनम्', 'आमुखम्—(प्रस्तावना)'—इति पञ्चकार्याण्यावश्यकानि।' नाटके कुशीलवैः (नटैः) रङ्गविघ्नोपशान्तये यन्मङ्गलं क्रियते, नाटकीयभाषायां तस्यैव 'नान्दी' इति संज्ञास्ति। तथा चोक्तं साहित्य-दर्पणे—

"तत्र पूर्वं पूर्वरङ्गः, सभापूजा ततः परम्।
कथनं कविसंज्ञादेर्नाटकस्याप्यथाऽऽमुखम्॥"

'पूर्वरङ्गश्च'—

"यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति, पूर्वरङ्गः स उच्यते॥
प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि।
तथाप्यवश्यं कर्तव्या 'नान्दी' विघ्नोपशान्तये॥" इति॥

नन्दयति=प्रसादयति सामाजिकानां मनांसीति व्युत्पत्या 'नान्दी'। तस्याः स्वरूपञ्च यथा—

"आशीर्वचनसंयुक्ता, स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां, तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥
मङ्गल्य-शङ्ख-चन्द्राब्ज-कोक-कैरव-शंसिनी।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत॥"

इत्युक्ता लक्षणानुरूपमत्र नाटके 'द्वादशपदा' नान्दी । 'पद'—शब्देनात्र श्लोक-पादो गृह्यते—इति केचित् । सुप्तिङन्तं पदमेव गृह्यते, इति चान्ये । एतन्मतानुसारमेवात्र—[१-इदम्,, २-कविभ्यः, ३-पूर्वेभ्यः, ४-नमोवाकम्, ५-प्र, ६-शास्महे, ७-विन्देम, ८-देवताम्, ९-वाचम्, १०-अमृताम्, ११ आत्मनः, १२-कलाम्] इत्येव द्वादशपदानि सन्ति । 'प्र' उपसर्गस्य भिन्नपदत्वमेव भवतीति सिद्धान्तः ।

सूत्रधारः इति । नाटकस्य प्रबन्धकर्ता सूत्रधारो भवति । 'सूत्रं' च नाटकीय वस्तु । सूत्रधारस्य लक्षणं यथा –

"नाट्योपकरणादीनि 'सूत्र'मित्यभिधीयते ।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते ॥"

अलमिति । "सूत्रधारः पठेन्नान्दीम्" इति भरतमुनि—निर्देशात् स्वयम्पाठे विलम्बमालक्ष्य प्रेक्षकाणामानन्दे विघ्नमाशंक्याह 'अलमिति' । मंगलाचरणेऽतिकालो नोचितः, इति भावः । अन्ये नरा महता विलम्बेन 'नान्दी'—कर्मणि निरता भवन्ति, तन्निवारयितुं सूत्रधारः प्राह 'अलमिति' केषाञ्चित् सिद्धान्तः ।

अद्येति—भगवतः कालप्रियायाः = श्री दुर्गादेव्या नाथस्य श्री शशिशेखरस्य यात्रायाः प्रसंगे समुपस्थिते आर्यमिश्रान् = आर्यान् = श्रेष्ठान्, मिश्रान् = सम्माननीयान् प्रेक्षकमहानुभावान् निवेदयामि । 'आर्य'—लक्षणञ्च यथा—

"कर्तव्यमाचरन् कर्म, ह्यकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्रकृताचारे, स वा 'आर्य' इति स्मृतः ॥ इति ॥

एवम् = वक्ष्यमाणप्रकारेण भवन्तो जानन्तु—तत्रभवान् = वन्दनीयः [तत्रभवान्, अत्रभवान् इति च पदद्वयमादरसूचकम् । सम्मुखस्थेषु—'अत्रभवान्' परोक्षेषु च तत्र–भवान्' इति प्रयुज्यते ।] कश्यपगोत्रोत्पन्नः, 'श्रीकण्ठ'–पदेन प्रसिद्धः । श्रीः = सरस्वती कण्ठे यस्य सः । 'श्रीकण्ठ' इति पित्रा कृतं नाम्, 'भवभूतिः' इति चौपाधिकम् । इति केचित् । अपरे पुनः 'भवभूति' रिति नाम, 'श्रीकण्ठ' इति चौपाधिः । तत्र "साम्बा पुनातु भवभूति—पवित्रमूर्तिः" इति कवितामाकर्ण्यैव राज्ञा केनापि 'भवभूतिः' इत्युपाधिना सत्कृतोऽयं कविरिति कथयन्ति । पदम् = व्याकरणशास्त्रम्, वाक्यम् = मीमांसाशास्त्रम्, प्रमाणम् = प्रत्यक्षादि–प्रमाण–प्रतिपादकं न्यायदर्शनशास्त्रम्, रामचरिते तस्या एव प्राधान्यात् [इदमग्रे स्फुटीकरिष्यामः] । शक्तिरूपां भगवतीं जानातीति ज्ञः । जतुकर्णी = भवभूतेर्जननी । तस्याः पुत्रः । भवभूतिः कविरस्ति । उपाधिप्रदानेन कवीनां नामानि प्रचलन्तीति युक्तमेव । यथा कविकुलगुरोः दीपशिखा, वर्णनेन 'दीपशिखा कालिदासः', माघस्य च घण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलां विभ्राणस्य रैवतकस्य वर्णनेन 'घण्टामाघः' एवमेवास्य कवेरपि 'भवभूति' रित्युपाधिनाम प्रसिद्धमिति भावः । एवञ्च—कश्यपगोत्रोत्पन्नः परमविद्वान् 'भवभूति' रित्युपाधियुक्तः 'श्रीकण्ठ' नामा कविरस्ति ।

टिप्पणी

(१) 'नान्दी' नाटक के प्रारम्भ में किये गये मंगलाचरण को 'नान्दी' कहते

हैं। नन्दयति प्रसादयति सामाजिकानां मनांसीति नान्दी।" अथवा "नन्दन्ति प्रसीदन्ति देवता अस्यां सा नान्दी।" √नदि + घञ् + वृद्धि + ङीप्। अथवा √नन्द् + पचादित्वादच् + प्रज्ञादिभ्यश्च, अण् + ङीप्। अथवा नन्दनं नन्दः, भावे घञ् + नन्दस्येयं नान्दी, 'तस्येदम्' अण् + ङीप्। नान्दी आठ या बारह पदों की होती है। 'पद' शब्द के अर्थ में विद्वानों में मतभेद है। (१) कुछ लोग सुप्—तिङन्त शब्दों को पद मानते हैं। (२) कुछ श्लोक के चरण को पद मानते हैं (३) कुछ श्लोक के अनन्तर वाक्यों में से प्रत्येक वाक्य को पद मानते हैं। यहाँ 'सुप्तिङन्तं पदम्' वाला सिद्धान्त ही माना गया है। यह 'द्वादश-पद' नान्दी' है। 'नान्दी' पाठ सूत्रधार भी कर सकता है, अन्य पात्र भी। भरतमुनि के अनुसार नान्दी—पाठ सूत्रधार को करना चाहिये—'सूत्रधारः पठेन्नान्दीं मध्यमं स्वरमाश्रितः।" यहाँ 'नान्द्यन्ते' सूत्रधार के प्रयोग से प्रतीत होता है कि नान्दी-पाठक तथा सूत्रधार एक ही व्यक्ति है। जहाँ अन्य पात्र नान्दी का प्रयोग करते हैं वहाँ "नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः" यह निर्देश प्राप्त होता है। (२) सूत्रधारः—कथा-सूत्र के सञ्चालक को सूत्रधार कहते हैं। 'सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते'। सूत्र + √धृ + णिच् + स्वार्थे अण्। (३) कालप्रियानाथ—कुछ लोगों के मत में वर्तमान उज्जयिनी के महाकालेश्वर ही कालप्रियनाथ हैं। श्री घाटे शास्त्री का मत है कि भवभूति के निवास-स्थान पद्मपुर' में कालप्रियनाथ का मन्दिर था। कालप्रिया = पार्वती उनके पति शंकर। प्राचीनकाल में देवताओं की यात्रा आदि के उत्सवों पर नाटक खेले जाते थे। (४) विदांकुर्वन्तु = √विद् + कृ + लोट्। विस्तरेण = वि + √स्तृ + अप्। (५) श्रीकण्ठपदलाञ्छनः—'श्रीकण्ठ' इति पदं शब्दो लाञ्छनं यस्य सः। श्रीकण्ठ नामक। 'ऋचो यजूंषि सामानि सा हि श्रीरमृता सताम्" इति श्रुत्युक्ता 'त्रयी लक्षणा वाक्' कण्ठे यस्य स श्रीकण्ठः, इति पदं लाञ्छनं चिह्नं यस्य तथाभूतः। श्री घनश्याम इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—' श्रीकण्ठस्य शिवस्य पदे पादावेव लाञ्छनं विरुदं यस्य इति वार्थः। शिवपादाब्जनिरतः इति यावत्। कुछ लोगों का विचार है कि भवभूति का वास्तविक नाम श्रीकण्ठ था, भवभूति उनकी उपाधि थी जो कि उन्हें—"साम्बा पुनातु भवभूति पवित्रमूर्तिः" तथा "गिरिजायाः कुचौ वन्दे भवभूति–सिताननौ" लिखने के कारण प्रसन्न होकर विद्वत्सम्प्रदाय ने दी थी। जैसे कि कालिदास को 'दीपशिखा कालिदास' की, माघ को 'घण्टामाघ' की तथा भारवि को 'आतपत्रभारवि' की। कुछ लोगों का कहना है कि भवभूति उनका वास्तविक नाम था 'श्रीकण्ठ' उनकी उपाधि थी। इनमें पहिला मत ही अधिक उचित प्रतीत होता है। उसके अनुसार यह अर्थ होगा—कश्यपगोत्रोत्पन्न पदवाक्यप्रमाणज्ञ, 'भवभूति' उपाधिधारी 'जतुकर्णी'—पुत्र 'श्रीकण्ठ' नामक कवि हैं।" (६) पदवाक्यप्रमाणज्ञः—पद = व्याकरण। वाक्य = मीमांसा। प्रमाण = न्याय।

यं ब्रह्माणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्तते ।
उत्तरं रामचरितं तत्प्रणीतं प्रयोक्ष्यते ॥२॥

तस्यासाधारणपाण्डित्य--प्रकर्षं सूचयितुमाह—यमिति ।

अन्वयः--यम्, ब्रह्माणम्, इयम्, देवीवाक्, वश्या इव, अनुवर्तते, तत्प्रणीतम्, उत्तरं रामचरितम्, प्रयोक्ष्यते ॥२॥

हिन्दी—जिस (भवभूति) का 'यह ब्रह्मा है' यह समझकर सरस्वती वशवर्तिनी -सी होकर अनुगमन करती है, (आज) उनके द्वारा विरचित 'उत्तररामचरित' का अभिनय किया जावेगा ॥२॥

संस्कृत-व्याख्या

सः कविर्न साधारणः कविरपितु साक्षात् कविः=ब्रह्मास्ति । अतएव ब्रह्माणं मत्वैव इयं भगवती सरस्वती वश्या=वशंगतेव, यं भवभूतिं सर्वदाऽनुवर्तते । सिद्ध-सरस्वतीकोऽसाविति भावः । तेन प्रणीतम् 'उत्तरं रामचरितम्' (नाटकम्) अस्माभि-रिदानीं प्रयोक्ष्यते—अभिनेष्यते । प्रयोगोऽभिनयः । स चावस्थानुकरणरूपश्चतुर्विधो-भवति । तथाहि—साहित्यदर्पणे,

"भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः ।
आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्विकस्तथा ॥" इति ॥

'उत्तरं 'रामचरितम्' इति नाटकस्य नाम । 'नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशकम्" इति नियमादत्र गर्भिता अर्था विन्यस्यन्ते । इमे चार्था अस्मदुपज्ञा एव प्रायेणेति विज्ञाः सहृदया विवेचयन्तु ।

(१) उत्तरं रामस्य चरितं यस्मिन् । श्रीरामस्य चरितं पूर्वोत्तरभेदाद् द्विधा विभक्तम् । राज्याभिषेकात् पूर्वतनं वनवासादिचरितम्, पूर्वचरितम्, राज्याभिषेकानन्तर-ञ्चोत्तरं चरितम् । ततश्चात्र नाटके राज्याभिषेकानन्तरं चरितमेव निबध्यते, पूर्व-चरितन्तु एतत्कविनिबद्धे 'महावीरचरिते'ऽस्ति ।

(२) अथवा—उत्तरम्=उत्कृष्टं····· ···रामस्य चरितं यस्मिन् तद् । सीता-परित्यागेन रामस्योत्कृष्टराज्यधर्मपालनव्रतत्वं सूच्यते ।

(३) अथवा—उत्तरन्ति संसारार्णवतो जना येन तदुत्तरं रामस्य चरितम् । रामचरितानुकरणेन संसार-सिन्धोः पारमुत्तरन्ति जनाः ।

(४) अथवा—उत्तरं=सर्वोत्कृष्टं, रामायाः=श्री सीतादेव्याश्चरितं प्रयोक्ष्य । वस्तुतस्त्वयमेवार्थो विशेषरूपेणास्मभ्यं रोचते । श्रीसीतादेव्याश्चरितमेवात्रो-त्कृष्टतरम् । वक्ष्यति च स्वयं भगवान् श्री रामोऽपि—

"उत्पत्तिपरिपूतायाः, किमस्याः पावनान्तरैः ।
तीर्थोदकञ्च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः ।" इति ।

भगवती श्री वशिष्ठसहधर्मिणी स्वयमरुन्धती देवी च—

'अग्निरिति वत्सां प्रति लघून्यक्षराणि । सीतेत्येव पर्याप्तम् ।" भगवत्यौ गंगा-पृथिव्यावपि च वक्ष्येते--

जगन्मङ्गलमात्मानं कथं त्वमवन्यसे ?
आवयोरपि (तव) संसर्गात् पवित्रत्वं प्रकाश्यते ॥" इति ॥

इयमेव विशेषताऽस्य कवयितुर्नाटकनामकरणेऽपि संलक्ष्यते । यथार्थता तु सतां विचारमेवावलम्बते ।

(५) अथवा—रामा च रामश्च रामौ, तयोश्चरितम् । एतेनोभयोरपि सीतारामयोरुत्कर्षताऽत्रेति भावः । एतावभेदबुध्यैव कविर्वर्णितवानिति सूच्यते ।

(६) अथवा—'उत्तरोगोपतिर्गोप्ता' इति विष्णुसहस्रनामानुसारं 'उत्तरः' इति विष्णोर्नाम । ततश्च-उत्तरश्चासौ राम इति उत्तररामः = विष्णुरूपरामः, तस्य चरितमित्यर्थः ।

प्रयोगः = अभिनेतव्यं नाटकम् । तल्लक्षणं यथा —

"नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्, पञ्चसन्धि-समन्वितम् ।
विलासर्द्ध्यादिगुणवद्, युक्तं नाना विभूतिभिः ॥
सुख-दुःख-समुद्भूति-नानारसनिरन्तरम् ।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः ।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान् नायको मतः ।
एकएव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा ।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ।
चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः ।
गोपुच्छाग्रसमाग्रन्तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ॥" इति ॥

अत्र संस्कृते भाषणाद् भारती वृत्तिः । तल्लक्षणं यथा—

"भारती संस्कृत-प्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः ।" इति ॥

तस्याश्चात्र 'प्ररोचना' नामाङ्गं वर्णितम् । उक्तञ्च—

"तस्याः अङ्गानि—प्ररोचना, वीथी तथा प्रहसनामुखे ।" इति तस्याश्चत्वार्यङ्गानि भवन्ति । तत्र—"उन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना" इति प्ररोचनास्वरूपमुक्तं दर्पणे ।

'यं ब्राह्मणमिति' पाठे तु न किमपि वैचित्र्यम्, ब्राह्मणस्य सतस्तथा कथनेन कोऽभिप्रायः ? ब्राह्मणत्वञ्चास्य—'काश्यपः' इति कथनेनैव सिद्धमिति । अत्रोक्तपाठे चार्थकृता चमत्कृतिः स्वस्मिन् ब्रह्मणत्वोत्प्रेक्षणे सुव्यक्तैवेति दिक् ।

अत्र वाचो वश्यत्वोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारः । तल्लक्षणञ्च—

भवेत्सम्भावनोत्प्रेक्षा, प्रकृतस्य परात्मना ।
वाच्या प्रतीयमाना सा ।" इति ॥

कवेश्चास्य ब्रह्मणा सहोपमानोपमेयभावो व्यज्यते । पथ्यावक्त्रं छन्दः । लक्षणं पूर्वश्लोके दत्तम् । अत्र च प्रसादो गुणः । लक्षणञ्च यथा—

'चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ॥" इति ॥

गौडी रीतिः 'गौडी डम्बर बद्धे'ति लक्षणात् ॥

टिप्पणी

१. 'यं ब्रह्माणं' कहकर कवि ने अपने को ब्रह्मा के समान सिद्ध किया है। 'जिस प्रकार ब्रह्मा जी के पास सरस्वती सदा रहती है उसी प्रकार वह मेरी वशवर्तिनी है' कवि की यह गर्वोक्ति वस्तुतः तथ्य पर आधारित है। यं ब्राह्मणं यह पाठ अधिक रमणीय नहीं है। ब्रह्मणत्व तो उसका 'काश्यप' कहने से ही सिद्ध हो चुका है।

२. यहाँ भारती वृत्ति का प्ररोचना' भेद है। प्ररोचना का लक्षण है—

"उन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना।"

३. उत्प्रेक्षा अलङ्कार हैं। कवि का ब्रह्मा के साथ उपमानोपमेयभाव व्यङ्ग्य है। पथ्यावक्त्र छन्द है। प्रसाद गुण और गौडी रीति है।

४. कवि ने अपने नाटक का शीर्षक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण रखा है। इससे नाटकीय घटना-चक्र पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। 'नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशकम्' इस नाटकीय नियम का पूर्णतः पालन किया गया है। यहाँ 'उत्तररामचरित' इस शीर्षक के कतिपय अर्थ दिये जा रहे हैं। सहृदय-गण विचार करें। इनमें से अधिकांश हमारे द्वारा ही उद्भावित हैं।

(क) रामचन्द्र जी का उत्तरचरित जिसमें वर्णित हो। उनका पूर्वचरित भवभूतिविरचित महावीरचरित' में वर्णित है। उससे अगला चरित इस नाटक का प्रतिपाद्य विषय है।

(ख) अथवा—उत्तरम्=उत्कृष्टं रामस्य चरितं यस्मिन् तत्' अर्थात् जिसमें भगवान् रामचन्द्र जी के उत्कृष्ट चरित्र का वर्णन हो। लोकाराधन के लिये अपनी प्राणप्रिया सीता का भी परित्याग कर देने से बढ़कर चरित्र की उत्कृष्टता और क्या हो सकती है?

(ग) अथवा—'उत्तरन्ति=संसारार्णवतो जना येन तदुत्तरं रामचरितम्। जिससे संसार-सागर से लोग पार उतर जाते हों वह 'उत्तर' चरित।

(घ) अथवा—'उत्तरं=सर्वोत्कृष्टं, रामायाः—श्रीसीतादेव्याश्चरितम्। अर्थात् जिसमें भगवती सीता का सर्वोत्कृष्ट चरित वर्णित हो। वास्तव में यही अर्थ सबसे रमणीय प्रतीत होता है। उत्तररामचरित की पंक्ति-पंक्ति श्री सीतादेवी के उत्कृष्ट चरित की साक्षी दे रही है। उनके सम्बन्ध में विभिन्न पात्रों के उद्गार संस्कृत-टीका में देखिये।

(ङ) अथवा—जिसमें राम और सीता दोनों का चरित समान रूप में वर्णित हो। "राम च रामश्च रामौ। तयोश्चरितम्"। इस अर्थ में राम-सीता के प्रति कवि की अभेद-बुद्धि व्यक्त होती है।

(च) अथवा—उत्तरो 'गोपतिर्गोप्ता' इस 'विष्णुसहस्रनाम' के श्लोक के अनुसार 'उत्तर विष्णु का नाम है। उस दशा में "उत्तरश्चासौ रामः इति 'उत्तररामः'=विष्णुरूपस्तस्य चरितम्" यह अर्थ होगा। अर्थात् विष्णु के अवतार राम का चरित वर्णित हो।

५. 'चरित' और 'चरित्र' ये दो शब्द अंग्रेजी के 'Life' और 'Character' के समानार्थक हैं यहाँ 'चरित' शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् जिसमें रामचन्द्र जी का लङ्का-विजय के वाद का जीवन चित्रित हो। 'उत्तरचरितम् अधिकृत्य कृतम्' इस व्युत्पत्ति से 'अधिकृत्य कृत्ये ग्रन्थे' इस सूत्र से अण् का विधान करते "लुबाख्यायिको बहुलम्" इस वार्तिक से उसका लोप करके 'उत्तररामचरितम्' सिद्ध होता है। अथवा इसे लाक्षणिक प्रयोग भी माना जाता है।

एषोऽस्मि कार्यवशादायोध्यकस्तदानींतनश्च संवृत्तः। (समन्तादवलोक्य) भो भोः, यदा तावदत्रभवतः पौलस्त्यकुलधूमकेतोर्महाराजरामस्यायं पट्टाभिषेकेसमयो रात्रिंदिवमसंहृतनान्दीकः, तत्किमिदानीं विश्रान्तचारणाणि चत्वरस्थानानि।

(प्रविश्य)

नटः—भाव! प्रेषिता हि स्वगृहान्महाराजेन लङ्कासमरसुहृदो महात्मानः प्लवङ्गमराक्षसाः सभाजनोपस्थायिनश्च नानादिगन्तपावना ब्रह्मर्षयो राजर्षयश्च, यत्समाराधनायैतावतो दिवसान्प्रमोद आसीत्।

सूत्रधारः—आ, अस्त्येतन्निमित्तम्।

नटः—अत्यच्च—

वसिष्ठाधिष्ठिता देव्यो गता रामस्य मातरः।
अरुन्धतीं पुरस्कृत्य यज्ञे जामातुराश्रमम् ॥३॥

कारणमेवाह—वशिष्ठेति।

अन्वयः—वशिष्ठाधिष्ठिता देव्यो, रामस्य मातरः अरुन्धतीं पुरस्कृत्य, यज्ञे, जामातुः आश्रमम् गताः ॥३॥

हिन्दी—मैं (कार्यवश अभिनय के लिए) अयोध्यावासी तथा उसी श्रीरामचन्द्र जी के अभिषेक के समय का हो गया हूँ। (चारों ओर देखकर) अरे, (प्रबन्धकर्ताओं!) जब रावण-कुल के लिये अग्नि के समान (संहारक) परमपूज्य महाराज श्रीरामचन्द्र जी के राज्याभिषेक के समय रात-दिन नान्दी-प्रयोग (गानवाद्य) हो रहा है तो फिर चौराहे चारण-शून्य क्यों हैं? (उत्सव के समय भी ऐसी शान्ति क्यों छाई हुई है?)

[प्रवेशकर]

नट—आर्य! महाराज ने, जिनके स्वागत के लिये इतने दिन तक यह उत्सव था, उन लङ्का-समर के सुहृद वानरों, राक्षसों तथा अभिनन्दन के लिये आये हुए, नाना दिशाओं को पवित्र करने वाले ब्रह्मर्षि एवं राजर्षियों को अपने घर से (आदर-

पूर्वक) विदा कर दिया है। (अतः अब उनके चले जाने पर अहर्निश आमोद-प्रमोदों की क्या आवश्यकता है ?).

सूत्रधार—ओह ! यह कारण है ?

नट—(इतना ही नहीं) और भी है—

श्लोक ३—श्री वसिष्ठ जी की अध्यक्षता में भगवती अरुन्धती को आगे करके श्रीरामचन्द्र जी की (कौशल्या आदि) माताएँ यज्ञ में (सम्मिलित होने के लिए) जामाता (ऋष्यशृङ्ग) के आश्रम में गई हैं। अतः अतिथियों तथा गुरुजनों की अनुपस्थिति में उत्सव मनाना अनुचित समझकर यह बन्द कर दिया गया है।

संस्कृत-व्याख्या

एष इति। अहं (सूत्रधारः) सूत्रधार-पदं परित्यज्य कार्यवशादिदानीं नाटकारम्भः क्रियते, इति हेतोरायोध्यकः=अयोध्यावासी, श्री रामराज्याभिषेककालिकः संवृत्तः= सञ्जातोऽस्मि। अधुना तदानीन्तनेनैव मया कार्यं क्रियते; इति भावः।

समन्तात्=परितोऽवलोक्य कथयति—भो भो ! इति। भोः ! प्रबन्धकर्तारः। राक्षसानां तृणतुल्यं कुलं विनाशयितुमग्नितुल्यस्य श्रीरामस्य राज्याभिषेक-समयेऽधुना रात्रिन्दिवं नान्दी—प्रयोगो=नृत्यवादित्रगायनादिकं प्रवर्तते, पुनरिदानीं चत्वर-स्थानेषु चारणाः=नराः कथन्न सन्ति ? उत्सव-समयेऽपि मौनताया नग्ननृत्यं कथं भवतीति भावः।

एतत्प्रश्नस्य समाधानाय कश्चिन्नटः प्रविश्योत्सव-निरोधस्य कारणमाह— भावेति। आर्य ! राज्याभिषेकनिमित्तं ये लंकासमरस्य सुहृद्भूताः सर्वशक्तिसम्पन्ना महात्मानः=प्लवङ्गमाः=वानराः राक्षसाः, सभाजनाय=समभिनन्दनाय समुपस्थिताः, स्वयात्रयैव नानादिगन्ताम् पावयन्तः=पवित्रीकुर्वन्तः, ब्रह्मर्षयः=वसिष्ठादयो, राजर्षयः=जनकादयश्च श्रीमहाराजरामचन्द्रेणेतो विसर्जितास्तेषामेव कृते एतावतो बहून् दिवसान् यावदयं प्रमोदः=उत्सवसमारोहानन्द आसीत्। इदानीं गतेषु समागतेषु का आवश्यकता महोत्सवस्येति कृत्वा समवरुद्धः स इति भावः।

सूत्रधारस्य—'आ ! एवं मयापि-स्मृतम्, एतन्निमित्तमस्तीति वचनं निशम्य नटः पुनरप्याह—अन्यच्चेति। न केवलमेतदेव कारणम्; इदन्तु वस्तुतस्तुच्छमिव वर्तते, विशिष्टन्तु किमप्यन्यदेवास्ति। सावधानतया श्रूयताम्, तदपि मया निवेद्यते— इति भावः।

श्री वसिष्ठस्याधिष्ठातृत्वे भगवतीं अरुन्धतीमग्रे विधाय श्रीरामस्य मातरः कौशल्यादयो जामातुराश्रमे सम्भूयमाने यज्ञे गताः। यज्ञे इत्यत्र "निमित्तात्कर्मयोगे" इति सप्तमी। अतः समागतानां महानुभावानां, स्वगुरुजनानाञ्चानुपस्थितौ महोत्सव-समारम्भः सर्वथाऽनुचित एवेति निरुद्धो महोत्सव इति भावः ॥३॥

टिप्पणी

(१) आयोध्यकः—अयोध्यायां जातो दृष्टो वेति, अयोध्या+वुञ्।

तदानीन्तनः—तस्मिन् काले इति तत् + ङि (सप्तमी) + दानीं स्वार्थे =
तदानीपुः—तदानीं भव इति तदानी + ट्युल्, तुडागम ।
पौलस्त्यः—पुलस्त्यस्य गोत्रापत्यं पुमान्, पुलस्त्य + यञ् ।
रात्रिन्दिवम् = रात्रौ च दिवा चेति रात्रिन्दिवा + अच् द्वन्द्व "अचतुर विचतुर"–सूत्र से निपातन से सिद्ध ।

असंहृतनान्दीकः = असंहृता = अविश्रान्ता नान्दी यस्मिन् सः । प्लवङ्गमः = प्लवेन गच्छतीति प्लवङ्गमः । प्लव + √गम् + खच् + मुम् । वशिष्ठः = अतिशयेन वशी इति वशिन् + इष्ठन् । अधिष्ठिताः = अधि + √स्था + क्त । पुरस्कृत्य = पुरस् + √कृ + ल्यप् । यज्ञेः = "निमित्तात्कर्मयोगे" सप्तमी ।

(२) सूत्रधार के लिये नट को 'भाव' शब्द का प्रयोग करना चाहिये । "मान्यो भावेति वक्तव्यः किञ्चन्न्यूनस्तु मारिसः ।" "भावो विद्वान्" इत्यमरः ।

सूत्रधारः—वैदेशिकोऽस्मीति पृच्छामि । कः पुनर्जामाता ?

नटः—कन्यां दशरथो राजा शान्तां नाम व्यजीजनत् ।
अपत्यकृतिकां राज्ञे रोमपादाय तां ददौ ॥४॥

विभाण्डकसुतस्तामृष्यश्रृङ्ग उपयेमे । तेन द्वादशवार्षिकं सत्रमारब्धम् । तदनुरोधात्कठोरगर्भामपि जानकीं विमुच्य गुरुजनस्तत्र यातः ।

अन्वयः—राजा, दशरथः, शान्तां, नाम, कन्यां, व्यजीजनत् । राज्ञे, रोमपादाय अपत्यकृतिकां, तां ददौ ॥४॥

सूत्रधार—मैं परदेशी हूँ, इसलिए पूछता हूँ कि जामाता कौन है ?

नट—राजा दशरथ के शान्ता नाम की कन्या उत्पन्न हुई । उन्होंने उसे, 'अपत्यकृतिका' के रूप में राजा रोमपाद को दे दिया है ॥४॥

विभाण्डक ऋषि के सुपुत्र ऋष्यश्रृङ्ग ने उससे विवाह कर लिया । अब उन्होंने बारह वर्ष तक चलने वाला यज्ञ प्रारम्भ किया है । उनके (यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए) आग्रह से, पूर्ण गर्भवती पर भी श्री सीता देवी को छोड़कर गुरुजन वहाँ चले गये हैं ।

संस्कृत-व्याख्या

वैदेशिकोऽहं न जानामि, कोऽयं जामाता ? इति श्रुत्वा नटः पुनराह—कन्यामिति ।

महाराजदशरथस्य, शान्ता नाम कन्या समभवत् । तेन च सा पुत्रं मत्वा राज्ञे रोमपादाय प्रदत्ता । ताञ्च विभाण्डकस्य महर्षेः पुत्रः ऋष्यश्रृङ्ग उपयेमे = परिणीतवान् = विवाहितवान् इति यावत्, तेन चाधुना द्वादशवर्षाणि यावत् प्रवर्त्तमानो यज्ञः प्रारब्धः । अत्रत्यान् गुरुजनानाकारयितुञ्च तेन महानुरोधः कृतः । तस्यानुरोधः

वशादेव, कठोरगर्भामपि = परिपूर्णगर्भामपि सीतादेवीमिहैव परित्यज्य गुरुजनस्तत्र प्रयातः इति भावः ॥४॥

टिप्पणी

(१) अपत्यकृतिका—"अपत्यस्य कृतिर्व्यापारो यस्याः सा" अथवा "अपत्याय कृतिर्ग्रहणं यस्याः सा" अथवा "अपत्यस्य कृतिर्व्यापारो यस्यास्तथाविधाम्" । कृत्रिम पुत्री के रूप में गृहीत पुत्री अथवा "इसके गर्भ से जो पुत्र होगा वह मेरा पुत्र होगा" इस शर्त के साथ जो कन्या दी जाती है उसे भी 'अपत्यकृतिका' कहते हैं ।

"अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलङ्कृताम् ।
अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ।" (वशिष्ठ)
"अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वंति पुत्रिकाम् ।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात् स्वधाकरम् ॥
अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिकाम् ।
विवृद्धयर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः ॥" (मनुः)

राजा रामोपाद ने निस्सन्तान होने के कारण राजा दशरथ से शान्ता को ले लिया था । तदन्तर विभाण्डक के पुत्र ऋष्यशृङ्ग के साथ उसका विवाह कर दिया था । इस सम्बन्ध में ऋष्यशृङ्ग दशरथ के जामाता हुए । ऋष्यशृङ्ग प्रारम्भिक जीवन में बड़े ही एकान्तसेवी थे । उन्हें सांसारिक बातों का ज्ञान न था । अङ्गदेश के राजा रोमापाद ने अपने यहाँ अनावृष्टि होने के कारण वेश्याओं के द्वारा युक्तिपूर्वक उन्हें बुलाया । उनके आते ही वर्षा हो गई और उन्होंने शान्ता का विवाह उनसे कर दिया ।

रामायण के वर्णन से प्रतीत होता है कि शान्ता दशरथ की नहीं, रोमपाद की ही कन्या थी—

"एवमङ्गाधिपेनैव गणिकाभिर्ऋषेः सुतः ।
आनीतोऽवर्षयद्देवः शान्ता चास्मै प्रदीयते ॥
ऋष्यशृङ्गस्तु जामाता पुत्रांस्तव विधास्यति ।" (रामायण, बालकाण्ड)

'विष्णुपुराण' में इस कथा का उल्लेख है कि दशरथ ने निःसन्तान रोमपाद को शान्ता नाम की कन्या दी—

'उत्तररामचरित' में इसी कथा को स्वीकार किया गया है ।

(२) वैदेशिकः—विदेशे भव इति विदेश + ठञ् ।

व्यजीजनत् = वि + √जन् + णिच् + चङ् + लुङ् + तिप् ।

कृतिका = कृत + कन् + टाप् ।

द्वादशवार्षिकः = द्वादशवर्षाणि भविष्यतीति । द्वादशवर्ष + ठक् ।

["तमधीष्टो भृतो भूतो भावी" इति ठक् । "वर्षस्याभविष्यति" इत्युत्तरपदवृद्धिः ।]

कठोरगर्भाम् = कठोरः पूर्णो गर्भो यस्यास्तथोक्ताम् ॥

सूत्रधारः—तत्किमनेन ? एहि, राजद्वारमेव स्वजातिसमयेनोपतिष्ठावः।
नट—तेन हि निरूपयतु राज्ञः सुपरिशुद्धामुपस्थाकस्तोत्रपद्धतिं भावः।
सूत्रधारः—मारिष !

सर्वथा व्यवहर्तव्यं, कुतो ह्यवचनीयता।
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः ॥५॥

अन्वयः — सर्वथा व्यवहर्तव्यम्, अवचनीयता कुतः ? हि जनः, यथा, स्त्रीणां, तथा, वाचां, साधुत्वे, दुर्जनः ॥५॥

हिन्दी—

सूत्रधार—(हमें) इससे क्या प्रयोजन ? आओ, अपनी जाति के स्वभावानुसार हम राजदरबार में ही उपस्थित होते हैं।

नट—यदि ऐसा है तो आप महाराज के उपस्थान (स्तुति) के योग्य निर्दोष प्रशस्ति का विचार कर लें। (रचना कर लें)

[श्लोक ५]—सर्वात्मना व्यवहार (स्तुति) करते रहना चाहिये। दोषराहित्य की सम्भावना कैसे की जा सकती हैं ? क्योंकि दुर्जन जैसे स्त्रियों के चरित्र के विषय में शङ्का करता है, वैसे ही निर्दोष जनों के विषय में भी दोष निकालने की चेष्टा करता है। (अतः दुष्टों के द्वारा उद्भावित किये जाने वाले दोषों के भय से व्यवहार का परित्याग नहीं करना चाहिये) ॥५॥

संस्कृत-व्याख्या

तत्किमिति। एतत्कथनमस्माकं कृतेऽनावश्यकमेव। ततो नटानां जातिस्वभावेनावामपि राजद्वारमेव गमिष्यावः इति सूत्रधारस्याशयः।

मारिष इति। 'मारिष' इति सूत्रधारो नटं प्रति सम्बुद्धिपदं कथयति 'आर्य' इति चास्यार्थः। "आर्यस्तु मारिषः" इत्यमरः। सूत्रधारः स्व पारिपार्श्विकं = सहचरं नटमित्यर्थः, मारिषेति' वदेदिति नाट्यशास्त्रस्य नियमः।

सूत्रधारो मारिषेति नियमोक्तेः।'

सुपरिशुद्धां स्तोत्रपद्धतिं निरूपयितुं दुःशकमिति वदति सूत्रधारः—सर्वथा इति।

सर्वथा व्यवहर्तव्यमेव। यादृक् स्तोत्रं भवेत् तादृगुच्चारयेदित्येवोचितम्। अवचनीयता = दोषराहित्यं तु कुतः सम्भाव्यते ? बुद्धिमतोऽपि वाक्ये दोषसम्भावना भवत्येव। यतो जनो (प्राकृतो मूर्खः) यथा स्त्रीणां साधुत्वे दुर्जनो भवति = संशयं करोति, तथैव वाचां = वाणीनां विषयेऽपि। तस्माद् दुर्जनकृतदोषाशङ्कया व्यवहारो नैव परित्यक्तव्यो वाचां व्यवहारः। इति भावः।

अत्र काव्यलिङ्गालङ्कार उपमाचेति तयोः संसृष्टिः । काव्यलिङ्गस्य लक्षणं च यथा—"हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते, इति ।

उपमालक्षणञ्च यथा—"साम्यं वाचमवैधर्म्यं वाक्यैक्ये उपमा द्वयोः" (द्वयोः = उपमानोपमेययोः) ।

संसृष्टि-लक्षणञ्च यथा—"मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते ।" इति 'तिलतण्डुल' न्यायेन परस्परमनपेक्षितालङ्काराणां द्वयोर्वा सन्निधाने संसृष्टिर्भवति ।

अत्र मुखसन्धेः 'समाधान'-नामकमङ्गं प्रदर्शितं कविना । 'आरम्भ' 'बीजयो'-रत्र सहावस्थानात् । 'समाधानस्य' लक्षणं तु यथा साहित्यदर्पणे—

"बीजस्यागमनं यत्त तत्समाधानमुच्यते ।" इति ।

नाटकेष्ववश्यं प्रयोजनीयाः सन्धयः पञ्च भवन्ति । 'मुख'–'प्रतिमुख'–'गर्भ-विमर्श'-'उपसंहार'-भेदात् । लक्षणानि च क्रमशः उच्यते ।

मुखसन्धिर्यथा—

"यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ।
प्रारम्भेण समायुक्ता, तन्मुखं परिकीर्तितम् ॥"

प्रतिमुखसन्धिर्यथा—

"फलप्रधानोपायस्य, मुखसन्धिनिवेशिनः ।
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखच्च तत् ॥"

गर्भसन्धिर्यथा—

"फलप्रधानोपायस्य, प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन ।
गर्भो यत्र समुद्भेदो, ह्रासान्वेक्षवान्मुहुः ॥"

विमर्षसन्धिर्यथा—

"यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः ।
शापाद्यैः सान्तरायश्च, स विमर्ष इति स्मृतः ॥"

उपसंहार (निर्वहण) सन्धिर्यथा—

"बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र, निर्वहणं हि तत् ॥"

बीजलक्षणञ्च—

"अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद् विसर्पति ।
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते ॥" इति ॥

एतेषां चतुःषष्टि भेदा भवन्ति । ते च नाटकादौ यथास्थानं प्रयुज्यन्ते महाकविभिरिति भावः ।

नाटकादौ—आरम्भः, यत्नः प्राप्त्याशा, नियताप्तिः, फलागमः—एताः कार्यस्य पञ्चावस्था वर्णनीया भवन्ति । ताश्च क्रमशः पञ्च सन्धिषु सन्निवेश्यन्ते । ततश्च—'आरम्भो' 'मुख'—सन्धौ, 'यत्नः'—'प्रतिमुख'—सन्धौ 'प्राप्त्याशा'—'गर्भसन्धौ' 'नियताप्तिः'-विमर्ष-सन्धौ, 'फलागमः'-'उपसंहारसन्धौ-इत्येवं वर्णनीया भवन्ति' । अत्र

च—वन्दनीयचरितायाः सीतादेव्याश्चरितविषये दुर्जनाः सशङ्काः सन्तीति 'चित्र-दर्शन'—प्रसङ्गोऽवतारितः। स एव 'सीतापरित्याग'स्य आरम्भः, 'बीजञ्च' इति कृत्वा 'समाधान' नामकमङ्गं वर्णितमिति हृदयम् ॥५॥

टिप्पणी

(१) स्वजातिसमयेन—'स्वजात्याश्चारणजात्याः समयेन राजस्तुतिरूपेणाचारेण।' अपनी जाति के द्वारा स्वीकृत स्तुतिरूप व्यवहार से। 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसविदः।" इत्यमरः।

(२) मारिषः—सूत्रधार नट को मारिष' कहता है। 'आर्यस्तु मारिषः।" "मा न रेषति = सभ्यानुद्वजयतीति व्युत्पन्या 'मारिष' शब्दः।"

(३) 'सर्वथा व्यवहर्तव्य' के स्थान पर "व्यवहर्तव्ये" पाठ भी मिलता हैं। जिसका अर्थ होगा—"सर्वथा करणीय कार्य में।"

(४) "यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः" कहकर कवि ने सीताविषयक अपवाद की अवतारणा की हैं। यहाँ बीज नामक अर्थप्रकृति का 'समाधान' नामक अङ्ग अवतरित किया गया है—

(५) "वाचां साधुत्वे···" आदि कहकर कवि ने 'मालतीमाधव' तक पाठकों के द्वारा अपनी उपेक्षा किये जाने पर कदाचित् आक्रोश व्यक्त किया है ॥५॥

(६) काव्यलिङ्ग तथा उपमा की संसृष्टि।

नट—अतिदुर्जन इति वक्तव्यम्।

देव्या अपि हि वैदेह्याः साऽपवादो यतो जनः।
रक्षोगृहस्थितिर्मूलमग्निशुद्धौ त्वनिश्चयः ॥६॥

अन्वयः—यतो, देव्याः, वैदेह्याः अपि, जनः, साऽपवादः। रक्षोगृहस्थितिः, मूलम्, अग्निशुद्धौ, तु, अनिश्चयः ॥६॥

हिन्दी—

नट—उसे तो 'अत्यन्त दुर्जन कहना' चाहिये। क्योंकि—

[श्लोक ६]—(परम पवित्र) श्री सीतादेवी के विषय में भी लोक सापवाद है। इस (अपवाद) का मूल कारण राक्षस (रावण) के घर में निवास है। (लोगों का) 'अग्निशुद्धि' में विश्वास (ही) नहीं है ॥६॥

संस्कृत-व्याख्या

दुर्जनः स्त्रीणां साधुतायां संशयानो भवतीति सूत्रधार-वाक्ये किमप्याधिक्यं वर्धयितुं नटः प्राह—अति इति। 'अति दुर्जनो भवतीति भवता वक्तव्यम्। दुर्जनानामयं स्वभावः। तेऽपरेषां दोषदर्शनेनातितमां प्रसीदन्ति। इदानीमेते दुर्जना भगवत्याः सीतादेव्या विषयेऽपि निन्दितां चर्चां कुर्वन्तीत्याशयेनाह—देव्या इति।

यतः = यस्मात्कारणात्, जनः परमपवित्रचरित्राया अपि श्री सीतादेव्या विषये

सापवादः=अपवादेन-निन्दया सहितः तस्या अपि निन्दां करोति, अन्यस्यास्तु कथैवं का? तत्रापवादे राक्षसः=रावणस्य गृहे स्थितिरेव मूलमस्ति, अग्निशुद्धौ च निश्चय एव नास्ति। [अत्र 'जनः' इत्येकवचनेनाद्यावधि त्वेक एव रजकादिरेवं कथयति, सोऽपि जनः=प्राकृतः=मूर्खः परमन्येऽपि कदाचिदेवं कथयेयुरिति सम्भाव्यते इति भावः।

अत्र, 'अतिदुर्जन' इति कथनं प्रति 'देव्या अपि' इति वैदेह्या' इति च विशेषरूपेण, हेतुभूतं भवति। भगवती सीता 'देवी' दिव्यगुणैरुपेता न तु काचित् साधारणा नारी। विदेहस्य जनकानां कुलमूर्धन्यस्य राजर्षेविदेहस्य पुत्री। यो जनकः स्वदेहसम्बन्धमपि प्रायो नानुभवति, तस्य सुतापि 'अयोनिजा, वर्तते, परं दुर्जनो जनो नास्या अपि विश्वासं करोति। अपि च—रावणवधानन्तरं वह्नौ सर्वसमक्षं विशुद्धा भगवती तथापि वक्तुर्मुखे को वा करमर्पयेत्? अयं संसारस्य विचित्रः स्वभाव इति तत्त्वम्।

अत्र सीता परित्यागस्य "सर्वथा ऋषयो देवताश्च श्रेयो विधास्यन्ति" इति वक्ष्यमाणतया मुखसन्धेरङ्गस्य 'उपक्षेपस्य' वर्णनं क्रियते। तल्लक्षणञ्च यथा—

"काव्यार्थस्य समुत्पत्ति 'रुपक्षेप' इति स्मृतः।" इति।

अत्र दोषाभावेऽपि दोष-कथनाद् 'विभावना' अलङ्कारः। अग्निशुद्धावपि तदनिश्चयाद् 'विशेषोक्तिः' इत्यनयोः संसृष्टिः।

विभावना-लक्षणञ्च यथा—

"विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते।" इति।

विशेषोक्ति-लक्षणञ्च यथा—

"सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिर्निगद्यते।" इति।

'अतिदुर्जन' इत्यस्य साधकत्वेनास्य श्लोकस्योक्तौ काव्यलिङ्गालङ्कारोऽपि ॥६॥

टिप्पणी

(१) यहाँ 'सीता अपवाद' के सम्बन्ध में "सर्वथा ऋषियो देवताश्च श्रेयो विधास्यन्ति'' इस 'मुखसन्धि' के 'उपक्षेप' नामक अङ्ग का वर्णन किया गया है। उपक्षेप का लक्षण है—काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपक्षेप' इति स्मृतः॥"

(२) विभावना और विशेषोक्ति अलङ्कारों की संसृष्टि।

(३) श्री सीता जी की 'अग्नि-परीक्षा' के सम्बन्ध में बालमीकि रामायण की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:—

"चितां मे कुरु सौमित्रे! व्यसनस्यास्य भेषजम्।
मिथ्यापवादोपहता नाहं जीवितुमुत्सहे॥
अधोमुखं स्थितं रामं ततः कृत्वा प्रदक्षिणम्।
उपावर्तत वैदेही दीप्यमानं हुताशनम्॥
"यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टां जानाति राघवः।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥"

एवमुक्त्वा तु वैदेही परिक्रम्य हुताशनम् ।
विवेश ज्वलनं दीप्तं निःशंकेनान्तरात्मना ॥
विधूयाथ चितां तां तु वैदेहीं हव्यवाहनः ।
उत्तस्थौ मूर्तिमानाशु गृहीत्वा जनकात्मजाम् ॥
अब्रवीत्तु तदा रामं साक्षी लोकस्य पावकः ।
एषा ते राम ! वैदेही पापमस्यां न विद्यते ॥"

सूत्रधारः—यदि पुनरियं किंवदन्ती महाराजं प्रति स्यन्देत ततः कष्टं स्यात् ।

नटः—सर्वथा ऋषयो देवताश्च श्रेयो विधास्यन्ति । (परिक्रम्य) भो भोः, क्वेदानीं महाराजः ? (आकर्ण्य) एवं जनाः कथयन्ति—

स्नेहात्सभाजयितुमेत्य दिनान्यमूनि,
नीत्वोत्सवेन जनकोऽद्य गतो विदेहान् ।
देव्यास्ततो विमनसः परिसान्त्वनाय,
धर्मासनाद्विशति वासगृहं नरेन्द्रः ॥७॥

(इति निष्क्रान्तौ)

इति प्रस्तावना

अन्वयः—स्नेहात्, सभाजयितुम् एत्य, अमूनि, दिनानि, उत्सवेन, नीत्वा, जनकः अद्य, विदेहान्, गतः । ततः, विमनसः, देव्याः, परिसान्त्वनाय, नरेन्द्रः, धर्मासनात् वासगृहं विशति ॥७॥

हिन्दी—

सूत्रधार—यदि यह किंवदन्ती (जनश्रुति) महाराज के कानों में पड़ जाय तो बड़ा कष्ट (अनर्थ) होगा ।

नट—सब प्रकार से ऋषि (वसिष्ठ-वाल्मीकि आदि) तथा (गंगा-पृथिवी आदि) देवगण कल्याण करेंगे । घूमकर महानुभावो ! इस समय महाराज कहाँ हैं ? (सुनकर) लोग (नागरिक) यह कहते हैं कि—

[श्लोक ७]—राज्याभिषेकोत्सव में स्नेहपूर्वक स्वागत करने के लिए आए हुए जनक आज इतने दिन व्यतीत कर अपने विदेह-नगर को लौट गये हैं । (पिताजी के जाने से) दुःखी सीता को सान्त्वना देने के लिये महाराज न्यायासन से उठकर अन्तःपुर में प्रविष्ट हो रहे हैं (जा रहे हैं) ॥७॥

संस्कृत-व्याख्या

नट—मुखादिदं श्रुत्वा सखेदमाह—यदि पुनरिति । यदि परमियमनर्थमयी उक्तिः कर्णपरम्परया कथं कथमपि महाराजं श्रीरामं प्रति स्यन्देत=प्रस्रवेत्, प्राप्ता भवेत्, ततः परमकष्टं समुपस्थितं भवेत् । महाराज इदं श्रुत्वा कष्टमनुभविष्यति ।

सर्वथा इति—सर्वथा ऋषयः (वशिष्ठवाल्मीकि-प्रमुखाः), देवताः (गंगा पृथिव्या-दयश्च) श्रेयः=कल्याणं विधास्यन्ति। लोकस्य गतिनिरोधस्तु कथमपि केनापि कर्त्तुं न शक्यते। परमस्मिन्नर्थे कल्याणं भविष्यत्येवेति निश्चयः। महाराजः कुत्रास्ति? इति जिज्ञासते। लोकानामुत्तरमनुवदन्नाह—**स्नेहादिति** ॥६॥

स्नेहपरवशो राजर्षिजनको राज्याभिषेकमहोत्सवे सभाजयितुं=सम्मानयितुं समागतः, अमूनि=एतावन्ति दिनानि समुत्सवपूर्वकं व्यतीत्याद्य पुनर्विदेहान् (स्वदेश) प्रति निवृत्तः। तत् एव पितुर्गमनात् भगवती सीतादेवी विमनायमाना सञ्जाता, खिन्नां तां परिसान्त्वयितुं नरेन्द्रो=महाराजो धर्मासनं परित्यज्य [राज्यकार्य-निरीक्षणार्थं राजानो यस्मिन्नासने तिष्ठन्ति, तद् धर्मासनमित्युच्यते।] स्ववासभवनं एव प्रविशति। गुरुजनाभावादिदानीं कोऽन्यः परिसान्त्वयिष्यतिदेवीमिति परमावश्यकमपि राज-कार्यं परित्यज्य महाराजो मध्येभवनं प्रविष्ट इति भावः।

अत्र स्वभावस्य कथनात् स्वभावोक्तिरलङ्कारः तल्लक्षणं च यथा—

"स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्" इति।

वसन्ततिलकाच्छन्दः। तल्लक्षणञ्च यथा—

"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।" इति ॥७॥

इत्येवमुक्त्वा तौ द्वावपि रङ्गशालातो निष्क्रान्तावित्याशयेनाह—**(इति निष्क्रान्तौ) इति।**

इति प्रस्तावनेति। वर्णनीयो विषयो यत्र संक्षिप्तरूपेणोपन्यस्यते, सा प्रस्तावना, 'आमुखं' वति नाटकीयभाषायामुच्यते। यथा चोक्तं साहित्यदर्पणे—

"नटी विदूषको वापि, पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
'आमुखं' तत्तु विज्ञेय नाम्ना 'प्रस्तावनापि' सा॥"

सा च प्रस्तावना पञ्चप्रकारा भवति। तथाहि—

"उद्घात्यकः, कथोद्घातः, प्रयोगातिशयस्तथा।
प्रवर्तकावलगिते, पञ्च प्रस्तावनाभिदाः॥' इति॥

अत्र कतमा प्रस्तावना? इति विषये विदुषां विसंवादाः सन्ति। तत्र केचित् 'प्रयोगा-तिशय'—रूपां प्रस्तावनेति कथयन्ति। तल्लक्षणं च यथा—

"यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्य. प्रयुज्यते।
तेन पात्र-प्रवेशश्चेत् प्रयोगातिशयस्तदा॥" इति॥

तेषां कथनस्यायमाशयः—अत्र नट-सूत्रधारयोः संलापविषये राजद्वाररूपे एकस्मिन् प्रयोगे श्रीरामस्य सीतानुरञ्जनार्थं भवन-प्रवेशरूपोऽन्यः प्रयोगः प्रयुक्तः, अतोऽत्र प्रयोगातिशयः' इति।

अन्ये पुनरत्र प्रत्यवतिष्ठन्ते (विरोधमुपस्थापयन्ति)। तेषामभिप्राय,—अत्र

प्रयोगस्यान्यता न प्रतीयते। यत्रासाधारणो भेदः स्यात्तत्रैवान्यता, अतश्चात्र—'अवलगिता'ख्या' प्रस्तावना। 'अवलगित'—लक्षणञ्च यथा—

"यत्रैकत्रसमावेशात् कार्यमन्यत् प्रसाध्यते।
प्रस्तुतेऽन्यत्र वाऽन्यत्स्यात् तच्चावलगितं द्विधा॥" इति॥

धनिकेनापि 'दशरूपक'-व्याख्ययामयमेव सिद्धान्तः स्वीकृतः।

नवीनाः पुनर्नवीनमेव मतं परिस्थापयन्ति। तेषामेषा प्रतिपादन-पद्धतिः—अत्र 'प्रवर्तका'ख्या प्रस्तावना। तल्लक्षणञ्च यथा—

"कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत्।
तदाश्रयश्च पात्रस्य प्रवेशस्तत् 'प्रवर्तकम्'॥" इति॥

अत्र सूत्रधारस्य कथनमेव प्रधानमिति तद्वर्णनानुसारमेव पात्रस्य प्रवेशो भवतीति।

वस्तुतस्तु—अस्माकं मते त्वत्र प्रयोगातिशय एव। कार्यस्यान्यता-प्रत्यये तु स्वकीयं हृदयमेव प्रष्टव्यम्। शेषं तु विज्ञैः स्वयं विवेचनीयम्।

['नरेन्द्रः' इति पदं विशेषतां कवेरभिव्यञ्जयति। महाराजो नरेणापि सह प्रेम करोति। नराणामेवेन्द्रः! नरस्य कथनमेव सीता-परित्यागे हेतुः। लोकानुरञ्जनव्रतत्वं चाग्रे स्फुटीभविष्यति।]

इति प्रस्तावना

टिप्पणी

(१) "सर्वथा ऋषयो देवताश्च श्रेयो विधास्यन्ति" कहकर कवि वसिष्ठ-वाल्मीकि, गंगा-पृथिवी आदि के द्वारा दिये जाने वाले कथासूत्र के योगदान की ओर संकेत करता है। साथ ही वह नाटक की 'सुखान्तता' की ओर भी संकेत करता है।

(२) श्लोक में स्वभावोक्ति अलङ्कार और वसन्ततिलका छन्द है।

(३) 'धर्मासनात्' और 'नरेन्द्रः' शब्द राम के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं। राम राज-धर्म का दृढ़ता से पालन करने वाले हैं। वह पहले 'नरेन्द्र' हैं; पति आदि बाद में। आगामी घटना-चक्र का बहुत-कुछ अनुमान इसी शब्द से हो जाता है।

(४) प्रस्तावना पाँच प्रकार की होती है—(१) उद्घात्यक, (२) कथोद्घात, (३) प्रयोगातिशय, (४) प्रवर्तक, (५) अवलगित। प्रस्तावना का लक्षण संस्कृत टीका में देखिए। [प्रस्तावना = प्र + √स्तु + णिच् + युच् + टाप्]।

उत्तररामचरित की प्रस्तावना के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ 'प्रयोगातिशय' मानते हैं। कुछ 'अवलगित' और कुछ 'प्रवर्तक'। वास्तव में तो यहाँ 'प्रयोगातिशय' भेद ही मानना उचित होगा, क्योंकि नट-सूत्रधार के वार्तालाप में राजदरबार के प्रयोग में भवन-प्रवेश रूपी दूसरा प्रयोग प्रयुक्त किया गया है। 'प्रयोगातिशय' का लक्षण भी यही है—

"यदि प्रयोगे एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते।
तेन पात्र-प्रवेशश्चेत् प्रयोगातिशयस्तदा॥"

(५) 'आकर्ण्य' यह 'आकाशभाषित' है। जहाँ पात्र बिना किसी दूसरे पात्र के आकाश की ओर देखकर वार्तालाप करे, उसे 'आकाशभाषित' कहते हैं। उसका लक्षण है—

"किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत्।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत् स्यादाकाशभाषितम् ॥"

(ततः प्रविशत्युपविष्टो रामः सीता च)

रामः—देवी ! वैदिहि ! विश्वसिहि, ते हि गुरवो न शक्नुवन्ति विहातुमस्मान्।

किंत्वनुष्ठाननित्यत्वं स्वातन्त्र्यमपकर्षति।
संकटा ह्याहिताग्नीनां प्रत्यवायैर्गृहस्थता ॥८॥

अन्वयः—किन्तु, अनुष्ठाननित्यत्वम्, स्वातन्त्र्यमपकर्षति, हि आहिताग्नीनाम् गृहस्थता, प्रत्यवायैः, सङ्कटा ॥८॥

हिन्दी—

[तदनन्तर बैठे हुए राम और सीता प्रवेश करते हैं।]

राम—देवि सीते ! विश्वास रखो, वे गुरुजन (जनक जी) इनको छोड़ नहीं सकते।

[श्लोक ८]—परन्तु अनुष्ठान का नित्यरूप से पालन करना स्वतन्त्रता में विघ्न उत्पन्न कर देता है, क्योंकि अग्निहोत्रियों की गृहस्थता अनेक विघ्नों से सङ्कटापन्न होती है। [अर्थात् विधि-लोप होने के भय से अग्निहोत्री चाहे जहाँ रुकने में स्वतन्त्र नहीं होते। उनका गृहस्थ में रहना संकटमय ही है। यही कारण है कि पूज्य गुरुजनों को न चाहने पर भी जाना पड़ा है।] ॥८॥

संस्कृत-व्याख्या

श्री सीतां समाश्वासयन्नाह भगवान् रामः—देवी ! इति। विश्वासं कुरु, देवि सीते ? ते गुरवः श्रीपितृपादाः (जनकमहोदयाः) अस्मान्=त्वां माञ्च विहातुं नैव शक्नुवन्ति, तेऽस्मान् परित्यक्तुं नैव वाञ्छन्ति, तथापि किमिति गताः ? इत्यत्र कारणमस्ति। किं तदिति निर्दिशति—किन्तु इति।

किन्तु, अनुष्ठानस्य नित्यत्वं=प्रतिदिनं सन्ध्यावन्दनाग्निहोत्रादि कर्मविधानं स्वतन्त्रतां दूरीकरोति। यो हि प्रतिदिनं नित्यविधि करोति, स यत्रकुत्रापि स्वतन्त्रया स्थातुं नैव शक्नोति, विधिलोपभयात्। नित्यस्य कर्मणोऽकरणे प्रत्यवायः (पापम्) भवति। अतएव प्रत्यवायैः=विघ्नैः पापादिभिर्वा हेतुभूतैः, आहिताग्नीनां=स्वीकृताग्निहोत्रकर्मणां गृहस्थता संकटग्रस्ता भवति। [आहिताग्नयस्ते भवन्ति ये विवाहसमयात् प्रतिदिनं सायं-प्रातस्तस्मिन्नेवाग्नौ (वैवाहिकेऽग्नौ) हवनं कर्तुं व्रतं स्वीकुर्वन्ति।

यावज्जीवं तथैव कुर्वन्ति नियम-पालनम् । मृत्यौ च तेनैवाग्निना तेषां दाहसंस्कारो भवति ।] ते च यत्र-कुत्रापि स्वच्छन्दतया स्थितिं नैव कर्तुं शक्नुवन्ति । इत्येतदस्ति तेषां गमने विशिष्टं कारणमिति भावः ।

अत्र पूर्वार्धगतमर्थं सहेतुकं कर्तुं पदार्थहेतुकः काव्यलिङ्गालङ्कारः । तस्यैवार्थस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारश्चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावसंकरः ।

अर्थान्तरन्यासस्य लक्षणं यथा—

सामान्यं वा विशेषेण, विशेषस्तेन वा यदि ।
कार्यञ्च कारणेनेदं, कार्येण च समर्थ्यते ॥
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ।" इति ॥

संकरश्च नीर-क्षीर-न्यायेनैकत्र द्वयोर्बहूनां वाऽलंकाराणां प्रयोगे भवति । स च त्रिविधः – अङ्गाङ्गिभावेन, सन्देहतया, एकाश्रयानुप्रवेशेनेति चेति ।

अनुष्टुप्छन्दः । गौडी रीतिः । माधुर्यं गुणः । केषाञ्चित् मते ओज— इति ॥८॥

टिप्पणी

(१) आहिताग्नीनाम्—आहिताः=आधानसंस्कारेण स्थापिताः, अग्नयः= दाक्षिणाग्निगार्हपत्याहवनीयाख्याः, यैस्ते आहिताग्नयस्तेषाम् । स्वीकृताग्निहोत्रकर्मणामिति यावत् । अग्निहोत्रव्रत स्वीकार करने वालों की । आहिताग्नि वे व्यक्ति होते हैं जो विवाह के समय, प्रतिदिन सायं-प्रातः उसी वैवाहिक अग्नि में हवन करने का व्रत स्वीकार करते हैं और जीवन-पर्यन्त इस व्रत का पालन करते हैं । मृत्यु के अनन्तर उनका दाह-संस्कार भी उसी अग्नि से होता है । उनके लिए चिरकाल तक बिना किसी अनिवार्य कारण के बाहर रहने का निषेध है—

"निक्षिप्याग्निं स्वदारेषु परिकल्प्यार्त्विजं तथा ।
प्रवसेत् कार्यवान् विप्रो, वृथैव न चिरं वसेत् ॥"

इसीलिये जनक जी बहुत दिन तक अयोध्या में नहीं रह सकते थे । अनुष्ठान उनके लिये 'नित्यकर्म' था । 'नित्यकर्म' उन्हें कहते हैं जिनके करने से कोई विशेष लाभ नहीं होता परन्तु न करने से हानि होती है । कर्म तीन प्रकार के होते हैं—नित्य, नैमित्तिक, काम्य ।

आहितः=आङ्+√धा+क्तः । स्वातन्त्र्यम्=स्वम् आत्मा तन्त्रं यस्य स स्वतन्त्रस्तस्य भावः । स्वतन्त्र+ष्यञ् । प्रत्यवायः=प्रति+अव+√अय+घञ् ।

(३) काव्यलिङ्ग अर्थान्तरन्यास का अङ्गाङ्गिभावसंकर । अनुष्टुप् छन्द । गौडी रीति । माधुर्य गुण ॥८॥

सीता—जाणामि अज्जउत्त ! जाणामि । किंदु संदावआरिणो बन्धुजणविप्पओआ होन्ति । [जानामि आर्यपुत्र ! जानामि, किन्तु सन्तापकारिणो बन्धुजनविप्रयोगा भवन्ति ।]

रामः—एवमेतत् एते हि हृदयमर्मच्छिदः संसारभावाः । येभ्यो वीभत्समानाः संत्यज्य सर्वान्कामानरण्ये विश्राम्यन्ति मनीषिणः ।

(प्रविश्य)

कञ्चुकी—रामभद्र ! (इत्यर्धोक्ते साशंकम्) महाराज !

रामः—(सस्मितम्) आर्य ! ननु रामभद्र ! इत्येव मां प्रत्युपचारः शोभते तातपरिजनस्य, तद्यथाभ्यस्तमभिधीयताम् ।

कञ्चुकी—देव ! ऋष्यशृङ्गाश्रमादष्टावक्रः संप्राप्तः ।

सीता—अज्ज । तदो किं विलम्बीअदि । (आर्य ! ततः किं विलम्बयते) ।

रामः—त्वरितं प्रवेशय ।

(कञ्चुकी निष्क्रान्तः । प्रविश्य—)

अष्टावक्रः—स्वस्ति वाम् ।

रामः—भगवन् ! अभिवादये, इत आस्यताम् ।

सीता—भअवं णमो दे । अवि कुसलं सजामातुअस्स गुरुअणस्स अज्जाए सन्ताए अ ? [भगवन्, नमस्ते । अपि कुशलं सजामातृकस्य गुरुजनस्यार्यायाः शान्तायाश्च ?]

रामः—निर्विघ्नः सोमपीथी भावुको मे भगवानृष्यशृङ्गः, आर्या च शान्ता ?

सीता—अम्हे वि सुमरेदि ? [अस्मानपि स्मरति ?]

अष्टावक्रः—(उपविश्य) अथ किम् । देवि, कुलगुरुर्भगवान् वसिष्ठस्त्वामिदमाह—

हिन्दी—

सीता—आर्यपुत्र ! मैं सब यह जानती हूँ, परन्तु बन्धुजनों के वियोग सन्तापकारी हुआ (ही) करते हैं । (यह संसार का स्वभाव है, इसीलिये मेरा चित्त दुःखी हो रहा है ।)

राम—ऐसा ही है, ये हृदय के मर्म-स्थलों को विदीर्ण कर देने वाले सांसारिक बन्धन हैं जिनसे घृणा करते हुए विज्ञजन सम्पूर्ण कामनाओं का परित्याग कर वनों में विश्राम करते हैं । ['इच्छा' ही दुःखों का मूल है । इसको परित्याग कर ही तत्त्ववेत्ता मनुष्य सब कुछ सांसारिक झगड़े छोड़कर एकान्त शान्त जीवन व्यतीत करते हैं ।]

(प्रवेशकर)

कञ्चुकी--रामभद्र......! (इतना कहने पर ही बीच में शङ्कित होकर महाराज !—

राम—(मुस्कराहट के साथ) आर्य ! पूज्य पिताजी के सेवक (वयोवृद्ध) आपका मेरे लिये 'रामभद्र' यह सम्बोधन करना ही अच्छा लगता है ('महाराज' कहना नहीं ।) अतः अभ्यस्त ('रामभद्र') ही कहिए ।

कञ्चुकी—महाराज ! ऋष्यशृङ्ग जी के आश्रम से अष्टावक्र जी पधारे हैं।

सीता—आर्य ! तब किस लिये (उनको यहाँ लाने में) विलम्ब किया जा रहा है ।

राम—उनको अविलम्ब प्रविष्ट कराओ ।

['कञ्चुकी' चला जाता है । प्रवेशकर]

अष्टावक्र—आप दोनों का कल्याण हो ।

राम—भगवन् ! प्रणाम करता हूँ । इधर पधाँरिये ।

सीता—भगवन् ! नमस्ते ! जामाता ('ऋष्यशृङ्ग') के सहित कौशल्या आदि) गुरुजन तथा शान्ता देवी कुशल से तो हैं ?

राम—सोमरस पीने वाले मेरे जीजा भगवन् 'ऋष्यशृङ्ग' तथा आर्या शान्ता सानन्द तो हैं ?

सीता—क्या (कभी-कभी) हमारा भी स्मरण करते हैं ?

अष्टावक्र—(बैठकर) जी हाँ, देवी ! (इक्ष्वाकु—) वंश के गुरु भगवान् वशिष्ठ ने तुम्हारे लिए यह सन्देश भेजा है कि—

संस्कृत-व्याख्या

श्रीरामभद्रस्य कथनं समर्थयमाना सीतादेवी कथयति—जाणामीति । आर्यपुत्रेति धर्मपत्नी स्वपतिं सम्बोधयति नाटकीयभाषायामेष नियमः । आर्यस्य = श्वसुरस्य पुत्रस्तत्सम्बुद्धौ हे आर्यपुत्र ! इति । अहं सर्वं जानामि, किन्तु बन्धुजनानां वियोगा असह्यत्वात् सन्तापकारिणो भवन्ति । अयं संसारस्य स्वभाव एवेदृशो यद् बन्धुजनस्य वियोगो ज्ञानिनोऽपि प्राज्ञस्यापि दुःखप्रदो भवत्येवेति ममापि मनः खेदमनुभवतीति भावः ।

सीतादेव्या वचनं यथार्थमिति भगवान् रामस्तस्य समर्थनं कुर्वन्नाह—एवमेतदिति । देवि ! भवती यथा वदति, तत्सर्वथा सत्यमेव । एते संसारस्य भावाः= पदार्था एवंविधाः कष्टप्रदा भवन्ति, अतएव एभ्यो बीभत्सां = घृणामिव स्वीकुर्वन्तो मनीषिणो विज्ञजनाः, सर्वा अपि कामनाः परित्यज्यारण्येषु गत्वा विश्रामं लभन्ते । संसारे विश्रामो मनागपि नास्ति, यद्यस्ति तर्हि कथं कथमपि वनेष्वेव, यदि कामनापरित्यागं कृत्वा निवासः क्रियेत । वस्तुतस्तु कामनैव दुःखस्य मूलम् । कामनां विना संसारेऽपि न दुःखम् तथा चारण्येऽपि न सुखमिति भावः ।

कञ्चुकी—इति । अन्तःपुरचारी वृद्धः प्रविशति । कञ्चुकि-लक्षणञ्च—

'अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः ।
सर्वकार्यार्थकुशलः, कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥'

जरा वैक्लव्ययुक्तेन विशेद् गात्रेण कञ्चुकी ॥" इति ॥

प्रागभ्यासानुसारं 'रामभद्र' इत्येवं, (पुनः स्मृत्वा) महाराज ! इति भाषमाणं तं श्री महाराजः सस्मितम्=स्मितहास्यं कृत्वा वदति । स्मितञ्च--"ईषद्विकासिनयनं स्मितं स्यात् स्पन्दिताधरम्" इति लक्षणलक्षितं भवति ।

आर्येति । आर्य । कञ्चुकिन् ! ननु तात-परिजनस्य=पितृचरणसेवकस्य भवतो मां प्रति रामभद्रेति चिराभ्यस्तमुपचारपदमेव शोभते, ततो यथा भवतोक्तं तदुचितमेवेति न शंकनीयमिति भावः । अत्र रामस्यौदार्यं प्रशंसनीयमेव । महाराज सन्नप्येवं भृत्यान्निर्भयान् करोति ।

कञ्चुकी श्रीरामं प्रति सविनयं निवेदयति—देवेति । महाराज ! ऋष्य-शृङ्गस्य ऋषेराश्रमात् महात्मा अष्टावक्रः समायातः । अष्टसु स्थानेषु वक्रत्वादय-'मष्टावक्र' इत्युच्यते ।

['कहोड' नामा कश्चिद् ऋषि सर्वां रात्रिमधीते स्म । स्वगुरोरुद्दालकस्य तनयां 'सुजाता'ञ्च विवाहितवान् । एकदा पूर्णगर्भायास्तस्या गर्भः स्वपितर-मध्ययननिरतं कथितवान्—पितः ! इदमनुचितं यद्भवान सर्वां रात्रिमधीते" । स च तं गर्भस्थमेव शशाप—यत् त्वमष्टसु अवयवेषु वक्रो भविष्यसि । तच्छापवशादसौ तदेव नाम स्वीचकार । इयं महाभारतस्य कथाऽत्रानुसन्धातव्या ।

भगवान् श्रीरामः कुशल-प्रश्नानन्तरं तत्रभवतः ऋष्यशृङ्गस्य कुशलं पृच्छति—निर्विघ्न इति । सोमपीथी=सोमलता-पान-कर्ता, भावुको=विचारशीलः, कल्याणधर्मा मम भगिनीपतिः (आवुत्तो भगिनीपतिः इत्यमरः) कुशलः ? आर्या च शान्ताऽपि कुशलिनी ? पीथम्=पानमस्यास्तीति पीथी—सोमस्य पीथी, सोमपीथी । अत्र 'थक्' प्रत्यय औणादिकः 'पा-तृ-तु-दिव-चिरि-चिहि-चम्पस्थक्" इति शास्त्रेण भवति । ("सोमपीथी तु सोमपः" इत्यमरः) ।

[सीता-रामाभ्यामुत्कण्ठातिशयेन त्रयः प्रश्नाः कृताः । महात्माष्टावक्रश्चाद्या-वधि समुपविष्टोऽपि नाभूदित्यत्रापि कवेर्वैशिष्टयम् । मानस-भाव-परीक्षणे सिद्धहस्तः कविस्त्रीन् प्रश्नान् कारयन् सहृदय-समाजे उच्चतरस्थाने तिष्ठति ।]

उपविश्य सर्वेषां प्रश्नानामेवोत्तरं ददानोऽष्टावक्रो वाक्य-रचना-शास्त्रपार-दर्शित्वं स्वस्य मितभाषित्वं च प्रकटयति अथ किमिति । आम् । यद्भवद्भ्यां कुशल-स्मरणादिप्रश्नः कृतः, स सर्वोऽप्युचितः । स्मरन्ति सर्वे भवन्तो । कुशलिनश्च सर्वे । सीतां सम्बोध्य विशेषरूपेणाह—देवि ! सूर्यवंशस्य गुरुर्भगवान् वशिष्ठो भवतीमेवं (वक्ष्यमाणं) प्राह—सावधानतया श्रूयताम् ।

टिप्पणी

(१) **बीभत्समानः**=जुगुप्समानः—घृणा करते हुए । √बध् (वैरूप्ये) + सन् + शानच् । 'येभ्यः' में 'जगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्" से पञ्चमी ।

हृदयमर्मच्छिदः=हृदयस्य मर्माणि छिन्दन्तीति । हृदयमर्मच्छिद् + क्विप् + प्र० बहु० ।

मनीषिणः=मनीषा अस्यास्तीति मनीषी, बहुवचने मनीषिणः ।

इन पंक्तियों में कवि ने संसार की असारता और उद्वेजकता का बड़ा मार्मिक

चित्र प्रस्तुत किया है। संसार दुःखों का घर है। कामनाएँ दुःखों का मूल है। इनका परित्याग करने पर ही वनों में भी शान्ति मिल सकती है।

(२) कञ्चुकी—शुद्ध चरित्र, अन्तःपुरचारी वृद्ध ब्राह्मण को 'कञ्चुकी' कहते हैं— "अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः।
सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते॥"

(३) उपचारः—उप + √चर् + घञ् = व्यवहार। राम के चरित्र पर इस से बहुत प्रकाश पड़ता है। राज्य पाकर भी वे उन्मत्त नहीं है। पुराने सेवकों के साथ कथन उनका निरभिमान, आदरयुक्त तथा हृदय को लुभाने वाला व्यवहार है।

(४) अष्टावक्रः—(अष्टसु अवयवेषु 'वक्रः। "अष्टनः संज्ञायामिति" दीर्घः) 'कहोड' नामक ऋषि ने अपने गुरु 'उद्दालक' की कन्या 'सुजाता से विवाह किया था। एक बार शिष्यों के बीच में बैठे हुए, कहोड' से सुजाता के पूर्ण गर्भ ने कहा— "पिताजी, आप सारी रात पढ़ते हैं, परन्तु वह ठीक-ठीक नहीं होता।" पिता को यह सुनकर बहुत क्रोध आया। उन्होंने उसे शाप दे दिया—'तू अभी से ऐसी टेढ़ी-टेढ़ी बात करता है। जा, आठ अङ्गों से वक्र हो जा।" (यस्मात् कुक्षौ वर्तमानो ब्रवीषि, तस्माद् वक्रो भवितास्याष्टकृत्वः।) समय पर वह गर्भ 'अष्टावक्र' के रूप में अवतीर्ण हुआ। अष्टावक्र बड़े मेधावी थे। राजा जनक की सभा में शास्त्रार्थ करके उनके 'बन्दी' के द्वारा पराजित अपने पिता को शास्त्रार्थ के द्वारा मुक्त कराने के अनन्तर अपने पिताजी के वरदान-स्वरूप 'समंगा' नदी में स्नान करने से वे सीधे हो गये थे।

(५) सोमपीथी—सोमरस का पान करने वाले। पीथं = पानमस्यास्तीति पीथी, सोमस्य पीथी सोमपीथी।

(६) सीता—राम की उत्कण्ठा तथा अष्टावक्र की गम्भीरता इन संवादों से व्यक्त होतीहै।

विश्वंभरा भगवती भवतीमसूत,
राजा प्रजापतिसमो जनकः पिता ते।
तेषां वधूस्त्वमसि नन्दिनि! पार्थिवानां
येषां कुलेषु सविता च गुरुर्वयं च॥९॥

अन्वयः—हे नन्दिनि! भगवती विश्वम्भरा, भवतीमसूत, प्रजापतिसमः, जनकस्ते पिता, त्वं, तेषां पार्थिवानां, वधूः, असि येषां कुलेषु, सविता, गुरुः, वयं च (गुरवः)॥९॥

हिन्दी—

[श्लोक ९]—विश्व का भरण-पोषण करने वाली भगवती वसुन्धरा ने तुमको उत्पन्न किया है; ब्रह्मा जी के समान राजा जनक तुम्हारे पिता हैं, तथा हे आनन्दमयी सीते! तुम उन राजाओं की कुलवधू हो, जिनके कुल में भगवान् भास्कर

तथा हम गुरु हैं (मातृ-सम्पत्ति, पितृ-सम्पत्ति तथा गुरु-सम्पत्तिशालिनी तुम्हारे लिए हमारे आशीर्वाद सदैव सफल हों ।।९।।

संस्कृत-व्याख्या

किन्तदिति निरूपयति—विश्वम्भरेति ।

भगवती = सर्वविश्वपरिपालनकर्त्री, अन्नादिदानेन, विश्वपालिका नाम्नैव विश्वम्भरा — पृथिवी देवी, भवतीं सीताम्, असूत = उत्पादितवती । पृथिव्या उपरि सर्वेऽपि जना मलमूत्रादिकमपि परित्यजन्ति, भारोऽतितमा वृक्ष-पर्वतादीनामस्त्येव, तथापि सर्वंसहा सा भवत्या जननी । एतेन विपत्तिकाले समुपस्थिते भवत्यापि स्वजनन्या अनुकरण कृत्वा सर्वेषां वचनानां तज्जन्यदुःखानाञ्च भारः सोढव्य एवेति भावः सूचितः । विपत्ति-काले 'मम माता कीदृशी' इति नूनं विचारणीयमिति तु परम-रहस्यम् ।

प्रजापति समः । 'प्रजापति' शब्दे च विशेषता ध्यानं देयम् । यथा सर्वासां प्रजानां पतिः श्रीब्रह्मा प्रतिदिनं विविधस्वभावां सृष्टिमुत्पाद्यापि न तत्र कुपितो भवति, अपितु पोषणं करोत्येव । एवंविधः प्रजापालनतत्परो जनकस्तव पिताऽस्ति । एवञ्च सति समये पित्रोः स्मरणमेव धैर्यावहं भविष्यति । किञ्च, नन्दिनि ! नन्दनं नन्दः = आनन्दः सोऽस्या अस्तीति, तत्सम्बुद्धौ । आनन्दमयि सीते ! त्वं तेषां पार्थिवानां वधूरसि, येषां राज्ञां कुलेषु जगद्भासको भगवान् श्रीसूर्यो गुरुरस्ति । तस्यापि स्मरणं सर्वविघ्ननाशमरम् । न केवलं सूर्य एवं गुरुः अपितु वयमपि गुरवः । सर्वशक्ति-तपः-सम्पत्ति-सहनशीलतादिविविधैः सुगुणैर्युक्ता वयमपि येषां राज्ञां गुरवः । ततश्च मातृ-सम्पत्तिः, पितृसम्पत्तिः, गुरुसम्पत्तिश्चेति सर्वसम्पत्ति-शालिन्यास्तव कृते सर्वाः शुभाशिषः स्वयमेव सम्पन्नः सन्ति । तत्किमित्यतोऽधिकं तुभ्यमाशीर्वाद-प्रदानं कुर्मः । केवलमिदमेवाशास्यतेऽस्माभिः—यत् वीरप्रसविनी भूयाः । वीरं पुत्रं जनयिष्यसीति । तव पुत्रवत्या एष संसारः प्रतिष्ठां करिष्यतीति भावः ।

पद्यमिदमतितमां कवेरौचित्यं द्योतयति । एतेन वशिष्ठस्य सर्व काल-प्रत्यक्षकारिता ध्वन्यते । आगामिन्याः सीतादेव्या विपत्तेः, तस्याः प्रतीकारश्च सूच्यते ।

अत्रोपमा, समुच्चयः, पुनरुक्तवदाभासः इत्येतेषामलङ्काराणामङ्गाङ्गिभावेन सांकर्यम् ।

तत्रोपमा—लक्षणम्—

"साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्ये उपमाद्वयोः ।" इति ।

समुच्चयस्य लक्षणम्—

"समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके ।
खले कपोतिकान्यायात्, तत्करः स्यात् परोऽपि चेत् ।।
गुणौ क्रिये वा युगपत्, स्यातां यद्वा गुणक्रिये ।।" इति ।

पुनरुक्तवदाभास—लक्षणञ्च यथा—

"आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्यावभासनम् ।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः ।।" इति ।

'प्रजापतिसमः' इत्यत्रोपमा, 'च' शब्दोपादानात्समुच्चयः, 'जनकः, पिता' इत्यत्रारम्भे समानार्थकता, अन्ते च, जनकः – वैदेहः; इति भिन्नार्थकतेति पुनरुक्तवदाभासः, इति सामान्यतो लक्षणसमन्वयः।

वसन्ततिलकाच्छन्दः। लक्षणञ्च यथा—

"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।" इति।

प्रसादो गुणः। रीतिश्च 'लाटी' 'लाटी च मृदुभिःपदैः' इति तस्याः स्वरूपम्॥

टिप्पणी

(१) विश्वम्भरा—विश्वं बिभर्तीति। विश्व + √भृ + खच् + मुम् + टाप्।

(२) प्रजापति-समः– जनक की तुलना ब्रह्मा से की गई है। जनक की विदेहता—जीवन्मुक्तता प्रसिद्ध है। वे जनक सीता के पिता हैं। सब का, अन्नादि से भरण-पोषण करने वाली सर्वंसहा पृथ्वी माता है तथा सर्वप्रकाशक सूर्य एवं तपःपूत वशिष्ठादि कुलगुरु हैं। ऐसी विशिष्ट मातृ-सम्पत्ति, पितृ-सम्पत्ति तथा गुरुसम्पत्ति-शालिनी तुम्हें सब प्रकार के कष्टों का सामना करने के लिये तैयार रहना चाहिये। भगवान् वशिष्ठ के इस सन्देश से उनकी 'सर्वज्ञता' व्यक्त हो रही है। सीता पर आने वाली विपत्ति का भान इसी से हो जाता है।

(३) उपमा, समुच्चय, पुनरुक्तवदाभास का संकर। वसन्ततिलका छन्द। लाटी रीति॥९॥

तत्किमन्यदाशास्महे। केवलं वीरप्रसवा भूयाः।

रामः—अनुगृहीताः स्मः।

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति॥१०॥

अन्वयः—लौकिकानां, साधूनां, वाक्, अर्थम्, अनुवर्तते, हि पुनः, आद्यानाम्, ऋषीणाम्, वाचम्, अर्थः, अनुधावति॥१०॥

हिन्दी—

इससे अधिक और क्या आशीर्वाद दें? (हमारी तो केवल यही शुभ कामना है कि) तुम वीर प्रसविनी हो।

राम—(इस आशीर्वाद को पाकर) हम कृतार्थ हो गये हैं। (क्योंकि—)

[श्लोक १०]—लौकिक सत्पुरुषों की वाणी (तो) अर्थ के पीछे चलती है, परन्तु (भूत, भविष्यम्, वर्तमान का दर्शन करने वाले) आद्य ऋषियों की वाणी के पीछे-पीछे अर्थ (स्वयं) चलता है। उनकी वाणी कभी व्यर्थ नहीं होती।)॥१०॥

संस्कृत-व्याख्या

"वीरप्रसविनी भूयाः" इत्याशीर्वादोक्त्यात्र मुखसन्धेः 'परिकरं' नामाङ्गमुपवर्णितम्। सीताया निर्वासनस्य, श्री गङ्गा–पृथिवीभ्यां पुत्रयो रक्षणस्य, बाल्मीकि-द्वारा सम्वर्धनादेः सूचनायाः विद्यमानत्वात्। परिकरस्य लक्षणञ्च—

"समुत्पन्नार्थबाहुल्यं ज्ञेयः परिकरः पुनः" इति ।

वीरपुत्रस्याशिष निशम्य श्रीरामः प्रसन्नतां प्रकटयन् आह—अनुगृहीता इति । अनेनाशीर्वादेन तु अनुगृहीता स्मः । आवयोरुभयोरपि महाननुग्रहः कृतः । वीर-पुत्रा एव धरित्रीभरणे वशस्य कीर्तेर्हेतवो भवन्ति । कीट-पतङ्ग-पुत्रोत्पत्त्या को लाभः ? विशेपतश्च राज्ञामिति भावः ।

अत्रहेतुमाह—लौकिकेति ।

यतो लौकिकानां साधूनां=सत्पुरुषाणां, वाक्=वचनम्, अर्थम्=पदार्थमनुधावति । लौकिकाः साधवस्तु वस्तुगतिमवलोक्यैवावसरवादितया तदेवाशीर्वचनमुच्चारयन्ति, यस्य साफल्यं तेऽनुभवन्ति, परमाद्या ऋपयस्तु नैव कुर्वन्ति, तेपामर्थस्तु वाचमनुधावति । तेषां वाक्यं निष्फलन्नैव भवति । तेषां मुखान्निरर्थकानि निष्फलानि च वचनानि नैव निःसरन्ति । लौकिकास्तु कदाचिदनुरञ्जनार्थमपि शुभाशिषां चयम्प्रणाममात्रेणापि वितरन्तीति भगवता वशिष्ठेन यदुक्तं तदस्माकं कल्याणप्रदं, न च तत्र शङ्काकणिकापि कापि । अतएवानुग्रह एवायं तेषां वचनानामकस्मान्निर्गमादिति भावः ।

अत्र 'साधूनाम्' 'ऋषीणामाद्यानाम्' इत्यत्र कवेः पाण्डित्यप्रकर्षः । लौकिकाः साधव एव केवलं स्वल्पमेव वर्तमानं पश्यन्ति, नायं नियमो यत् ते सर्वथा सत्यमेवोद्गिरेयुः । परं 'ऋषीणां' सु यथार्थतैव । "ऋषयो दर्शनात्" । ते हि सार्वदिकं सार्वकालिकञ्च वस्तुवृत्तं करतलामलकवत्प्रत्यक्षीकुर्वन्ति । वक्ष्यति चारुन्धत्याः शब्दैः कविः—

"आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां,
ये व्यवहारास्तेषु मा संशयोऽभूत् ।
भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीनिषक्ता,
नैते वाचं विलुप्तार्थां वदन्ति ॥" [४—१८]

भगवती श्रुतिरपि प्रतिपादयति—

"सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते, भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ॥" इति ।

अत्र वीजार्थस्य प्रधाननायकस्वीकरणात् 'समाधानं' नाम मुखसन्धेरङ्गं वर्णितम् । तत्स्वरूपञ्च यथा—

"बीजस्यागमनं यत्तु तत्समाधानमुच्यते ।" इति ।

ऋषीणां वचसो गुणवर्णनात् 'विलोभनं' नाम मुखसन्धेरङ्गञ्चोपवर्णितम् । तल्लक्षणञ्च यथा—

'गुणाख्यानं विलोभनम् ।' इति ।

लौकिकसाधूनामपेक्षया ऋषीणां वचसामाधिक्योक्तेर्व्यतिरेकालङ्कारः । तल्लक्षणञ्च यथा—

"आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा व्यतिरेकः ।" इति ।

अप्रस्तुत-साधु-वचनवर्णनेन प्रस्तुतश्रीवसिष्ठवचसः प्रशंसया । "अप्रस्तुतप्रशंसा चेति तयोः संकरः ।" तल्लक्षणञ्च यथा—

"क्वचिद् विशेषः सामान्यात् सामान्यं वा विशेषतः ।
कार्यान्निमित्तं कार्यञ्च हेतोरथ समात्समम् ।
अप्रस्तुतात्प्रस्तुतञ्चेद्गम्यते पञ्चधा ततः ।
अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात् ॥" इति ।

प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः । अनुष्टुप्छन्दः ।

टिप्पणी

(१) 'वीरप्रसवा भूयाः' यह आशीर्वाद दिलाकर कवि ने (मुखसन्धि के) 'परिकर' नामक अंग का वर्णन किया है । 'परिकर' का लक्षण है—

"समुत्पन्नार्थबाहुल्यं ज्ञेयः 'परिकरः' पुनः ।"

आगामी विभिन्न घटनाओं का संकेत ही 'अर्थबाहुल्य' है ।

(२) ऋषि 'मन्त्रद्रष्टा' को कहते हैं । पुराण-ऋषियों की वाणी द्विधाहीन होती है । उन्हे अर्थ के पीछे-पीछे नहीं दौड़ना पड़ता, अर्थ स्वयं उनकी वाणी के पीछे चलता है । वे सिद्धवाक् होते हैं । लौकिक महात्मा तो कदाचित् सत्य का अपलाप भी कर सकते हैं, परन्तु ऋषि नहीं । भगवान् राम के इस कथन से जहाँ उनकी ऋषियों के प्रति हार्दिक श्रद्धा अभिव्यक्त होती है, वहाँ आगामी घटना-चक्र की अपरिहार्यता की ओर भी संकेत मिलता है ।

(३) नायक के द्वारा कथा के बीज का आधान करने के कारण यहाँ समाधान नामक 'मुखसन्धि' के 'अङ्ग' का तथा मुनियों की वाणी के गुणों का वर्णन करने से 'विलोभन' नामक (मुखसन्धि के) अङ्ग का वर्णन किया है । इनके लक्षण निम्नलिखित हैं—

"बीजस्यागमनं यत्तु तत्समाधानमुच्यते ।"

"गुणाख्यानं विलोभनम् ।"

(४) लौकिक महात्माओं की अपेक्षा ऋषियों की वाणी के आधिक्य वर्णन से व्यतिरेक अलङ्कार है । अप्रस्तुत प्रशंसा भी है । प्रसाद गुण, लाटी रीति तथा अनुष्टुप् छन्द है ॥१०॥

अष्टावक्रः—इदं च भगवत्याऽरुन्धत्या देवीभिः, शान्तया च भूयो भूयः संदिष्टम्—"यः कश्चिद्गर्भदोहदो भवत्यस्याः, सोऽवश्यमचिरान्मानयितव्य" इति ।

रामः—क्रियते यद्येषा कथयति ।

अष्टावक्रः—ननान्दुः पत्या च देव्याः संदिष्टम्—'वत्से, कठोरगर्भेति नानीतासि। वत्सोऽपि रामभद्रस्त्वद्विनोदार्थमेव स्थापितः। तत्पुत्रपूर्णोत्सङ्गा-मायुष्मतीं द्रक्ष्याम्, इति।

रामः—(सहर्षलज्जास्मितम्।) तथास्तु। भगवता वसिष्ठेन न किंचिदा-दिष्टोऽस्मि ?

अष्टावक्रः—श्रूयताम्।

हिन्दी—

अष्टावक्र—और भगवती अरुन्धती (कौशल्या प्रभृति) महारानियों तथा शान्ता ने यह बार-बार कहा है कि—

"इसकी (सीता की) जो कोई भी गर्भ के समय इच्छा हो उसकी पूर्ति अवि-लम्ब करनी चाहिये।"

राम—जो यह कहेंगी वह किया जायेगा।

अष्टावक्र—(आपकी) नन्द के पतिदेव (ऋष्यश्रृङ्ग) ने आपको सन्देश दिया है कि—"वत्से! आसन्नप्रसवा होने के कारण तुम्हें (इस उत्सव में) नहीं लाया गया है और वत्स रामचन्द्र को भी तुम्हारे मनोरञ्जन के लिए वहीं रहने दिया है। (अब तो) हम सौभाग्यवती तुमको पुत्र से भरी गोद वाली (ही) देखेंगे।"

राम—(हर्षपूर्वक लज्जा और मुस्कराहट के साथ) ऐसा ही हो! भगवान् वसिष्ठ ने क्या मेरे लिए कोई और आदेश नहीं दिया है।

अष्टावक्र—सुनिये—

संस्कृत-व्याख्या

अरुन्धत्यादिभिः "सीताया गर्भदोहृदोऽचिरात्परिपूरणीयः" इति सन्दिष्टं श्रुत्वा श्रीरामः कथयति—क्रियते इति। अत्र "क्रियते" इत्यत्र "वर्तमानसामीप्ये वर्तमान-वद्वा" इति भविष्यदर्थे वर्तमानता। यदि इयं कथयिष्यति, तदा मया अवश्यमस्या इच्छापूर्तिः करिष्यते। अतएव चित्रदर्शनोत्पन्नस्य भागीरथीतीरविहारस्य स्नानस्येच्छा-पूर्तिः कृता, इत्येवं मन्यमाना सीतादेवी सानन्दं लक्ष्मणेन सह गता। दुर्मुखोक्तन्तु तत्र किमप्यन्यदेवासीत्।

गर्भवत्या गर्भकाले या काचिदिच्छा भवेत् सा "दोहृदः" इत्युच्यते। तस्या-वरोधे गर्भे हानिर्भवति, अतोऽवश्यमिच्छा पूरणीया। अत्र 'करणं' नाम मुखसन्धेरङ्ग प्रतिपादितम्।

तल्लक्षणं च—"करणं पुनः प्रकृतार्थ-समारम्भः" इति। सीता-परित्याग-रूपस्य प्रकृतार्थस्यात्र प्रारम्भात्।

अत्र पुत्र पूर्णोत्संगां भवतीं "द्रक्ष्यामिति" ऋष्यश्रृङ्गस्य सन्देशमाकर्ण्य भगवान् श्रीरामः (सहर्षलज्जास्मितं यथास्यात्तथा) प्राह—तथास्तु इति। अत्र पुत्राशीर्वादः सर्वैदीयते—इति 'हर्षः', सीतायाः समक्ष एवेदृक्षं वाक्यमुच्चारयतीति 'लज्जा'; सर्वथा लौकिकज्ञाने मृदुरयं महानुभाव इति 'स्मित' मिति भावः। यथोक्तं तत् तथैव भवत्विति

ममाप्यभिलाषः । अथवा—इदन्तु वृत्तं विशेषरूपेण श्रुतम् । भवतु; किंस्वित् कुलगुरुणा भगवता वशिष्ठेन साम्प्रति किमपि नोपदिष्टम् ? आदिष्टं वा ? इति महाराजस्य वचनं श्रुत्वा 'श्रूयतामि'त्याहाष्टावक्रः ।

टिप्पणी

(१) दोहदः—गर्भिणी की इच्छा । यद्यपि यह सब प्रकार की इच्छा का वाचक है तथापि गर्भिणी की इच्छा के लिए ही प्रयुक्त होता है । "अथ दोहदम्, इच्छा, कांक्षा स्पृहा, तृट्" इत्यमरः "अयमिच्छावाची अपि विशेषेण गर्भिणीच्छायां प्रयुज्यते" (व्याख्यासुधा) । गर्भिणी की इच्छा पूरी न करने से सन्तान जिघृक्षु (बदनीयत) सी रहती है । "दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात् ।"

(२) सहर्षलज्जास्मितम्—कवि ने यह नाटकीय निर्देश बहुत ही साभिप्राय दिया है । सबके आशीर्वाद के कारण 'हर्ष' सीता के सामने ही अष्टावक्र के वेधड़क पुत्र-प्राप्ति के आशीर्वाद की सूचना देने के कारण 'लज्जा' तथा व्यावहारिकता की ऋषि के व्यवहार में कुछ न्यूनता के कारण 'स्मित' की मुद्रा व्यक्त की गई है ।

(३) यहाँ 'मुखसन्धि' के 'करण' नामक अङ्ग का वर्णन किया गया है, सीता-परित्याग-रूप प्रकृतार्थ के आरम्भ करने के कारण—"करणं पुनः प्रकृतार्थ समारम्भः ।

जामातृयज्ञेन वयं निरुद्धास्त्वं बाल एवासि नव च राज्यम् ।
युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्यास्तस्माद्यशो यत्परमं धनं वः ॥११॥

अन्वयः— जामातृयज्ञेन, वयं निरुद्धाः, त्वं, बाल, एव, असि, राज्यं च नवम्, प्रजानाम्, अनुरञ्जने, युक्तः, स्याः, तस्माद्, यशः (भविष्यति), यद्, वः, परमं, धनम् ॥११॥

हिन्दी—

[श्लोक ११] हम जहाँ जामाता के यज्ञ के कारण रुक गये हैं, तुम अब तक बालक ही हो तथा राज्य भी नवीन ही है । (इस प्रकार बहुत से विघ्न हो सकते हैं) अतः तुम प्रजा का अनुरञ्जन करने में सावधान रहना । (इस भाँति प्रजानुरञ्जन से) जो यश फैलेगा वही तुम लोगों का परम धन होगा ।

संस्कृत-व्याख्या

जामातृ इति । भगवता वसिष्ठेनेदमुक्तम्—"वयमत्र जामातुः ऋष्यशृङ्गस्य यज्ञे निरुद्धाः, त्वञ्चाद्यावधि बाल एव, राज्यञ्च त्वया नवीनमेव सम्प्राप्तम्, एवंविधे व्यतिकरे बहूनां विघ्नानां सम्भवो भवति । अतो लोकानामनुरञ्जने युक्तः=सावधानो भव । तस्मात् प्रजानुरागाद् यद् यशो भविष्यति तदेव वः=युष्माकं परमं धनम् । राजा प्रकृतिरञ्जनादेव भवति । बाल्यावस्थायाञ्च बुद्धिर्विवेकिनी न भवति, नवे राज्ये च 'सर्वं नवमिवेति' कालिदासोक्त्या बहवो विघ्नाः समुत्पद्यन्ते, अतः एवंविधे समये विघ्न-हर्तारो वयमत्र स्मः, प्रजाजनेषु व्यामोहोऽप्यवश्यं भाव्यः, अतः सीता-परित्यागे त्वया भ्रान्तिर्न कार्या । राज्ञः कर्तव्यं केवलं प्रजारक्षणमेवेति ततो भविष्यति वास्तविकं

भवतां यशः। 'धर्मान्न प्रमदितव्य' मिति परमतत्त्वमुपदेशस्य। धन्याः प्राचीना गुरवो भवन्ति। तथा चोक्तं श्रीहर्षेण—

"कीर्तिरेव भवतां प्रियदाराः।" इति।

अत्र 'जामातृ' शब्देनात्मीयता, 'त्वम्' इत्यनेन वात्सल्यातिरेकः 'नवम्' इत्यनेन भविष्यतां विघ्नानामवश्यम्भावः, युक्तः - सावधानः इत्येतेऽर्थाः कवेः सहृदय-धुरीणतां सूचयन्ति। इति विज्ञैर्ध्येयम्।

अत्र सीतानिर्वासनरूपं बीजं समुपदिष्टम्। बीजलक्षणञ्च—

"अल्पमात्रं समुपदिष्टं, बहुधा यद्विसर्पति।
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते॥" इति।

बहूनां कारणानां समुच्चयात् समुच्चयः। काव्यलिङ्गालङ्कारश्च। इन्द्रवज्राच्छन्दः। "स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जागौ गः" इति लक्षणात्॥११॥

टिप्पणी

(१) इस श्लोक के पूर्वार्ध में, वसिष्ठ ने अपने दूर रहने का कारण तो बताया ही है साथ ही सन्देश भी दिया है कि राज्य नवीन है, कहीं कोई विघ्न न हो जाय। सब प्रकार से सावधान रहने की आवश्यकता है। लोक-प्रियता प्राप्त करना राजा का शासन की सफलता के लिए, आवश्यक कर्त्तव्य है। "कीर्तिरेव भवतां प्रियदाराः।" (श्रीहर्ष)

(२) यहाँ सीता-निर्वासन-रूपी 'बीज' का संकेत किया गया है। 'बीज' का लक्षण पहिले दिया जा चुका है।

(३) बहुत से कारणों के समुच्चय के कारण 'समुच्चय' तथा हेतु-निर्देश के कारण काव्यलिङ्ग अलङ्कारों की संसृष्टि है। इन्द्रवज्रा छन्द है॥११॥

रामः—यथा समादिशति भगवान्मैत्रावरुणिः।

स्नेहं, दयां च, सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥१२॥

अन्वयः—लोकस्य, आराधनाय, स्नेहं, दयां, सौख्यं, च, यदि वा जानकीम्, अपि, मुञ्चतः, मे, व्यथा, न, अस्ति॥१२॥

हिन्दी—

राम—जो भगवान् वसिष्ठ जी आज्ञा देते हैं।

[श्लोक १२]—लोकाराधन करने के लिये मुझे स्नेह, दया, दुःख (और यहाँ तक कि प्राणप्रिया) जानकी को भी छोड़ते हुए मुझे कोई व्यथा नहीं होगी।

संस्कृत-व्याख्या

अष्टावक्रोक्ति निशम्यादेशं स्वीकुर्वन्नाह—यथेति। भगवान् मैत्रावरुणिः—वसिष्ठः, यथा समादिशति = आज्ञाप्रदानेन मामनुकम्पते, तथैव स्वीकरोमि। [मित्रश्च

वरुणश्चेति मित्रा-वरुणौ, "देवता द्वन्द्वे च" इत्येतेनानङ् । तयोरपत्यं पुमान् मैत्रावरुणिः । उर्वशी-दर्शनेन मित्र-वरुणयोर्वीर्यपातः कुम्भेऽन्तर्वहिश्च संजातः । अन्तः "कुम्भजः= अगस्त्यः" वहिश्च वसिष्ठः समुत्पन्नः, इति पौराणिकी कथाऽत्रानुसन्धातव्या ।

श्री रामो वसिष्ठकृतादेशपालने प्रतिज्ञां करोति—स्नेहमिति ।

लोकस्य प्रसादनाय, स्नेहादीन् परिभोक्तुं समर्थोऽस्मि, अन्येषान्तु विषये किमु वक्तव्यम् ? जानक्याः परित्यागेऽपि मम व्यथा नैव भविष्यति । लोकानुरञ्जनार्थं सर्वस्वपरित्यागेऽपि न मम व्यथा भविष्यतीति भावः "लोकस्ये" त्येक वचनेनैकस्यापि जनस्याराधनं मम व्रतमस्ति । सर्वेषां जनानान्तु कथैव का ? इति भावोऽभिव्यज्यते । "लोकाना" मिति पाठस्तु सरल एव ।

अत्र—भगवतो धैर्यं द्योत्यते । धैर्यञ्च—

"व्यवसायादचलनं धैर्यं विघ्ने महत्यपि" इति ।

एकस्यां "मुञ्चतः" इति क्रियायां स्नेहादीनामन्वयाद्दीपकालङ्कारः । लक्षणञ्च तस्य यथा—

"प्रस्तुताऽप्रस्तुतयोरेकधर्माभिसम्बन्धो दीपकः"

"प्रस्तुता प्रस्तुतयोर्दीपकन्तु निगद्यते
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत् ॥ इति ॥१२॥

टिप्पणी

(१) मैत्रावरुणिः—मित्रश्च वरुणश्चेति मित्रावरुणौ, तयोरपत्यं पुमान्, मैत्रावरुणिः । "देवता द्वन्द्वे च" इत्यानङ् । "अत इञ्" इति इञ् । "तद्धितेष्वचामादेः" इत्यादिवृद्धिः ।

एक बार उर्वशी को देखकर मित्र-वरुण का वीर्यपात घड़े के वाहर और भीतर हो गया । उसके अन्दर से 'कुम्भज' (अगस्त्य) तथा वाहर वसिष्ठ उत्पन्न हुए ।

"तद्धि तेजस्तु मित्रस्य उर्वश्या पूर्वमाहितम् ।
तस्मिन् समभवत् कुम्भे तत्तेजो यत्र वारुणम् ॥
कस्यचित्वथ कालस्य मित्रावरुणसम्भवः ।
वसिष्ठस्तेजसा युक्तो जज्ञे इक्ष्वाकुदैवतम् ॥ (रामायण, उत्तरकाण्ड)

(२) इस श्लोक से भगवान् राम की अदम्य लोकाराधन-भावना का पता चलता है । वे प्रजा के सुख के लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार हैं । 'लोकस्य' शब्द भी बड़ा सारगर्भित है । 'एक व्यक्ति' के कल्याण के लिये भी मैं अपना सर्वस्व वार सकता हूँ । आदर्श की पराकाष्ठा है !

(३) दीपक अलङ्कार ।

सीताः—अदो जेव्व राहवधुरन्धरो अज्जउत्तो । [अत एव राघवधुरंधरं आर्यपुत्रः]

रामः—कः कोऽत्र भोः ? विश्राम्यतादष्टावक्रः ।

अष्टावक्रः—(उत्थाय परिक्रम्य च ।) अये. कुमारलक्ष्मणः प्राप्तः । (इति निष्क्रान्तः ।)

(प्रविश्य)

लक्ष्मणः—जयति जप्रत्यार्यः । आर्य ! अर्जुनेन चित्रकरेणास्मदुपदिष्टमार्यस्य चरितमस्यां वीथ्यामभिलिखितम् । यत्पश्यत्वार्यः ।

रामः—जानासि वत्स ! दुर्मनायमानां देवीं विनोदयितुम् । तत्कियन्तमवधि यावत् ?

लक्ष्मण—यावदार्याया हुताशनशुद्धिः ।

रामः—शान्त (ससान्त्ववचनम् ।)

उत्पत्तिपरिपूतायाः, किमस्याः पावनान्तरैः ?
तीर्थोदकं च वह्निश्च, नान्यतः शुद्धिमर्हतः ॥१३॥

अन्वयः—उत्पत्तिपरिपूतायाः, अस्याः, पावनान्तरैः किम् ? तीर्थोदकं वह्निः, च अन्यतः, शुद्धि न, अर्हतः ॥१३॥

हिन्दी—

सीता—इसलिए तो आर्यपुत्र रघुकुल की प्रतिष्ठा के संरक्षक हैं ।

राम—यहाँ (द्वार पर) कौन है ? आदरणीय अष्टावक्र को विश्राम कराओ ।

अष्टावक्र—(उठकर तथा घूमकर) अरे, कुमार लक्ष्मण आ गये (रहे) हैं । (चले जाते हैं ।)

[प्रवेशकर]

लक्ष्मण—आर्य की जय हो ! आर्य ! हमारे द्वारा आदिष्ट आपके चरित्र को अर्जुन नामक चित्रकार ने इस चित्रवीथिका पर चित्रित किया है । अतः आप इसे देखिये ।

राम—वत्स ! तुम खिन्न-चित्त देवी का मनोरञ्जन करना जानते हो । तो (बताओ) कहाँ तक (मेरा चरित्र) चित्रित किया गया है ?

लक्ष्मण—आर्या की 'अग्नि-शुद्धि' (अग्नि परीक्षा) तक ।

राम—शान्त ! (सान्त्वना के स्वर में ।)

[श्लोक १३] जन्म से ही पवित्र सीता को शुद्धि के लिए दूसरे पदार्थों की क्या आवश्यकता है ? (क्योंकि) तीर्थों का जल तथा अग्नि स्वतः शुद्ध होने के कारण किसी दूसरे पदार्थ से शुद्धि की अपेक्षा नहीं रखता है ॥१३॥

संस्कृत-व्याख्या

महाराजस्य मुखात्कटु-सत्यं श्रुत्वा सीता देवी प्राह—

अदो-इति—अत एव, प्रजार्थे ममापि परित्याग-भावनया, भवान् रघुवंशस्य

धुरन्धरः—प्रतिष्ठा-भार संरक्षकः । नेदृशन्यस्मिन् पुरुषे सम्भवति । अनन्यसाधारण-प्रतिनिष्ठा भवतोऽभिनन्दनीयेति तत्त्वम् । भगवान् श्रीरामोऽष्टावक्रं विश्रामयितुं स्वपरिजनमाकारयति—क इति । अत्र द्वारे कोऽस्ति ? अष्टावक्रस्य विश्रामप्रबन्धः क्रियताम् ।

"नासूचितं विशेत् पात्रम्" इति नाटचनियमात् अष्टावक्रो लक्ष्मणप्रवेशं सूचयन्निष्क्रान्तः । दूरत एवायान्तं लक्ष्मणं दृष्ट्वा निष्क्रान्तोऽष्टावक्रः । एतेन लक्ष्मणेन अष्टावक्राय प्रणामो न कृतः" इत्यनौचिती नायाति ।

अभिनयस्थाने प्रवेशं कृत्वा लक्ष्मणः श्री रामं प्रति कथयति-जयति-इति । महाराज ! भवतो विजयः सदातनः । आर्यचित्रकारेणार्जुनेन मदुपदिष्टप्रकारेण श्रीमतश्चरित्रमस्यां वीथ्यां=चित्रमयभित्तौ वस्तुतस्तु चित्रपटे प्रदर्शनार्थं वीथ्यां चित्रमयश्रेण्यां ('रील' संज्ञके) चित्रितम्, तदवलोकयतु भवान् ।

तथा श्रुत्वा सहर्षमाह श्रीमहाराजः—जानासीति । प्रिय लक्ष्मण ! सत्यमेव दुःखितां सीतां देवीं प्रसादयितुं विनोदयितुञ्च जानासि । इदानीमिदमेवोचितमासीत् । तत् कथय मम चरितं कियन्तमवधि यावत् चित्रितम् ? मदीयं चरितं विस्तृतमस्ति । नहि स्वल्पीयसि चित्रपटे भित्तौ वा सकलस्य चित्रणं सम्भवति । अतः कियन्तमवधि यावदिति । अथवा, कियन्तमवधिं त्वं सीतां विनोदयितुं जानासि ? अस्यास्तु परित्यागकालः सन्निकृष्टः—इति गुप्त आशयः ।

रहस्यमिमं प्रश्नं समाधातुमाह लक्ष्मणः—यावदार्यायाः–इति । यावदार्यायाः सीतादेव्या हुताशने=वह्नौ, शुद्धिः, तावत्कथाभागपर्यंतं चित्रं लिखितम् ।

वज्रमयीमुक्तिं सीता-समक्षे श्रुत्वा परितप्तो रामः सीतां सान्त्वयितुमाह—उत्पत्ति–इति ।

लक्ष्मण ? शान्तं पापम् । त्वया पुनरेवं न वाच्यम् । पश्य, उत्पत्त्यैव परिपूता सीता वर्तते । एतस्याः परिशोधने वह्निः कः ? तीर्थजलं, वह्निश्च स्वयं शुद्धाविमौ । अन्यस्य सकाशादनयोः शुद्धेरावश्यकता नास्ति । अत्र सीता-शोधने तीर्थोदक-वह्नि-दृष्टान्तेन दृष्टान्तोऽलङ्कारः । तल्लक्षणन्तु—

"दृष्टन्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिविम्बनम् ।"१३॥

टिप्पणी

(१) 'अये कुमारलक्ष्मणः प्राप्तः,' कहकर अष्टावक्र चले जाते हैं । इस अवसर पर लक्ष्मण का उन्हें प्रणाम न करना कुछ खटकता है । परन्तु ऐसा लगता है कि लक्ष्मण के देखने से पहिले ही वे निकल गये हों ।

(२) चित्रवीथीः—चित्रवीथिका-दृश्य की संयोजना कवि की मौलिक कल्पना की परिचायिका है । इस प्रकार उसने उत्तरचरित में राम का पूर्वचरित भी प्रदर्शित कर दिया है । साथ ही नाटक के मुख्य प्रतिपाद्य सीता-परित्याग की भी इससे सूचना दे दी है । इस प्रकार ये नाटकीय घटनाचक्र का सूत्र ही चित्र दृश्य वीथी है । सम्भवतः इसे चित्रकार ने कपड़े आदि पर बनाया होगा जिसे एक ओर घुमाकर दिखाया जाता होगा । घूमने पर वह दूसरी ओर लिपटता जाता होगा । इस प्रकार के प्रदर्शनों के लिए राजभवन में विशेष कक्ष का प्रबन्ध रहा होगा ।

(३) 'तत्क्रियन्तमवधिं यावत्' भी बड़ा ही साभिप्राय प्रयोग है। सीधा-सीधा अर्थ तो यही है कि मेरा चरित्र कहाँ तक अङ्कित किया गया है, परन्तु व्यङ्ग यह भी है कहाँ तक तुम चित्र-दर्शन कराकर सीता का मनोञ्जन करोगे, इसका तो परित्याग निकट ही है।

(४) उत्पत्ति—सीता तो उत्पति से ही परिपूर्ण हैं। वे अयोनिजा हैं। निष्पाप हैं। उनकी शुद्धि किसी पदार्थान्तर से सम्भव नहीं है। तीर्थोदक और वह्नि तो स्वतः शुद्ध होते हैं; उन्हें अपनी शुद्धि के लिए किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं होती। सीता तीर्थोदक तथा वह्नि के समान सदा स्वतः शुद्ध हैं 'महावीरचरित' में भी इस श्लोक का उत्तरार्ध ज्यों का त्यों प्राप्त होता है।

(५) दृष्टान्तालङ्कार। कुछ विद्वानों के मत में 'प्रतिवस्तूपमा' भी है।

देवि देवयजनसम्भवे, प्रसीद ! एष ते जीतितावधिः प्रवादः।

विलष्टो जनः किल जनैरनुरञ्जनीय-

स्तन्नो यदुक्तमशुभं च न तत्क्षमं ते।

नैसर्गिकी सुरभिणः कुसुमस्य सिद्धा

मूर्ध्नि स्थितिर्न चरणैरवताडनानि ॥१४॥

सीता—होदु। अज्जउत्त, होदु। एहि। पेक्खह्य दाव दे चरिदम्। [इत्युत्थाय परिक्रामति। [भवत्वार्यपुत्र, भवतु एहि। प्रेक्षामहे तावत्ते चरितम्]

अन्वयः—क्लिष्टः, जनः, जनैः, अनुरञ्चनीयः, किल तत् ते, नः यत, अशुभम् उक्तम्, तत, न, क्षमम्। सुरभिणः कुसुमस्य, मूर्ध्नि स्थिति, नैसर्गिकी सिद्धा, चरणैः अवताडनानि न ॥१४॥

हिन्दी—

यज्ञभूमि से उत्पन्न देवि ! प्रसन्न होओ ! यह तुम्हारा जीवन भर के लिये अपवाद है !

[श्लोक १४]—दुःखी व्यक्ति का (उसके सम्बन्धी) जनों को मनोरञ्जन करना चाहिये। (यद्यपि तह ठीक है तथापि) तुम्हारे विषय में जो हमने अनुचित कहा है, वह तुम्हारे योग्य नहीं है, क्योंकि सुगन्धित पुष्प को सिर पर रखना उचित है, न कि उसे पैरों से कुचलना।

सीता—आर्यपुत्र ! (अपवाद को) होने दो। आओ, आपके चरित्र को देखें। (मेरा तो जैसा है, वैसा है, ही अब अपना चरित्र देखिये।)

संस्कृत-व्याख्या

पुनः सीतां सान्त्वयितुमाह—देवि, इति। देवयजना=पृथ्वी तस्याः सम्भवो यस्याः सा, तत्सम्बुद्धौ, पृथिव्याः सर्वजगन्मातु रुदरात् तवोत्पत्तिः संजाता, यत्राशुद्धेः सम्भावनापि नास्ति। परं हन्त ! तस्यास्तवापि यावज्जीवनं प्रवादः=राक्षस-भवन

निवास-रूपा निन्दा वर्तते। प्रसन्ना भव। न च भवत्या मनसि विकृतिः कार्या। संसार प्रवाहोऽनिवार्य इति भावः।

सर्वमपीदमनुचितमिति निरूपयन्ति-क्लिष्ट इति।

क्लेशयुक्तो जनस्तत्सम्बन्धिभिः सर्वैरपि जनैरनुरञ्जनीयः, इत्युचितो मार्गस्तथापित्वद्विपये यदस्माभिः (लक्ष्मणेनोक्तं तन्मयैवोक्तम् इति 'अस्माभि' इत्युक्तम्) अनुचितमयुक्तम्, सर्वथा न तत् तद क्षमम् = योग्यम्। यतो लोके सुरभिणः कुसुमस्य शिरसि स्थापनमेवोचितम् न तु पादाभ्यामवघर्षणम्। अतएव तु सदा समादर एव कर्त्तव्यो न तु स्वयमस्माभिरपमानं कार्यम्। इति जानामि, परं किं करवाणि ? निन्दा तु ते लोके प्रसिद्धा जातैव! इति भावः! निरर्थकस्य सौगन्ध्यरहितस्य कुसुमस्य तु कदाचित् पादसंघर्षणं सम्भाव्यते चापि। परं सुरभिणस्तु शिरसि संयोजनमेवोचितम्। ततश्च भवत्यास्तु समादर एव कार्यः। परन्न क्रियते! आश्चर्यम्।

अत्र दृष्टान्तालङ्कारः। लक्षणञ्च यथा—

"दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्"॥ इति॥

प्रसादो गुणः। लाटी रीतिः। वसन्ततिलकाच्छन्दः॥१४॥

सर्वं निशम्य सव्यङ्ग्यं सीता देवी प्राह—होदु इति। आर्यपुत्र! मम विपये प्रवादोऽस्ति चेदस्तु, तस्य, चिन्ता न कार्या। इदानीं तव चित्रं, चरित्रं, चित्रे पश्यामः, गन्तव्यम्। अत्रायं सारः, मम तु चरितं यादृगासीत्, तद्गतम्, इदानीं भवतोऽपि चरित्रं दर्शनीयमेवोपस्थितमिति न ममैवोपरि धूलिसमुत्क्षेप आवश्यकः, स्वकीयमपि मुखं दर्पणे प्रेक्षणीयमिति भावः।

टिप्पणी

(१) देवयजनसम्भवे—देवा इज्यन्तेऽस्मिन् इति देवयजनं यज्ञभूमिः देवयजनात् सम्भवो यस्याः सा। महाराज जनक द्वारा यज्ञभूमि को शुद्ध करने के लिये हल चलाने पर उन्हें सीता की प्राप्ति हुई थी। यज्ञभूमि से उत्पन्न होने के कारण उन्हें देवयजनसम्भवा' कहा गया है।

(२) 'क्लिष्टः' के स्थान पर कहीं कष्टः' और कहीं 'कष्टं' पाठ भी मिलते हैं। 'कष्टः का अर्थ होगा 'कष्ठ में पड़ा हुआ व्यक्ति'। जहाँ 'कष्ट' पाठ है वहाँ 'किलजनैः' के स्थान पर 'कुलधनैः पाठ मिलता है, जिसका अर्थ होगा-कुलधनैः जनः = लोकोऽनुरञ्जनीयः इति कष्टम् = कष्टकारि व्रतम्, जिससे कभी-कभी सही बात को भी प्रजाहित के लिये न्यौछावर करना पड़ जाता है।

(३) दृष्टान्त अलङ्कार। प्रसाद गुण। लाटी रीति। वसन्ततिलका छन्द।

(४) 'प्रेक्षामहे' तावत्ते चरितम्' इस कथन में सीता के हृदय की सारी व्यथा झलक उठी है। मेरे चरित्र के प्रति यदि लोकापवाद है, तो आपके चरित्र में भी कहीं न कहीं लोगों को टीका-टिप्पणी का अवसर मिल ही जायेगा। 'जनाननै कः करमर्पयिष्यति ?"

लक्ष्मणः—इदं तदालेख्यम् ।

सीताः—(निर्वर्ण्य !) के इदे उवरि णिरन्तरट्ठिदा उवत्थुवन्दि विअ अज्जउत्तम् ? [क इते उपरि निरन्तरस्थिता उपस्तुवन्तीवार्यपुत्रम् ?

लक्ष्मणः—देवि, एतानि तानि सरहस्यानि जृम्भकास्त्राणि, यानि भगवतः कृशाश्वात्कौशिकमृषिमुपसंक्रान्तानि । तेन च ताटकावधे प्रसादीकृतान्यार्यस्य ।

रामः—वन्दस्व देवि, दिव्यास्त्राणि ।

ब्रह्मादयो ब्रह्महिताय तप्त्वा, परः सहस्रं शरदां तपांसि ।
एतान्यदर्शन्गुरवः पुराणाः, स्वान्येव तेजांसि तपोमयानि ॥१५॥

सीता—णमो एदाणम् । (नम एतेभ्यः)

रामः—सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति ।

सीता—अणुगहीदह्मि । (अनुगृहीतास्मि)

हिन्दी—

लक्ष्मण—यह वह चित्र हैं ।

सीता—(देखकर) लगातार खड़े हुए ये कौन आर्य की स्तुति कर रहे हैं ?

लक्ष्मण—ये (प्रयोग और उपसंहार में) रहस्यमय वे 'जृम्भकास्त्र' हैं जो कि कृशाश्व से विश्वामित्र मुनि के पास आये और उन्होंने 'ताड़का-वध' के अवसर पर 'आर्य' (श्रीरामचन्द्र जी) को प्रसादरूप में प्रदान किये थे ।

राम—देवी ! दिव्यास्त्रों की वन्दना करो !

[श्लोक १५]—ब्रह्मा आदि पुरातन गुरुओं ने वेद (अथवा ब्राह्मणों) की रक्षा के लिये हजारों वर्षों से भी अधिक तपस्या कर (मानों) अपने तपोरूप तेज-पुञ्ज का ही इस रूप में साक्षात्कार किया था ।

सीता—इनको नमस्कार है ।

राम—अब यह सर्वात्मना तुम्हारी सन्तान पर चले जायेंगे ।

सीता—मैं कृतार्थ हो गई हूँ ।

संस्कृत-व्याख्या

आलेख्ये=चित्रे उपरिभागे स्थितान् कानपि देवानिव निरीक्ष्य सीतादेवी तेषां विषये जिज्ञासते, लक्ष्मणस्तेषां परिचयं ददानः प्राह—देवि-इति । देवि ! एतानि प्रयोगे=संचालने, उपसंहारे च सरहस्यानि शस्त्राणि सन्ति, यानि महात्मनः कृशाश्वात् (भृशाश्वादित्यपि क्वचित्पाठः) विश्वामित्रस्य ऋषे सविधे समागतानि, तेन च ताटकावधावसरे श्रीरामाय प्रसादरूपेणार्पितानि । जृम्भकास्त्राणीमानि वन्दस्व ।

दिव्यास्त्राणां वन्दनं कर्तुमुचितमिति सीतादेवीम्प्रति दिव्यत्वमेव तेषां साधयितुमाह भगवान् राम—ब्रह्मादयः—इति ।

देवि ! एतानि साधारणान्यस्त्राणि न सन्ति । ब्रह्मादिभिः प्राचीनैर्महापुरुषैः सहस्रवत्सरेभ्योऽप्यधिकवर्षाणि यावत् ब्रह्मणो वेदस्य संरक्षणार्थं स्वकीयानि तेजांसीव शास्त्रास्त्राणि साक्षात्कृतानि । तेषां तपः परिणामफलानीवैतानीति नूनं दिव्यत्वमेतेषामिति भावः ।

अत्र शस्त्रदर्शनेन महापुरुषाणामपि कीर्तनात् उदात्तालङ्कारः । तल्लक्षणञ्च—

"लोकातिशय-सम्पत्ति-वर्णनोदात्तमुच्यते ।
यद् वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत् ।।" इति ।

अद्भुतानां शस्त्राणां वर्णनेन भाविकालङ्कारः । तल्लक्षणञ्च—

"अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः ।
यत् प्रत्यक्षायमाणत्वं, तद्भाविकमुदाहृतम् ।।" इति ।

स्वान्येव तेजांसीति रूपकालङ्कारः । एतल्लक्षणञ्च—

"रूपकं रूपितारोपाद् विषये निरपह्नवे ।" इति ।

एतेषां साङ्कर्यम् । प्रसादो गुणः । उपजातिच्छन्दः ।

"स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः,
उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ।
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ,
पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ।।
इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु,
वदन्ति जातिष्विदमेव नाम ।।" इति ।।१५।।

सर्वथेति । सर्वात्मनाऽधुना तव सन्तानसेवां करिष्यन्ति, एतानि शस्त्राणि । सीता देवी प्राह—अनु, इति । भवता महानयमनुग्रहो मयि कृतः । वीर-सन्ततेः शस्त्र-सम्पत्तिरावश्यकीति कृतार्थास्मि ।

टिप्पणी

(१) **जृम्भकास्त्र**—जृम्भक नाम के अस्त्र । इन अस्त्रों की एक विशिष्ट परम्परा थी, जिसका एक क्षीण-सा आभास यहाँ मिलता है । कृताश्व से कौशिक और कौशिक से राम के पास ये अस्त्र आए । इस विषय में रामायण में लिखा है कि देवताओं ने विश्वामित्र से प्रार्थना की—

"प्रजापते । कृशाश्वस्य, पुत्रान् सत्यपराक्रमान् ।
तपोबलभृतो ब्रह्मन्, राघवाय निवेदय ।।"

विश्वामित्र ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की—

"परितुष्टोऽस्मि भद्रं ते, राजपुत्र ! महायशाः ।
प्रीत्या परमया युक्तो, ददाम्यस्त्राणि सर्वशः ।।"

× × ×

"कामरूपं, कामरुचिं मोहमावरणं यथा ।
जृम्भकं सर्पनाथञ्च, पन्थानवरुणौ तथा ।।

"कृशाश्वतनयान् राम ! भास्वरान् कामरूपिणः ।
प्रतीच्छ मम भद्रं ते, पात्रभूतोऽसि राघव ॥"

अस्त्रों ने भगवान् राम से कहा—

"रामं प्राञ्जलयो भूत्वाऽब्रुवन् मधुरभाषिणः ।
इमे स्म नरशार्दूल ! शाधि किं करवाम ते ॥"

भगवान् राम ने उनसे कहा—

"गम्यतामिति तानाह यथेष्टं रघुनन्दनः ।
मानसाः कार्यकालेषु साहाय्यं मे करिष्यथः ॥"

(१) 'सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति' कहकर राम ने सीताजी को पुत्रोत्पत्ति का आशीर्वाद दिया है । अस्त्रों का उपयोग पुत्रों के ही उपयुक्त है ।

(२) ब्रह्महिताय—वेद अथवा ब्राह्मणों के उपकार के लिये इस पद से भारतीयों की विज्ञान-विषयक मान्यता पर प्रकाश पड़ता है । यहाँ विज्ञान जगत के विनाश के लिये नहीं, अपितु निर्माण के लिये है । भौतिक उन्नति धर्म-विरोधी नहीं है अपितु उसकी साधिका है ।

लक्ष्मणः—एष मिथिलावृत्तान्तः ।

सीता—अम्हहे, दलन्त-णवणीलुप्पल-सामल-सिणिद्ध-मसिण-सोह माण-मंसलेन देह-सोहग्गेण विह्मअ-त्थिमिद-ताद-दीसन्तसोम्म-सुन्दरसिरी, अणदर-त्थुडिद-संकर-सरासणो, सिहण्ड-मुद्ध-मुहमण्डलो अज्जउत्तो आलिहिदो ! [अहो, दलन्नवनीलोत्पल–श्यामल-स्निग्ध-मसृण–शोभमान-मांसलेन देह-सौभाग्येन विस्मय–स्तमित–तात–दृश्यमान-सौम्य-सुन्दर-श्रीरनादरत्रुटि–शंकर-शरासनः, शिखण्ड–मुग्ध मुखमण्डलः आर्यपुत्र आलिखितः !

हिन्दी—

लक्ष्मण—यह मिथिला का वृत्तान्त है ।

सीता—अहा ! विकसित नूतन कमल के समान श्यामल, स्निग्ध, मसृण (चिकने) और मांसल (गठे हुए) शरीर की सुन्दरता के कारण जिनकी परम मनोहर शोभा को पिताजी विस्मय से टकटकी लगाकर देख रहे हैं तथा जिन्होंने शिव-धनुष तोड़ डाला है, ऐसे काकपक्षों (प्रसाधित केशों से) रमणीय तथा भोले-भाले मुख वाले आर्यपुत्र ही इसमें चित्रित किये गये हैं ।

संस्कृत-व्याख्या

चित्रार्पितां मिथिलायां श्रीरामस्य नीलकुवलयस्निग्धां मनोहरामाकृतिं निरीक्ष्य प्रसन्ना सती सीता देवी प्राह—अम्महे इति । 'अम्महे' इति पदमाश्चर्यव्यञ्जकमव्यय-पदम् । 'अहो' आर्यपुत्रस्य मनोहरा मूर्तिर्लिखिता । तथाहि—दलत = विकसितम्, यत् नवं नवीनं, नीलञ्च तदुत्पलं नीलोत्पलं तद्वत् श्यामलं = श्यामवर्णं, स्निग्धं = चिक्कणं,

मसृणं मृदु, शोभमानं = रमणीयम्, मांसलम् = बलवत् "(बलवान् मांसलोऽसलः" इत्यमरः) देहस्य सौभाग्येन = शरीरस्य सौन्दर्येण, विस्मयेन = आश्चर्येन कृत्वा स्तमितः = निश्चलः, यो मम तातः = पिता जनकः, तेन दृश्यमाना = अवलोक्यमाना सुन्दरी श्रीः = मनोहरा कान्तिर्यस्यैवंविधेः अनादरेण त्रुटितं = भग्नं, शम्भोः = शंकरस्य शरासनं = धनुर्येन सः, शिखण्डः = बालानां शिखा ("बालानान्तु शिखा प्रोक्ता काकपक्षः शिखण्डकः", इत्यमरः) तेन मुग्धं = सुन्दरं मुखमण्डलं यस्यैवंविधः आर्यपुत्रः आलिखितः। नीलकमलसदृशः परमरमणीयः आर्यपुत्रोऽत्र लिखितः यस्य शरीर-सौन्दर्येण मुग्ध-मुग्ध इव मम पिता वर्तते। एतेन चित्रकरस्य कौशलम् वस्तु व्यज्यते नायकस्य च रमणीयतातिशयोऽभिव्यज्यते, इति भावः। [सीतादेव्या मुखादेवंविध-दीर्घ-समास घटितवाक्यस्य प्रयोगः कवेर्मालतीमाधव-रचनाभ्यासं स्मारयति। नेदं रुचिरमिति तत्त्वम्।

टिप्पणी

(१) मिथिलावृत्तान्त को चित्र पर अङ्कित देखकर सीताजी को एकदम पुरानी बातों की स्मृति हो आई। आश्चर्यचकित होकर उन्होंने राम की उसी मनोहर मूर्ति का वर्णन कर दिया। भगवान् राम का सुगठित शरीर, धनुर्भङ्ग का दृश्य, जनक की मनोभावना—सभी का सुन्दर चित्र इस वर्णन में प्राप्त होता है। भवभूति की समर्थ वर्णनशक्ति तथा वाक्‌सिद्धि का यह वाक्य उदाहरण है। परन्तु सीता के मुख से पूर्वराग के वर्णन में ऐसी वाक्यावली का प्रयोग कराना आलोचकों को खटका है।

(२) अम्महे—आश्चर्यसूचक अव्यय।

शिखण्डमुग्धमुखमण्डलः—शिखण्डेन = काकपक्षेण, मुग्धं सुन्दरं मुखमण्डलं यस्य सः। काकपक्ष (बालों की लटों) से सुन्दर मुख वाले।

"काकपक्षः शिखण्डकः।" "मुग्धः सुन्दरमूढयो"

(३) उदात्तालङ्कार।

लक्ष्मणः—आर्ये, पश्य पश्य—

सम्बन्धिनो वसिष्ठादीनेष तातस्तवार्चति।
गोतमश्च शतानन्दो, जनकानां पुरोहितः॥१६॥

हिन्दी—

आर्ये! देखिए, देखिए—

[श्लोक १६]—ये आपके पिताजी जनक-वंश के पुरोहित गौतम-पुत्र शतानन्द के साथ वसिष्ठ आदि सम्बन्धियों का अर्चन कर रहे हैं।

संस्कृत-व्याख्या

एवं सादरं श्रीरामावलोकने निरतायाः सीतादेव्याः औत्सुक्यं वर्धयितुं लक्ष्मणस्तात्कालिकवस्तुसौन्दर्यमभिवर्णयति—सम्बन्धिनः इति।

आर्ये! निरीक्ष्यतां परमसुन्दरः समयः। अयं भवत्यास्तातः = पिता वशिष्ठादीन् सम्बन्धिनः समर्चतिः = पूजयति। जनक-वंशस्य पुरोहितः, गौतम-पुत्रः 'शतानन्द'-श्च सदैव मिलितः। अत्र कविना परमसौन्दर्यं सुपरिकल्पितम्। लक्ष्मणस्य मुखात्

'वसिष्ठादीन् सम्बन्धिनः' इति कथनं कां विच्छित्तिं न जनयति ? सम्बन्धी महाराज-दशरथः, तमनुक्त्वा गुरुवर-श्रीवशिष्ठस्य नामकीर्तनेन पितुरप्यपेक्षया गुरोर्महत्वं सूच्यते। औदार्यातिशयश्च लक्ष्मणस्येति विज्ञाः विवेचयन्तु।

अत्र तात-शतानन्दयोरर्चन-क्रियायामुभयोरन्वयात् तुल्ययोगिताऽलङ्कारः। तल्लक्षणञ्च यथा—"पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।

"एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता।" इति॥

अनुष्टुप्छन्दः। प्रसादो गुणः। लाटी रीतिः॥१६॥

टिप्पणी

(१) यहाँ लक्ष्मण ने 'वसिष्ठ आदि सम्बन्धियों को' यह कहकर अपनी हार्दिक गुरुभक्ति का परिचय दिया है। सम्बन्धी तो वास्तव में दशरथ थे परन्तु उनका उल्लेख न करके वसिष्ठ जी का ही मुख्य रूप से उल्लेख करना रघुवंशी की शिष्टता का द्योतक है।

(२) शतानन्द—ये गौतम तथा अहिल्या के पुत्र थे और जनक के कुलपुरोहित थे।

(३) जनकानाम्—यह शब्द यहाँ वंश-परम्परा के लिये प्रयुक्त हुआ है। राजा जनक का वास्तविक नाम तो 'सीरध्वज' था।

रामः—सुश्लिष्टमेतत्।

जनकानां रघूणां च, सम्बन्धः कस्य न प्रियः।
यत्र दाता गृहीता च, स्वयं कुशिकनन्दनः॥१७॥

हिन्दी—

राम—यह सर्वाङ्गसुन्दर है।

[श्लोक १७]—जनक तथा रघुवंश के राजाओं का यह सम्बन्ध किसे प्रिय नहीं है ? जिसमें कि दाता और गृहीता (दोनों ही) स्वयं कुशिकनन्दन (विश्वामित्र) हैं।

संस्कृत-व्याख्या

सम्बन्धस्य, तादृशस्य समयस्य, स्वेषाञ्च सर्वेषां बन्धूनाम् औचित्यं वर्णयति श्रीरामः—सुश्लिष्टमिति। अहो ! एतत्सर्वमपि सुश्लिष्टं—सुसम्बद्धं घटितम्। किन्तदिति पद्येन विशदयति—जनकानामिति।

जनकानां=जनकवंशीयानां, रघूणाञ्च सम्बन्धः कस्य प्रियो न ? अपितु सर्वस्यैव जनस्यायं सम्बन्धः प्रियः। सम्बन्धस्य प्रियत्वे प्रधानं कारणं निर्दिशति। तथाहि—यत्र दाता गृहीता च स्वयं भगवान् कुशिकनन्दनः=विश्वामित्रोऽस्ति। य एव दाता स एव गृहीता ? इत्याश्चर्यम्! अयमत्र सारः—भगवतो विश्वामित्रस्यैवानुग्रहेणास्माकं मिथिलायां गगनमभूत् तत्प्रेरणयैव च धनुषो भङ्गः कृतः। अतः सर्वमपि तदीयानुकम्पयैव सम्पन्नं कार्यमिति स एव भगवान् धनुर्भङ्गप्रेरकत्वेन दाता, स एव च तत्र गमनेन ग्रहीता चेति गुरौ विश्वामित्रे कृतज्ञतातिशयः प्रदर्शितः।

अत्र सम्बन्धस्य प्रियतां साधयितुमुत्तरार्धस्य हेतुत्वमिति काव्यलिङ्गालङ्कारः। विवाह-सम्बन्धे महर्षि विश्वामित्रस्य चरितवर्णनेन उदात्तालङ्कारश्च।

टिप्पणी

इस श्लोक में भगवान् राम में महर्षि विश्वामित्र के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त की है जो कि इस सम्वन्ध के एकमात्र कारण हैं। वे दाता भी हैं और ग्रहीता भी 'कुशिकनन्दन' कहने से यह भी ध्वनि निकलती है कि इन्होंने 'क्षत्रिय' की भाँति ही हमारे प्रति सजातीय व्यवहार किया है। (विश्वामित्र पहले क्षत्रिय थे, वाद में ऋषि हुये।)

सीता—एदे क्खु तक्कालकिदगोदाणमङ्गला चत्तारो भादरो विआहदिक्खिदा तुह्मे। अह्मो! जाणामि, तस्सिं जेव्व पदेसे, तस्सिं जेव्व काले वत्तामि। [एते खलु तत्कालकृतगोदानमङ्गलाश्चत्वारो भ्रातरो विवाहदीक्षिता यूयम्, अहो! जानामि, तस्मिन्नेव प्रदेशे, तस्मिन्नेव काले वर्ते।]

रामः—

समयः स वर्तत इवैष यत्र मां
समनन्दयत्सुमुखि! गौतमार्पितः।
अयमागृहीतकमनीयकङ्कण-
स्तव मूर्तिमानिव महोत्सवः करः ॥१८॥

हिन्दी—

सीता—ये तत्काल 'गोदान-संस्कार' (मुण्डन) कराये हुए, विवाह के लिये दीक्षित आप चारों भाई हैं। ओह, मुझे तो ऐसा लग रहा है जैसे कि मैं उसी स्थान और उसी समय में ही हूँ।

राम—[श्लोक १८]—सुमुखि सीते! मुझे तो ऐसा लग रहा है कि मानों यह वही समय है जबकि कमनीय कंकण से अलंकृत, गौतम (शतानन्द) के द्वारा (मेरे हाथ में) पकड़ाये हुए तुम्हारे इस हाथ ने मूर्तिमान् महोत्सव की भाँति मुझे आनन्दित किया था।

संस्कृत-व्याख्या

एते खलु--इति। गोदानम्=गावः केशाः, दीयन्ते=कर्त्यन्ते यस्मिन् तत् मङ्गलम्। गोपूर्वकात्√'दो अवखण्डने' इति धातोः 'करणाधिकरणयोश्च' इत्यधिकरणे ल्युट् प्रत्ययः। तत्काले=तस्मिन्नेव समये कृतं गोदानं मङ्गलयैर्येषां वा ते। विवाह-संस्कारार्थं दीक्षिताः=गृहीतदीक्षाव्रताः। इदं चित्रं निरीक्ष्य अहन्तु जानामियत्तत्रैव=मिथिलायामेव तस्मिन्नेव विवाह-समये विद्यमानास्मि। चित्रदर्शनेन सर्वमपि पुराभवं वृत्तं प्रत्यक्षीकरोमि। इति भावः।

सीतादेव्या मुखात् पुरातनवृत्तान्तमाकर्ण्य भगवान् रामोऽपि तथैवाह—समय इति।

सुमुखि सीते! अहमपि जाने स एव समयो वर्तत इव, यस्मिन् समये आगृहीतं

=धृतं कमनीयं कर-कंकणं यस्मिन् स एवायं परिगृहीतकङ्कणस्तव करः गौतमेन जनक-पुरोहितेन मह्यं दत्तः मूर्तिमान् महोत्सव इव मां समनन्दयत् । अहमपि तमेव विवाह-महोत्सवं प्रत्यक्षत पश्यामि ।

अत्र उत्प्रेक्षालङ्कारः । 'इव शब्द-प्रयोगाद् वाच्या । तल्लक्षणञ्च यथा—

"सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना ।
वाच्येवादिप्रयोगे स्यात्...............।। इति ।।

भूतस्य वृत्तान्तस्य प्रत्यक्षीकरणाद्भाविकोऽङ्कारश्च । तल्लक्षणञ्च यथा—

"अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः ।
यत् प्रत्यक्षायमाणत्त्वं, तद्भाविकमुदाहृतम् ।।" इति ।

मञ्जुभाषिणी च्छन्दः । तल्लक्षणं च यथा—

"सजसा जगौ भवति मञ्जुभाषिणी ।।" इति ।

प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः ।

टिप्पणी

(१) गोदान—"गावो लोमानि=केशा दीयन्ते=कर्त्यन्ते" अर्थात् जिसमें केश दिये अर्थात् मुंडाये जाते हों; उस संस्कार को गोदान' कहते हैं । यह विवाह से पूर्व होता है । कुछ टीकाकारों ने विवाह से पूर्व गौओं के वितरण को ही 'गोदान' माना है । परन्तु पहला अर्थ ही अधिक समीचीन है ।

'गो' पूर्वक √'दो' (अवखण्डने) धातु से ल्युट् होकर 'गोदान' की सिद्धि होती है ।

(२) श्लोक में उत्प्रेक्षा तथा भाविक अलङ्कार हैं ।

लक्ष्मणः—इयमार्या । इयमप्यार्या माण्डवी । इयमपि वधूः श्रुतकीर्तिः ।

सीता—वच्छ, इअं वि अवरा का ? [वत्स, इयमप्यपरा का ?]

लक्ष्मणः—(सलज्जास्मितम् । अपवार्य) अये, उर्मिलां पृच्छत्यार्या । भवतु । अन्यतः सञ्चारयामि । (प्रकाशम्) आर्य ! दृश्यतां द्रष्टव्यमेतत् । अयं च भगवान्भार्गवः ।

सीता—(संसभ्रमम् ।) कम्पिदह्मि ! [कम्पितास्मि !]

रामः—ऋषे ! नमस्ते ।

लक्ष्मणः—आर्ये ! पश्य । अयमार्येण—(इत्यर्धोक्ते ।)

रामः—(साक्षेपम्) अयि, बहुतरं द्रष्टव्यम् । अन्यतो दर्शय ।

सीता—(सस्नेहबहुमानं निर्वर्ण्य ।) सुट्ठु सोहसि अज्जउत्त एदिणा विणअ-माहप्पेण । [सुष्ठु शोभसे आर्यपुत्र ! एतेन विनयमाहात्म्येन ।

लक्ष्मणः—एते वयमयोध्यां प्राप्ताः ।

रामः—(सास्रम् ।) स्मरामि हन्त ! स्मरामि ।

जीवत्सु तातपादेषु, नूतने दारसंग्रहे ।
मातृभिश्चिन्त्यमानानां, ते हि नो दिवसा गता ॥१६॥

हिन्दी—

लक्ष्मण—यह आप हैं । यह (भरत जी की धर्मपत्नी) आर्या माण्डवी हैं और वह वधू श्रुतकीर्ति (शत्रुघ्न-पत्नी) हैं ।

सीता—वत्स ! और यह दूसरी कौन है ?

लक्ष्मण—(लज्जा और मुस्कराहट से दूसरी ओर को स्वयं ही) अरे, अरे आर्या (भाभी) उर्मिला को पूछ रही हैं ! अस्तु, (अन्य वृत्तान्त दिखलाकर) दूसरी ओर इनका ध्यान आकृष्ट करता हूँ । (प्रकाश में) आर्ये, देखिये, यह द्रष्टव्य है (प्रष्टव्य नहीं, अतः एकाग्रचित्त होकर इस दर्शनीय चित्र को देखिये ।) ये भगवान् भार्गव (परशुराम जी) हैं ।

सीता—(घबराहट से) मैं तो भय से काँप उठी हूँ ।

राम—ऋषे ! आपको प्रणाम है ।

लक्ष्मण—आर्ये ! देखिये इन्हें आर्य ने···यह आधा कहने पर बीच में ही ।)

राम—(निषेध करते हुए) अरे भाई ? बहुत कुछ देखना है । अतः दूसरा दृश्य दिखलाओ ।

सीता—(सस्नेह सम्मानपूर्वक देखकर) आर्यपुत्र ! आप इस विनय-प्रकर्ष से बहुत सुशोभित होते हैं ।

लक्ष्मण—(लीजिए,) अब हम लोग अयोध्या में आ गये हैं ।

राम—(आँसुओं के साथ) स्मरण करता हूँ ! हन्त ! स्मरण करता हूँ]

[श्लोक १६]—'जब पिताजी जीवित थे, हमारा नया-नया विवाह हुआ था, माताएँ सब प्रकार से हमारी चिन्ता रखती थीं, (हा !) आज हमारे वे (सुखमय) दिन चले गये ।"

संस्कृत-व्याख्या

चित्रे विन्यस्तानां सर्वासां वधूनां परिचयं प्रददाति लक्ष्मणः—

इयमिति । इयं=सम्मुखे (चित्रे) लिखिता आर्या=श्री सीतादेवी । इयमप्यार्या श्रेष्ठा 'माण्डवी'=जनकराजस्य कनीयसो भ्रातुः 'कुशध्वजस्य' पुत्री श्रीभरतस्य धर्मपत्नी । इयमपि च वधूः श्रुतकीर्तिः= कुशध्वजस्य कनिष्ठा पुत्री । आयुष्मतः शत्रुघ्नस्य पत्नी । ज्येष्ठयो 'रार्या'-पदेन, व्यपदेशः । एतेन लक्ष्मणस्य शिष्टता प्रदर्शिता भवति ।

लज्जावशात्स्व-पत्न्याः ज्येष्ठयोस्तयोः सम्मुखे परिचय-प्रदानमनुचितमिति मत्वा तस्या नामकीर्तनं नैव कृतमिति परिहासार्थं सीता देवी पृच्छति—वत्स इति । वत्स ! इयमप्यपरा=अवशिष्टा का ? एतस्याः परिचयः कथं न दीयते ?

सलज्ज सस्मितञ्चास्य प्रश्नस्याशयं ज्ञात्वा (स्वगतम्) प्राह । अये-इति ।

उर्मिलां = लक्ष्मणपत्नीं, पृच्छति आर्या = सीता देवी मम पत्नीं पृच्छति । 'स्वगतम्' । स्व-मनसि कथनं स्वगतं भवति । तथा चोक्तम्—

'अश्राव्यं खलु यद् वस्तु, स्वगतं तदिदं मतम्' ।। इति ।।

अस्तु, अन्यतः सञ्चारयामि = अन्यं वृत्तान्तं दर्शयिष्यामि । येनेयमस्याः (मम पत्न्याः) प्रसङ्गं विस्मरिष्यति । इति (प्रकाशम्) सर्वश्राव्यतया । सिद्धान्तितञ्च यथा—

"सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात् ।" इति ।

आर्ये ! इदं द्रष्टव्यम् पुरस्तादवश्यं प्रेक्षणीयं वस्तु दृश्यताम् । अयञ्चाग्रे भगवान् भार्गवः = परशुरामोऽस्ति । अपि च-इदं केवलं प्रष्टव्यमेव । नत्वत्र प्रश्नावकाशोऽस्ति । अतः सावधानतया पश्यतु केवलं भवति । इति भावः ।

परशुराम-दर्शनेन सीता सकम्पा संजाता । श्रीरामेण च नमस्कारो विहितः । लक्ष्मणेन "धनुर्भङ्गसमये परशुरामः श्रीरामेण पराजितः" इति स्व-प्रशंसामनाकर्णयन् भगवान् रामः साधिक्षेपं = सनिषेधं प्राह—अयि-इति । वत्स ! बहुतरं दृश्यं वर्तते । अग्रे दर्शय किमपि । ब्राह्मणस्यापमानप्रसङ्गोऽपि मह्यं न रोचते । ब्राह्मणास्तु प्रणम्या एव भवन्ति ।

एवंवादिनं महाराजं सस्नेहं सादरञ्च निरीक्ष्य सीतादेवी प्राह—सुष्ठु-इति । आर्यपुत्र ! अनेन विनयस्य माहात्म्येन भवानत्यर्थं शोभते । एवंविधो विनयोऽन्यत्र नावलोक्यते, इति भावः । 'एते वयमयोध्यां प्राप्ताः' इति श्रुत्वैव स्मृतपूर्ववृत्तान्तो भगवान् रामः पितृमातृस्मरणपूर्वकं गतानां दिवसानां सम्बन्धे साश्रुः प्राह—

जीवत्सु:-इति । तातपादास्तदा जीवन्ति स्म, नवो विवाहोऽभूत् मातरस्सदा सर्वात्मनाऽस्माकं चिन्तां कुर्वन्ति स्म । यत्सत्यं ते दिवसा अस्माकं गताः ।

परममार्मिकोऽयं श्लोकः । भावानां सौकुमार्यं यथार्थता चात्र सविशेषं समुपस्थापिता कविना । पित्रोः समय एव विवाहः शोभते । इदानीञ्च सर्वोऽपि भारो ममैव शिरसि निपतितः, इति भावः । 'मातृभिश्चिन्त्यमानानाम्', इति क्वचित्पाठः । परमयमस्मभ्यन्तु न रोचते । मातृणां चिन्तायां स्वाभाविक वात्सल्यं सुखानुभूतिश्च । भ्रातृभिः कीदृशी चिन्ता कृता ? कश्चात्र तस्या उपयोगः ? शेषं विवेचकाः विवेचयन्तु । अत्र "ते" इत्यनुभूतेऽर्थे प्रयुज्यते । अतएव यच्छब्दोपादानस्यापेक्षा नास्ति । तथा चोक्तं 'साहित्यदर्पणे'—

"तच्छब्दस्य प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थत्वे यच्छब्दस्यार्थत्वम् ।" इति ।

"स्मरामि हन्त ! स्मरामि" इत्यत्र पितृमरणजन्यशोकाद्विषादोऽतो न पुनरुक्तिः । तथा चोक्तं तथैव—

"कथितञ्च पदं पुनः—
विहितस्यानुवाद्यत्वे विषादे विस्मये क्रुधि ।
दैन्येऽथ लाटानुप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादने ।।
अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्ये, हर्षेऽवधारणे ।।" इति ।

अन्यत्र च— "विषादे विस्मये हर्षे शोके दैन्येऽवधारणे ।
प्रसादने सम्भ्रमे चद्वि स्त्रिरुक्तिर्न दुष्यति ॥" इति ।

"तातपादेषु" इत्यत्र बहुवचनदाने प्रामाण्यम्—
"एकत्वं न प्रयुञ्जीत, गुरावात्मनि चेश्वरे ।" इति ।

"पादचरणादि" शब्दाश्च पूज्यत्वातिशयद्योतनाय प्रयुज्यन्ते सर्वत्र काव्येषु ।

एकस्मिन् पितृजीवनरूपे कारणे विद्यमानेऽपि कारणान्तर-प्रदानेनात्र 'समुच्चयोऽलंकारः । तल्लक्षणञ्च—

"समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके ।
खले कपोतिकान्यायात्तत्करः स्यात् परोऽपि च ॥" इति ॥

अनुष्टुप् छन्दः । लाटी रीतिः । प्रसादो गुणः ॥१६॥

टिप्पणी

(१) वत्स ! इयमपरा का ?' कहकर सीताजी ने बड़ी मीठी चुटकी ली है । उर्मिला के विषय में संस्कृत में जो थोड़ा बहुत लिखा गया है । उसमें इस पंक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

(२) अपवार्य—एक ओर को मुख करके कोई बात कहना जिससे कि दूसरा पात्र उस कथन को न सुन सके । प्रो० काणे का मत है कि 'अपवार्य' के स्थान पर 'स्वगत' का प्रयोग होना चाहिए ।

(३) प्रकाशम्—"सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात् ।" उस बात को, जिसे सभी सुन सकें, 'प्रकाश' कहते हैं । जो स्वयं मन ही मन में कही जाय उसे 'स्वगत' ।

(४) "अयि, बहुतरं द्रष्टव्यम्, अन्यतो दर्शय ।"भगवान् राम का यह कथन उनकी अनुपम शालीनता का द्योतक है । परशुराम जी के मानभंग का प्रसंग उठाने पर भी वे उसे पसन्द नहीं करते; उस दृश्य को छोड़कर आगे बढ़ने का अनुरोध करते हैं ।

(५) ते हि नो दिवसा गताः' में पिछली अनुभूतियों के लिए कितनी लालसा, उत्सुकता और व्यथा है ।

इयमपि तदा जानकी—

प्रतनुविरलैः प्रान्तोन्मीलन्मनोहरकुन्तलै-
दशनकुसुमैर्मुग्धालोकं शिशुर्दधती मुखम् ।
ललितललितैर्ज्योत्स्नाप्रायैरकृत्रिमविभ्रमै-
रकृत मधुरैरम्बानां मे कुतूहलमङ्गकैः ॥२०॥

अन्वयः—प्रतनुविरलैः प्रान्तोन्मीलन्मनोहरकुन्तलैः, दशन-कुसुमैः, मुग्धालोक-मुखं, दधति (अयं), शिशुः, ललितललितैः ज्योत्स्नाप्रायैः, अकृत्रिमविभ्रमैः, मधुरैः अङ्गकैः, मे, अम्बानां, च, कुतूहलम्, अकृत ॥२०॥

हिन्दी —

और उस समय यह जानकी भी—

[श्लोक २०]—छोटे-छोटे और छीदे-छीदे कुसुम-कलिकाओं के समान कमनीय दाँतों और कपोलों पर सुशोभित होती हुई मनोहर काली-काली, घुंघराली अलकों से रमणीय एवं भोले-भाले मुख को धारण करती हुई थोड़ी-सी अवस्था वाली अत्यन्त सुन्दर, चन्द्रिका के समान गौरवर्ण, स्वाभाविक हाव-भावों से युक्त अपने अङ्गों से मेरा तथा माताओं का कौतूहल बढ़ाया करती थी।

संस्कृत-व्याख्या

पितृ-मातृ-सुखन्तु आसीदेव, परमियं जानकी देव्यपि तस्मिन् समये मातॄणां सुख-प्रमोदयोः कारणमासीत् इति निर्दिशति–प्रतनु इति। अत्र चूर्णकोक्तं "इयमपि तदा जानकी" इति पदं कर्तृत्वेनान्वेति। नाटकादौ "गद्यभागः" "चूर्णकम्" इत्युच्यते। इति ध्येयम्। अस्याः बाल्यावस्थायां (सीता विवाहसमये षड्वर्षाऽऽसीत्। बाल्मीकि रामायणेऽरण्यकाण्डस्य ४७ सर्गे रावणं प्रति सा प्राह—"उषित्वा द्वादशसमा इक्ष्वाकूणां निवेशने" इति "अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते।। इति च) दन्ताः प्रकर्षेण तनवः = सूक्ष्माः कुसुमानीव शोभमानाः किञ्च कपोल-प्रान्ते मनोहरकेशा विराजमानाः अभूवन्, एव मुग्धः आलोकः = दर्शनं यस्यैवंविधं मुखं दधती = धारयन्ती, स्वकीयैः ललित-ललितैः = परमरमणीयैः, ज्योत्स्ना-सदृशैः गौरवर्णैः, मधुरैः = प्रियैः अङ्गकैः = कोमलैरंगैः, ममाम्बानां कुतूहलम् अकृत = अतनोत्। एतस्याः सुन्दरदन्तकुसुमसदृशं मुखं, कोमलानि चाङ्गानि समवलोक्य मातरः प्रत्यहं (प्रतिदिनम्) प्रसन्ना भवन्ति स्मेति सारः।

अत्र पदानां काठिन्यात् समास-प्रदर्शनं क्रियते-प्रतनूनि च विरलानि च तैः, प्रान्ते = ओष्ठप्रान्ते उन्मीलन्तः विकसन्तः मनोहराः कुन्तला येषां तैः, दशनाः = दन्ताः कुसुमानि = पुष्पाणि इव तैः, "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे" इत्युपमित-समासः। ललितादपि ललितानि, ज्योत्स्नाभिः प्रायाणि = चन्द्रिकातुल्यानि, तैः, अकृत्रिमः = स्वाभाविको विभ्रमो येषु तैः। "अङ्गकैः" इत्यत्र = "अनुकम्पायाम्" इत्यनुशासनेन "कन्" प्रत्ययः। अथवा = "अल्पे" इति सूत्रेण "कन्" प्रत्ययः।

क्वचित्—"पतन-विरलैः" इति, "अङ्गानाम्" इति च पाठभेदो दृश्यते। बालकानां दन्ता निपतन्ति, अतो विरलास्तेऽभवन्। अङ्गानामित्यस्य "मे" इत्यनेन सम्बन्धः। ममाङ्गानां कुतूहलमकरोत्, इति सम्बन्धः। एतेन सीता तदानीं स्वल्पावस्था सम्पन्नाऽऽसीदिति भावः। "आलोको दर्शनोद्योतौ" इति कोशबलादत्र दर्शनरूपोऽर्थो गृह्यते। "आलोको जयशब्दः स्यात्" जयार्थकस्तु स नाङ्गीकृतः।

ललितञ्च—"सुकुमारतयाऽङ्गानां विन्यासो ललितं भवेत्" इति 'दर्पणम्'। "दशनानि कुसुमानवेत्यत्र" "ज्योत्स्ना-प्रायैः" इत्यत्र च उपमा-द्वयम्। लक्षणञ्च—

'साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमाद्वयोः।' इति।

विभ्रमस्वरूपञ्च—

"त्वरया हर्षरागादेर्दयितागमनादिषु ।
अस्थाने भूषणादीनां विन्यासो 'विभ्रमो' गतः ।" इति ।

हरिणीच्छन्दः । तल्लक्षणञ्च यथा—

"रसयुगहयैर्न्सौम्रौस्लौगो, यदा हरिणी तदा ।" इति ।

माधुर्यमत्र गुणः । गौडी रीतिः । "गौडी डम्बरबद्धा स्यादिति" लक्षणात् ।

टिप्पणी

(१) प्रतनुविरलैः = छीदे-छीदे । कहीं-कहीं 'पतनविरलैः' पाठ भी मिलता है । बाल्यावस्था में दाँत पूरे नहीं निकल पाये थे । वाल्मीकि-रामायण से पता चलता है कि विवाह के समय सीताजी की अवस्था ६ वर्ष की थी । अरण्यकाण्ड में रावण को उन्होंने अपना ऐसा ही परिचय दिया है । "उषित्वा द्वादशसमा इक्ष्वाकूणां निवेशने" ××× "अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते ।" सीता की बाल्यावस्था का भगवान् राम ने बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है । (२) उपमाऽलङ्कार । हरिणी छन्द ।

लक्ष्मणः—एष मन्थरावृत्तान्तः ।

रामः—(सत्वरमन्यतो दर्शयन् ।) देवि वैदेहि ?

इंगुदीपादपः सोऽयं, शृङ्गवेरपुरे पुरा ।
निषादपतिना यत्र, स्निग्धेनासीत्समागमः ॥२१॥

लक्ष्मणः—(विहस्य । स्वगतम् ।) अये । मध्यमाम्बावृत्तान्तोऽन्तरित आर्येण ।

अन्वयः—शृङ्गवेरपुरे, अयं, स, इंगुदीपादपः, यत्र, पुरा, स्निग्धेन, निषादपतिना, (सह) समागम आसीत् ॥२१॥

हिन्दी—

लक्ष्मण—यह "मन्थरा" का वृत्तान्त है ।

राम—(शीघ्रता से दूसरी ओर दिखलाते हुए) देवि ! जानकी !

[श्लोक २१]—शृङ्गवेरपुर में यह वही 'इंगुदी' (हिङ्गोट) का वृक्ष है, जहाँ पहिले परम-स्नेही निषादराज गुह के साथ हमारा परिचय हुआ था ।

लक्ष्मण—(हंसकर स्वयं ही) अरे, 'आर्य ने' मंझली माता ("कैकेयी" का वृत्तान्त छोड़ दिया है ।

संस्कृत-व्याख्या

लक्ष्मण—प्रदर्शितं मन्थराया वृत्तान्तं सत्वरं परिहरन् रामः सीताम्प्रति चित्रान्तरदर्शन-पुरस्सरमाह—इंगुदीति ।

देवि सीते ! अयं स 'इंगुदी' 'हिंगोट' इति प्रसिद्धो वृक्षोऽस्ति यत्र स्निग्धेन=स्नेहयुक्तेन परमभक्तेन निषादराजेन "गुहेन" सहास्माकं समागमोऽभूत् । शृङ्गवेरपुरञ्चाधुना "चुनार" संज्ञकं प्रसिद्धं स्थानमस्ति । एतेन पादपप्रदर्शनेन प्रियवयस्यो गुहः स्मृतिपथारूढः समजनि ॥२१॥

मन्थर-वृत्तान्तपरित्यागेन (भगवतो रामस्यौदार्यातिशयं सूचयन्) सहर्षं स्वगतं-माह लक्ष्मणः—अये इति । अहो आर्येण = श्रीरामेण मध्यमाम्बायाः = कैकेय्याः, वृत्तान्तोऽन्तरितः व्यवहितः । तस्य स्मरणेन कदाचित्क्षोभः स्यात् सीतादेव्या मनसि, निन्दा च मातुर्भवेदिति कृत्वाऽयं वृत्तान्तः परित्यक्तः । इति तत्वम् ।

टिप्पणी

(१) 'एष मन्थरावृत्तान्तः'—कहकर लक्ष्मण ने पुनः एक विगत कटु प्रसंग की अवतारणा की, किन्तु भगवान् राम ने उस दृश्य से सीता का ध्यान दूसरी ओर कर दिया । वे नहीं चाहते कि माता कैकयी के प्रति कोई अनुचित भावना रखी जाये । भगवान् राम की उदारता का कैसा सुन्दर निदर्शन है ।

(२) राम एक ओर तो कटु-प्रसंगों को भुलाते चलते हैं, परन्तु श्रद्धालु और स्नेही-जनों को नहीं भूलते । निषाद-राज गुह का वह कैसे प्रेम से स्मरण करते हैं । —"आससाद महाबाहुः शृङ्गवेरपुरं, प्रति ।" गुह शृङ्गवेरपुर का राजा था । वर्तमान 'चुनार' ही था, ऐसा लोगों का विचार है ।

'इङ्गदीवृक्ष' के सम्बन्ध में रामायण में भी उल्लेख है—

"अविदूरादयं नद्याः, बहुपुष्पप्रवालवान् ।
सुमहानिङ्गुदीवृक्षो, वसामोऽत्रैव सारथे ।।"

सीता—अह्मो, एषो जडासंजमणवुत्तन्तो ? [अहो, एष जटासंयमन-वृत्तान्तः ?]

लक्ष्मणः—

पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकैर्यद्वृद्धेक्ष्वाकुभिधृतम् ।
धृतं बाल्ये तदार्येण पुण्यमारण्यकव्रतम् ।।२२।।

अन्वयः—पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकैः, वृद्धेक्ष्वाकुभिः, यत्, धृतम्, तत्, पुण्यम्, आरण्यकव्रतम्, आर्येण, बाल्ये, धृतम् ।।२२।।

हिन्दी—

सीता—ओह ! यह 'जटा-धारण' करने का वृत्तान्त है ।

लक्ष्मण—

[श्लोक २२]—पुत्रों को राज्य-भार सौंपकर 'इक्ष्वाकु'-वंश के वृद्ध राजागण जिस वनवास के व्रत को धारण किया करते थे, उस पुण्यव्रत को 'आर्य' ने बाल्यावस्था में ही धारण कर लिया था ।

संस्कृतव्याख्या

सीताया मुखात् जटासंयमनवृत्तान्तचर्चामाकर्ण्य लक्ष्मणः प्राह—पुत्रेति । पुत्रेषु संक्रान्ता = समर्पिता लक्ष्मीर्यैस्तैः, वृद्धाश्च ते इक्ष्वाकवः = इक्ष्वाकुवं-

शोत्पन्नाः राजानस्तैः, यत् पुण्यं—पुण्यजनकं, आरण्यक व्रतं, वानप्रस्थव्रतं, धृतम्= स्वीकृतम्, तदेव व्रतमार्येण बाल्यावस्थायामेव धृतम् । अयमाशयः—

इक्ष्वाकु-वंशजा राजानो वृद्धावस्थायां स्वकीयां राज्यलक्ष्मीं पुत्रेभ्योऽर्पयित्वा वानप्रस्थव्रतमङ्गीकुर्वन्ति । स्म परं श्री रामचन्द्रेण तु बाल्यावस्थायामेव तद्व्रतमङ्गीकृतम् । तेषामारण्यकव्रतस्वीकृतौ कारणद्वयमासीत् पुत्रेषु लक्ष्मीप्रदानत्त्वम् वृद्धत्वञ्च । परमार्येण तु पुत्रोत्पत्त्याः वृद्धावस्थायाश्च पूर्वमेव व्रतं स्वीकृतम् । इत्याश्चर्यम् । महोदारस्यार्यस्य परमपावनमिदमनुकरणीयं चरितम् ।

अत्र 'धृतमि" त्यत्र वारद्वयं पाठात् कथितपदत्वं नाशङ्कनीयम्—तस्योद्देश्यप्रतिनिर्देश्यव्यतिरिक्तत्वात् । यद्वस्तु उद्देश्यम्=वक्तव्यत्वेन सम्मतं तस्यैवावश्यकत्वेन पुन. कथने पुनरुक्तिः कथितपदता वा नैव भवति । प्रत्युत वैचित्र्यमायाति । यथा—

"उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥"

इत्यत्र "ताम्रत्त्वं" विहाय "रक्तत्वं" यदि क्रियेत, तदाऽन्यतेव प्रतीयेत । अतस्तस्यैव पाठः समुचितः । क्वचित् = पूर्वार्धे" कृतम्" इति पाठः । तत्र व्रतं कृतम्-इत्यन्वये यथार्थबोधो न भवति । 'कृत' मित्यस्य=स्वीकृतमित्यर्थो लक्षणया धातूनामनेकार्थत्त्वाद्वा स्वीक्रियते, तदा तु नातिदोष इति सुधीभिर्ध्येयम् ।

अत्र वृद्धेक्ष्वाकूणामपेक्षया बालस्यार्यस्याधिक्याद् व्यतिरेकालङ्कारः । तल्लक्षणञ्च यथा—

"आधिक्यमुपमेयस्य उपमानान्यूनताऽथवा व्यतिरेक······॥ इति ॥

वृद्धेक्ष्वाकूणां व्रतं कथं श्रीरामेण धर्तुं शक्यते, नहि-अन्यस्य धर्ममन्यो वोढुं शक्नुयादिति बिम्बप्रतिबिम्बभावादुपमायां पर्यवसानमिति "निदर्शना"ऽलङ्कारः । तल्लक्षणञ्च यथा—

"सम्भवन् वस्तु सम्बन्धोऽसम्भवन् वापि कुत्रचित् ।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना ॥" इति ॥

पथ्यावक्त्रं छन्दः तल्लक्षणं तथा—

"युजोर्जेन सरिद्भर्तुः पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥" इति॥

गुणः प्रसादोऽत्र । रीतिश्च लाटी ।

टिप्पणी

(१) **पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकैः**—पुत्रेषु संक्रान्ता लक्ष्मीर्यैस्तैः । वृद्धावस्था में इक्ष्वाकु-वंशीय राजा पुत्रों पर राज्य का भार छोड़कर वन में चले जाया करते थे=

"गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ।" (कालिदास)

किन्तु भगवान् रामचन्द्र ने तो उस आरण्यक-व्रत (वानप्रस्थ-व्रत) को बाल्यावस्था में ही ग्रहण कर लिया था ।

(२) **आरण्यकं व्रतम्**—अरण्य+वुञ् ("अरण्यान्मनुष्ये") वानप्रस्थ-व्रत । वानप्रस्थाश्रम के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य-स्मृति में लिखा है:—

"सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वानुगतो वनम् ।
वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत् ॥"

(३) व्यतिरेक तथा निदर्शना अलङ्कार ।

सीता—एसा पसण्णपुण्णसलिला भअवदो भाईरही । [एषा प्रसन्नपुन्य-सलिला भगवती भागीरथी ।]

रामः—रघुकुलदेवते ! नमस्ते ।

तुरगविचयव्यग्रानुर्वीभिदः सगराध्वरे,
कपिलमहसा रोषात्प्लुष्टान्पितुश्च पितामहान् ।
अगणिततनूतापस्तप्त्वा तपांसि भगीरथो,
भगवति ! तव स्पृष्टानद्भिश्चिरादुदतीतरत् ॥२३॥

सा त्वमम्ब ! स्नुषायामरुन्धतीव सीतायां शिवानुध्याना भव ।

अन्वयः—भगवति ! भगीरथः अगणिततनूतापः (सन्), तपांसि तप्त्वा, तव, अद्भिः, स्पृष्टान् सगराध्वरे, तुरगविचयव्यग्रान् उर्वीभिदः रोषात्, कपिलमहसा प्लुष्टान् पितुः पितामहान्, चिरात् उदतीतिरत् ॥२३॥

हिन्दी—

सीता—यह पुण्यसलिला भगवती भागीरथी है ।

राम—रघुकुल की देवि ! आपको प्रणाम है ।

[श्लोक २३]—भगवति ! जाह्नवि ! राजा सगर के यज्ञ के घोड़े को खोजने में व्याकुल पृथ्वी को खोदने वाले तथा महर्षि कपिल की क्रोधाग्नि से दग्ध अपने पिता (दिलीप) के भी पितामह (सगरपुत्रों) को शारीरिक कष्टों का तनिक भी विचार न करते हुए—भगीरथ ने (घोर) तपस्या कर तुम्हारे पवित्र जल के सम्पर्क से पार कर दिया था (उनका उद्धार कर दिया था) ।

वह (रघुकुल की प्रसिद्ध देवि) माँ ! पुत्रवधू सीता के लिए भगवती अरुन्धत की भाँति सदा कल्याण-कारिणी होना ।

संस्कृत-व्याख्या

भगवतीं भागीरथीं निरीक्ष्याह सीता देवी—एषा इति । प्रसन्नं=निर्मलं, पुण्यं=पुण्यजनकञ्च सलिलं यस्याः सा भगवती भागीरथी=श्रीगंगादेवी वर्तते । भगीरथेन स्वपूर्वजानामुद्धाराय चिरं तपस्यां विधाय श्रीविष्णोः शङ्करस्य च कृपया समानीतेति भागीरथीति ख्यातिं गतेति भावः ।

रघुकुलस्य देवतां भगवतीं भागीरथीं प्रणम्य भगवान् रामः प्राचीनेतिहास-निरूपणपूर्वकं श्रीभागीरथ्या महिमानं गायति—तुरग इति ।

तुरगेति । भगवति ! भागीरथि ! त्वं वस्तुतो रघुकुलस्यैव देवताऽसि, यतः

सगरस्यास्माकं पूर्वजस्याध्वरे=यज्ञे यज्ञीयाश्वपरिगवेषणार्थं सकलामपीमां पृथिवीं खनतः कपिलस्य महर्षेः क्रोधाग्नौ दग्धान् स्वपितुरपि पितामहान् अगणितः=न विचारितः, तन्वाः=शरीरस्य तापो येन सः, भगीरथः सुचिरं तपांसि तप्त्वा समानीताभिरद्भिः=गंगाजलैः स्पृष्टान् सुचिरायोदतीतरत्=उत्तारितवान् ।

राज्ञा सगरेण शतसंख्यकाश्वमेधयज्ञान् कर्तुं प्रतिज्ञा कृता । नवनवति यज्ञा निर्विघ्नं सम्पूर्णाः, शततमे यज्ञे विघ्नमाधातुमिन्द्रेण यज्ञीयोश्वः स्वयंमपहृत्य पाताले तपस्यतः कपिलमुने; सविधे बद्धः । अश्वानुयायिभिश्च सर्वत्र गवेषणां कुर्वद्भिः पृथिवीं विदार्य कपिलस्यान्तिकेऽश्वमुपलभ्य नुचितैर्वाक्यैः परिकोपितो महामुनिः । भस्मसात्कृताश्च तेन महात्मनाऽनुचितवादिनस्ते सर्वे राजपुत्राः । तेषामुद्धारार्थेऽसमञ्जसः, अंशुमान्, दिलीपश्च यत्नं चक्रुः परं निष्फलास्ते सर्वे कथावशेषाः सञ्जाताः । अनन्तरं भगीरथेन महता तपसा प्रसाद्य भगवन्तं विष्णुं तदनुरोधाच्च शंकरं, समानीता स्वरथमनुधाविता भगवती जाह्नवी पावन-जल-स्पर्शेण तान् मुक्तानकरोत् इति रामायणकथाऽत्रानुसन्धातव्या ।

अत्र भागीरथ्या वर्णनेन सगरात्मजानां महिमानुकीर्तनाद् उदात्ताऽलङ्कारः । लक्षणमुक्तं प्राक् । हरिणीच्छन्दः । ओजो गुणः । तल्लक्षणञ्च—

"ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपदीप्तत्वमुच्यते ।" इति ।

गौडी च रीतिः ।

क्वचित्—"अगणिततनूपातम्" इति "उददीधरत्" इति च पाठान्तरम् । शरीरपातोऽपि न परिगणितो यस्याम् क्रियायामिमिति क्रियाविशेषणम् । उद्धृतवानिति च क्रमशोऽर्थः ॥१३॥

पुनर्भगवतीं प्रार्थयते सा त्वमिति । सा रघुकुलस्य प्रसिद्धा त्वं देवीति स्नुषायां —पुत्रवध्वां सीतायां भगवत्यरुन्धतीव शिवस्य=कल्याणस्यानुध्याने=चिन्तने परा=तत्परा भव—इति ममास्ति प्रार्थना ।

अत्र 'बीजार्थस्य प्ररोहः स्यादुद्भेदः" इति लक्षणलक्षितः "उद्भेदः" मुख सन्ध्यङ्गतयोपन्यस्तः । अपरे तु="बीजानुगुणोत्साहनं भेदः" इति स्वीकुर्वन्ति" ।

एतत्प्रार्थनानुसारमेव भगवत्या गंगादेव्याः सीतादेव्याः संरक्षणं कृतमिति स्फुटीभविष्यति ।

टिप्पणी

(१) भागीरथी—भगीरथेन आनीता इति । गंगावतरण की कथा इस प्रकार है—

'राजा सगर ने सौ यज्ञ करने का संकल्प किया । उनके निन्यानवे यज्ञ तो निर्विघ्न समाप्त हो गये, परन्तु सौवें यज्ञ में (अपना पद छिन जाने के भय से) इन्द्र ने यज्ञ के घोड़े को चुराकर पाताल में तपस्या करते हुए कपिल मुनि के आश्रम में बाँध दिया ।

इधर सगर के साठ हजार पुत्र घोड़ों को खोजते हुए पृथ्वी खोदकर पाताल में ही जा पहुँचे और वहाँ ध्यानस्थ मुनि को अनाप-शनाप बयकने लगे । तब महामुनि

ने ज्यों ही क्रोध के कारण लाल नेत्रों से उनकी ओर देखा त्यों ही वे सब उनकी क्रोधाग्नि में जलकर भस्म हो गये ।

जब वे समय पर घर न पहुँचे तब अंशुमान् उन्हें ढूँढते हुए उसी घटनास्थल पर जा पहुँचे । उस समय गरुड़ ने वहाँ जाकर उनसे "गंगाजी की धारा से ही इनका उद्धार हो सकता है" यह कहा ।

उनके कथनानुसार अंशुमान असमंजस तथा दिलीप ने अपने पूर्वजों के उद्धारार्थ गंगाजी को भूलोक में लाने की भरसक चेष्टा की । परन्तु वे असफल रहे, और अपने मन में यही साध लिए हुये वे इस लोक से विदा हो गये । अन्त में भगीरथ ने भयङ्कर तपस्या से विष्णु और भगवान् शंकर को प्रसन्न करके गंगाजी को मर्त्यलोक में लाकर अपने पूर्वजों का उद्धार कर दिया ।"

(२) **तुरगविचयव्यग्रान्**—तुरेण = वेगेन गच्छतीति तुरगस्तस्य विचये = अन्वेषणे व्यग्रान् । यज्ञ के घोड़े की खोज में व्यग्र । **उर्वीभिदः**—उर्वीं भिन्दन्तीति । उर्वं + √भिद् + क्विप् । **अगणिततततपाः**—अगणितः = अविचारितो वा तन्वाः शरीरस्यः तापः = कष्टं येन सः । शारीरिक कष्टों की चिन्ता न करने वाले । कुछ टीकाकारों ने अगणिततनुपातं, पाठ मानकर इसे 'क्रियाविशेषण' भी माना है । पातः = पतनम् । **प्लुष्टान्**—दग्धान् । √'प्लुषु' दाहे कर्मणि क्तः । **उदतीतरत्**—उत्तारयामास । उद् + तॄ + णिच् + लुङ् + प्र० पु० एक० । कहीं-कहीं 'उदधीतरत्' पाठ भी मिलता है ।

(३) **शिवानुध्याना भव**—शिवमनुध्यानं यस्याः सा = कल्याणं-चिन्तापरा । यहाँ गंगाजी से सीताजी की कल्याण-कामना के लिये प्रार्थना करने से आगामी घटनाचक्र पर प्रकाश पड़ता है । यह 'मुखसन्धि' को 'उद्भेद' नामक अंग है । उसका लक्षण—'बीजार्थस्य प्ररोहः स्यादुद्भेदः ।"

लक्ष्मणः—एष भरद्वाजावेदितश्चित्रकूटयायिनि वर्त्मनि वनस्पतिः कालिन्दीतटे वटः श्यामो नाम ।

(रामः सस्पृहमवलोकयति)

सीता—सुमरेदि वा तं पदेसं अज्जउत्तो ? (स्मरति वा तं प्रदेशमार्यपुत्रः ?)

रामः—अयि, कथं विस्मर्यते ?

अलसललितमुग्धान्यध्वसम्पातखेदा
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि ।
परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यंगकानि,
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥२४॥

(रामः सस्पृहमवलोकयति)

अन्वयः—यत्र, त्वम् अध्वसम्पातखेदात्, अलसललितमुग्धानि, अशिथिलपरिरम्भैः दत्तसंवाहनानि, परिमृदितमृणालीदुर्बलानि, अङ्गकानि, मम, उरसि कृत्वा, निद्राम्, अवाप्ता ॥२४॥

हिन्दी—

लक्ष्मण—यह 'चित्रकूट' को जाने वाले मार्ग में यमुना-तट पर भारद्वाज ऋषि से निर्दिष्ट श्याम नामक वटवृक्ष है।

[राम बड़ी अभिलाषा से देखते हैं।]

सीता—आर्यपुत्र ! क्या आप उस स्थान का स्मरण कर रहे हैं ?

राम—अयि ! वह कैसे भुलाया जा सकता है ?

[श्लोक २४]—जहाँ तुम मार्ग में चलने की थकावट से आलस्य-युक्त, मृदुल और मनोहर, दृढ़ आलिङ्गन में कसे हुए मर्दित कमल-नाल की भाँति अपने दुर्बल अङ्गों को मेरे वक्ष पर रखकर सो गई थीं।

संस्कृत-व्याख्या

लक्ष्मणः श्यामवटं सूचयति—एषः इति। यमुनातीरे भरद्वाजमुनिना कथितः चित्रकूटपर्वतमनुयायिनि मार्गे स्थितः "श्यामवटः" अक्षय-वट इति ख्यातो वनस्पतिर्विद्यते।

सस्पृहं तं वृक्षमवलोकयन्तं भगवन्तं श्रीरामं निरीक्ष्य "स्मरतीवार्यपुत्र एतं प्रदेशं किमु ?" इति पृच्छन्तीं सीतां प्रति "विस्मतुं कथं शक्यते" इति सकारणं प्रतिपादयति भगवान्—अलसेति।

यस्मिन् प्रदेशे मार्गगमनखेदात् अलसानि, ललितैर्मुग्धानि च (अलस-लुलित-मुग्धानि') इति क्वचित् पाठः। अशिथिलैः=दृढैः परिरम्भैः=आलिङ्गनैः दत्तानि संवाहनानि येभ्यस्तथाभूतानि, परिमृदिता या मृणाली—कमलनालम्, तद्वत् दुर्बलानि =कोमलानि अङ्गानि मम वक्षःस्थले निधाय त्वं सुप्ताऽभूः। तत् स्थानं कथं विस्मतुं शक्यते, इति भाव.।

अत्रोपमाऽलंकार। मालिनी च्छन्दः। तल्लक्षणञ्च यथा—

"न न म य य युतेयं मालिनी भोगिलोकैः।" इति ॥२४॥

टिप्पणी

(१) अलसललितमुग्धानि—अलसानि च तानि ललितैर्मुग्धानि च। अध्वसम्पातखेदात्—अध्वनि=मार्गे, सम्पातः=गमनं तेन खेदस्तस्मात्। मार्गजन्य थकावट से। दत्तसंवाहनानि—दत्तानि, संवाहनानि येभ्यस्तथाभूतानि। आलिङ्गित। परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि—परिमृदिता या मृणाली तद्वद् दुर्बलानि अङ्गकानि=ह्रस्वान्यङ्गानि। अङ्ग+कन्। मृदित कमलिनी के समान छोटे-छोटे अङ्गों को। (२) ललितम्—"अनाचार्योपदिष्टं स्याल्ललितं रतिचेष्टितम्।' (भरत)। (३) 'कथं विस्मर्यते ?' जिस स्थान के साथ ऐसे मधुर संस्मरण जुड़े हुए हों, उसे कैसे भुलाया जा सकता है ? (४) मालिनी छन्द। उपमालंकार।

लक्ष्मणः—एष विन्ध्याटवीमुखे विराधसंवादः ।

सीता—अलं दाव एदिणा ! पेक्खम्मि दाव अज्जउत्तसहत्तधरिदताल-वुन्तादवत्तं अत्तणो अच्चाहिदं दक्खिणारण्णपहिअत्तणम् । [अलं तावदेतेन ! पश्यामि तावदार्यपुत्रस्वहस्तधृततालवृन्तातपत्रमात्मनोऽत्याहितं दक्षिणारण्य-पथिकत्वम् ।)

रामः—

> एतानि तानि गिरिनिर्झरिणीतटेषु,
> वैखानसाश्रिततरूणि तपोवनानि ।
> येष्वातिथेयपरमा यमिनो भजन्ते,
> नीवारमुष्टिपचना गृहिणो गृहाणि ॥२५॥

अन्वयः—गिरिनिर्झरिणीतटेषु, वैखानसाश्रिततरूणि, एतानि, तानि, तपोवनानि, येषु, आतिथेयपरमाः, नीवारमुष्टिपचनाः, यमिनः, गृहिणः, गृहाणि, भजन्ते ॥२५॥

हिन्दी—

लक्ष्मण—यह 'विन्ध्याटवी' के प्रवेश-स्थान में राक्षस विराध के संवाद का दृश्य है ।

सीता—अरे, इसे दिखाने को रहने दो । मैं तो दक्षिणारण्य के यात्रा-प्रसंग (के दृश्य) को, जहाँ कि 'आर्यपुत्र' ने अपनी कोई चिन्ता न कर हाथ में (धूप से बचने के लिए) ताड़ पत्र को छत्र की भाँति धारण किया था, देख रही हूँ ।

राम—[श्लोक २५] पहाड़ी नदियों के किनारे पर वानप्रस्थियों से (छाया में बैठने आदि से) सेवित वृक्षों वाले ये वे तपोवन हैं, जिनमें अतिथि-सत्कार-परायण, कुछ ही मुट्ठी 'नीवार' (अन्न-विशेष) पकाकर (जीवन निर्वाह करने वाले) गृहस्थ यम-नियम-पूर्वक रहते हैं ।

संस्कृत-व्याख्या

लक्ष्मणो विन्ध्याटवीमुखे विराध-राक्षसस्य सूचनां ददाति परं सीता देवी तं निषेधति—अलमिति । एतेन विराधेनालम् ! एतद्दर्शनस्यावश्यकता नास्ति । अहन्तु दक्षिणारण्यप्रदेशमेव पश्यामि । यत्रार्यपुत्रेण धर्मतापापनोदाय स्व हस्ते तालवृन्तरूपं = व्यजनरूपमातपत्रं मम शिरसि, अत्याहितम् = स्वजीवितनिरपेक्षं यथा स्यात्तथा, आत्मनः क्लेशमपरिगणय्य धृतमेवंविधं दक्षिणारण्यस्य पथिकत्वं = यात्रित्वं पश्यामि । विराधदर्शनं तु मह्यं न रोचते । दक्षिणारण्ये च बहूनि विनोदस्थानान्यनुभूतपूर्वाणि सन्ति, तेषां दर्शनेनाधुना विनोदमनुभवामि । इति भावः ।

श्रीरामो दक्षिणारण्यसम्पदो वर्णयितुमुपक्रमते—एतानि-इति ।

गिरीणां प्रान्तेभ्यो निर्झरिण्यः = नद्यः, प्रवहन्ति, तासां तटेषु एतानि परम-मनोहराणि तानि तपोवनानि सन्ति, येषु वैखानसाः = वानप्रस्था वृक्षाणामधोभागे निवासं कुर्वन्ति, येषु चाश्रमेषु (तपोवनेषु) एवंविधाः शान्तवृत्तयस्तापसा निवसन्ति,

ये अतिथि-सत्कारमेवात्मन: कर्त्तव्यं मन्यन्ते, स्वयञ्च यमनियमशीला:, नीवारस्य = मुन्यन्नस्य काश्चन मुष्टय: = मुष्टिमात्रपरिमितं नीवारमित्यर्थ:, परिपचन्ति। धन्या आश्रमा यत्रैवंविधा यमनियमपालनपरायणस्तापसा गृहस्थधर्मावलम्बिनो निवसन्ति।

यमाश्च—

"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमा:।" इति।

अत्रादात्तालङ्कार:। प्रसादो गुण:। मधुरा रचना। वसन्ततिलकाच्छन्द:। तल्लक्षणञ्च—"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ ग:।" इति ॥२५॥

टिप्पणी

(१) विराध—एक राक्षस। तुम्बरु नामक गन्धर्व को रम्भा में आसक्त होने के कारण कुबेर ने शाप दे दिया था। वह राक्षस होकर दण्डकारण्य में रहने लगा। वह बड़ा भयानक था। राम-लक्ष्मण ने उसका वध किया था। (२) वैखानस—वानप्रस्थ। "वैखानसो वानप्रस्थ: विखनसा प्रोक्तेन मार्गेण वर्तत इति।' वैखानसाश्रिततरूणि = वैखानसों के द्वारा सेवित वृक्ष हैं जिनमें—'तपोवनानि' का विशेषण। वैखानसैः आश्रितास्तरवो येषु तानि। (३) आतिथेयपरमा: = आतिथेयं परमं येषाम्। अतिथिसत्कारपरायण। आतिथेय = अतिथि + ढञ् (४) यमिन: = = यमा: सन्ति येषां ते। "अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहा यमा:" (५) नीवारमुष्टिपचना: = नीवारस्य = अन्नविशेषस्य, मुष्टि: = मुष्टिमात्रं पचनं = पाको येषाम्। मुट्ठीभर (परिमित) नीवार पकाने वाले = अपरिग्रही।

(६) उदात्तालङ्कार। वसन्ततिलकाच्छन्द:।

लक्ष्मण:—अयमविरलानोकहनिवहनिरन्तरस्निग्धनीलपरिसरारण्यपरिणद्धगोदावरीमुखरकन्दर: संततमभिष्यन्दमानमेघमेदुरितनीलिमा जनस्थानमध्यगो गिरि: प्रस्रवणो नाम।

राम:—

स्मरसि सुतनु! तस्मिन्पर्वते लक्ष्मणेन,
प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोस्तान्यहानि?
स्मरसि सरसनीरां तत्र गोदावरीं वा,
स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि ॥२६॥

हिन्दी—

लक्ष्मण—यह सघन पादपावलियों से निरन्तर स्निग्ध तथा श्यामवर्ण वाले वन के भागों से युक्त गोदावरी की तरङ्गों से आस्फालित होने के कारण मुखरित गुफाओं वाला तथा लगातार बरसने वाले मेघों से और भी अधिक नीलिमा धारण करने वाला जनस्थान के मध्य भाग में स्थित 'प्रस्रवण' नाम का पर्वत है। [गोदावरी

के समीप सघन वृक्ष वन की शोभा बढ़ा रहे हैं। तरङ्गों के आघात से गुफाएं सशब्द हो रही हैं। पर्वत-शिखरों पर मेघ बरस रहे हैं। मेघों के सम्पर्क से स्वभावतः काला 'प्रस्रवण' और भी अधिक काला हो उठा है।]

[श्लोक २६] सुन्दरि ! तुम उस 'प्रस्रवण' पर्वत में लक्ष्मण के द्वारा की गई सेवा से प्रसन्न हम दोनों के उन सुखमय दिनों का, निर्मल जल वाली गोदावरी नदी का और उसके किनारे पर हमारे विहार का स्मरण करती हो ? (या नहीं ?)

संस्कृत-व्याख्या

लक्ष्मणो जनस्थानमध्यवर्तिनं पर्वतं दर्शयति—अयमिति। अयं चित्रार्पितः प्रस्रवणो नाम पर्वतोऽस्ति। कीदृशः ? विशेषयति। अविरलाः सघनाः, निरन्तरस्थिति-वशाद्धता इत्यर्थः, ये अनोकहाः = पादपाः, तेषां निवहेन = समूहेन, निरन्तरस्निग्धाः = सन्ततमसृणाः ये परिसराः = प्रान्तभागाः, तेषु यानि अरण्यानि = वनानि, तैः आवद्धाः = संयुक्ताः गोदावर्याः = एतन्नामनद्याः कल्लोलजालैर्मुखराः = ध्वनियुक्ताः कन्दरा यस्मिन् सः। सन्ततम् = निरन्तरम्, अभिष्यन्दमानः = जलवर्षणतत्परः, यो मेघः, तेन मेदुरितो = वृद्धिं गतो नीलिमा यस्यासौ, पर्वतः। तत्र गोदावर्याः समीपे-सघनाः पादपा स्थिताः वनस्य शोभां वर्धयन्ति। नद्याः वीचिजालकलकलैश्च कन्दरा-मुखरिताः सन्ति। पर्वतस्य शिरसि मेघाः सदैव जलधारां पातयन्ति, स्वभावतो नील-वर्णोऽपि मेघानां सन्निधानेन कालिमा वृद्धिं यातीवेति भावः।

तदिदं स्थानं प्रतियुगं भिन्ननाम्ना व्यवहृतं भवति। तथा चाभियुक्ताः कथयन्ति—

त्रेतायान्तु 'त्रिकण्टकम्'। द्वापरे तु 'जनस्थान' कलौ "नासिक" मुच्यते।' इति। साम्प्रतं "नासिके"ति प्रसिद्धम्। करुण-विप्रलम्भ-रस परिपोषयितुं बन्धाड-म्बुरयुक्तोऽयं कवेः प्रक्रमः क्रमश्च युक्तः। एवमेवाग्रेऽपि यत्र-तत्र गौडीरीत्या समास-बहुलतया बन्धो दृढो भविष्यतीति ध्येयम्।

पूर्वमनुभूतानां स्थानादिसुखानां स्मरणं कारयितुं सीताम्प्रति वदति भगवान् रामः—स्मरसि-इति। सु शोभना तनुः = शरीरं यस्यास्तत्सम्बुद्धौ हे सुतनु ! सुन्दरावयवे सीते ! तस्मिन् पर्वते लक्ष्मणः आवयोः सपर्यां सत्कारं करोति स्म, आवाञ्च सुरीत्या स्थितौ, इति त्वं तानि दिनानि स्मरसि किम् ? अपि च— सरसनीरां गोदावरीं सरिद्वरामपि स्मरसि ? किञ्च—तस्याः सरितः उपान्तभागेषु आवयोः वर्तनानि = निवास-क्रीडा-भ्रमणादीनि वा स्मरसि ? तत्रावाभ्यां यत् सुखमनुभूतम्, साम्प्रतमपि तन्ममम तु स्मृतिपथमागतम्, भवति चापि स्मरति न वा ? इति रामस्य रहस्य-प्रश्ने कविना परमसौन्दर्यं सञ्चितम्। उद्दीपन-विभावस्य रमणीयत्वम्। वन-विहारस्य स्पृहणीयत्वम् पूर्वदृष्टवस्तूनां स्मृति-लालित्यञ्च सर्वथा-भिनन्दनीयम्। अत्र दीपकालङ्कारः। मालिनीच्छन्दः ॥२६॥

टिप्पणी

(१) जनस्थान—दण्डकारण्य का एक भाग। यह वर्तमान 'नासिक' के पास

का क्षेत्र था। प्रत्येक युग में इसके भिन्न-भिन्न नाम हैं—त्रेता में 'त्रिकण्टक', द्वापर में 'जनस्थान' और कलियुग में 'नासिक'। (२) प्रस्रवणः—गोदावरी के तट पर जनस्थान (औरङ्गाबाद) की पहाड़ियाँ। इन्हें रामायण में माल्यवान् भी कहा गया है। (३) प्रति विहितसपर्यासुस्थयोः—(लक्ष्मणेन) प्रतिविहितया सपर्यया=सेवया, सुस्थयोः=स्वस्थयोः आवयोः लक्ष्मण के द्वारा की गई सेवा से आनन्दित। 'सुस्थयोः' के स्थान पर 'स्वस्थयोः' पाठ भी मिलता है। सपर्या=√सपर्+यक्। "कण्ड्वादिभ्यो यक्"। 'पूजा नमस्यापचितिः सपर्याऽर्चार्हणाः समाः" इत्यमरः। (४) उपान्तेषु—उपगता अन्तं समीपमिति उपान्तास्तेषु। प्रान्त भागों में · तटों पर। (५) वर्तनानि=√वृत्+ल्युट् भावे। स्वच्छन्द भ्रमणादि। (६) राम का पुरानी बातों के विषय में प्रश्न करना सचमुच एक मार्मिक प्रसंग है। इस श्लोक में लक्ष्मण का भ्रातृ-प्रेम, सीता-राम का पारस्परिक दाम्पत्य प्रेम तथा प्रकृति-प्रेम सभी एक साथ मुखरित हो उठे हैं। राम के इन रहस्यपूर्ण प्रश्नों का सौन्दर्य सहृदय संवेद्य है। (७) दीपकालङ्कार। मालिनी छन्द।

किं च—

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥२७॥

अन्वयः—आसत्तियोगात् किमपि, किमपि मन्दं, मन्दं अविरलितकपोलम् अक्रमेण, जल्पतोः, अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकदोष्णोः (आवयोः) अविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥२७॥

हिन्दी—

और भी—

[श्लोक २७] जहाँ पास-पास कपोल से कपोल सटाकर तथा परस्पर एक दूसरे की भुजाओं के दृढ़ आलिङ्गन में बंधकर धीरे-धीरे इधर-उधर की बातें (गपशप) करते हुए बिना पता चले हम दोनों की रात ही (रात के प्रहर के प्रहर ही) बीत जाया करती थी।

संस्कृत-व्याख्या

श्रीरामः पुनरपि पूर्वमनुभूतानां पदार्थानां स्मरणं कारयितुं सीतादेवीमुद्दिश्य कथयति-किमपि इति।

देवि! तस्मिन् स्थाने वार्तालापमात्रेणैव सर्वापि रात्रिर्व्यतीतेति स्म। 'वार्तालापप्रसंगोऽपि न किमपि निश्चितं विषयमवलम्ब्य भवति स्म, प्रत्युत यः कोऽपि प्रसंगः समापतितः तमेवावलम्ब्यावयोः परस्परं कपोलयोः सामीप्यात्, क्रमरहितं भाषमाणयोः

एकभुजेन सुदृढ़तया समालिङ्गने समासक्तयोः रात्रिरेव व्यतीता भवति स्म। किन्तु तादृशीमभिरामामवस्था स्मरसि? वस्तुतः सुखस्य समयः कदा व्यत्येति? इति परिज्ञानमपि न भवति, दुःखस्य कालश्च क्षणपरिमितोऽपि युगवद् भवति।

कठिनशब्दानां पदार्थ-व्याख्या क्रियते। आसक्तियोगात् = पारस्परिक प्रेमाधिक्यसम्बन्धात्, 'आसत्ति-योगात्' इति पाठे च आसत्तेः = सामीप्यसम्बन्धात्, इत्यर्थः अयमेव पाठो विशेषरुचिकरः। परस्परसामीप्यमेव तत्र स्वाभाविकतां द्योतयति। आसक्तिस्तु तयोरासीदेव। किमपि किमपि = न जाने किं वक्तव्यमासीत् किं वा नेति क्रमो नासीत्। मन्दरीत्या च अविरलितौ = अत्यधिकसंश्लिष्टौ = परस्परं सम्मिलितौ, कपोलौ यस्यां क्रियायामिति क्रियाविशेषणमिदम्। अक्रमेण = क्रमं विनैव, जल्पतोः = वार्तालापं कुर्वतोः, किञ्च, अशिथिलः = घनः, दृढः, इति यावत्, यः परिरम्भः = समालिङ्गनम्, तस्मिन् व्यापृतः—संलग्नः, एकैको दोर्बाहुः—ययोस्तौ, तयोः (आवयोः) अविदिताः = अज्ञाताः, गताः = विगताः, यामा यस्याः सा एवंविधा रात्रिरेव व्यरंसीत्। अहो! सुसमयः सः क्व गतः? एतेन समुचित-दाम्पत्य-रीतिः प्रकटिता भवति।

अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः। तल्लक्षणं यथा—

'स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्व-क्रिया-रूप-वर्णनम्।' इति। मालिनीच्छन्दः। लक्षणञ्च यथा—"ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः"। माधुर्यं गुणः। क्वचिदोजश्च। वैदर्भी रीतिः ॥२७॥

टिप्पणी

(१) यह श्लोक बहुत ही भावपूर्ण है। दाम्पत्य-जीवन का कितना स्वाभाविक किन्तु मर्यादित चित्र प्रस्तुत किया गया है। अनुभूति की एकतानता की दृष्टि से तथा संयोगवर्णन की दृष्टि से, यह उत्कृष्ट रचना है। (२) कहीं-कहीं 'आसत्ति' के स्थान पर 'आसक्ति' तथा 'रात्रिरेव' के स्थान पर 'रात्रिरेवं' पाठ मिलते हैं, परन्तु भाव-सौन्दर्य की दृष्टि से 'आसत्ति' तथा 'रात्रिरेव' पाठ ही प्रशंसनीय है। (३) व्यरंसीत्—वि + √रम् + लुङ्। "व्याङ्परिभ्यो रमः" इति परस्मैपदम्। "यमरमनमातां सक्च" इति सगिटौ। आसत्ति—आङ् + √सद् + क्तिन्। (४) स्वभावोक्ति अलङ्कार। मालिनी छन्द।

लक्ष्मणः—एष पञ्चवट्यां शूर्पणखाविवादः।

सीता—हा अज्जउत्त! एत्तिअं दे दंसणम्? [हा आर्यपुत्र! एतावत्ते दर्शनम्?]

रामः—अयि वियोगत्रस्ते? चित्रमेतत्।

सीता—जहा तहा होदु। दुज्जणो असुहं उप्पादेइ। [यथा तथा भवतु। दुर्जनोऽसुखमुत्पादयति।]

रामः—हन्त, वर्तमान इव मे जनस्थानवृत्तान्तः प्रतिभाति।

लक्ष्मणः—

अथेदं रक्षोभिः कनकहरिणच्छद्मविधिना,
तया वृत्तं पापैर्व्यथयति यथा क्षालितमपि।
जनस्थाने शून्ये विकलकरणैरार्यचरितै-
रपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम् ॥२८॥

सीता—(सास्रमात्मगतम्।) अह्मो, दिणअरकुलाणन्दणो एव्वंवि मह कालणादो किलन्तो आसि! [अहो, दिनकरकुलानन्दन एवमपि मम कारणात् क्लान्त आसीत्!]

अन्वयः—अथ, पापैः, रक्षोभिः कनकहरिणछद्मविधिना, इदं तया वृत्तम्, यथा क्षालितमपि विकलयति, शून्ये, जनस्थाने, विकलकरणैः आर्यचरितैः, ग्रावा अपि, रोदिति, वज्रस्य, अपि हृदयं दलति ॥२८॥

हिन्दी—

लक्ष्मण—यह पञ्चवटी में शूर्पणखा-विवाद का दृश्य है।

सीता—हा आर्यपुत्र! बस यहीं तक आपका दर्शन था। (इसके बाद मेरा हरण कर लिया गया था।)

राम—अयि विरहभीते! यह तो चित्र है। (घबराओं मत।)

सीता—चाहे जो हो, दुर्जन अनिष्ट उत्पन्न करता ही है।

राम—हा, मुझे तो जनस्थान का वृत्तान्त प्रत्यक्ष-सा लग रहा है।

[श्लोक २८] लक्ष्मण—तदनन्तर उन नीच राक्षसों ने सुवर्ण मृग के छल से ऐसा दुष्कर्म किया, जो कि प्रतिकार किये जाने पर भी (हमको) पीड़ित कर रहा है। उस सुनसान जन-स्थान में विकल इन्द्रियों वाले (अथवा विकलतापूर्ण) आर्य के चरित्रों से मूर्छा आदि व्यापारों से एक बार तो पत्थर भी रो उठता है और वज्र का हृदय भी टुकड़े-टुकड़े हो जाता है।

सीता—(रोती हुई, स्वयं ही) ओह! सूर्यवंश को आनन्द देने वाले आर्य-पुत्र मेरे लिये ऐसे दुःखी हुए थे? (दूसरों को आनन्द देने वाले होकर भी स्वयं दुःखी हुए थे)।

संस्कृत-व्याख्या

एवं प्राग्भूरिप्रमोदसमयमनुस्मरतोस्तयोः पुरस्तात् पञ्चवट्यां शूर्पणखया जातं विवादं सूचयित्वा नवीनमेव चित्रमुपस्थापयति। श्रवणमात्रेणैव लक्ष्मणवाक्योद्वेगजनकत्वं सम्यगनुभूय वेपमानेव सीतादेवी प्राह—हा इति। हा! आर्यपुत्र! एतावन्मात्रमेव तव दर्शनमासीत्। शूर्पणखा विवादानन्तरमेव मम रावणद्वारापहरणमभूत्। अपि च—अधुनापि एतावदेव भवतो दर्शनम्। अतः परमपि सीतादेव्या निर्वासने दर्शनाभावः सुनिश्चित एवेति युक्ताप्रदायली सीतया इति भावः।

सीताया भीतभीताया वचनमाकर्ण्य श्रीरामः प्राह—अयि इति। अयि वियोगात् त्रस्ते=भीते ! सीते ! एतत्तु चित्रम्. चित्रदर्शने भयस्यावश्यकता नास्ति।

श्रीरामस्य "चित्रमिति" प्रबोधवाक्यं श्रुत्वापि कथयति—जहा इति। आर्यपुत्र ! यथा भवेत् तथैव दुर्जन-दर्शनेन दुःखमेव भवति सज्जनानाम्। ततश्च—शूर्पणखा—दर्शनेनावश्यं किमपि विशिष्टं दुःखमापतिष्यतीति मम निश्चयः।

सीतावचनाद्धीरोऽपि रामो जनस्थानवृत्तान्तं स्मृत्वा खिन्न इव भवति कथयति च—हन्त ! इति। हन्त ! महान् खेदोऽस्ति, यत् जनस्थानस्य वृत्तान्तो ममाधुनो वर्तमान इव भवति। अहं तमेव समयमागतमिव मन्ये।

तथा स्मृत्वाऽखिलवृत्तान्तं लक्ष्मणः प्राह—अथेदमिति।

परममर्मस्पर्शी श्लोकोऽयं कवेश्चातुरीचमत्कार सूचयति। हन्त ! पापकारिभी राक्षसैः सुवर्ण-हरिणछलं विधाय तथा दुर्वृत्तैर्वृत्तं सम्पादितम्। सीताहरणेन जगति महती निन्दाऽस्माकं प्रसारिता, यथा प्रक्षालितमपि=सीताहरणजन्यापमानं रावणवधेन दूरीकृतमपि शून्ये जनस्थाने, विकलकरणैः=विकलानि करणानि=इन्द्रियाणि येषु तैः चरितैः, ग्रावा=पाषाणोऽपि रोदिति, वज्रस्यापि हृदयं दलति=द्विधा भवति। भगवन्तं रामं सीतावियोगे परिरुदन्तमवलोक्याचेतना अपि दलिता इवाभवन्, चेतनानान्तु किमु वक्तव्यम् ? इदं कविबुद्धेःपर मवैभवत्। कविरधुना पाषाणानपि रोदयति, वज्रस्यापि हृदयकल्पनया सामाजिकानामेव हृदयं द्रावयति। धन्या कवेः कल्पना ! कविर्भावानुग्रहणे परमपटुरिति निःशङ्कं वस्तुं शक्यते।

अत्रासम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिः। पाषाण-वज्रयो रोदन-द्रव-सम्बन्धाभावेऽपि तथा परिकल्पनात् अतिशयोक्तिः अलङ्कारः। लक्षणञ्च—

"सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते।" इति।

सा च पञ्चप्रकारा भवति। तथाहि—

"भेदेप्यभेदः सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययोः।
पौर्वापर्यात्ययः कार्यहेत्वोः सा पञ्चधा ततः॥' इति।

प्रसादो गुणः। लाटी रीतिः। शिखरिणी च्छन्दः। तल्लक्षणञ्च यथा—

"रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी।" इति॥२८॥

रामस्येदृशीं दशां निशम्य सास्रं सीता स्वगतं प्राह—अह्मो इति। अहो ! सूर्यवंशावतंशो भगवान् मम कृते एवं खिन्न आसीत् ? यत्र पाषाणा अपि रोदनमकुर्वन् ? [अतएव सीतामपि सास्रां सम्पादयति कविः, नो चेत्पाषाणादपि निकृष्टतरा स्यादिति कविहृदयं शिष्टैरेव ज्ञेयम्। अतएव कविमते उत्तररामचरितं दृष्ट्वा सर्वैरेव रोदितव्यम्, नो चेत् मानवता विगलिता स्यात्।]

टिप्पणी

(१) शूर्पणखा—शूर्पवन्नखानि यस्याः सा। "नखमुखात् संज्ञायाम्" इति ङीष्-निषेधः। पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इति णत्वम्। (२) एतावत्ते दर्शनम्—शूर्पणखा-दृश्य को

देखकर सीताजी घबरा गईं। उन्हें पहला प्रसंग स्मरण आ गया। शूर्पणखा के काण्ड के बाद ही सीता-हरण हुआ था। इसलिये उन्हें अब भी वही शङ्का बनी हुई है। इससे यह अर्थ भी निकलता है कि 'चित्रवीथिका' के दर्शन तक ही सीता को राम का दर्शन हो रहा है। (३) "अपि···हृदयम्" करुणरसाचार्य भवभूति का यह श्लोक बड़ा ही मार्मिक है भगवान् राम के विलाप से पत्थर भी पिघल उठे थे और वज्र का हृदय भी टुकड़े-टुकड़े हो गया था। पत्थर को रुलाना तथा वज्र को भी संवेदन-शील बनाना निस्सन्देह भवभूति का ही कौशल है। उनके सम्बन्ध में गोवर्धनाचार्य ने ठीक कहा है—

"भवभूतेः सम्बन्धाद्भूधरभूरेव भारती भाति ।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ?" ॥२८॥

लक्ष्मणः—(रामं निर्वर्ण्य साकूतम् ।) आर्य ! किमेतत् ?

अयं तावद्बाष्पस्त्रुटित इव मुक्तामणिसरो,
विसर्पन्धाराभिर्लुठति धरणीं जर्जरकणः ।
निरुद्धोऽप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया,
परेषामुन्नेयो भवति चिरमाध्मातहृदयः ॥२६॥

प

अन्वयः—तावत् धाराभिर्विसर्पन्, जर्जरकणः, अयं, वाष्पः, त्रुटितः, मुक्तामणि-सरः, इव, धरणीं, लुठति, चिरमाध्मातहृदयः, आवेगः, निरुद्धोऽपि, स्फुरदधरनासापुट-तया, परेषाम्, उन्नेयो, भवति ॥२६॥

हिन्दी—

लक्ष्मण—(राम को देखकर सान्त्वना देने के अभिप्राय से) आर्य ! यह क्या ?)

[श्लोक २६]—आपका यह अश्रु प्रवाह टूटी हुई मोतियों की लड़ी की भाँति अनेक धाराओं में टपाटप गिरता हुआ पृथ्वी पर फैल रहा है। आपके हृदय का यह आवेग रोके जाने पर भी आपके फड़कते हुए ओठों और नथुनों से दूसरों के लिए सहज ही अनुमेय हो रहा है [अथवा बहुत देर तक दबाये जाने पर भी हृदयवेग ओठों और नासापुटों से दूसरों के लिए अनुमेय होता है।]

संस्कृत-व्याख्या

अतएव भगवान् रामोऽप्यरुदत्, रुदन्तं श्रीरामं दृष्ट्वा साकूतं=साभिप्रायं लक्ष्मणः प्राह—अयमिति ।

आर्य ! किमेतद् ? किमिति साम्प्रतमपि भवान् रोदिति ? अयं तावद् भवतो नेत्रकमलाभ्यां परिपतितो वाष्पधारासारः, अश्रुकणगणः त्रुटितो—मुक्तामणिहार इव धाराभिर्विसर्पन् जर्जरकणः सन् पृथिव्यां लुठति=व्याप्तो भवति। अपि च शोकावेगो

निरुद्धोऽपि नासापुटयोः, अधरोष्ठस्य च परिस्फुरणात् चिरमाध्मातं=परिपूरितं हृदयं येन सः परेषामप्यनुमेयो भवति । भवतोऽतिशयितशोकावेगमविरतधाराभिः प्रवहन् बाष्पौघः प्रकटयति । स्फुरता नासापुटेन अधरस्पन्दने चान्योऽपि जनो रोदनं साक्षात्कर्तुं प्रभवति । परितः पतिता बाष्पकणास्त्रुटितहारमुक्ता इव भूमौ पतिताः प्रतीयन्ते । अतो भवद्भिर्न रोदितव्यमिति भावः । अत्र पूर्ववर्तिनः सीतावियोगस्यासह्यतारूपं वस्तु व्यज्यते । उपमाऽलङ्कारः अनुमानञ्च । लक्षणञ्च—

"अनुमानन्तु विच्छित्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात् ।" इति ।

शिखरिणीच्छन्दः ॥२९॥

टिप्पणी

(१) साकूतम्=साभिप्राय । लक्ष्मण ने राम को रोते हुए जानकर सान्त्वना देने के अभिप्राय से देखा । (२) सरः=माला । "सरो दध्यग्रगव्योष्णीभावमालासमीरणे" इति मेदिनी । (३) चिरमाध्मातहृदयः—बहुत देर तक भरे हृदय वाला (आवेग का विशेषण) । इसके स्थान पर "भराध्मातहृदयः" और "विरसाध्मातहृदयः" पाठ भी मिलते हैं । जिनका अर्थ क्रमशः होगा—"भरेण=अतिशयेन आपूरितहृदयः" । तथा "विरसं निर्दयं यथा स्यात्तथा आध्मातं ताडितं हृदयं येन स तथोक्तः हृदयविदारकः इति यावत् ।" (४) "परेषामुन्नेयो···" इस पंक्ति का अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है । दोनों प्रकार हिन्दी अनुवाद में देखिये । (५) उपमा तथा अनुमान अलङ्कार । हरिणीच्छन्द ।

रामः—वत्स !

तत्कालं प्रियजनविप्रयोगजन्मा
तीव्रोऽपि प्रतिकृतिवाञ्छया विसोढः ।
दुःखाग्निर्मनसि पुनर्विपच्यमानो,
हृन्मर्मव्रण इव वेदनां तनोति ॥३०॥

अन्वयः—प्रियजनविप्रयोगजन्मा, तीव्रः, अपि, प्रतिकृतिवाञ्छया, तत्कालं विसोढः, दुःखाग्निः, पुनः, मनसि, विपच्यमानः (सन्), हृन्मर्मव्रणः इव, वेदनां तनोति ॥३०॥

हिन्दी—

राम—वत्स !

[श्लोक ३०] उस समय (तो) मैंने सीता के विरह से उत्पन्न दुःखाग्नि को (शत्रु-रावण से) बदला लेने की इच्छा से जैसे-तैसे सह लिया था परन्तु आज वही दाह हृदय के मर्मस्थान में पके हुए फोड़े की भाँति मुझे असह्य पीड़ा दे रहा है । [यद्यपि सीता की विरहाग्नि सर्वथा दुःसह है तथापि उस समय मैंने उसे प्रतीकार की इच्छा से सह लिया था । परन्तु आज उस अवस्था का स्मरण आने से हृदय का घाव पुनः हरा हो गया है । मुझे असह्य सन्ताप हो रहा है । और हो भी क्यों न ? क्या कभी

किसी ने आग से जले हुए व्यक्ति को विना रोते हुये देखा है ? नहीं ! इसलिये भाई मैं तो जला हुआ पड़ा हूँ । इस अवस्था में यदि रोता हूँ तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं है ।

संस्कृत-व्याख्या

रोदनहेतुं स्पष्टीकुर्वन् भगवान् रामो लक्ष्मणं सम्बोधयति—तत्कालमिति ।

वत्स लक्ष्मण ! तस्मिन् समये प्रियजनस्य=सीताया विप्रयोगजन्मा परमतीतीक्ष्णोऽपि दुःखाग्निः कथचित् प्रतिकृति-वाञ्छया = प्रतीकारेच्छया विसोढः, सह्यवेदनः स्वीकृतः । रावणेन सीताऽपहृता, ततश्च यावत्तस्य प्राणहरणमस्माभिर्नैव क्रियते, तावदपमानमवश्यं सोढव्यमेव । सम्प्रति पुनर्विपाकं प्राप्तो हृदयमर्मस्थाने समुद्भूतो व्रण इव मम मनसि विशेषा पीडां जनयति । सीतावियोगः सर्वथा दुःसह एव । परं तदानीं शत्रुवधेच्छया सोढः । इदानीं तस्याः अवस्थायाः स्मरणेन स शोकविस्फोटः पुनरपि नवः समजनि । अतएव रोदिमि । को नामेवं श्लाघनीयामपि प्राणेभ्योऽपि गरीयसीं प्रियामपहृतां निरीक्ष्य सन्तापं न विन्दति ? मद्विधः कश्चिद् यदि स्यात्तदा परिचिनुयात्, कीदृशोऽयं दुःखाग्निः ? अग्निदग्धोऽपि न रोदति, इति क्वचिद् दृष्टम् ।

अत्र कविना श्रीरामस्य शोक-परीक्षणे महान् प्रयासः कृतः लक्ष्मण-प्रश्नस्य मार्मिकमुत्तरं दत्तं सहृदयशिरोमणिना रामेण । अत्र प्रतिकृतिवाञ्छा दुःखापमानसहने कारणत्वेन निरूपितेति काव्यलिङ्गालङ्कारः । दुःखे वह्नेरारोपात् "रूपकम्" । हृन्मर्मव्रण इवेत्यत्र "उपमा" । एतेषालङ्काराणामङ्गाङ्गिभावेन साङ्कर्यम् । लक्षणानि सर्वेषामुक्तानि । प्रहर्षिणीच्छन्दः । तल्लक्षणञ्च—

"म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम् ॥"

ओजो गुणः । गौडी रीतिः ॥३०॥

टिप्पणी

(१) प्रियजनविप्रयोगजन्मा—प्रियजनस्य=सीतायाः, विप्रयोगात्=विरहात् जन्म यस्य सः । सीता के विरह से उत्पन्न । (२) 'तत्कालम्...विसोढः'—उस समय तो मैंने रावण से बदला लेने की इच्छा से उस दुःखाग्नि को सह लिया था, परन्तु आज इस दृश्य को देखकर सारी बातें पुनः याद आ गई हैं, आज यह हरे घाव की भाँति बहुत पीड़ा दे रहा है । इसका अर्थ यह भी ध्वनित होता है कि पहला आघात तो मैं सह गया था परन्तु अबका आघात असह्य होगा । (३) विसोढः—वि + √सह् + क्त । विपच्यमानः—वि + √पच् + शानच् । (४) काव्यलिंग, उपमा, रूपक का अङ्गाङ्गिभावसंकर । प्रहर्षिणी छन्द ।

सीता—हद्धी हद्धी । अहंवि अदिभूमिं गदेण रणरणएण उज्जउत्तसुण्णं विअ अत्ताणं पेक्खामि । [हा धिक् ! अहमप्यतिभूमिं गतेन रणरणकेनार्यपुत्रशून्यमिवात्मानं पश्यामि ।]

लक्ष्मणः—(स्वगतम् ।) भवतु, आक्षिपामि । (चित्रं विलोक्य प्रकाशम् ।) अथैतन्मन्वन्तरपुराणस्य तत्रभवतस्तातजटायुषश्चरित्रविक्रमोदाहरणम् ।

सीता—हा ताद ! णिव्वूढो दे अवच्चसिणेहो । [हा तात ! निर्व्यूढस्तेऽपत्यस्नेहः ।]

रामः—हा तात काश्यप शकुन्तराज ! क्व नु खलु पुनस्त्वादृशस्य महतस्तीर्थभूतस्य साधोः सम्भवः ?

लक्ष्मणः—अयमसौ जनस्थानस्य पश्चिमतः कुञ्जवान्नाम (पर्वतो) दनुकबन्धाधिष्ठितो दण्डकारण्यभागः । तदिदममुष्य परिसरे मतङ्गाश्रमपदम् । तत्र श्रमणा नाम सिद्धा शबरतापसी । तदेतत्पम्पाभिधानं पद्मसरः ।

सीता—जत्थ किल अज्जउत्तेण विच्छिण्णामरिसधीरत्तणं पमुक्ककण्ठं परुण्णं आस । [यत्र किलार्यपुत्रेण विच्छिन्नामर्षधीरत्वं प्रमुक्तकण्ठं प्ररुदितमासीत् ।]

हिन्दी—

सीता—हाय ! हाय ! मैं भी सीमा का अतिक्रमण कर देने वाली उत्कण्ठा (घबराहट) से अपने को 'आर्य-पुत्र' से विरहित-सी देख रही हूँ । (मुझे भी पतिदेव की विरहावस्था प्रत्यक्ष-सी लग रही है ।)

लक्ष्मण—(स्वयं ही) अच्छा तो मैं (इनका ध्यान) दूसरी ओर आकृष्ट करता हूँ (चित्र को देखकर प्रकाश में) (अच्छा) अब 'मन्वन्तर' से भी प्राचीन पूजनीय जटायु के चरित्र तथा पराक्रम का उदाहरण (देखिये !)

सीता—हा तात ! आपका सन्तान-स्नेह पूर्णरूपेण सफल सिद्ध हुआ । (आपने अपना सन्तान-स्नेह पूर्णरूप से निभाया ।)

राम—हा तात ! काश्यप ! पक्षिराज ! अब आप जैसे महान् पवित्रात्मा प्राणी की उत्पत्ति कहाँ सम्भव है ?

लक्ष्मण—यह 'जनस्थान' की पश्चिम दिशा में 'कुञ्जवान्' नामक पर्वत है तथा वहीं "दनुकबन्ध" से अधिकृत 'दण्डकारण्य' का भाग है । (अथवा—'दनुकबन्धा' धिष्ठित कुञ्ज-पुञ्जों वाला 'दण्डकारण्य' का भाग है ।) इसी के पास यह 'मतङ्ग' ऋषि का आश्रम है वहीं यह 'श्रमणा' नाम वाली सिद्ध शबर-तपस्विनी (भीलनी) है । और यह 'पम्पा' नामक कमल-सरोवर है ।

सीता—जहाँ आप (रावण के प्रति) क्रोध तथा स्वाभाविक धीरता को छोड़-कर गला फाड़ कर रोये थे ।

संस्कृत-व्याख्या

भगवतो रामस्य मुखादेवं दुःखकथामुपश्रुत्य भगवती सीता प्राह—हद्धि-इति । हा धिक् । अतिभूमिं=सीमातिरेकं गतेन=अतिवृद्धेनेति यावत् । रणरणकेन=उत्कण्ठा-

तिशयेन, आर्यपुत्रशून्यमिव = रामविरहितमिव, आत्मानं पश्यामि । औत्सुक्याधिक्येन ममापीयं भावना सम्प्रति जाता, यदहं रामविरहितास्मीति भावः । ममापि सैवावस्था जातेति तत्त्वम् । "औत्सुक्ये रणरणकः स्मृतः" इति हलायुधः । ["√रण शब्दे" इति धातोर्घञ्प्रत्ययः, द्वित्वञ्च । संज्ञायां 'कन्' प्रत्ययः ।][1]

सर्वमपीदं परितापकरं विदित्वा लक्ष्मणः स्वगतमाह–भवतु-इति । अस्तु, आक्षिपामि-एतस्माद् वृत्तादन्यत्र सञ्चारयामि । तदैवास्य शोकस्य प्रशमो भविष्यति । चित्रे जटायुं निरीक्ष्याह—अथैतदिति । मन्वन्तर-पुराणस्य = अन्यो मनुः मन्वन्तरम्, "मन्वन्तरं तु दिव्यानां युगानामेकसप्ततिः" इत्यमरः तस्मादपि पुराणस्य = प्राचीनस्य, [पुराणेषु चतुर्दश मनवो भवन्तीत्युपलभ्यते । तेषामधिकारकालो 'मन्वन्तर' मित्युच्यते । षण्णां मनूनां समयो व्यतीतः । सप्तमस्य वैवस्तमनोरधुना कालः ।] तत्रभवतः पूज्य-जटायोश्चरित्र-विक्रमस्येदमुदाहरणम् । तेन रावणेन सह युद्धं कृत्वा यादृशं विक्रमचरित्रं दर्शितं तदिदमालोक्यताम् ।

श्रूयते कदाचिद् दशरथस्य राज्ञः साहाय्यं जटायुः कृतवान् । अतएव पितृतुल्यमेनं मन्यन्ते स्म रामादयः । अतएव सीता-राम-लक्ष्मणानां त्रयाणामप्युक्तौ "तात"—शब्दः प्रयुक्तः कविना । सीतोक्तौ च विशेषरूपेण–"अपत्यस्नेहः" इति प्रयुक्तवान् कविः जटायोर्विक्रमः सीतया साक्षात्कृतः इति तस्य स्मरणेनाह सा—हा इति । हा तात ! ते = तव अपत्यस्नेहः = सन्तान-प्रीतिः निर्व्यूढः = कृत-निर्वाहः सम्पन्न इति भावः । मदर्थं स्वकीयमपि शरीरं परित्यज्य भवता, सन्तानार्थं यादृशं वात्सल्यं क्रियते पितृजनेन तस्य पूर्णतया निर्वाहः कृतः । तत्र त्रुटिसम्भावनापि नास्ति-इति भावः ।

भगवान् रामोऽपि तस्य परोपकारभारं स्मृत्वा कथयति— हा तात ! इति । हा तात ! कश्यपात्मज ! [भगवतः कश्यपस्य "विनता" नाम्नी पत्नी जटायुमुत्पादितवती । सम्पातेरयमनुज आसीत् । इति पौराणिकी कथाऽत्रानुसन्धातव्या । शकुन्तानां = पक्षिणां राजा, तत्सम्बुद्धौ हे शकुन्तराज ! भवद्विधस्य महापुरुषस्य साधोस्तीर्थभूतस्य सम्भवः कुत्र स्यात् ? परोपकारे स्वप्राणानप्यगणयतस्त्वादृशस्योत्पत्तिः साधारणपुण्यानां फलं नास्ति । एवंविधाः सर्वत्र न भवन्ति ।

लक्ष्मणः चित्रे-दनुकबन्धादीनां वर्णनं कर्तुमाह–अयमिति । जनस्थानस्य पश्चिमदिशि "कुञ्जवान्" नाम पर्वतः । तत्रैव दनुकबन्धाधिष्ठितः जनस्थानस्य मध्यभागः । अस्य समीपवर्तिनि स्थाने "मतङ्गस्य" ऋषेराश्रमः ['पदशब्द' प्रतिष्ठासूचकः ।] तत्रैव सिद्धतापसी श्रमणा शबरजातीया । इति । तदेतत् प्रसिद्धं 'पम्पा'नामकसरः ।

[अत्र पाठे पर्वतः इत्यस्य सम्बन्धो न शोभते । दण्डकारण्यस्य भागः कीदृशः दनुकबन्धेनाधिष्ठितः, कुञ्जाः = निकुञ्जाः, ('निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः) सन्ति यस्मिन् सः, इत्यर्थकरणे सरलता । 'पर्वतः' इत्यस्य च स्थापनेन काठिन्यमर्थयोजने परिपतति । न च कश्चिद् विशिष्टो लाभः ।]

१—दनुकबन्धो नाम 'श्रियाः' नामाप्सरसः पुत्रो विश्वावसुः गन्धर्वः परमरूप-सम्पन्नः बलवान् कामरूपः एकदा भयङ्करं रूपं कृत्वा महर्षि स्थूलशिरसं परिखेदित-

वान् । तेन चेदृशरूपमाप्नुहि, इति शप्तः । कदाचिद् युद्धे शक्रं धर्षितवान् तदा तेन स्ववज्रेण ताडितः कबन्धरूपतामाप । इन्द्रस्यैवानुग्रहेण च योजनविस्तृतौ बाहू समुपलब्धवान् श्रीरामचन्द्रदर्शन-पर्यवसानश्चास्य शाप इति कथा वाल्मीकिरामायणस्य एकसप्ततितमेऽध्याये विशेषरूपेणावलोकनीया ।

२. 'मतङ्ग' नामा महामुनिः परमकारुणिकः । तदीयान् शिष्यान् समिदाहरण-मार्जनादिविविधसेवाभिः परिचरन्ती काचिद् शबरकन्या श्रमणा तस्यैव मुनेः शिष्यताम-भजत् । सिद्धायास्तस्या अपि श्रीराम-दर्शनेनोत्तम-लोकान्तर-प्राप्तिः सञ्जाता ।

३. 'ऋष्यमूक'-पर्वतस्य नातिदूरे 'पम्पा' संज्ञकं नानापक्षिगणोपसेवितम्, कुमुद-कल्हार-नील-कमलादिशोभितं पावनजलपरिभृतं सरः आसीत् ।

४. क्वचिच्च "ऋष्यमूक पर्वते" इति पाठः समुपलभ्यते । स च पर्वतः । प्रसिद्धः । मतङ्गमुनेः शापाद् बालिस्तत्र गन्तुं नाशकदिति सुग्रीवस्तत्र सचिवैः सहितो यथाकथंचित् कालं नयति स्म ।

पम्पाया नाम श्रवणात्स्मृतपूर्ववृत्ता भगवती जनकनन्दिनी प्राह—जत्थ इति । यत्र किलार्यपुत्रः विच्छिन्नामर्षधीरतया सुचिरं मुक्तकण्ठो रुरोद ! तदेवेदं स्थानम् ? अमर्षश्च = 'क्रोधः धीरत्वञ्चेति अमर्षधीरत्वे विच्छिन्ने = विगलितेऽमर्ष धीरत्वे यस्मिन् कर्मणि तद् यथास्यात्तथा रावण-विनाशं कर्तुं क्रोधो विनष्टः, स्वाभाविकं धैर्यञ्चेति भावः । मम वियोगे केवलं रोदनमेव चक्षुःप्रीतिकरं सञ्जातमिति हृदयम् ।

टिप्पणी

(१) रणरणक—"(घबराहटयुक्त) उत्कण्ठा । औत्सुक्ये रणरणकः स्मृतः ।" (हलायुध) । (२) मन्वन्तर—पुराणों में १४ मनुओं का वर्णन मिलता है । उनके अधिकार-काल को 'मन्वन्तर' कहते हैं । 'मनुस्मृति' में लिखा है—

"यत्प्राग्द्वादशसहस्रमुदितं दैविकं युगम् ।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ।।"

× × ×

"मन्वन्तरं तु दिव्यानां युगानामेकसप्ततिः ।" (अमरकोष)

वर्तमान 'मन्वन्तर वैवस्वत मन्वन्तर' है ।

(३) जटायु—जटायु कश्यप मुनि की पत्नी विनता से उत्पन्न अरुण का पुत्र तथा सम्पाति का छोटा भाई था । सुना जाता है एक बार इसने महाराज दशरथ की सहायता की थी, जिसके फलस्वरूप उनका सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ हो गया था । इसलिए अपने पिता के मित्र के प्रति राम, लक्ष्मण और सीता जी का 'तात' शब्द का प्रयोग करना सर्वथा उचित है । (४) दनुकबन्ध—'दनुकबन्ध' 'श्री' अप्सरा का पुत्र 'विश्वावसु' नामक गन्धर्व था । वह अत्यन्त सुन्दर, बलशाली तथा इच्छानुरूप रूप धारण करने वाला था । एक बार उसने बड़ा भयङ्कर रूप धारण कर 'स्थूलशिरा' नामक ऋषि को बहुत तङ्ग किया । तब उन्होंने उसे—"जा ! तू इसी रूप में रह जा !" यह बड़ा दारुण शाप दे दिया । तदनन्तर एक बार 'इन्द्र' ने उस पर वज्र का प्रहार

किया जिससे उसका सिर पेट में घुस गया । केवल 'कबन्ध' (धड़) मात्र ही रह जाने के कारण उसका यह नाम पड़ा । श्रीराम–लक्ष्मण के दर्शन कर वह शाप से मुक्त हो गया था । (५) श्रमणा—'मतङ्ग' नामक महामुनि परमकारुणिक सर्वज्ञ तथा सर्वप्रिय थे । उसके आश्रम में रहने वाले शिष्यों की 'श्रमणा' नाम की एक शबर तपस्विनी (भिलनी) बड़ी सेवा किया करती थी । वह कालान्तर में मतङ्ग जी की शिष्या हो गई । उसकी भगवान् राम में अटूट भक्ति थी । सीता को खोजते हुए भगवान् राम-लक्ष्मण का दर्शन कर वह मुक्त हो गई थी । (६) पम्पा—'ऋष्यमूक' पर्वत के पास भाँति-भाँति कमलों से युक्त 'पम्पा' नामक सरोवर था । जहाँ कहीं—"ऋष्यमूक पर्वते' ऐसा पाठ है वहाँ उसका अर्थ 'ऋष्यमूक नामक पर्वत पर' है, जहाँ 'सुग्रीव' 'वालि' के डर से छिपकर जैसे-तैसे समय व्यतीत करता था ।

रामः—देवि ! परं रमणीयमेतत्सरः ।
एतस्मिन्मदकलमल्लिकाक्षपक्ष-
व्याधूतस्फुरदुरुदण्डपुण्डरीकाः ।
वाष्पाम्भः परिपतनोद्गमान्तराले,
संदृष्टाः कुवलयिनो मया विभागाः ॥३१॥

अन्वयः—एतस्मिन्, मदकलमल्लिकाक्षपक्षव्याधूतस्फुरदुरुदण्डपुण्डरीका, कुवलयिनः विभागः मया, वाष्पाम्भः परिपतनोद्गमान्तराले संदृष्टा ॥१३॥

हिन्दी—

राम—देवि ! यह सरोवर अत्यन्त सुन्दर है ।

[श्लोक ३१ —इसमें मद के कारण अव्यक्त और मधुर कूजन करने वाले मल्लिकाक्ष नामक हंसों के पंखों से कँपाये हुए और सुशोभित नाल वाले श्वेत कमलों से युक्त नील-कमल-मय प्रदेशों को मैंने आँसुओं के गिरने और उमड़ने के समय देखा था ।

[आशय यह है कि इस सरोवर में अत्यन्त मधुर शब्द करते हुए मल्लिकाक्ष हंसों के पंखों से मृणाल-दण्ड हिल रहे थे । नीले कमलों वाले प्रदेशों की ऐसी शोभा देखकर सीते ! तुम्हारे नेत्रों का स्मरण हो जाने के कारण मेरे नेत्रों में आँसू भर आये । मैंने डबडबायी आँखों से इन प्रदेशों को देखा था ।

हंसों को देखकर तुम्हारी चाल, श्वेत कमलों से मुख तथा नील-कमलों को देखकर तुम्हारे नेत्रों का स्मरण हो जाने के कारण मेरे आँसू टपाटप गिरने लगे थे ।]

व्याख्यान्तर—

[कुछ विद्वान् 'मदकल' का 'मद्' + 'अकल' यह पदच्छेद करते हैं । 'मद्' = मेरे कारण अर्थात् मुझे कष्ट न हो इसलिये । अकल = कल कूजन रहित । मेरी सहानुभूति में मौन रहकर दुःख मानने वाले हंस । इस प्रकार यह अर्थ होगा—

सुप्रीति को खेद न हो इसी कारण से (मानों) वे हंस भी मौन धारण कर (विरहोत्पादक) कमलों का विनाश कर रहे थे। इसी प्रकार मैंने आँसू भरी आँखों से वे नील-कमल युक्त विभाग देखे थे।"

अथवा—हंसों के श्वेत वर्ण पङ्खों से हिलाये हुए श्वेत कमलों वाले प्रदेशों को आँसू भरी आखों से नील-कमल-युक्त सा देखा था। (उन हंसों के पैर और चोंच मटियाले थे और पङ्ख श्वेत। इस प्रकार दो रङ्ग मिलने से वे श्वेत-कमल नील-कमल से लग रहे थे। वास्तव में तो वहाँ श्वेत कमल ही विकसित थे, पर श्रीरामचन्द्र जी को वे नीले से प्रतीत हो रहे थे।)

संस्कृत-व्याख्या

सरोवरस्य सौन्दर्यातिशयं वर्णयितुं भगवान् रामः प्राह—एतस्मिन्निति।

परमरमणीये एतस्मिन् सरसि मया रुदता सता कुवलय-सहिता, विभागाः समवलोकिताः। श्लोकः कठिनत्वाद् व्याख्यामर्हति। मदेन कलाः=अव्यक्तमधुराः, तथा भाषिणः, ये मल्लिकाक्षाः=हंसविशेषाः, तेषां पक्षैः व्याधूताः=परिकम्पिताः, स्फुरन्तः उरवो=विशाला दण्डाः=मृणालनालानि येषान्तानि पुण्डरीकाणि=श्वेत-कमलानि येषु ते, कुवलयिनः, नीलकुवलय-युक्ताः, विभागाः=प्रदेशाः मया वाष्पाम्भसाम्=नेत्रजलबिन्दूनां परिपतनस्य=स्खलनस्य, उद्गमस्य=आविर्भावस्य उत्पत्तेरिति यावत्, अन्तराले=मध्ये, संदृष्टाः=विलोकिताः।

अयमाशयः—अस्मिन् सरोवरे मदेन अव्यक्तं मधुरञ्च कूजन्तः मल्लिकाक्ष-संज्ञका हंसा निवसन्ति। यदा चैते इतस्ततः परिचलन्ति, तदा कमलानां नालजालानि कम्पन्ते, नीलकमलयुक्तानां विभागानाञ्चेदृशीं शोभां दृष्ट्वा तव नेत्रयोः स्मरणेन सहसा मम लोचनाभ्यां वाष्पोद्गमो भवति स्म, यावदेव नेत्राभ्यां जलं निर्गतम्, भूमौ च न पतितं, तस्मिन्नेव समये क्लिन्नचक्षुषा मया ते विभागाः संदृष्टाः। सम्यक् सुचिरं दृष्टाः। हंसानां दर्शनेन—तव गतिः, पुण्डरीकाणां दर्शनेन—तव मुखम्, नीलकमल दर्शनेन नेत्रे, इत्येवं संस्मृत्य वियोगजन्यं दुःखमश्रुकारणमभवदिति सारः। धन्या एते विभागा ये सम्यक् परिदृष्टाः सन्तः प्रियां स्मारयन्ति। इति तत्त्वम्।

श्लोकस्यान्यो व्याख्यामार्गोऽपि वर्तते। केचित्—'मदकले'त्यत्र 'मत्' इति पञ्चम्यन्तं पदं स्वीकृत्य 'अकल' इति पदच्छेदमङ्गीकुर्वन्ति। अर्थश्चैवं तदा भवति। तथाहि—मदपेक्षया मम चेतसि दुःखं मा भूदिति मत्वा (मन्ये) ते मल्लिकाक्षा अपि अकलाः=कलं, मधुरं कूजितं, परित्यज्य विरहोद्दीपकानां पुण्डरीकाणां व्याधुवन्=विनाशं कुर्वन्ति। युक्ततमश्चायमर्थः। "अपि ग्रावारोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्" इत्युक्त्वा हंसानामपि करुणोद्भवः समुचित एव। चक्रवाकमिथुनं रामशापग्रस्तं, कदाचिदस्माकमुपर्यपि रामः शापं पातयेदिति मौनमिव भजमानास्ते हंसाः। इति।

अथवा—हंसानां श्वेतपक्षैः परिचालितानि पुण्डरीकाणि येषु एवंविधा विभागा अश्रुझरप्लुताभ्यां लोचनाभ्यां नीलकमलयुक्ता इव संदृष्टा इति। हंसाश्च ते चरणैः, चञ्चुभिश्च मलिना आसन्। ("मलिनैः (चञ्चुचरणैः) मल्लिकाक्षास्ते" इत्यमरः।) मालिन्येन च कृष्णवर्णः पक्षाणाञ्च श्वेतिमेति मिलित्वा नीलकुवलयतेव प्रतीयते स्म। इति भावः। वस्तुतस्तु सरोवरविभागे पुण्डरीकाण्येव विकसितान्यासन्, नीलकमलवत्ता तु समुत्प्रेक्ष्यते। अत्र उत्प्रेक्षा अलङ्कारः। प्रहर्षिणीच्छन्दः। लक्षणमुक्तं प्राक्। ओजो गुणः। गौडी रीतिः ॥३॥

टिप्पणी

(१) मल्लिकाक्ष—जिनके चोंच और पंजे मटमैले रंग के होते हैं, उन हंसों को 'मल्लिकाक्ष' कहते हैं। जिनके चोंच और पंजे लाल होते हैं, उन्हें 'राजहंस' तथा जिनके काले होते हैं उन्हें 'धार्तराष्ट्र' कहते हैं।

"आताम्रै राजहंसाः स्युर्धार्तराष्ट्राः सितेतरैः।
मलिनैर्मल्लिकाक्षाश्च, कथ्यन्ते चरणाननैः।" (हलायुध)

(२) पुण्डरीक— श्वेतकमल—"पुण्डरीकं सिताम्भोजम्।" (अमर०)
(३) कुवलय—नीलकमल—"स्यादुत्पलं कुवलयम्।" (अमर०)
(४) 'मया विभागाः' के स्थान पर कहीं-कहीं 'भुवो विभागाः' पाठ भी मिलता है, जिसका अर्थ होगा 'भूमिखण्ड'। (५) यहाँ उत्प्रेक्षालङ्कार है। कुछ ने यहाँ 'भ्रान्तिमान्' माना है, किन्तु यह उचित नहीं। राम को श्वेतकमलों की भ्रान्ति नहीं हुई थी, वे कमलों की यथार्थता से परिचित थे, उन्हें या तो आँखें डबडबायी होने के कारण अथवा मल्लिकाक्ष हंसों की समीपता के कारण वे नीले-से प्रतीत हुए थे। अतः यहाँ उत्प्रेक्षालङ्कार ही है। प्रहर्षिणी छन्द। ओज गुण। गौडी रीति।

लक्ष्मणः—अयमार्यो हनूमान्।

सीता—एसो सो चिरणिव्वूढजीवलोअपच्चुद्धरणगुरुओवआरी महानुभावो मारुदी। (एष स चिरनिर्व्यूढजीवलोकप्रत्युद्धरणगुरूपकारी महानुभावो मारुतिः।)

रामः—

दिष्ट्या सोऽयं महाबाहुरञ्जनानन्दवर्धनः।
यस्य वीर्येण कृतिनो, वयं च भुवनानि च ॥३३॥

हिन्दी—

लक्ष्मण—ये आर्य हनुमान हैं।

सीता—ये सर्वात्मना जीवलोक का उद्धार करने से महान् उपकारी तथा प्रभाववान् हनुमान जी हैं।

राम—[श्लोक ३२]—सौभाग्य से ये वही पराक्रमशाली एवं अपनी माता अञ्जना के आनन्द को बढ़ाने वाले हनुमान हैं जिनके पराक्रम से हम और सम्पूर्ण लोक कृतकृत्य हैं।

संस्कृत-व्याख्या

लक्ष्मणः "अयमार्यो हनुमान्" इति सादरं, वदति—भगवती सीता च हनूमतः उपकारभारं स्वीकृत्य प्राह—एसो इति। चिरनिर्व्यूढं निःशेपरूपेण सम्पादित्तं जीवलोकस्य प्रत्युद्धरणं=समुद्धारः तेन गुरूपकारी महानुभावः प्रतापशाली, मरुत्तनयः एषः स हनूमानस्ति।

अत्रायं रहस्य-सारः। रावणापहृतायाः सीतायाः दुःखेन भगवान् श्रीरामोऽस्तिदुःखितोऽभूत्। सीतागवेषणां विधाय, युद्धाय भगवन्तं सुसज्जितं कृत्वा, लङ्काविजयेन सीता-प्राप्त्या रामः प्रत्युज्जीवितः। भगवति रामे च प्रत्युज्जीवते सर्वोऽपि लोकः प्रत्युज्जीवितः। तत्र च प्राधान्यमस्यैव महानुभावस्येति भावः। एतेन हनूमतोऽनुपमेयः उपकारो द्योतितः।

सीतामुखात् तस्य प्रशंसां निशम्य भगवान् रामोऽप्यतिशयकृतज्ञतां प्रकटयितुमाह—दिष्ट्येति।

दिष्टया=आनन्दपूर्वकं मयेदं निगद्यते यदयं स महाबाहुः=अपारवीर्यवान्, अञ्जनायाः=स्व-जनन्या आनन्दस्य वर्धकः प्रियो—हनूमानस्ति। यस्य वीर्येण वयं कृतिनः=कृतार्थाः सञ्जाताः स्म, सर्वाणि च भुवनानि कृतार्थानि सन्ति। सीतासमुद्धारान्मम-समुज्जीवनम्, तेन चाखिलभुवनानि समुज्जीवितानि। इति भावः।

अत्रोदात्तालङ्कारः। महापुरुषस्य चरित्रवर्णनात्। पथ्यावक्त्रं छन्दः ॥३२॥

टिप्पणी

(१) दिष्टया—प्रसन्नतासूचक अव्यय। (२) अञ्जनानन्दवर्धनः—अञ्जनाया आनन्दं वर्धयतीति। 'अञ्जना' हनूमान जी की माता का नाम था। इसलिए उनका नाम "आञ्जनेय" भी है। (३) रामचन्द्र जी के चरित्र की सबसे अधिक आकर्षित करने वाली विशेषता है उनकी कृतज्ञता की भावना। हनूमान् जी की प्रशंसा में उन्होंने अपने हृदय की इसी विशालता का परिचय दिया है। "यस्य वीर्येण कृतिनो वयं च भुवनानि च" इससे बढ़कर और क्या कृतज्ञता प्रकाशित की जा सकती है? (४) उदात्तालङ्कार। पथ्यावक्त्र छन्द।

सीता—वच्छ ! एसो सो कुसुमिदकदम्बताण्डविअबंहिणो किंणामहेओ गिरि ? जत्थ अणुभावसोहग्गमेत्तपरिसेससुन्दरसिरी मुच्छन्दो तुए परुण्णेण ओलम्बिओ तरुअले अज्जउत्तो आलिहिदो ? [वत्स ! एस स कुसुमितकदम्बताण्डवितबर्हिणः किन्नामधेयो गिरिः ? तत्रानुभावसौभाग्यमात्रपरीशेषसुन्दरश्रीर्मूर्च्छंस्त्वया प्ररुदितेनावलम्बितस्तरुतले आर्यपुत्रः आलिखितः ?]

लक्ष्मणः—

सोऽयं शैलः ककुभसुरभिर्माल्यवान्नाम यस्मि-
न्नीलः स्निग्धः श्रयति शिखरं नूतनस्तोयवाहः ।
आर्येणास्मिन्..............................

रामः—

......—विरम विरमातः परं न क्षमोऽस्मि,
प्रत्यावृत्तः स पुनरिव मे जानकीविप्रयोगः ॥३३॥

हिन्दी—

सीता—वत्स ! विकसित कदम्ब के वृक्ष पर ताण्डव करने में रत मयूरों से युक्त यह कौन-सा पर्वत है। जहाँ वृक्ष के नीचे रोते हुए, तुम्हारे द्वारा पकड़े गये, प्रभावमात्र से अवशिष्ट शोभा के कारण सुन्दर तथा मूर्छित होते हुए आर्यपुत्र को चित्रित किया गया है।

लक्ष्मण—[श्लोक ३३] 'अर्जुन' पुष्पों से सुरक्षित यह वही माल्यवान् नामक पर्वत है जिसके शिखर पर नीला-नीला, नया नया मनोहर मेघ विश्राम ले रहा है। आर्य ने यहाँ......।

राम—.........."बस-बस ! (अब इस दशा का वर्णन मत करो मैं इससे अधिक नहीं सुन सकता। मुझे तो ऐसा लग रहा है मानों जानकी का यह विरह फिर से लौट आया हो।"

संस्कृत-व्याख्या

चित्रे माल्यवन्तं पर्वतं दृष्ट्वा सीतादेवी लक्ष्मणं प्रत्याह—वत्स-इति । वत्स ! कुसुमितेषु = सञ्जात-कुसुमेषु कदम्ब-पादपेषु ताण्डविताः = ताण्डव-नृत्य-युक्ताः बर्हिणाः = मयूरा यस्मिन् एवंविधः किंनामधेयः पर्वतोऽयम् ? यस्मिन् पर्वते अनुभावस्य— प्रभावशक्तेः सौभाग्यमात्रस्य परिशेषेण सुन्दरी श्रीः = शोभा यस्य सः तरुतले = वृक्षस्य नीचैः मूर्च्छित आर्यपुत्रः प्ररुदता त्वया आलिखितः । अर्थात्—कदम्बवृक्षाः पुष्पयुक्ताः सन्ति, तत्र मयूरा नृत्यं कुर्वन्ति । आर्य-पुत्रं मूर्च्छितमवलम्ब्य वृक्षस्याधस्तात्त्वं स्थितः । असौ पर्वतः कतमोऽस्तीत्यर्थः ?

लक्ष्मणः सीतादेव्या उत्तरं दातुं प्राह—सोऽयमिति ।

आर्ये ! सोऽयं ककुभानां अर्जुनवृक्षाणां विकाराः = पुष्पाणि तैः सुरभिः = सुगन्धित., 'माल्यवान्" नाम पर्वतः । यस्योपरिभागे नवीनः जलपूर्णः, नीलः, मसृणश्च मेघः स्थितोऽस्ति । अस्मिन् पर्वते आर्येण......इति कथयन्तं लक्ष्मणं मध्ये एव समाक्षिप्य रामः प्राह—वत्स ! विरम, विरम; अतः परं मम दशावर्णनं मा कुरु, अहमिदानीं श्रोतुमसमर्थोऽस्मि । मन्ये, स जानक्याः वियोगः पुनः प्रत्यावृत्तः । चित्रदर्शनेऽपि वास्तविकी सैव वियोगभावना पुनरपि समागतेव वर्तते ।

अत्र वियोगस्य प्रत्यावर्तनसम्भावनया उत्प्रेक्षालङ्कारः काव्यलिङ्गालङ्कारश्च। मन्दाक्रान्ताच्छन्दः। तल्लक्षणञ्च—

"मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैम्भौ नतौ ताद् गुरू चेत्" इति

भाविसीता-विरह-सूचनात् "परिभावना" नाम मुखसन्धेरङ्गम्। तल्लक्षणञ्च यथा दर्पणे— "कुतूहलोत्तरावाचः प्रोक्तातु परिभावना।" इति।

श्लोकोऽयं सरस-सरस शैल्या प्रतिपादितः। अत्र प्रतिपादनमधुरिमा सहृदयानां हृदयानि बलादावर्जयत्येव। पदशय्या च नितान्तं कोमला। अत्रभवता कविकुलगुरुणा च सरसतमं किमप्ययुक्तमत्र—

"एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तात्,
प्रादुर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम्।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च,
त्वद्विप्रयोगाश्रुसमं विसृष्टम् ॥" (रघुवंशे)

उभयोः कविपुङ्गवयोर्वर्णनशैली—परिशीलनेन रसास्वादो महानुभावैः प्रकामं क्रियताम् ॥३॥

टिप्पणी

(१) इस श्लोक में कवि ने 'परिभावना' मुखसन्धि के अङ्ग का वर्णन किया है। 'परिभावना' का लक्षण है—

"कुतूहलोत्तरावाचः प्रोक्ता तु परिभावना" भावी सीता-विरह की सूचना इस श्लोक में दी गई है।

(२) इस श्लोक की रचना कवि ने बड़े कौशल से की है। प्रारम्भिक लगभग ढाई पंक्तियों में लक्ष्मण की उक्ति है और बाद में राम की। तीसरी पंक्ति में कहीं-कहीं **'वत्सैतस्माद् विरम'** यह पाठ भी मिलता है, किन्तु उसकी अपेक्षा स्वीकृत पाठ ही अधिक प्रभावोत्पादक है। कवि का कौशल यह है कि राम के **"प्रत्यावृत्तः······वियोग"** कहने के अनन्तर ही **'चित्रदर्शन'** समाप्त हो जाता है। (४) **विरम—विरम** सम्भ्रमे द्विरुक्तिः। (४) **ककुभः**—ककुभ् + अण् "तस्य विकारः"। पुष्पमूलेषु बहुलम्" इति तस्य लुप् च। "इन्द्रद्रुः ककुभोऽर्जुनः।" (अमरकोष)।
(५) उत्प्रेक्षालङ्कार। मन्दाक्रान्ता छन्द।

लक्ष्मणः—अतः परमार्यस्य तत्रभवतां राक्षसानां चापरिसङ्ख्यान्युत्तरोत्तराणि कर्माश्चर्याणि। परिश्रान्ता चेयमार्या। तद्विज्ञापयामि 'विश्राम्यतामि'ति।

सीता—अज्जउत्त ! एदिणा चित्तदंसणेण पच्चुप्पण्णदोहलाए मए विण्णावणिज्जं अत्थि। [आर्यपुत्र ! एतेन चित्रदर्शनेन प्रत्युत्पन्नदोहदाया मम विज्ञापनीयमस्ति।]

रामः—नन्वाज्ञापय ।

सीताः—जाणे पुणोवि पसण्णगम्भीरासु वणराईसु विहरिअ पवित्तणिम्मलसिसिरसलिलं भअवदिं भाईरहिं ओगाहिस्सं ति । [जाने पुनरपि प्रसन्नगम्भीरासु वनराजिषु विहृत्य पवित्रनिर्मलशिशिरसलिलां भगवतीं भागीरथीमवगाहिष्य इति ।]

रामः—वत्स लक्ष्मण ।

लक्ष्मणः—एसोऽस्मि ।

रामः—वत्स ! 'अचिरादेव संपादनीयो दोहृद' इति संप्रत्येव गुरुभिः संदिष्टम् । तदस्खलितसंपातं रथमुपस्थापय ।

सीताः—अज्जउत ? तुम्हेहिं वि आअन्दव्वम् । [आर्यपुत्र ! युष्माभिरप्यागन्तव्यम् ।]

रामः—आतकठिनहृदये ! एतदपि वक्तव्यम् ?

सीताः—तेण हि पिअं मे । [तेन हि प्रियं मे ।]

लक्ष्मणः—यदाज्ञापयत्यार्यः । (इति निष्क्रान्तः ।)

रामः—प्रिये ! वातायनोपकण्ठे सविष्टा भव ।

सीताः—एव्वं होदु । ओहरिदह्मि परिस्समणिद्दाए । [एवं भवतु । अपहृतास्मि परिश्रमनिद्रया ।]

रामः—तेन हि निरन्तरमवलम्बस्व मामत्र शयनाय ।

जीवयन्निव ससाध्वसश्रम–
स्वेदबिन्दुरधिकण्ठमर्प्यताम् ।
बाहुरैन्दवमयूखचुम्बित–
स्यन्दिचन्द्रमणिहारविभ्रमः ॥३४॥

अन्वयः—ससाध्वसश्रमस्वेदबिन्दुः, (अतएव) ऐन्दवमयूखचुम्बितस्यन्दिचन्द्रमणिहारविभ्रमः, जीवयन्निव, बाहुः, अधिकण्ठमर्प्यताम् ॥३४॥

हिन्दी—

लक्ष्मण—इससे आगे आर्य (वानरों-पाठा०—) तथा राक्षसों के अगणित एवं उत्तरोत्तर आश्चर्यजनक कार्य (चित्रित) हैं । अब आप थक गई हैं; इसलिये मैं निवेदन करता हूँ कि आप विश्राम कीजिये ।

सीता—आर्यपुत्र ! इस चित्रदर्शन से मुझे इच्छा होने के कारण कुछ निवेदन करना है ।

राम—(अरे, निवेदन नहीं) आज्ञा दो ।

सीता—मैं एक बार पुनः गहन वनावलियों में बिहार का पवित्र, स्वच्छ एवं शीतल जल वाली गङ्गा जी में अवगाहन करना चाहती हूँ ।

राम—वत्स ! लक्ष्मण ।

लक्ष्मण—आर्य ! (सेवा में) उपस्थित हूँ ।

राम—वत्स ! 'इनकी गर्भावस्था की इच्छा को अविलम्ब पूर्ण करना चाहिये' यह अभी-अभी गुरुजनों ने सन्देश दिया है । अतएव बिना धचक (हिचकोले) लगने वाला रथ सुसज्जित करो ।

सीता—आर्यपुत्र ! आप भी आइयेगा ।

राम—कठोर हृदये ! क्या यह भी कहने की बात है ? (तुम्हारे कहे बिना मैं आऊँगा ।)

सीता— तब तो मेरे लिये बड़ा प्रिय है ।

लक्ष्मण—जो आर्य 'आज्ञा' देते हैं ।

[चले जाते हैं]

राम—प्रिये ! झरोके के पास बैठ जाओ ।

सीता—ऐसा ही हो (ऐसा ही करती हूँ ।) थकावट के कारण मैं निद्राक्रान्त हो रही हूँ ।

राम—तो यहाँ शयन करने के लिये भली-भाँति मेरा सहारा ले लो ।

[श्लोक ३४] (चित्र में सूर्पणखा कबन्ध और अन्य दृश्यों को देखने से) घबराहट तथा (बहुत समय तक बैठे रहने की) थकावट के कारण पसीने की बूँदों से युक्त चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से चूने वाले चन्द्रकान्त-मणि के हार की-सी शोभा वाले एवं मुझे जीवन-सा देने वाले इस कोमल हाथ को मेरे गले में डालो ।

संस्कृत-व्याख्या

चित्र-दर्शनेन गंगास्नानाय वन-विहाराय चेच्छां प्रकटितवती भगवती सीतादेवी । रामेणापि गुरूणामादेशानुरूपम् अस्खलितसम्पातं रथं समानेतुं लक्ष्मणायाज्ञा प्रदत्ता । सीतादेवी तदा कथयति—अज्जउत्त इति । आर्यपुत्र ! भवद्भिरपि समागन्तव्यम् । नाहमेकाकिनी तत्र गत्वा विहारं करिष्यामि इति भावः ।

रामः प्राह—अति इति । अतिकठोरहृदये ! प्रिये ! किमु एतदपि त्वया वक्तव्यम् ? इदन्तु कथनमन्तरापि सम्भाव्यते एव । अवश्यं समागमिष्यामीति हृदयम् ।

श्रीरामः सीतादेवीं वातायन-समीपे स्वबाहुसमाश्रयेण यथासुखं शयनं कर्त्तुं प्रेरयति—जीवयन्निवेति ।

प्रिये ! ससाध्वसश्रमेण स्वेदस्य बिन्दवो यस्मिन् सः, स्वकीयो बाहुः मम कण्ठेऽर्प्यताम् । एवं कृत्वा मन्ये मम पुनरुज्जीवनमेव भविष्यति । तवायं करः, प्रस्वेदयुक्तः सन् चन्द्रकिरणानां सम्पर्कात्, चन्द्रकान्तमणिनिर्मितहारः, जलकणपरिमोचको यथा भवति, तथा प्रतीयते । ऐतेन बाहोः शैत्याधिक्यं प्रतीयते । तव भुजस्य कण्ठार्पणेन विशेषशान्तिर्मम चेतसि समायातीति भावः ।

अत्र जीवयन्निवेत्युत्प्रेक्षा, चन्द्रमणिनिर्मितहारस्य विभ्रम इव विभ्रमो यस्येति निदर्शना चालङ्कारः । रथोद्धताच्छन्दः । तल्लक्षणञ्च यथा—

"रान्नराविह रथोद्धता लगौ ।" इति ।

माधुर्यं गुणः । वैदर्भी रीतिः ॥३४॥

टिप्पणी

(१) अवगाहिष्ये—अवगाहन करूँगी । अव + √गाह् + लृट् + उ० पु० एक० । (२) अस्खलितसम्पातम्—अस्खलितः = अध्याहतः, समाप्तो गमनं यस्य तम् । (३) अतिकठिनहृदये—सीता के कहने पर कि 'आप भी चलियेगा' राम कहते हैं 'क्या यह भी कहने की बात है ?' 'कठोरहृदये' कहा तो हँसी में सीता को यहाँ पर आगामी घटनाचक्र ने सिद्ध कर दिया कि कठोरहृदय कौन था ? (४) वातायनोपकण्ठे —वातस्य अयनमागमनं यस्मात् तद्वातायनं, तस्योपकण्ठं समीपे । (५) निरन्तरम्··· शयनायः"—शयन-दृश्य आलोचकों को खटकने वाली बात है । (६) "ऐन्दव··· ···विभ्रमः"—ऐन्दवैर्मयूखैः = किरणैश्चुम्बितः = स्पृष्टः, स्यन्दी यश्चन्द्रमणिहारः— चन्द्रकान्तमणिमाला, तस्य विभ्रमो विलास इव विभ्रमो यस्मिन् सः । चन्द्रमा की किरणों से जल की बूँद स्रवित करने वाले चन्द्रकान्तमणि के हार के समान बाहु पर पसीने की बूँदें ऐसी लगती हैं जैसा कि चन्द्रकान्तमणि के हार पर चन्द्रमा के उदय होने पर जल की बूँद झलक जाती है ।

(तथा कारयन् सानन्दम्)

प्रिये ! किमेतत् ?

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा,
प्रमोहो ? निद्रा वा ? किमु विषविसर्पः ? किमु मदः ?
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो,
विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च सम्मीलयति च ॥३५॥

सीता—धीरप्पसादा तुह्मे त्ति, इदो दाणि किमवरं ! [धीरप्रसादा यूयम्, इत इदानीं किमपरम् ?]

अन्वयः—(प्रिये !) तव, स्पर्शे-स्पर्शे परिमूढेन्द्रियगणः, विकारः मम, चैतन्यं, भ्रमयति, सम्मीलयति च; (अतः एवायं) सुखम् इति वा, दुःखम् इति वा प्रमोहः निद्रा वा, विषविसर्पः किमु, मदः किमु (इति) विनिश्चेतुं न शक्यः ।

हिन्दी—

(वैसा कराते हुए आनन्दपूर्वक प्रिये ! यह क्या है ?)

[श्लोक ३५]—तुम्हारे शरीर के प्रत्येक स्पर्श से मेरी समस्त इन्द्रियाँ मोहित सी हो रही हैं और यह कोई (अज्ञात एवं अनिर्वचनीय) आन्तरिक विकास मेरी चेतना को कभी भ्रान्त और कभी प्रकाशित कर रहा है । मैं यह निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि यह सुख है या दुःख ? मोह (नशा है अथवा निद्रा स्वप्न) ? विष का प्रभाव है या कोई मद है ? (तुम्हारे शरीर के प्रत्येक स्पर्श में एक बिजली का-सा प्रभाव है है जिसके कारण मुझे अपने शरीर का ज्ञान नहीं हो रहा है ।)

सीता—आपकी मेरे ऊपर अपार अनुकम्पा (तथा स्नेह) है, इसलिये आपके इस कथन में आश्चर्य ही क्या है ? (आपका मुझ पर सच्चा स्नेह है। इसलिये मैं तो इन वचनों को आपके स्नेह का प्रसाद समझती हूँ।)

संस्कृत-व्याख्या

श्रीरामः सीताया हस्तं स्वकण्ठे धारयित्वा सुखमनुभवन् कथयति—विनिश्चेतुमिति।

अयि प्रिये ! तव स्पर्शे ममेन्द्रिय-गणः परितो मुग्ध इव सञ्जायते, कोऽप्यद्भुतोऽयं विकारो मम चेतनतामेव भ्रामयति, सम्मीलयति च प्रकाशयति च। कदाचित् चेतना चक्रमारोहति, कदाचित् च प्रकाशमायाति। अहं निश्चयं कर्तुमेव न पारयामि, एतत् सुखमस्ति दुःखं वा ? किं प्रमोहः ? किं वा निद्रा अथवा विषयस्यैव प्रसारोऽयम् ? यद् वा मदः कोऽपि ? ईदृशेषु विकारेषु यादृशी दशा चैतन्यस्य भवति तादृश्येव साम्प्रतं मयानुभूयते धन्योऽयं तव स्पर्श इति भावः।

अत्र सन्देहालङ्कारः। तल्लक्षणञ्च यथा—

"सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः।
शुद्धो निश्चय-गर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा ॥" इति।

वस्तुतस्तु संशयोऽयं प्रतिभोत्थितो न भवति। अपि तु रामस्य वितर्कमात्रमेव। यदि च सहृदयैः प्रतिभोत्थितत्त्वमेव मन्यते, तदा तु सन्देहं नास्ति 'सन्देहः'। उत्तरार्धोक्तिसमर्थनात् काव्यलिङ्गालङ्कारश्च। प्रसादो गुणः। लाटी रीतिः। शिखरिणिच्छन्दः ॥३५॥

श्री रामस्य मुखान्निजां प्रशंसां श्रुत्वा सीतादेवी प्राह—धीरप्पसादा-इति। आर्यपुत्र ! भवतां धीरप्रसादता मयि महान् प्रसादः=प्रेमातिरेकः। इत्यत्र किम् आश्चर्यमस्ति ? भवन्तो यद्वदन्ति तत्राहं किं कथयामि ? प्रेमप्रसाद एवायमित्येव जाने।

टिप्पणी

(१) यह श्लोक भवभूति की अनेक भावों को एक साथ व्यक्त करने की—मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की क्षमता की साक्षी दे रहा है। सीता के स्पर्श से राम की मानसिक दशा का कैसा सुन्दर चित्र खींचा गया है। वे कहते हैं–कि यह निश्चय ही नहीं हो पा रहा है कि यह सुख है या दुःख ? प्रमोद है या निद्रा ? विष का प्रसार भी नहीं है क्योंकि कोई तज्जन्य विकार नहीं है। यह तो विविध भावों का ऐसा सम्मिश्रण है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। (२) मद—"सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगजः।" (साहित्यदर्पण) (३) चैतन्यम् —चेतनताम्। वीरराघव इसका अर्थ करते हैं—"चैतन्यमन्तःकरणावच्छिन्न-चैतन्यम्। जीवचैतन्यमिति यावत्। अद्वैतमतप्रकियसेदमुक्तम्। मदन्तरात्मानमिति फलितोऽर्थः। (४) विसर्प=वि+सृ+√घञ्। (५) यहाँ सन्देहालङ्कार नहीं अपितु वितर्कमात्र ही है, क्योंकि यह 'प्रतिभोत्थित' नहीं है, फिर भी यदि कुछ लोग इसे 'प्रतिभोत्थित' माने तो सन्देह मान सकते हैं। शिखरिणी छन्द। धीरप्पसादा खुमए—इतने दिन बीत जाने पर भी आपका

प्रसाद मुझ पर ज्यों का त्यों है, इससे बढ़कर मुझे और क्या चाहिये ? कहीं-कहीं "धीर प्रसादा यूयमित्यत्रेदानीमाश्चर्यम् ?" पाठ भी मिलता है, उस अर्थ में खींच-तान करनी पड़ती है।

रामः--

म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि,
सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि ।
एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि !
कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि ।।३६।।

सीता—पिअंवद । एहि । संविसह्य । (प्रियंवद ! एहि । संविशावः ।)
(इति शयनाय समन्ततोऽपि निरूपयति ।)

अन्वयः—(हे) सरोरुहाक्षि ! एतानि ते सुवचनानि, म्लानस्य, जीवकुसुमस्य विकासनानि सन्तर्पणानि, सकलेन्द्रियमोहनानि, कर्णामृतानि, मनसः, च रसायनानि (सन्ति) ।।३६।।

हिन्दी—

राम [श्लोक ३६]—कमललोचने ! तुम्हारे मधुर वचन मुरझाए हुए, जीवन-कुसुम को विकसित और तृप्त करने वाले, समस्त इन्द्रियों के मोहकारी कानों के लिये अमृत-तुल्य तथा मन के लिये रसायन के समान (शक्तिप्रद) हैं।

सीता—मधुरभाषिन् ! आइए, विश्राम करें ! (ऐसा कहकर) सोने के लिये चारों ओर देखती है।)

संस्कृत-व्याख्या

पुनरपि देव्याः प्रीतिरसस्निग्धानि वचनानि निशम्य भगवान् रामः प्राह—म्लानस्येति ।

सरोरुहाक्षि ! कमलतुल्यनयने ! प्रिये ! एतानि तव सुरम्यानि वचनानि, म्लानिं गतस्य मम जीव-कुसुमस्य विकसनाय पर्याप्तानि, तृप्तिकराणि, सकलानामिन्द्रियाणां मोहनाय गृहीतव्रतानीव, कर्णयोरमृतप्रदाने समर्थानि, मनसो रसायनानीव च बलप्रदानि सन्ति । ताव वचन-सुधा-माधुरी सर्वात्मना सर्वेन्द्रियाणां मनसश्च प्रमोदावहा विद्यते ।

सीता वचनेषु रसायनारोपात् रूपकालङ्कारः । तल्लक्षणञ्च यथा—
'रूपकं रूपितारोपाद्विषये निरपह्नवे ।" इति ।

सरोरुहाक्षीत्यत्र उपमा च । प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः । वसन्ततिलकाच्छन्दः लक्षणं प्रागुक्तम् ।।३६।।

टिप्पणी

रसायनानि—आप्यते आनीयतेऽनेनेत्ययनम् । रसस्यायनमिति रसायनम् । प्र० बहुवचन । प्रियंवदा—"प्रियवशे वदः खच्" । प्रिय + √वद् + खच् ।

रामः—अयि ! किमन्वेष्टव्यम् ?

आ अविवाहसमयाद् गृहे वने, शैशवे तदनु यौवने पुनः ।
स्वापहेतुरनुपाश्रितोऽन्यया, रामबाहुरुपधानमेष, ते ॥३७॥

सीता—(निद्रां नाटयन्ती) अत्थि एदम् । अज्जउत्त ! अत्थि एदम् । [अस्त्येतत् । आर्यपुत्र ! अस्त्येतत्] (इति स्वपिति ।)

अन्वय:—अविवाहसमयात् शैशवे गृहे, तदनु पुनर्यौवने वने स्वापहेतुः अन्यया, अनुपाश्रितः एष रामबाहुः, ते उपधानम् (अस्ति) ॥३७॥

हिन्दी—

राम—अरे ! क्या ढूंढ़ रही हो ? (क्या तकिया ढूंढती हो ? इसकी आवश्यकता नहीं है । देखती नहीं हो ?—)

[श्लोक ३७ —विवाह के समय से लेकर कुमारावस्था में घर में, तदनन्तर यौवनकाल में, पुनः वन में शयन का प्रधान उपकरण और जिसे कि (आज तक तुम्हारे अतिरिक्त) किसी दूसरी स्त्री को सेवित करने का सौभाग्य नहीं मिला है, यह राम का हाथ तुम्हारे लिये तकिया है ।

सीता—(निद्रा का अभिनय करती हुई) ऐसा ही है आर्यपुत्र ! ऐसा ही है । (सो जाती हैं ।)

संस्कृत-व्याख्या

शयनसुखार्थमुपधानमितस्ततो गवेषयन्तीं सीताम्प्रत्याह श्रीरामः—अविवाहेति ।

अयि ! किमन्विष्यते भवत्या ? अपि सन्देष्टव्य' मिति क्वचित्पाठः । अपीति प्रश्नवाचकः । किंस्वित् किमपि सन्देष्टव्यमस्ति ? ननु उपधानान्तरस्य का आवश्यकता ? अयं रामस्य बाहुस्तवोपधानं भविष्यति । अद्यावधि अन्यया कयापि स्त्रियाऽयं बाहुर्नोपाश्रितः (एकपत्नीव्रतत्वमेतस्मिन् कारणम्) । विवाहसमयमारभ्य गृहे, बाल्ये मम बाहुरेव तवोपधानतां गतः यौवनसमये च वनेऽपि अयमेव तथाभूतः एनमाश्रित्यैव त्वया शयनं विहितम् । अद्यैव पुनः किमिति उपधानान्तरान्वेषणं क्रियते ? इतिभावः ।

अत्र रामस्य बाहौ उपधानस्यारोपात् प्रकृतोपयोगित्वात् च परिणामालङ्कारः । यदि केवलमारोपमात्रं तदा तु रूपकम्, प्रकृतार्थोपयोगे च परिणामः इत्येव तयोर्भेदः । परिणामस्य स्वरूपञ्च —'विषयात्मतयारोप्ये, प्रकृतार्थोपयोगिनि ।
परिणामो भवेत्तुल्याऽतुल्याधिकरणो द्विधा ।" इति

प्रसादो माधुर्यं वा गुणः । वैदर्भी रीतिः । रथोद्धताछन्दः । तल्लक्षणञ्च—
"रान्नराविह रथोद्धता लगौ ।" इति ॥३७॥

टिप्पणी

"अनुपाश्रितोऽन्यया" राम के इस कथन से उनके एकपत्नीव्रत की सूचना मिलती है। समयात्—'आङ्' के योग में पञ्चमी। उपधानम्—उपधीयते शिरः अत्र इति उपधानम् "उपधानं तूपवर्हम्" इत्यमरः।

रामः—कथं प्रियवचनैव मे वक्षसि प्रसुप्ता ? (निर्वर्ण्य। सस्नेहम्)

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिनयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः,
किमस्या न प्रेयो ? यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥३८॥

अन्वयः—इयं गेहे लक्ष्मीः, इयं नयनयो अमृतवर्तिः असौ, अस्याः स्पर्शः, वपुषि, बहुलः, चन्दनरसः, अयं, बाहुः, कण्ठे, शिशिरमसृणः, मौक्तिकसरः, अस्याः किं न प्रेयः ? तु, विरहः, यदि, (भवेत् तदा सः) परम्, असह्य, (स्यात्) ॥३८।

(प्रविश्य।)

प्रतीहारी—देवि ! उवट्ठिहो। [देव उपस्थितः।]

रामः—अयि, कः ?

प्रतीहारी—आसण्णपरिआरओ देवस्य दुम्मुहो । [आसन्नपरिचारको देवस्य दुर्मुखः !]

राम.—(स्वगतम्।) शुद्धान्तचारी दुर्मुखः, स मया पौरजानपदेष्वपसर्पः प्रहितः। (प्रकाशम्।) आगच्छतु।

(प्रतीहारी निष्क्रान्ता।)

हिन्दी—

राम—क्या प्रियभाषिणी मेरे वक्षस्थल पर ही सो गई ? (अथवा क्या प्रिय वचन कहती-कहती ही सो गई ? (देखकर स्नेह पूर्वक)—

[श्लोक ३८]—यह (सीता) मेरे घर में लक्ष्मी है, आँखों के लिये अमृत की सलाई है, इसका यह स्पर्श शरीर में गाढ़े-गाढ़े चन्दन-रस का लेप है और (इसकी यह भुजलता कण्ठ में शीतल लौर स्निग्ध मोतियों के हार के समान है। (अधिक क्या ?) इसकी कौन-सी वस्तु प्रिय नहीं है ? (अपितु सभी कुछ प्रिय है।) परन्तु इसका विरह सर्वथा असह्य है।

(प्रवेश कर)

प्रतीहारी—देव ! उपस्थित हो गया।

राम—अरी ! कौन ?

प्रतीहारी—महाराज का निकटवर्ती "सेवक"।

राम—(स्वयं ही) अन्तःपुरचारी 'दुर्मुख' है ? उसे मैंने गुप्तचर-वेश में नागरिकों एवं देशवासियों में (उनकी मनोवृत्ति जानने के लिये) भेजा था। (प्रकाश में) आने दो।

[प्रतीहारी चली जाती है।]

संस्कृत-व्याख्या

अत्र प्रियवचना मम वक्षस्येव प्रसुप्तेति व्युत्क्रमेणान्वयः कार्यः। सीता निर्वर्ण्य =दृष्ट्वा सस्नेहमाह-इयमिति।

इयं सीता मम गृहे लक्ष्मीः। नयनयोश्चेयं ममामृतवर्ती =अमृत-शलाकेव शान्तिप्रदास्ति। असौ स्पर्शश्चास्या मम शरीरे सघनश्चन्दनरस एव। यादृश आनन्दश्चन्दन-रसलेपेनायाति, तादृश एवास्याः स्पर्शेण। अयं मम कण्ठे निहित-श्चास्या बाहुः शिशिरो, मसृणः, मौक्तिकसरः =मुक्ताहार इवास्ते। किं बहुना ? अस्याः सर्वोऽपि पदार्थः प्रिय एव परमस्या विरहो यदि नोपस्थितो भवति। विरहस्तु प्रियो नास्याः।

अत्र-एकस्याः सीताया अनेकधा समुल्लेखाद् उल्लेखाऽलङ्कार। अतिशयोक्तिः। उल्लेखस्य लक्षणञ्च—

"क्वचिद्भेदाद् ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो, यः स उल्लेख इष्यते ॥" इति।

रूपकालङ्कारश्च। शिखरिणी च्छन्दः ॥३८॥

अन्तःपुरस्य द्वाररक्षिका प्रविश्य कथयति-देव ! इति महाराज ! उपस्थितः। दुर्मुखस्योपस्थितेः सूचनाऽनया दत्ता। परं पदानां योजनया—उक्तश्लोके "विरहः" इतिपदोक्तावेव—"उपस्थितः" इत्यस्य योजनेन "विरह उपस्थितः" सन्निकृष्टोऽयमर्थः। अत एवात्र तृतीयं पताकास्थानकं भवति। तथा चोक्तं साहित्यदर्पणे—

"अर्थोपक्षेपकं यत्तु, लीनं सविनयं भवेत्।
श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं, तृतीयमिदमुच्यते ॥ इति ॥

[एवंविधा पाठाः प्रायेण संस्कृत नाटकेषु समुपलभ्यन्ते। यथा च—वेणीसंहारे दुर्योधनः कथयति भानुमतीं स्वपत्नीम्प्रति—"पर्याप्तमेव करभोरु ! ममोरुयुग्मम् ॥" इति। 'उरुयुग्ममिति' यावदेवोच्यते, तावदेव कञ्चुकी प्रविश्य कथितवान्—'देव ! 'भग्नम्' एवञ्च-उरुयुग्मं भीमेन भग्नमिति सम्बन्धः समुपस्थितः समजनि। एवमेव मुद्राराक्षसेऽपि चाणक्यः—'अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येत ! एतदनन्तरमेव सिद्धार्थकः कथयति-'अज्ज। गहीदो' इति। राक्षसो गृहीत इत्यर्थः सम्पन्नः काममपि चमत्कृतिमुद्भावयति। एवमेवान्यत्रापि बोद्धव्यम्।]

"आसानपरिचारको दुर्मुखः समुपस्थितः" इति प्रतिहार्या वचनं निशम्य स्वगतमाह भगवान् रामः—शुद्धान्तेति। शुद्धान्ते =अन्तःपुरे चरितुं शीलं यस्य सः, परिशुद्धा अन्तःपुरे गन्तुं शक्नुवन्ति सेविकाः, न पुनः यः कोपि। स मया पुरे भवाः पौराः, जनपदे =देशे भवाः जानपदाः ("तत्र भवः" इतिशास्त्रेणाण्प्रत्ययः।) तेषु

अपसर्पः=गुप्तचरः प्रहितः=प्रेषितः। नगरे देशे वा मदीयां स्तुतिं वा निन्दां वा कीदृशीं कुर्वन्ति लोकाः इति गुप्तरूपेण ज्ञातुं चरः प्रेषितः, इति सारः।

टिप्पणी

(१) 'इयं गेहे' इस श्लोक में सभी विशेषण सीताजी के प्रति राम के परम अनुराग को व्यञ्जित करते हैं। सीताजी की प्रत्येक वस्तु उन्हें प्रिय है यदि कोई वस्तु अप्रिय है तो वह उनका विरह है। (२) श्लोक के अन्त में प्रतीहारी तुरन्त 'उपस्थितः' कहकर 'विरह की समीपता द्योतित करती है। यह—पताका स्थानक है। धनिक के मत में इसे 'गण्ड' कहेंगे। दोनों के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

"यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानक तु तत्॥" (सा० दर्पण)

× × ×

"गण्डः प्रस्तुतसम्बन्धि, भिन्नार्थं सहसोदितम्॥" (दशरूपक)

(३) अपसर्पः—अप्+सृप्+घञ्।

(४) उल्लेख, अतिशयोक्ति, रूपक। 'शिखरिणी छन्द।'

(प्रविश्य)

दुर्मुखः—(स्वगतम्) हा कह दाणिं देवोमन्तरेण ईसिस अचिन्तणिज्ज जणाववादं देव्वस्स कहइस्सं? अहवा णिओओ क्खु मह मन्दभअहेअस्स एसो। [हा कथमिदानीं देवीमन्तरेणेदृशमचिन्तनीय जनापवादं देवस्य कथयिष्यामि? अथवा नियोगः खलु मम मन्दभागधेयस्यैष।]

सीता—(उत्स्वप्नायते।) अज्जउत्त! कहिंसि? [आर्यपुत्र! कुत्रासि?]

रामः—सेयमेव रणरणकदायिनी चित्रदर्शनाद्विरहभावना देव्याः स्वप्नोद्योगं करोति। (सस्नेहमङ्गमस्याः परामृशन्)

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र, जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्पतिणते यत्प्रेमसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राथ्यंते॥३६॥

अन्वयः—यत्, सुख दुःखयो, अद्वैतं, सर्वासु, अवस्थासु, अनुगतं, यत्र, हृदयस्य विश्रामः, यस्मिन् रसः, जरसा, अहार्यः, यत्, कालेन, आवरणात्ययात्, परिणते, प्रेमसारे, स्थितं, तस्य सुमानुषस्य तत् एकं भद्रं कथमपि हि प्राथ्यंते॥३६॥

हिन्दी—

[प्रवेश कर]

दुर्मुख—(स्वयं ही) हा! अब मैं कैसे देवी सीता के इस असम्भावनीय जनापवाद को महाराज से निवेदन करूँगा? अथवा, मुझ मन्दभाग्य का यह कर्त्तव्य ही है।

सीता—(स्वप्न देखती हुई बड़बड़ाती हैं) आर्यपुत्र ! (आप) कहाँ हैं ?

राम— यह वही चित्र-दर्शन से घबराहट कराने वाली विरह-भावना, देवी को स्वप्न में भी बड़बड़ा रही है। चित्रदर्शन कालीन विरह-विचारों के कारण ही यह अब भी वैसी ही बातें कर रही हैं।) (स्नेहपूर्वक सीता के अङ्गों को छूते हुए—)

[श्लोक ३९]—(सच्चा प्रेम) सुख-दुःख और सम्पूर्ण दशाओं (सम्पत्ति-विपत्ति) में एक-सा रहता है। हृदय जिसमें अपूर्व विश्राम प्राप्त करता है; वृद्धावस्था में भी जिसमें अनुराग की कमी नहीं होती; और जो समय बीत जाने पर (अथवा—विवाह से लेकर मरण-पर्यन्त) संकोच-विकोच आदि आवरणों के हट जाने से प्रगाढ़ एवं उत्कृष्ट प्रेम में स्थित रहता है—ऐसे कल्याणकारी दाम्पत्य-स्नेह की प्राप्ति सौभाग्य से ही किसी-किसी को होती है।

संस्कृत-व्याख्या

दुर्मुखः प्रविश्य स्वगतमाह—हा, इति। हा ? देवीं सीतामन्तरेण = तस्याः सम्बन्धे, ("अन्तराऽन्तरेण युक्ते" इति द्वितीया विभक्तिः) ईदृशमचिन्तनीयं लोकानामपवादं = निन्दां महाराजस्य कथं निवेदयिष्यामि ? सर्वथा निन्दनीयोऽकथनीयश्चायं संवादः। परं मम मन्दभाग्यस्येदृशो नियोगो येन सर्वमपि मयाऽवश्यं वक्तव्यमेव, उचितं वा स्यादनुचितं वेति विचारयितुं ममावसरो नास्ति, इत्यर्थः। मन्दभाग्यस्य = मन्दं भाग्यं यस्य तस्य। अत्र "दा भाग-रूप-नामभ्यो धेयः" इति स्वार्थे धेय'-प्रत्ययः।

स्वप्ने 'हा आर्यपुत्र ! कुत्रासि ?' इति कथयन्तीं सीतां निरीक्ष्य श्रीरामः प्राह—सेयमेवेति। चित्रदर्शनेन रणरणकदायिनी = उत्कण्ठातिशयवर्धिका विरह-वासना देव्याः स्वप्नस्योद्योगं करोति। प्राग् दृष्टं वस्तु स्वप्ने आयातीति विरह-वार्ता-प्रसंगोऽधुनाऽपि सीतायाः स्वप्नमुपस्थापयतीति भावः।

सस्नेहं सीताया अङ्गं परामृशन् = स्पर्शं कुर्वन् प्राह श्रीरामः—अद्वैतमिति।

विशेषः—अस्मिन् श्लोके कविना दम्पत्योः सार्वदिकं, एकरसं, अविच्छिन्नं, लज्जासंकोचादि-विकार-वर्जितं, सुखदुःखयोः समानं, अवस्थान्तरेऽपि अपरिवर्तनीयं हृदयस्य वास्तविक-विश्राम-पदं प्रेम-रूपं मङ्गलमेवाभिलषणीयम् भवतीति प्रतिपादितम्। यैवंविधा येषां प्रीतिर्भवति तेषामेव जीवनं जीवनम्।

ततश्चेयं सीताऽपि यथार्थरूपेण मम हृदयस्य परमशान्तिप्रदायिनी, विलक्षणानन्दानुभावयित्री, तथापि-आवयोः प्रेम-वियोग-दावानले दग्धमिव किंचिद् विचित्रमिव सञ्जातम्।

अत्र "सुमानुषस्य" इति पदं विशेषरूपेण ध्येयम्। "सुमानुषन्तु दाम्पत्यम्" इत्यभियुक्तोक्त्या दाम्पत्यरूपोऽर्थः।

अथवा—सु-मानुषस्य योग्यपुरुषस्येति अर्थो गृह्यते।

"भद्रं" इत्यस्य मङ्गलं = परमकल्याणमित्यर्थो भवति। 'श्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभमि" इत्यमरः।

यत्र दाम्पत्यं सुख-दुःखयोः अद्वैतम् = द्वैतरहितम्। अभिन्नमित्यर्थः। द्वाभ्यां भेदाभ्याम् इतम् = प्राप्तम्, द्वीतम् = द्वीतमेव द्वैतम् (स्वार्थेऽण्प्रत्ययः) अविद्यमानं द्वैतं यस्मिन् तदद्वैतम्। एकस्य सुखेऽपरोऽपि सुखी, एकस्य दुःखेऽन्योऽपि दुःखी इत्येकाकारतोभयोर्भवेदिति भावः। सर्वासु-अवस्थासु = सम्पत्सु-विपत्सु च, अनुगतम् = सहचरितम् यत्र = यस्मिन् दाम्पत्ये हृदयस्य विश्रान्तिः स्यात्। विविध सुखदुःखात्मकैः संसार-सम्बन्धैर्दुःखितं हृदयं यत्र विश्रामं लभते, इत्यर्थः गोपनीयापि हृदयस्थितिः विश्रान्ति प्राप्नुयादिति भावः। अत्र "विश्रामः" इत्यपाणिनीयः पाठः। "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्य ऽनाचमेः" इत्युपधावृद्धिनिषेधात् इति केचित्। श्रम एव श्रामः—"प्रज्ञादिभ्यश्चेति" सूत्रेण 'अण्' प्रत्यये सिध्यतीत्यपि केषाञ्चिन्मतम्। यस्मिन् रसः अनुरागः, जरसा—वृद्धावस्थया, अपि, अहार्यः = परिहरणीयो न भवेत्। वास्तविकी प्रीति स्थविरभावेऽपि न नश्यति। यद् दाम्पत्यम्-आवरणस्य लज्जादेः = शोकदुःखादेर्वा, कालेन = समयेन, अत्ययात् = विनाशात्, अथवा—वरणम् = विवाहः, अत्ययः = मृत्युश्चेतिवरणात्ययं, आवरणात्ययात = विवाहदिनादारभ्य मरणदिनं यावत् परिणते = परिपक्वे, प्रेमसारे = उत्तमे प्रेम्णि, स्थितम् = अवस्थितम्। तस्यैवंविधस्य सुमानुषस्य दाम्पत्यस्य, तत् = प्रसिद्धम् एकं = मुख्यम्, भद्रं = कल्याणम् कथमपि, सर्वात्मना, प्रार्थ्यते = अर्थ्यते। क्वचिद् "प्राप्यते" इति पाठः।

"अत्र सीतायाः" इत्यनुक्त्वा "समानुषस्य" इति कथनादप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः। हेतुत्वेन पूर्ववाक्यत्रयाणामुपादानेन काव्यलिङ्गञ्चेति तयोः सांकर्यम्। अप्रस्तुतप्रशंसा-लक्षणं यथा—क्वचिद्विशेषः सामान्यात्, सामान्यं वा विशेषतः।

कार्यान्निमित्तं कार्यञ्च, हेतोरथ समात् समम्।
अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद्, गम्यते पञ्चधा ततः।
अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात् ....।" इति ।।

शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः। तल्लक्षणं यथा—

"सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।" इति ।।

[एतस्यार्थो विभिन्नरूपेण स्वीकृताः। तत्र टीकान्तरे विशेषेणार्थिभिरवलोकनीयम्। निकृष्टोऽर्थस्तूक्त एवात्रेति दिक्] ।।३९।।

टिप्पणी

(१) भवभूति पवित्र प्रेम के उपासक हैं। उनका प्रेम वासना के स्तर से बहुत ऊँचा उठा हुआ है। वे सार्वदिक, एकरस, अविच्छिन्न दाम्पत्य प्रेम में विश्वास रखते हैं। प्रेम का इतना उच्च आदर्श बहुत कम देखने को मिलेगा। प्रो० काले इस श्लोक के विषय में लिखते हैं—

"What a grand ideal of conjugal love, the poet gives us here? Rama's words are not an effusion of youthful passion untried or inexperienced, but passion tempered down by experience and long association. It is impossible to describe a husband's love and

regard for his wife more effectively or naturally than the poet has done here."

(२) इस श्लोक के रचना-विन्यास के सम्बन्ध में विद्वानों में कुछ मतभेद है। मुख्य आपत्ति 'अद्वैत' तथा 'भद्रं तस्य सुमानुषस्य' की संगति के सम्बन्ध में है। परन्तु सीधा प्रकार यह है कि 'सुमानुषस्य' का अर्थ 'सुमानुषन्तु दाम्पत्यं' के अनुसार 'दाम्पत्य प्रेम' किया जाय और इस प्रकार वाक्य-विन्यास किया जाय—'सुमानुषस्य = दाम्पत्यस्य, तत् = प्रसिद्धम्, एकम् = मुख्यम्, भद्र = कल्याणं, कथमपि सर्वात्मना, प्राथ्र्यते = अर्थ्यते ॥"

पण्डित घनश्याम ने 'सुमानुषस्य' का अर्थ 'सौजन्यस्य' किया है। 'सुमानुषस्य' का अर्थ सु + मानुषस्य' = योग्य पुरुषस्य' भी किया जा सकता है।

यही व्याख्या का सरल प्रकार है। परीक्षार्थियों की सुविधा की दृष्टि से अन्य व्याख्या-प्रकार नहीं दिखाये गये हैं।

(३) अद्वैतम्—द्वाभ्याम् भेदाभ्याम् इदम्—प्राप्त द्वीतम्, द्वीतमेव द्वैतम् (अण्) अविद्यमानं द्वैतं यस्मिन् तदद्वैतम् समानम्। सच्चा प्रेम सुख-दुःख में समान रहता है। वह सभी अवस्थाओं में समान रहता है। "अद्वैतं" को "भद्रं" के साथ भी रखा जा सकता है—"सुमानुषस्य एकं भद्रम् अद्वैतं कथमपि प्राप्यते।

विश्रामो हृदयस्य हृदय को उसमें शान्ति मिलती है।

अहार्यो रसः—समय के प्रभाव से उनका रस क्षीण नहीं होता।

आवरणात्ययात्···स्थितम्—के दो अर्थ हैं—(१) जो प्रेम समय बीतने पर लज्जा आदि के हट जाने से परिपक्वावस्था को प्राप्त होता है "यत् दाम्पत्यम् आवरणस्य लज्जादेः, कालेन, अत्ययात् = विनाशात् प्रेमसारे स्थितम्। (२) जो विवाह से मृत्युपर्यन्त परिपक्वावस्था में रहता है। 'वरणं = विवाहः, अत्ययः = मृत्युश्चेति वरणात्ययं, आवरणात्ययात् = विवाहदिनादारभ्य मरणं यावत् परिणते प्रेमसारे स्थितम्। (४) श्री जीवानन्द विद्यासागर ने 'भद्रं प्रेम' पाठ स्वीकार किया है। यह पाठ सरल होने पर भी हस्तलिखित प्रतियों से पुष्ट न होने के कारण मान्य नहीं है। (५) 'प्राथ्र्यते' के स्थान पर 'प्राप्यते' पाठ भी मिलता है। (६) 'विश्रामः' = इसे अपाणिनीय प्रयोग माना जाता है परन्तु कुछ विद्वानों ने इसका समाधान इस प्रकार किया है—"श्रम एवं श्रामः 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इत्यण्" (७) "प्रेमसारे"—में वीरराघव ने यह ध्वनि निकाली है—"प्रेमसारे स्थितमित्यनेन मधुकटाहनिक्षिप्तर—सालफलसादृश्यं कथ्यते। (८) इस श्लोक में भवभूति ने अपने नाटक की ओर भी संकेत किया है—

"उत्तररामचरित"–सदृश मङ्गलकारी नाटक कठिनता से ही (देखने को या पढ़ने को) मिलता है। यह नाटक सभी अवस्थाओं में (कार्यवस्थाओं में) सुख-दुःख का अनुपम अद्वैत है, इसमें सर्वत्र आनन्द और करुणा की स्रोतस्विनी प्रवाहित होती

रहती है, इस नाटक को देखने अथवा सुनने अथवा पढ़ने से हृदय अपार विश्राम का लाभ करता है; कहीं भी रस की धारा विच्छिन्न नहीं होती; हृदय में सत्वोद्रेक होने से तम का आवरण नष्ट हो जाने के कारण यह प्रेमतत्त्वमय प्रतीत होता।"

दुर्मुखः—(उपसृत्य।) जेदु देव्वो। [जयतु देवः।]

रामः—ब्रूहि यदुपलब्धम्।

दुर्मुखः—उवट्टुवन्ति देवं पौरजाणपदा, जहा विसुमरिदा अह्मे महाराअदसरहस्स रामदेव्वेणेत्ति। [उपस्तुवन्ति देवं पौरजानपदाः, यथा विस्मारिता वयं महाराजदशरथस्य रामदेवेनेति।]

रामः—अर्थवाद एवैषः। दोषं तु मे कथंचित्कथय, येन प्रतिविधीयते।

दुर्मुखः—(सास्रम्)। सुणादु महाराओ। (कर्णे। एव्वं विअ। इति। [श्रृणोतु महाराजः। एवमिव।]

रामः—अहह, अतितीव्रोऽयं वाग्वज्रः। (इति मूर्च्छति।)

दुर्मुखः—आस्ससदु देव्वो। [आश्वसितु देवः।]

रामः—(आश्वस्य।)

हा हा धिक्! परगृहवासदूषणं यद्,
वैदेह्याः प्रशमितमद्भुतैरुपायैः।
एतत्तत्पुनरपि दैवदुर्विपाका-
दालार्कं विषमिव सर्वतः प्रसक्तम्॥४०॥

तत्किमद्य मन्दभाग्यः करोमि?

अन्वयः—हा, हा, धिक्! वैदेह्याः, यत् परगृहवासदूषणम्, अद्भूतैः, उपायैः, प्रशमितम् दैवदुर्विपाकात्, तत्, एतत्, पुनरपि, आलर्कं, विषमिव, सर्वतः प्रसक्तम्॥४०॥

हिन्दी—

दुर्मुख—(पास जाकर) महाराज की जय हो!

राम—जो (समाचार) मिला हो बताओ।

दुर्मुख—नागरिक एवं देशवासी जन सब आपकी प्रशंसा करते हैं कि "श्रीरामचन्द्र जी ने महाराज दशरथ को (अपने सद्गुणों के कारण) हमारे मन से भुला दिया है। (उनके सदाचरण से हमको अब 'दशरथ जी' याद नहीं आते।)

राम—यह तो प्रशंसा ही है। मेरा कोई दोष हो तो कहो, जिससे कि उसका प्रतिविधान किया जा सके।

दुर्मुख—(आँखों में आँसू भर कर) महाराज! सुनिये! (कान में ऐसा ऐसा...)।

राम—ओह ! यह वचन वज्र सम अत्यन्त असह्य है !

[मूर्छित हो जाते हैं ।]

दुर्मुख—महाराज ! धैर्य रखिये ।

राम—(प्रकृतिस्थ होकर)—

[श्लोक ४०]—"हा ! हा ! धिक्कार है ! सीता के दूसरे (रावण) के घर में निवास करने का जो दोष (अग्नि-शुद्धि जैसे) बड़े आश्चर्यजनक उपायों द्वारा दूर किया गया था, आज दुर्भाग्यवश वही (दोष) पागल कुत्ते के काटे हुए विष की भाँति चारों ओर फैल गया है ?

तो मैं मन्दभाग्य अब क्या करूँ ?

संस्कृत-व्याख्या

'महाराजस्य स्तुतिं कुर्वन्ति जनाः । कथयन्ति च यत्—महाराजदशरथस्यापि राज्ये एवंविधं प्रजानां सुखं नासीत्" इत्याशयं दुर्मुखस्य वाक्यमुपश्रुत्य भगवान् रामः प्राह—अर्थवाद-इति । स्तुतिस्तु ममार्थवादरूपैवास्ति । केवलं प्रशंसात्मकं तद् वाक्यम् । स्तुतिनिन्दापरकं वाक्यं 'अर्थवादः' इति कथ्यते । दोषन्तु मम मनागपि लोकोक्तं वद, येन तस्य समाधानं कृत्वा प्रजा-सहानुभूतिं प्राप्नुयाम् । 'राज'-शब्दार्थस्तु प्रजाहितैरेव यथार्थो भवति । प्रजाजनाः स्तुतिन्तु कुर्वन्त्येव राज्ञाम् । दोषप्रतिविधानेना-त्मसन्तोषो भविष्यति, इति भावः । दुर्मुख-वचनान्मूर्च्छितः, पुनः कथमपि समाश्वस्य भगवान् रामः कथयति—हा हा-इति ।

परमखेदस्यायं विषयः समुपस्थितः । यतः सीतायाः परगृहवासरूपं दूषणं, अद्भुतैः—अग्निशुद्धिरूपैः, विचित्रैरुपायैः दूरीकृतम्, तथापि—अस्माकं विधि वैपरीत्यात् आलर्कं विषमिव=कुक्कुर-दंशविषमिव, पुनरपि सर्वतः प्रसृतम् । यथा विक्षिप्त-कुक्कुरस्य दंशदानात् विषस्य चिकित्सायामपि, पुनस्तद्विषं शरीरे प्रसरति, तथैवायं परगृहवास-रूपो दोषः प्रशमितोऽपि पुनः प्रसृतः, इत्यहो ! भाग्य-वैपरीत्यमिदमस्माकमिति भावः । अलर्कः=उन्मत्तश्वा । तथा चामरः—"शुनको भषकः श्वा स्यादलर्कस्तु सुरोगितः" इति । तस्येदमालर्कम् ।

अत्र उपमा अलंकारः । प्रहर्षिणी छन्दः ।।४०।।

टिप्पणी

(१) अर्थवादः—प्रशंसा । "अर्थवादः प्रशंसा च स्तोत्रमीडा स्तुतिर्नुतिः" (हलायुध) । वैसे यह मीमांसा का पारिभाषिक शब्द है । "प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः" (अर्थसंग्रह) । (अर्थवाद के तीन भेद होते हैं)—

"गुणवादो विरोधे स्यादनुवादोऽवधारिते ।
भूतार्थवादस्तद्धानावर्थवादस्त्रिधा मतः ।।"

भगवान् राम अपनी प्रशंसा नहीं, यथार्थ आलोचना सुनना चाहते हैं । यह उनके चरित्र की अनुपम उदारता है ।

(२) एशमिव—रामायण में लोकापवाद का इन श्लोकों में वर्णन किया गया है—

"कीदृशं हृदये तस्य, सीतासम्भोगजं सुखम् ।
अङ्कमारोप्य तु पुरा, रावणेन बलाद् हृतम् ॥
लङ्कामपि पुरीं नीतामशोकवनिकां गताम् ।
रक्षसां वशमापन्नां, कथं रामो न कुत्सति ?
अस्माकमपि दारेषु, सहनीयं भविष्यति ।
यथा हि कुरुते राजा, प्रजा तमनुवर्तते ।'
एवं बहुविधा वाचो, वदन्ति पुरवासिनः ।
नगरेषु च सर्वेषु, राजन् ! जनपदेषु च ॥"

(३) अलर्कम्—अलर्कस्येदम् आलर्कम् । अलर्क + अण् । आलर्कं विषमिव — पागल कुत्ते के काटने से फैले हुए विष के समान ।

"शुनको भषकः श्वा स्यादलर्कस्तु स रोगितः ।" (अमर०)

(४) 'वाग्वज्र' से आहत राम की दशा का अत्यन्त मार्मिक वर्णन किया गया है । राम की इस व्यथा का वर्णन कविकुलगुरु कालिदास ने भी इन शब्दों में किया है:—

"कलत्रनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्तिविपर्ययेण ।
अयोघनेनायमिवाभितप्तं वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे ।" (रघुवंश, १४/३३)

(५) उपमा अलङ्कार । प्रहर्षिणी छन्द ।

[विमृश्य सकरुणम् ।] अथवा किमेतत् ?
सतां केनापि कार्येण, लोकस्याराधनं व्रतम् ।
तत्प्रतीतं हि तातेन, मां च प्राणांश्च मुञ्चता ॥४१॥
संप्रत्येव च भगवता वसिष्ठेन संदिष्टम् ।

अन्वयः—केनापि, कार्येण, लोकस्य, आराधनं, सतां, परम् (व्रतम्) । मां, च, प्राणांश्च, मुञ्चता, तातेन, तत्, प्रतीतम् ।४१॥

हिन्दी—

(सोचकर करुणापूर्वक) अथवा, इस सोच-विचार से क्या लाभ ?

[श्लोक ४१]—किसी भी प्रकार से लोकाराधन करना श्रेष्ठ व्यक्तियों का कर्तव्य है । पिताजी ने मुझे और प्राणों का छोड़ते हुए इसी बात को सिद्ध किया है । (वन जाने की आज्ञा देने में पूज्य पिताजी को अपने प्राण त्यागने पड़े । मैं भी प्राणार्पण से उनके समान ही प्रजा का अनुरञ्जन करूँगा ।

(और) अभी-अभी भगवान् वसिष्ठ ने भी सन्देश दिया है ("युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्याः" इत्यादि) ।

संस्कृत-व्याख्या

किंकर्तव्यविमूढो रामः सन्तापमनुभवन् स्मृत्वा कर्तव्यनिर्धारणं करोति—सतामिति ।

सज्जनानां कृते लोकस्याराधनमेव सर्वदा कार्यमित्येव महाजनोचितः पन्थाः । एतच्च मम पितृचरणैरपि सुव्यक्तीकृतमेव । लोकाराधनाय ("लोकस्तु भुवने जने" इति कोष-प्रमाण्यादेकोऽपि जनः "लोकः" इत्युच्यते) लोकाराधनार्थमेवाहमपि तैः परित्यक्तः, प्राणाश्चापि स्वकीयाः परित्यक्ताः । ततश्च ममापीदमेव कर्तव्यं लोकाराधनात्मकमिति भावः ।

अत्रार्थान्तरन्यासः अप्रस्तुतप्रशंसा, तुल्ययोगिता, चेत्यमी अलङ्काराः संकीर्णाः । अर्थान्तरन्यासश्च—

"सामान्यं वा विशेषेण, विशेषस्तेन वा यदि ।
कार्यञ्च कारणेनेदं, कार्येण च समर्थ्यते ।।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ।। इति ।।४१।।

टिप्पणी

कुछ पुस्तकों में 'परम्' के स्थान पर 'व्रतं' तथा 'प्रतीतं' के स्थान पर 'पूरितं' पाठ मिलता है ।

अपि च—

यत्सावित्रैर्दीपितं भूमिपालै-
र्लोकश्रेष्ठैः साधु चित्रं चरित्रम् ।
मत्संबन्धात्कश्मला किंवदन्ती,
स्याच्चेदस्मिन्हन्त ! धिङ्मामधन्यम् ।।४२।।

अन्वयः—लोकश्रेष्ठैः, सावित्रैः, भूमिपालैः, यत्, चित्रं, चरित्रम्, साधु, दीपितम्, अस्मिन्, मत्सम्बन्धात्, कश्मला, किंवदन्ती स्यात्, चेत् हन्त ! अधन्यं, मां, धिक् ।।४२।।

हिन्दी—

और भी—

[श्लोक ४२]—जगत्प्रसिद्ध सूर्यवंशी राजाओं ने जिस चरित्र को भाँति-भाँति उज्ज्वल किया है, यदि उसमें मेरे कारण निन्दनीय लोकापवाद लग जाय तो मुझे भाग्यहीन को धिक्कार है ।

संस्कृत-व्याख्या

विचारान्तरं प्रस्तौति—यत्सावित्रैरिति ।

सवितुः=सूर्याज्जायमानैर्नृपतिभिः लोकश्रेष्ठैः यद् साधु चरित्रमद्यावधि लोके

विस्तृतम्, मम कारणात् अस्मिन् कश्मला=निन्दिता किंवदन्ती=जनश्रुतिः, यदि स्यात्, तर्हि मामधन्यं धिगस्तु। पूर्वार्जितमपि यशो विनाशयतो ममेदं जीवनमेवानुचितमिति भावः।

पवित्र-सूर्यवंशे उत्तमानुत्तमचरित्रयोर्वर्णनेन विषमालङ्कारः। तल्लक्षणञ्च यथा— "गुणौ क्रिये वा चेत् स्यातां, विरुद्धे हेतुकार्ययोः।
यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः॥
विरूपयोः संघटना, या च तद्विषमं मतम्" ।इति।

शालिनीच्छन्दः। तल्लक्षणं यथा—
"शालिन्युक्ताम्तौम्तौ म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः" ॥४२॥

टिप्पणी

(१) सावित्रैः=सवितृ+अण्। सवितुरपत्यानि पुमांसः सावित्रास्तैः। सूर्यवंशियों के द्वारा। (२) लोकश्रेष्ठैः=लोकेषु अतिशयेन प्रशस्याः। प्रशस्य+इष्ठन् 'प्रशस्य' को "प्रशस्यस्य श्रः" इससे 'श्र' आदेश होकर 'श्रेष्ठ' बनता है।

(३) भगवान् राम को अपने वंश की कीर्ति का ही ध्यान है। रामायण में इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उनका यह कथन स्मरणीय है—

"अकीर्तियस्य जायेत लोके भूतस्य कस्यचित्।
पतत्येवाधमान् लोकान्, यावच्छब्दः प्रकीर्त्यते॥
अकीर्तिर्निन्द्यते देवैः, कीर्तिर्लोकेषु पूज्यते।
कीर्त्यर्थं तु समारम्भः, सर्वेषां सुमहात्मनाम्॥
अप्यहं जीवितं जह्यां, युष्मान्वा पुरुषर्षभाः।
अपवादभयाद्भीतः, किं पुनर्जनकात्मजाम्॥" (रामायण, उत्तरकाण्ड)

(४) यहाँ यह ध्यातव्य है कि राम मिथ्यापवाद फैलाने के सम्बन्ध में प्रजा को दोषी सिद्ध नहीं कर रहे हैं, अपितु अपने कर्त्तव्य का ही ध्यान कर रहे हैं।

(५) विषमालङ्कार। शालिनी छन्द।

हा देवि देवयजनसंभवे! हा स्वजन्मानुग्रहपवित्रितसुवन्धरे! हा मुनिजनकनन्दिनि! हा पावकवसिष्ठारुन्धतीप्रशस्तशीलशालिनि! हा राममयजीविते! हा महारण्यवासप्रियसखि! हा तातप्रिये! हा स्तोकवादिनि! कथमेवंविधायास्तवायमीदृशः परिणामः?

त्वया जगन्ति पुण्यानि त्वय्यपुण्या जनोक्तयः।
नाथवन्तस्त्वया लोकास्त्वमनाथा विपत्स्यसे॥४३॥

अन्वयः—त्वया, जगन्ति पुण्यानि, (सन्ति) त्वयि अपुण्याः, जनोक्तयः सन्ति त्वया लोकाः नाथवन्तः (सन्ति परन्तु) त्वम्, अनाथा, विपत्स्यसे॥४३॥

हिन्दी—

हा, देवि, पृथ्वीपुत्रि ! हा, अपने जन्म के अनुग्रह से जगत् को पवित्र करने वाली ! हा, विदेहानन्दकारिणि ! हा, अग्नि, वसिष्ठ और अरुन्धती के द्वारा प्रशंसनीय चरित्र वाली ! हा, राममयजीवने ! हा, भयङ्कर वनवास की सहचारिणि ! हा,-पिताजी की लाड़ली ! हा, स्वल्पभाषणशीले ! ऐसी होने पर भी (इन गुणों से युक्त होने पर भी) तुम्हारा ऐसा परिणाम ?

[श्लोक ४३]—तुमसे संसार पवित्र है, परन्तु तुम्हारे विषय में लोगों के (ऐसे) दूषित विचार (शब्दार्थ—कथन) हैं। तुमसे लोक सनाथ हैं, परन्तु तुम अनाथ की भाँति मर रही हो।

संस्कृत-व्याख्या

पुनः सीतां सम्बोध्य रामः स्वहृदयगतं भावमाह—हा देवि !—इति। देवयजनसम्भवे ! = पृथिव्याः पुत्रि ! (एतेन स्वतः पवित्रता सूचिता)। हा ! जन्मना पवित्रिता वसुन्धरा—पृथ्वी यया सा, तत्सम्बुद्धौ तथा। (एतेन तव जन्म वसुन्धरायाः समुद्धारायैवातीति भावः सूचितः।) मुनिजनकनन्दिनि ! (एतेन राजर्षेः परमपावनचरित्रस्यानन्दकारिण्याः पावनत्वं सूच्यते।) हा पावक……(इत्यादिना च उत्तमचरित्रत्वं सूच्यते। हा राममयजीवने। = राममयं जीवनं तवास्तीत्यनेन (मां विना कथं प्राणान् धारयिष्यसीति = व्यज्यते।) हा महारण्यवासे प्रियसखीति सुखदुःखयोरभेदताऽभिव्यज्यते। 'सखा प्राणसमो मतः' इति कथनात्। हा तातप्रिये ! इत्यनेन (स्वर्गस्थितस्य मम पितुरात्मा किं वक्ष्यतीति व्यज्यते।) हा स्तोक (=स्वरूप) वादिनि ! = अल्पभाषिणि ! (इत्यनेन जनानां समक्षे तु कथैव का ? मम सम्मुखेऽपि लज्जाशीलता प्रकटिता।) हन्त ! एवंविधगुणगणपूर्णाया अपि तवेदृशः परिपाकः सञ्जातः ? विधिकर्तव्यं को वेत्तुं समर्थः।

एतस्मिन् विषये किमधिकं ब्रवीमि ? आश्चर्यम्—त्वया इति।

त्वया सर्वाणि जगन्ति सपुण्यानि वर्तन्ते, तथापि हन्त ! लोकस्योक्तयस्तव विषयेऽपुण्याः सन्ति। त्वया सर्वे लोकाः सनाथाः, परं त्वमनाथा सती विपन्ना भविष्यसि ?

अहं तामवस्थामिदानीं प्रत्यक्षीकरोमि, यत्रारण्ये एकाकिन्या अनाथायास्तव = व्याघ्रादिभिः संहारो भविष्यति ! विचित्रा संसारस्य गतिः।

अत्र विरोधाभासालङ्कारः। तल्लक्षणञ्च यथा—

"जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः।
क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद्, द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः।
विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतः। इति" ॥

अनुष्टुप्छन्दः ॥४३॥

टिप्पणी

निरपराध सीता के अपवाद को सुनकर राम का शोक चरम सीमा को पहुंच

गया है। उसका विलाप परम मार्मिक है। सीता को किये गये सम्बोधन अत्यन्त व्यञ्जनाप्रधान हैं संक्षेप में उनका व्यञ्जनार्थ इस प्रकार है:—

(१) देवयजनसम्भवे!—देवी इज्यन्तेऽत्रेति देवयजनं=यज्ञभूमिः, देवयजनात् सम्भवो यस्या सा, तत्समवुद्धौ। यज्ञभूमि से उत्पन्न। इससे सीताजी की परम पवित्रता व्यक्त होती है। (२) स्वजन्मानुग्रहपवित्रितवसुन्धरे! इससे 'तुम्हारा जन्म पृथ्वी के कल्याण के लिए ही हुआ है' यह अर्थ अभिव्यक्त होता है। (३) मुनिजनकनन्दिनि! —वीतराग जनक को भी आनन्दित करने वाली होने से परम पवित्रता तथा दिव्यता व्यञ्जित होती है। (४) हा पावकवसिष्ठारुन्धतीप्रशस्तशीलशालिनि!—इससे भी उत्तमचरित्रता व्यञ्जित होती है। (५) राममयजीविते! राम के बिना कैसे रह सकोगी! (६) महारण्यप्रवासप्रियसखि!—सुख-दुःख में अभिन्न सङ्गिनी। सखा प्राणसमो मतः" के अनुसार यहाँ "सखि" शब्द का प्रयोग किया गया है। आशय यह है कि उस महारण्य में तो तुम्हारे साथ मेरा समय कट गया था, परन्तु अब तो यह राजभवन तुम्हारे विना महावन से भी भयानक हो जायगा। यहाँ मेरा साथ कौन देगी? (७) तातप्रिये! परलोक के पूज्य पिताजी क्या कहेंगे? (८) स्तोकवादिनि!—वहुत कम बोलने वाली! अपने ऊपर किये गये अत्याचार को भी तुम चुपचाप सह जाओगी। इस एक विशेषण में ही सीता के सम्पूर्ण साधनामय जीवन की झाँकी मिल रही है।

(दुर्मुख प्रति।) दुर्मुख! ब्रूहि लक्ष्मणम्। एष नूतनो राजा रामः समाज्ञापयति। (कर्णे) एवमेवम्। इति।

दुर्मुखः—हा, कह अग्गिपरिसुद्धाए, गब्भट्ठिदपवित्तसंताणाए, देवीए दुज्जनवअणादो एदं ववसिदं देव्वेण? [हा, कथमग्निपरिशुद्धायाः, गर्भस्थितपवित्रसंतानायाः, देव्या दुर्जनवचनादिदं व्यवसितं देवेन?]

रामः—शान्तं पापम् शान्तं पापम्। दुर्जना नाम पौरजानपदाः?

इक्ष्वाकुवंशोऽभिमतः प्रजानां, जातं च दैवाद्वचनीयबीजम्।
यच्चाद्भुतं कर्म विशुद्धिकाले प्रत्येतु कस्तद्यदि दूरवृत्तम्॥४४॥

तद्गच्छ।

दुर्मुखः—हा देवि! (इति निष्क्रान्तः।)

अन्वयः—इक्ष्वाकुवंशः प्रजानाम्, अभिमतः, दैवात्, वचनीयबीजं, च, जातम्, विशुद्धिकाले, यच्च, अद्भुतं, कर्म, तत्, यदि, दूरवृत्तं, कः, प्रत्येतु?॥४४॥

हिन्दी—

(दुर्मुख से) दुर्मुख। लक्ष्मण से कहो कि यह 'नया राजा' राम अदेश देता है कि (कान में) ऐसे ऐसे……।

दुर्मुख—हा, क्या अग्नि-परीक्षा से शुद्ध तथा गर्भ में पवित्र सन्तान धारण करने वाली देवी (सीता) के लिये दुर्जनों के कहने से (ही) आपने ऐसा निश्चय कर लिया ?

राम—शान्त ! शान्त ! क्या नागरिक और देशवासी दुर्जन हो सकते हैं ?

[श्लोक ४४]—इक्ष्वाकुवंश (सदा से) प्रजाओं को प्रिय रहा है परन्तु आज दुर्भाग्यवश उसमें निन्दा का एक कारण उत्पन्न हो गया है (तो हम प्रजाओं को दोष क्यों दें ?) और अग्नि-परीक्षा के समय जो आश्चर्यजनक कार्य हुआ था, उसका दूर होने के कारण, कौन विश्वास करे ? (इसलिये नागरिकों पर कोई लाञ्छन लगाना उचित नहीं है।).

इसलिये (बिना सोच विचार के) जाओ ।

दुर्मुख—हा देवि ! (चला जाता है।)

संस्कृत-व्याख्या

दुर्मुखमुद्दिश्य कथयति श्रीरामः—एवमिति । दुर्मुख ! लक्ष्मणस्य सविधे गत्वा समादेशं श्रावय—एष नूतनो राजा रामः समाज्ञापयति । अत्र नूतनपदेन अनुल्लङ्घनीयाज्ञत्वं, सूर्यवंशे एवंविधो राजा कोऽपि नाभूत, यः प्रजानुरञ्जनार्थं स्वप्राणेभ्योऽपि गरीयसीं प्रियां पत्नीं सगर्भां वसुन्धरामिव स्वयं निर्वासयेत् ? इति व्यज्यते ।

दुर्मुखस्य मुखात् "दुर्जनवचनात्" इति निशम्य भगवान् रामः—"पौरजानपदाः अपि कदाचिद्दुर्जना भवितुमर्हन्ती"ति साधयितुमाह—इक्ष्वाकु-इति ।

इक्ष्वाकुवंशे प्रजानां प्रीतिः सदैवाभूदिति तु निसन्दिग्धं वक्तुं युज्यते । अद्य देवदुर्विपाकाद् वचनीयस्य = निन्दायाः वीजमुपस्थितम्, इत्यत्र कस्य दोषः ? अग्नि-विशुद्धिर्दूरदेशे समजनीति तां को जनः प्रत्येतु = विश्वसितु ?

अत्र काव्यलिङ्गालङ्कारः । इन्द्रवज्राछन्दः । तल्लक्षणञ्च यथा—

"स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौगः ।" इति ॥ ४४ ॥

टिप्पणी

(१) नूतनो राजा रामः—कहने का आशय यह है कि नये-नये पद पर प्रतिष्ठित होने के कारण राम कोई भी, यहाँ तक की सीता-परित्याग की भी, आज्ञा दे सकते हैं । प्रारम्भिक दिनों में शासक कठोर होता है उसका विरोध करने का सामर्थ्य लोगों में नहीं होता । अथवा यह 'नूतन राजा' अर्थात् 'अनूठा राजा' यह अर्थ भी हो सकता है । बिना किसी अपराध के पत्नी का परित्याग करने वाले राम यदि 'अनूठे' नहीं तो क्या है ? (२) दुर्जनानाम पौराजानपदाः ? राम का अपनी प्रजा में इतना विश्वास है कि वे उस पर कोई भी लाञ्छन सुनने को तैयार नहीं है । स्वयं बड़े से बड़ा बलिदान कर देने पर प्रजा के लिए कोई अपशब्द कहे यह उन्हें सह्य न होगा ।

(३) श्लोक में इन्द्रवज्रा छन्द तथा काव्यलिङ्ग अलङ्कार हैं ।

रामः—हा कष्टम् ! अतिबीभत्सकर्मा नृशंसोऽस्मि संवृत्तः ।

शैशवात्प्रभृति पोषितां प्रियां, सौहृदादपृथगाश्रयामिमाम् ।
छद्मना परिददामि मृत्यवे, शौनिके गृहशकुन्तिकामिव ॥४५॥

अन्वयः—शैशवात् प्रभृति, पोषितां, सौहृदादपृथगाश्रयाम् इमां, प्रियां, शौनिके, गृहशकुन्तिकाम्, इव, छद्मना, मृत्यवे, परिददामि ॥४४॥

हिन्दी—

राम—हाय, दुःख है ! मैं अत्यन्त घृणित कर्म करने वाला तथा निर्दय (कसाई) हो गया हूँ ।

[श्लोक ४५]—जैसे कोई कसाई बचपन से पाली हुई, साथ रहने वाली घरेलू चिड़िया को मौत को सौंप देता है—मार देता है उसी प्रकार मैं भी बचपन से पाली हुई, विश्वस्त भाव से अभिन्न सहचारिणी इस प्राणप्रिया को (गंगा-स्नान के) छल से मृत्यु को दे रहा हूँ ।

संस्कृत-व्याख्या

आत्मनो नृशंसकर्मकारित्वमेव सूचयितुमाह श्रीरामः । शैशवादिति ।

बाल्यकालादारभ्य परिपालितां प्रियामद्य स्वयमेवाहं मृत्यवे ददामि । या च मम प्राणप्रिया, सुहृद्भूता वर्तते मत्तः पृथग् यस्याः कोऽप्याश्रयो नास्ति ? अपि च—मृत्यवे दानेऽपि छलमाश्रये । इयन्तु "विहारार्थमेव तस्याः इच्छानुसारमेव वने प्रेष्यते" इत्थमेव वेत्स्यति, मया च कृतोऽस्याः परित्यागः इति छलम् ! यथा शौनिकः=पशु-पक्षि-घाती, परिपालितां गृहशकुन्तिका पक्षिणीं=कपोत्यादिकां स्वयमेव च निहन्ति, तस्या मारणार्थमेव परिपालनं करोति, तथैव मयापि साम्प्रतं सीतापालनपरित्यागेच्छया क्रियते अतो नृशंसोऽस्मि इति हृदयम् । अत्रोपमालङ्कारः । रथोद्धताच्छन्दः ॥४५॥

टिप्पणी

(१) बीभत्सकर्मा=घृणितकर्मा । (√बध्+वैरूप्यै (भ्वादि)+सन् (२) नृशंसः=नॄन् शंसति=हन्ति इति । नृ+√शंस+अन् । (३) सौहृदात्=सुहृदय=अण्—'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्" । 'हृदय' को 'हृद' आदेश–"हृल्लेखयदणलासेषु" । आदिवृद्धिः—"तद्धितेष्वचामादेः" (४) शौनिकः—सूना=ठक् । सूना वधस्थानं, तेन दीव्यति व्यवहरतीति शौनिकः । "तेन दीव्यति खनति जयति जितम्" इति ठक् "किति च" इत्यादिवृद्धिः । (५) शकुन्तिका—अनुकम्पा के अर्थ में "अनुकम्पायाम्" इस नियम के अनुसार 'कन्' प्रत्यय । शकुन्त+कन् (स्त्री०) ।

(६) अपृथगाश्रयाम्—अपृथक्-अभिन्न एक आश्रयो यस्यास्ताम् ।

(७) कुछ पुस्तकों में 'प्रिया' के स्थान पर 'प्रियैः' पाठ मिलता है । जिसका अर्थ होगा प्रियजनों के द्वारा परिपालित । 'सौहृदात्' के स्थान में "सौहार्दात्" 'अपृथगाश्रयाम्' के स्थान पर 'अपृथगाशयाम्' तथा 'सौनिकः' के स्थान पर 'सौनिके'

पाठ भी मिलते हैं जहाँ 'सौनिके' यह पाठ है वहाँ चतुर्थ्यर्थ में सप्तमी मानकर यह अर्थ होगा—

जिस प्रकार कोई मनुष्य कसाई को पालतू चिड़िया दे देता है उसी प्रकार मैं (राम) भी सीता को मृत्यु को दे रहा हूँ।

(८) उपमालङ्कार। रथोद्धता छन्द।

तत्किमस्पृश्यः पातकी देवीं दूषयामि ? (इति सीतायाः शिरः सुसमुन्नमय्य बाहुमाकृष्य।)

अपूर्वकर्मचण्डालमयि मुग्धे ! विमुञ्च माम्।
श्रितासि चन्दनभ्रान्त्या, दुर्विपाकं विषद्रुमम् ॥४६॥

(उत्थाय) हन्त हन्त, संप्रति विपर्यस्तो जीवलोकः। अद्यावसितं जीवित-प्रयोजनं रामस्य। शून्यमधुना जीर्णारण्यं जगत्। असारः संसारः। काष्ठप्रायं शरीरम्। अशरणोऽस्मि। किं करोमि ? का गतिः।

हिन्दी—

इसलिए पापी मैं (छूकर) देवी को क्यों अपवित्र करूँ ? (धीरे से सीता का सिर उठाकर, हाथ खींचकर)—

[श्लोक ४६]—अयि भोली-भाली सीते ! बड़ा निन्दित कर्म करने के कारण चाण्डाल बने हुए मुझको छोड़ो। तुम चन्दन के धोखे से परिणाम से भयङ्कर विषवृक्ष का आश्रय ग्रहण कर रही हो ("मेरे से तुम्हारा हित होगा" तुम्हारा यह विश्वास भ्रम ही है। तुमने तो चन्दन के भ्रम से भयङ्कर विष-वृक्ष का अवलम्बन किया है; इसलिये मुझे छोड़ो।)

(उठकर) हाय ! हाय ! अब संसार बदल गया। आज राम के जीवन का प्रयोजन समाप्त हो गया। (मेरे लिए) अब जीवलोक सुनसान-बियाबान जङ्गल के समान है। संसार निस्सार (लग रहा) है ! शरीर चेतना-हीन सा हो रहा है। मुझे कहीं शरण नहीं है। क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? क्या उपाय है ?

संस्कृत-व्याख्या

स्वीयं बाहुं सीतादेव्याः शिरसः समाकृष्याह रामः—अपूर्वेति।

मुग्धे ! अपूर्वं कर्म कृत्वाऽहमिदानीं चाण्डालः संवृत्तोऽस्मि। त्वं मां मुञ्च। यत्सत्यं चन्दनस्य भ्रमेण दुर्विपाकम्=अनुचितपरिणामं, विषवृक्षमेव समाश्रितासि। त्वया स्वप्नेऽपि न सम्भावितोऽस्म्येवमिति महान् खेदः।

अत्र निदर्शनालङ्कार। अनुष्टुप्छन्दः ॥४६॥

रामः सीतासमीपादुत्थायोन्मत्त इव प्रलपति—हन्त हन्तेति। जीवलोके

परिवर्तनं सञ्जातम् । अद्य संसारे रामस्य जीवनं निष्फलं सम्पन्नम् । मम जीवनस्याधुना काचिदावश्यकता नास्ति । जगदीदानीं रामस्य कृते शून्यं जीर्णं—प्राचीनं वनमेव समभूत् । संसारे कोऽपि सारो नाधुना विद्यते । शरीरञ्चेदं काष्ठमिव नीरसं वर्तते । मम रक्षकः कोऽपि नास्ति । किमिदानीं मया विधेयम् ? क उपायः क्रियताम् ?

टिप्पणी

(१) कर्मचण्डाल—चाण्डाल दो प्रकार के होते हैं । एक जन्म-चाण्डाल दूसरे कर्मचाण्डाल । राम-परित्याग रूपी नृशंस कर्म करने का विचार कर रहे हैं, इसीलिए उन्होंने अपने लिए 'कर्मचाण्डाल' शब्द का प्रयोग किया है । वसिष्ठ ने चार प्रकार के कर्मचाण्डाल कहे हैं—

"असूयकः पिशुनश्च, कृतघ्नो दीर्घरोपकः ।
चत्वारः कर्मचाण्डालाः, जन्मनश्चापि पञ्चमः ॥"

(२) स्पर्शनीयः—स्पृश् + अनीयर् । स्वैरम्—स्व + √इर् + घञ् । दुर्विपाकम्—दुर + वि + √पच् + घञ् । विपर्यस्त—वि + परि + √अस् + क्त । अवसितम्—अव + √सो + क्त । असारः—अ + √सृ + घञ् । संसारः—सम् + √सृ + घञ् । संसरन्त्यस्मिन्निति संसारः ।

(३) राम की मानसिक स्थिति का बहुत सुन्दर चित्रण इन पंक्तियों में हुआ है ।

अथवा—

दुःखसंवेदनायैव, रामे चैतन्यमागतम् ।
मर्मोपघातिभिः प्राणैर्वज्रकीलायितं हृदि ॥४७॥

हा अम्ब अरुन्धती ! भगवन्तौ वसिष्ठविश्वामित्रौ ! भगवन् पावक ! हा देवि भूतधात्रि ! हा तातजनक ! हा मातः ! हा प्रिय सुख महाराज सुग्रीव ! सौम्य हनूमन् ! महोपकारिन् लंकाधिपते विभीषण ! हा सखि त्रिजटे ! परिमुषितः स्थ परिभूताः राम हतकेन !

अन्वयः—दुःखसंवेदनाय, एवं, रामे, चैतन्यं, आगतम्, मर्मोपघातिभिः, प्राणैः हृदि, वज्रकीलायितम् ॥४७॥

हिन्दी—

[श्लोक ४७] दुःखों का अनुभव करने के लिए ही राम का जन्म हुआ है । मर्मस्थलों पर आघात पहुँचाने वाले प्राण इस समय हृदय में गड़ी हुई वज्र की कील के समान लग रहे हैं । अर्थात्—ऐसी बुरी दशा में भी ये प्राण नहीं निकल रहे हैं । वज्र की कील की भाँति अटके रहकर असह्य सन्ताप उत्पन्न कर रहे हैं । मैं मरना चाहता हूँ, परन्तु ये निर्दय प्राण मेरी इच्छा पूर्ण नहीं होने देते ।]

हा ! माता अरुन्धती ! पूज्य वसिष्ठ और विश्वामित्र जी ! भगवान् अग्नि-देव ! हा ! देवि वसुन्धरे ! हा ! पिता जनक जी ! हा ! माता जी ! हा ! परम सुहृद महाराज सुग्रीव । प्यारे हनुमान् जी ! उपकार-परायण लङ्काधिराज विभीषण ! हा ! त्रिजटे ! आप सब लोग राम से वञ्चित एवं तिरस्कृत हो गये हैं।

संस्कृत-व्याख्या

अथवा मदर्थं कुत्रापि स्थानं नास्ति, न च किमपि कर्तव्यम्, इति निर्दिशति—दुखेति ।

वस्तुतस्तु रामे चैतन्य-सम्प्राप्तिः केवलं दुःखमनुभवितुमेवाभूत् । मम हृदये च मर्मोपघातिनो ममापी प्राणाः वज्रकीलवदधुना सञ्जाताः । किमपि कार्यं सम्प्रति कर्तुं न पश्यामि ।

अत्रोपमालङ्कारः ॥४७॥

टिप्पणी

(१) संवेदनम्—सम् + √विद् + ल्युट् । (२) मर्मोपघातिभिः—मर्माणि उपघ्नन्ति ये, तैः । मर्मन् + उप + √हन् + णिनि (म्रियते यस्मिन्नाहते इति मर्म इति इति व्युत्पत्तिः) । (३) वज्रकीलायितम्—वज्रकील + क्यङ् (नामधातु) + क्त । वज्रकीलमिवाचरितम् ।

'वज्रकीलायितम्'—कहने का अभिप्राय यह है कि प्राण वज्र की कील की भाँति ठुक गये हैं । राम चाहते हैं कि उनके प्राण निकल जाँय, पर वे निकल ही नहीं रहे हैं । भगवान् राम की अन्तर्व्यथा उनके इस कथन में फूट पड़ी है । राम का जीवन है ही क्या ? दुःख का 'पुटपाक' है, कष्ट-सूत्र की विस्तृत व्याख्या है; लोकाराधन की वेदी पर किया गया पावन उत्सर्ग है ।

अथवा को नाम तेषामहमिदानीमाह्वाने ?

ते हि मन्ये महात्मनः, कृतघ्नेन दुरात्मना ।
मया गृहीतनामानः, स्पृश्यन्त इव पाप्मना ॥४८॥

अन्वयः—कृतघ्नेन, दुरात्मना, मया, गृहीतनामानः, ते महात्मानः, पाप्मना, स्पृश्यन्ते, इव, (इति) मन्ये, हि ॥४८॥

हिन्दी—

[श्लोक ४८] मुझे तो ऐसा लग रहा है कि मानो वे महानुभाव मुझ कृतघ्न तथा पापी के द्वारा नाम लिये जाने पर पाप-युक्त से हो रहे हैं । [मुझ पापी के स्मरण करने मात्र से ही उनकी पवित्रात्मा कलङ्कित-सी होती प्रतीत हो रही है । अतः उन महानुभावों का आह्वान करने का मुझे क्या अधिकार है ?]

संस्कृत-व्याख्या

शोकावेगादरुन्धत्यादीन् सम्बोधयति । अनन्तरं च विचारयति—ते हि इति । अथवा तेषां महात्मनां नामग्रहणेनापि मया पापिना ते पापिन इव क्रियन्ते, किं नामग्रहणेन ? स्वकीयेन पापेनान्येषां पापसम्पर्कविधानं नोचितमिति भावः । अत्रोत्पेक्षालङ्कारः ॥४८॥

टिप्पणी

कृतघ्नेन—कृतं हन्तीति कृतघ्नस्तेन । सीता के प्रति अपकार करने के कारण राम ने अपने लिये इस शब्द का प्रयोग किया है । कृतघ्न के साथ रहने से पाप लगता है । राम कहते हैं कि मेरे वसिष्ठ आदि का नाम लेने से ही वे मानों वाचिक-संस्पर्श से दूषित हो रहे हैं, मैं कृतघ्न जो हूँ । कृतघ्न की मुक्ति नहीं होती ।

"कृतस्य दोषं वदति, सकामान्न करोति यः ।
न स्मरेच्च कृतं यस्तु, आश्रमान् यस्तु दूषयेत् ॥
सर्वांस्तानृषिभिः सार्द्धं, कृतघ्नानब्रवीन्मनुः ।"
× × × (स्कन्दपुराण)
"ब्रह्मघ्ने च, सुरापे च, चौरे च, गुरुतल्पगे ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः, कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥"

योऽहम्—

विस्रम्भादुरसि निपत्य जातनिद्रा-
मुन्मुच्य प्रियगृहिणीं गृहस्य लक्ष्मीम् ।
आतङ्कस्फुरितकठोरगर्भगुर्वीं,
क्रव्याद्भ्यो बलिमिव दारुणः क्षिपामि ॥४६॥

(सीतायाः पादौ शिरसि कृत्वा ।) अयं पश्चिमस्ते रामशिरसि पादपङ्कज-स्पर्शः (इति रोदिति ।)

अन्वयः—विस्रम्भात्, उरसि, निपत्य, जातनिद्रां, आतङ्कस्फुरितकठोरगर्भगुर्वीं गृहस्य, लक्ष्मीं प्रियगृहिणीं, दारुणः (सन्) उन्मुच्य, क्रव्याद्भ्यः, बलिं, इव क्षिपामि ॥४६॥

हिन्दी—

जो मैं—

[श्लोक ४६]—विश्वासपूर्वक छाती पर सोई हुई, (चित्रदर्शन के) समय से फड़कने वाले गर्भ से मन्थर इस घर की लक्ष्मी प्रिय पत्नी को नृशंस होकर मांसाहारी हिंस्र जीवों-जन्तुओं में बलि की भाँति फेंक रहा हूँ [इससे अधिक और क्या क्रूरता हो सकती है कि अपने पर अडिग विश्वास रखने वाली, गुणवती एवं गर्भिणी पत्नी को मैं माँस खाने वाले जीवों के समान बलि के टुकड़ों की भाँति फेंक रहा हूँ ।]

(सीता के पैरों पर सिर रखकर) राम के सिर में तुम्हारे चरण-कमलों का यह अन्तिम स्पर्श है। [रो पड़ते हैं।]

संस्कृत-व्याख्या

पापकारित्वमेव प्रकटयति—विस्रम्भादिति।

अतः परं किं पापं स्यात् ? योऽहं विश्वासपूर्वकं वक्षसि प्रसुप्ताम्, प्रियपत्नीं, गृहस्य लक्ष्मीम्, आतङ्केन स्फुरितो यः कठोरः = परिपूर्णावस्थो गर्भः, तेन गुर्वीम् = आलस्योपेताम्, क्रव्यं = मांसम्, अश्नन्ति इति क्रव्यादाः तेभ्यो बलिमिव क्षिपामि। मत्तः परः को दारुणः स्यात् !

अत्रोपमालङ्कारः। प्रहर्षिणीच्छन्दः ॥४९॥

पश्चिम इति। अन्तिमो रामस्य शिरसि ते पादपङ्कजस्य स्पर्शः इत्युक्त्वा रोदिति।

टिप्पणी

(१) आतंकस्फुरितकठोरगर्भगुर्वीम्—आतङ्केन स्फुरितः कठोरो यो गर्भस्तेन गुर्वीम्। (२) क्रव्याद्भ्यः—क्रव्यं मांसमदन्तीति क्रव्यादाः श्वापदा व्याघ्रादयः। 'क्रव्यादा मांसभक्षकाः।' क्रव्य + √अद् + विट्—"क्रव्ये च।" चतुर्थी सम्प्रदाने।

(३) बलि—"बलिर्दैत्यप्रभेदे च करे चामरदण्डयोः।
उपहारे पुमान्, स्त्री तु जरया श्लथचर्मणि।
गृहदारुप्रभेदे च, जठरावयवेऽपि च॥" (मेदिनी)

(४) पश्चिमः—पश्चाद् भवः पश्चिमः। पश्चात् + डिमच। अन्तिम।

(५) उपमालङ्कार। प्रहर्षिणी छन्द।

(नेपथ्ये।)

अब्रह्मण्यम्, अब्रह्मण्यम् !

रामः—ज्ञायतां भोः ! किमेतत् ?

(पुनर्नेपथ्ये।)

ऋषीणामुग्रतपसां, यमुनातीरवासीनाम्।
लवणत्रासितः स्तोमस्त्रातारं त्वामुपस्थितः ॥५०॥

हिन्दी—
(नेपथ्य में)

अमङ्गल ! अमङ्गल ! (अथवा-ब्राह्मणों पर विपत्ति ! ब्राह्मणों को भय !)

राम—अरे, पता लगाओ, यह क्या बात है ?

(पुनः नेपथ्य में ।)

[श्लोक ५०] यमुना-तीर-निवासी महातपस्वी ऋषियों का समूह 'लवण' राक्षस से भयभीत होकर रक्षा करने वाले आपके पास आया है ॥५०॥

संस्कृत-व्याख्या

नेपथ्य इति । यत्र नटा स्ववेश-विन्यासं कुर्वन्ति, तत्स्थानं नेपथ्यमित्युच्यते । अब्रह्मण्यम् = ब्राह्मणानां विघातकम् 'अब्रह्मण्यमवध्योक्तौ' इत्यमरः ।

ऋषीणामिति । यमुनातीरे, निवसतां ऋषीणां लवणासुर-संत्रासितः स्तोमः = समुदायः, रक्षकं त्वां रामं प्रत्युपस्थितः । अस्माकं रक्षां कुरु, इति भावः ॥५०॥

टिप्पणी

(१) नेपथ्य—जहाँ नट वेश-परिवर्तन करते हैं, उसे 'नेपथ्य' कहते हैं । "नेपथ्यं तु प्रसाधने । रंगभूमौ वेषभेदे" इति हैमः । (२) अब्रह्मण्यम्—न ब्रह्मण्यम् इति अब्रह्मण्यम् । ब्रह्मन् = यत् । ब्रह्मभ्यो हितं ब्रह्मण्यम् हितं ब्रह्मण्यम् इत्यब्रह्मण्यम् । "अब्रह्मण्यमवध्योक्तौ" इत्यमरः । 'अब्रह्मण्यम्' का अर्थ तो 'वैसे ब्राह्मणों पर विपत्ति है, परन्तु यह विपत्ति से बचने के लिये 'पुकार' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । (३) लवण—लवण 'मधु' और रावण की बहिन 'कुम्भीनसी' का पुत्र था । वह बड़ा ही क्रोधी विकराल तथा मुनि-द्रोही था । अन्ततोगत्वा ऋषियों ने संगठन करके श्रीरामचन्द्र जी से प्रार्थना की । सब वृत्तान्त जानकर उन्होंने श्री शत्रुघ्न जी को उसका वध करने के लिये भेजा । उन्होंने उसका वध कर दिया ।

रामः—कथमद्यापि राक्षसत्रासः ? तद्यावदस्य दुरात्मनो माधुरस्य कुम्भीनसीकुमारस्योन्मूलनाय शत्रुघ्नं प्रेषयामि । (परिक्रम्य पुनर्निवृत्य ।) हा देवि ! कथमेवंविधा गमिष्यसि ? भगवति वसुन्धरे ! सुश्लाघ्यां दुहितरमवेक्षस्व जानकीम्—

जनकानां रघूणां च, यत्कृत्स्नं गोत्रमङ्गलम् ।
यां देवयजने पुण्ये, पुण्यशीलामजीजनः ॥५१॥

[इति रुदन्निष्क्रान्तः ।]

हिन्दी—

राम—क्या अब भी राक्षसों का भय है ? तो (इसलिये) मैं 'कुम्भीनसी'-पुत्र दुष्ट मधुरेश्वर (लवण) का उन्मूलन करने के लिये शत्रुघ्न को भेजता हूँ । (घूमकर तथा पुनः लौटकर) भगवति वसुन्धरे ! अपनी प्रशंसनीय पुत्री (उस) जानकी का ध्यान रखना—

[श्लोक ५१]—जो 'जनक' और 'रघु'—(दोनों) वंशों के समस्त मंगल का प्रतीक है, और जिस पुण्यशालिनी को यज्ञ के पवित्र स्थान में तुमने उत्पन्न किया था ।।५१।।

[रोते हुए चले जाते हैं ।]

संस्कृत-व्याख्या

रामोऽधुनापि राक्षसानां त्रासः ? इति तत्प्रबन्धं चिकीर्षुर्विचारयति कथमिति । अये ! अद्यापि राक्षसानां त्रासः ! तद् यावत् अस्य दुष्टस्य मधुरापुरी निवासिनः, कुम्भीनसी, राक्षसमाता तस्याः कुमारस्य विनाशाय शत्रुघ्नं प्रेषयामीति ।

सीतामभिरक्षितुं भगवतीं धरित्रीं प्रार्थयते—भगवति-इति । भगवति ! = सर्व-सामर्थ्यशालिनी ! वसुन्धरे देवि ! सुश्लाघां = प्रशंसनीयचरित्रां दुहितरं जानकीं = जनकनन्दिनीम् अवेक्षस्व । सति विपत्ति-काले मातैव कन्यकानां परित्राणाय प्रकल्पते । अतस्त्वयैव सीतायाः संरक्षणं कार्यमितितत्त्वम् । [एतस्योपयोगोऽग्रे भविष्यति ।]

"कीदृशीयं सीते"ति निरूपयति—जनकानामिति । जनक-वंशोत्पन्नानां, रघु-वंशरत्नानां च राज्ञामियं सम्पूर्णं मङ्गलमस्ति । एतस्याः सम्बन्धेनोभयवंशयोः शोभा वर्तते । पुण्यशीलां च यां पुण्यशीले ! देवयजने ! पृथ्वीदेवि ! त्वदेवि ! त्वमजीजनः । या त्वयोत्पादिता, तस्या एतस्या ध्यानमवश्यं भवत्यैव कर्तव्यमिति भावः । अत्र रूपकालङ्कारः ।।५१।।

टिप्पणी

(१) **कुम्भीनसी**—कुम्भीव नासिका यस्याः । "पद्दन्नोमासहृन्निशसम्पूर्णन्दोष-न्ककवृछकन्नुदन्नासञ्छसप्रभृतिषु" (६/१/६३ पा०) इति सूत्रेण नसादेशः, स्त्रियां ङीप् च निपात्यते । (२) **गोत्रमङ्गलम्**—आशय यह है कि सीता रघु और जनक दोनों के कल्याण की प्रतिनिधि है । उनसे दोनों वंशों का यश सुरक्षित है । (३) **अवेक्षस्व**—आगामी कथासूत्र में पृथ्वी के योगदान पर इससे ठीक वैसा ही प्रकाश पड़ता है, जैसे कि गंगा जी से पहले कल्याण-कामना की प्रार्थना करने का । (४) **निष्क्रान्तः**—यहाँ "विन्दु" नामक द्वितीय अर्थप्रकृति है । 'विन्दु' वह अर्थप्रकृति है, जो नाटकीय वृत्त-विच्छेद की सम्भावना में भी अविच्छेद बनाये रहे । अर्थात् जो कथासूत्र को विच्छिन्न होने से बचाये रहे । उसका लक्षण है—

"अवान्तरार्थविच्छेदे 'विन्दु' रच्छेदकारणम् ।"

सीता—हा सोह्म अज्जउत्त ! कहिंसि ? (इति सहसोत्थाय ।) हद्धी हद्धी । दुस्सिविणरणरणअविप्पलद्धा अज्जउत्तसुण्णं विअ अत्ताणं पेक्खामि ।

(विलोक्य) हद्धी हद्धी। एआइणिं पसुत्तं म उज्झिअ कहिं गदो णाहो ? होदु। से कुप्पिसं, जइ तं पेक्खन्ती अत्तणो पहविस्सं। को एत्थ परिअणो ? [हा सौम्य आर्यपुत्र ! कुत्रासि ? हा धिक् ? हा धिक् ? दुःस्वप्नरणरणकविप्रलब्धा आर्यपुत्रशून्यमिवात्मानं पश्यामि।…हा धिक् ! हा धिक् ! एकाकिनीं प्रसुप्तां मामुज्झित्वा कुत्र गतो नाथः ? भवतु। अस्मै कोपिष्यामि, यदि तं प्रेक्षमाणा आत्मनः प्रभविष्यामि। कोऽत्र परिजनः ?]

(प्रविश्य।)

दुर्मुखः—देवि ? कुमारलक्खणो विण्णवेदि—'सज्जो रहो। तं आरुहदु देवी'त्ति। देवि ! कुमारलक्ष्मणो विज्ञापयति—'सज्जो रथः। तदारोहतु देवी' इति।]

सीता—इअं आरूढह्मि। (उत्थाय परिक्रम्य।) फुरई मे गब्भभारो। सणिअं गच्छह्मि।।इयमारूढास्मि। स्फुरति मे गर्भभारः। शनैर्गच्छामः।]

दुर्मुखः—इदो इदो दवी ! (इत इतो देवी।)

सीता—णमो रहुउलदेवदाणं। [नमो रघुकुलदेवतानाम्।]

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

इति महाकविश्रीभवभूतिविरचिते 'उत्तररामचरिते' 'चित्रदर्शनो' नाम प्रथमोऽङ्कः।

हिन्दी—

सीता—हा ! प्रिय आर्यपुत्र ! आप कहाँ हैं ? (सहसा उठकर) हाय ! हाय ! इस (विरहमूलक) दुःस्वप्न की उत्कण्ठा (घबराहट) से खिन्न-सी होकर मैं अपने को 'आर्यपुत्र' से विरहित-सी देख रही हूँ। (देखकर) धिक् ! धिक् ! मुझे अकेली सोती छोड़कर प्राणनाथ कहाँ चले गये ? अस्तु, यदि मैं अपने पर नियन्त्रण रख सकी तो (यदि उनको देखकर मेरा क्रोध शान्त न हो गया तो) मैं उनसे क्रोध (मान) करूँगी। यहाँ कौन परिजन है ?

(प्रवेश कर)

दुर्मुख—देवी ! कुमार लक्ष्मण निवेदन करते हैं कि—"रथ सुसज्जित है; अतः आप आरोहण कीजिये"।

सीता—अभी चढ़ती हूँ। (उठकर तथा घूमकर) मेरा गर्भ फड़क रहा है; अतः धीरे-धीरे चलें।

दुर्मुख—महारानी जी ! इधर से, इधर से।

सीता—रघुकुल के देवताओं को मेरा प्रणाम है (सब चले जाते हैं।)

महाकवि श्रीभवभूति विरचित 'उत्तररामचरित' में 'चित्रदर्शन' नामक प्रथम अङ्क समाप्त।

संस्कृत-व्याख्या

दुःस्वप्नपरिखेदिता, "आर्यपुत्रो मामेकाकिनीं परित्यज्य गतः इति तस्मै कुपिता भविष्यामि, यदि तामवलोकयन्ती, स्वस्मै प्रभविष्यामि'ति वदन्ती सीता—दुर्मुखद्वारा

सज्जितं रथं ज्ञात्वा, आरोहणाय प्रचलति । गमनसमये च रघुकुलदेवताभ्य: प्रणामं करोति-णमो-इति । रघुकुलस्य देवतानां कृते ममाऽयं प्रणामाञ्जलिरर्प्यते इति भाव: । सर्वा अपि देव्यो मङ्गलं कुर्वन्तु सर्वेषाम् इति ।

निष्क्रान्ता: इति । अङ्कस्यान्ते, सर्वेऽपि नटा अभिनयशालातो बहिर्भवन्तीति नियम: । चित्रदर्शनो नामाद्यमङ्क: । अत्र चित्रस्य दर्शनमेव मुख्यतया वर्णितं कविना । अत एवास्य नामापि तथैव कृतमिति ।

अङ्कस्य लक्षणं यथा साहित्यदर्पणे—

प्रत्यक्षनेतृचरितो, रसभावसमुज्ज्वल: ।
भवेदगूढशब्दार्थ:, क्षुद्रचूर्णकसंयुत: ॥
विच्छिन्नावान्तरैकार्थ:, किञ्चित्संलग्नबिन्दुक: ।
युक्तो न बहुभि: कार्यैर्बीजसंहृतिमान्न च ॥
नानाविधानसंयुक्तो नातिप्रचुरपद्यवान् ।
आवश्यकानां कार्याणामविरोधाद्विनिर्मित्त: ॥
नानेकदिननिर्वर्त्यकथया सम्प्रयोजित: ।
आसन्ननायक: पात्रैर्युतस्त्रिचतुरैस्तथा ॥
दूराह्वानं, वधो, युद्ध, राज्यदेशादिविप्लव: ।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा ॥
दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद् व्रीडाकरं च यत् ।
शयनाधरपानादि नगराद्यवरोधनम् ॥
स्नानानुलेपने चैभिर्वर्जितो नातिविस्तर: ।
देवीपरिजनादीनाममात्यवणिजामपि ॥
प्रत्यक्षचित्रचरितैर्युक्तो भावरसोद्भवै: ।
अन्ते निष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्तित: ॥

इति उत्तररामचरिते श्री 'प्रियम्वदा'ख्य-
टीकायां प्रथमोऽङ्क: पर्यवसित: ।

टिप्पणी

(१) **आत्मन: प्रभविष्यामि**—यदि अपने ऊपर नियन्त्रण रख सकी । सीताजी के कहने का आशय यह है कि भगवान् रामचन्द्र जी मुझे अकेली सोती हुई छोड़कर चले गये हैं । अत: मिलने पर मैं उनसे 'मान' करूँगी । परन्तु उन्हें आशङ्का है कि भगवान् रामचन्द्र जी को देखते ही उनका समस्त क्रोध शान्त हो जायेगा । इसलिए वे कहती हैं, यदि मैं अपने पर, उन्हें देखकर नियन्त्रण रख सकी—उन्हें देखते ही प्रसन्न न हो गई ।

कैसी मीठी कल्पना है ! बेचारी सीता को क्या पता है कि अब ऐसा अवसर लौटकर ही नहीं आयेगा !

(२) **चित्रदर्शन**—इस नामकरण के लिये प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में 'प्रथम अङ्क का नाटकीय महत्त्व' शीर्षक तथा भूमिका देखिये । (३) **अङ्क**—के लक्षण के लिये संस्कृत-टीका देखिए ।

**श्री 'प्रियम्वदा-टीकालंकृत 'उत्तररामचरित'-नाटक के 'चित्र-दर्शन'
नामक प्रथम अङ्क का सटिप्पण हिन्दी-अनुवाद समाप्त ।**

द्वितीय अंक
(पञ्चवटी-प्रवेश)

"वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि, को हि विज्ञातुमर्हति ?"

द्वितीय अङ्क की कथावस्तु का विश्लेषण—

द्वितीय अङ्क की घटना दो रूपों में विभक्त की जा सकती है (१) आत्रेयी और वासन्ती, (२) राम और शम्बूक।

(१) आत्रेयी और वासन्ती

[स्थान—दण्डकारण्य]

नेपथ्य में तपस्विनी के स्वागत के साथ अङ्क का आरम्भ होता है। एक तापसी, जिसका नाम आत्रेयी है, दण्डकारण्य में प्रविष्ट होती है और वनदेवता जिसका नाम वासन्ती है, से मिलती है। आरम्भ में वासन्ती आत्रेयी को तापसी के रूप में और आत्रेयी वासन्ती को वनदेवता के रूप में देख रही है। दोनों की उक्तियों से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो रही हैं—

(क) आत्रेयी वाल्मीकि-ऋषि के आश्रम में अध्ययन करने वाली तपस्विनी है। वह निगमान्त (वेदान्त)–विद्या का अध्ययन करने के लिये वाल्मीकि के आश्रम को छोड़कर अगस्त्य आदि ब्रह्मवेत्ताओं पास दण्डकारण्य में आई हुई है और अगस्त्य-आश्रम में जा रही है।

(ख) यद्यपि वाल्मीकि जी के पास बड़े-बड़े ऋषि अध्ययन करने के लिये आते हैं, तथापि वर्तमान में वहाँ अध्ययन के लिये कुछ विघ्न उपस्थित हो रहे हैं—

(१) किसी देवता विशेष ने वाल्मीकि जी के पास कुश और लव नामक दो बालकों को छोड़ दिया है, जिनको जन्म से ही जृम्भकास्त्र सिद्ध हैं। ऋषि ने उनका पालन-पोषण करके ग्यारह वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार करके उन्हें वेद का अध्ययन आरम्भ करा दिया है। वे कुशाग्रबुद्धि हैं, जिनके साथ आत्रेयी का अध्ययन नहीं हो पाता है।

(२) दूसरे ब्रह्मा जी की आज्ञा से वाल्मीकि जी ने रामायण की रचना की है। इस प्रकार बालकों की कुशाग्रबुद्धि और ऋषि का काव्य-प्रणयन अध्ययन के लिए प्रत्यूह हो रहे हैं।

विश्राम कर चुकने के अनन्तर आत्रेयी अगस्त्य-आश्रम का मार्ग पूछती है जिसके उत्तर में वनदेवता (वासन्ती) "यहाँ पञ्चवटी में प्रवेश कर गोदावरी के किनारे-किनारे जाइए" यह कहती है। आत्रेयी तपोवन, पञ्चवटी, गोदावरी, प्रस्रवण पर्वत आदि का साक्षात्कार कर वासन्ती को पहचान लेती है। इसी प्रसङ्ग में आत्रेयी को सीता का स्मरण हो उठता है। दोनों के सीता-विषयक वार्तालाप से ये सूचनायें मिलती हैं—

(क) सीता जी सापवाद निष्कासित कर दी गई है। लक्ष्मण के लौट जाने के अनन्तर उनका कोई समाचार नहीं मिलता है।

(ख) ऋष्यशृङ्ग का यज्ञ समाप्त हो चुका है। रामचन्द्र जी ने सीता देवी का बहिष्कार कर दिया है, इसलिए यज्ञ-समाप्ति पर अरुन्धती, राम की माताएँ और ऋषि वसिष्ठ अयोध्या नहीं लौटना चाहते हैं अपितु उनका विचार वाल्मीकि के आश्रम में निवास करने का है।

(ग) रामचन्द्र जी ने अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ कर दिया है। वे एक पत्नीव्रती हैं, अतः यज्ञ में सीता जी की स्वर्ण-प्रतिमा से ही उनका (सीता का) कार्य लिया जा रहा है। वामदेव द्वारा अभिमन्त्रित अश्व छोड़ दिया गया है, जिसकी रक्षा लक्ष्मण का पुत्र चन्द्रकेतु चतुरङ्गिणी सेना के साथ कर रहा है।

(घ) रामचन्द्र जी के राज्य में एक ब्राह्मण का पुत्र मर गया है। वह तभी जीवित हो सकता है जबकि राम पृथ्वी पर तपस्या करने वाले शूद्र जम्बूक का सिर काट दें। शम्बूक 'जनस्थान' में तपस्या कर रहा है, अतः राम का यहाँ (जनस्थान में) उपस्थित होना निश्चित है।

इस प्रकार दोनों चली जाती हैं और विष्कम्भक समाप्त हो जाता है।

(२) राम और शम्बूक

[स्थान—जनस्थान]

रामचन्द्र जी जनस्थान में उपस्थित होकर शम्बूक का वध कर देते हैं। वह दिव्य पुरुष बनकर ब्राह्मण-पुत्र के जीवित हो जाने की सूचना देता है तथा रामचन्द्र जी से आशीर्वाद प्राप्त करता है। उसकी उक्तियों से रामचन्द्र जी समझ लेते हैं कि वे उस समय जनस्थान में स्थित हैं। शम्बूक ब्रह्मर्षि अगस्त्य के दर्शन के लिये उनके आश्रम की ओर चला जाता है।

(ग) रामचन्द्र जी अकेले रह जाते हैं। मयूरों के शब्दों से युक्त पर्वत मृग व्याप्त वनस्थलियाँ, विविध वृक्षों से व्याप्त नदियों के किनारे, प्रस्रवण पर्वत, गोदावरी नदी तथा पञ्चवटी आदि उनकी पुरातन स्मृतियाँ जागृत कर उन्हें सीता का स्मरण करा देती हैं। पुराना शोक हृदय के मर्मस्थल में स्फुटित व्रण के समान नवीन-सा होता हुआ उनको घेर लेता है। पञ्चवटी के प्रति राम का विशेष आकर्षण है परन्तु सीता का अभाव उन्हें व्याकुल बनाए दे रहा है।

इसी बीच शम्बूक अगस्त्याश्रम से लौट आता है तथा भगवान् अगस्त्य का सन्देश रामचन्द्र जी को सुनाता है कि वे लोपामुद्रा तथा अन्य ऋषियों के साथ उनकी (रामचन्द्र जी की अपने आश्रम में प्रतीक्षा कर रहे हैं।)

अगस्त्य का आदेश सुनकर पञ्चवटी से क्षमा-याचना करते हुए राम पुष्पक-विमान द्वारा क्रौञ्च-पर्वत एवं नदियों के सङ्गम को देखते हुए चले जाते हैं।

दूसरे अङ्क का नाटकीय महत्त्व

(१) भवभूति ने द्वितीय अङ्क में शुद्ध-विष्कम्भक का प्रयोग कर बीती हुई एवं आने वाली घटनाओं को जोड़ा है। सीता देवी का अपवाद-सहित त्याग एवं शम्बूक-वध के लिये रामचन्द्र जी के पुनः दण्डकारण्य में आने की सूचना के साथ-साथ विष्कम्भक में आत्रेयी तथा वासन्ती के वार्तालाप में रामचन्द्र जी की स्वर्णमयी मूर्ति की चर्चा से उनका सीता विषयक प्रेम तथा आदर सूचित होता है।

(२) रामचन्द्र जी के सीता विषयक प्रेम की पुष्टि के लिये यह आवश्यक है कि वे जिन स्थानों पर उनके साथ रहे थे उनका एक बार दर्शन अवश्य करें; इसी से नाटकीय प्रवाह की सृष्टि हो सकती है। इसके लिये कवि ने शम्बूक की सृष्टि की है। स्वार्थ के वशीभूत होकर रामचन्द्र जी पञ्चवटी में प्रवेश नहीं करते अपितु अपनी प्रजा के हित के लिये, ब्राह्मण-पुत्र के उद्धार के लिये, उनका इस स्थान में प्रवेश होता है। किन्तु पूर्व परिचित स्थान में आकर वे सीता देवी को भुला नहीं पाते। वे पति तथा राजा दोनों ही रूपों में लोकोत्तर हैं। उनका चरित्र वज्र से भी कठोर हैं और कुसुम से भी मृदु। राज्यकार्य में व्याप्त रामचन्द्र जी के सीता-विषयक प्रेम की जागृति के लिये नाटककार ने इस घटना की सृष्टि की और इसलिये इस अङ्क का नाम भी 'पञ्चवटी-प्रवेश' रखा है।

(३) पहले अङ्क तथा द्वितीय अङ्क की घटना में लगभग १२ वर्ष का अन्तर है। कुश एवं लव ग्यारह वर्ष के होकर वेद का अध्ययन करने लगे हैं, लक्ष्मण के भी पुत्र उत्पन्न हो गया है, तथा इतने समय में प्रकृति में भी परिवर्तन हो चुका है। बारह वर्ष तक अन्दर ही अन्दर सिसकता हुआ राम का सीताविषयक प्रेम जंगल में आकर प्रदीप्त हो उठता है। वे प्रजा के सामने रो भी नहीं सकते। उनका प्रजानुरञ्जन का आदर्श उनके पत्नी-प्रेम को अरण्यरोदन बना देता है। पहले अङ्क का राजा राम तथा पति राम का अन्तर्द्वन्द्व दूसरे अङ्क में मूर्त हो जाता है।

(४) संक्षेप में इस अङ्क में रामचन्द्र जी के चरित्र का विकास हुआ है। यहाँ नाटककार ने बड़े मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से चरित्र का विकास दिखाया है जो कवित्व अनुभूति तथा सत्यता से ओत-प्रोत है।

द्वितीयोऽङ्कः

(नेपथ्ये)

स्वागतं तपोधनायाः !

[ततः प्रविशत्यध्वगवेषा तापसी ।]

तापसी—अये ! वनदेवता फलकुसुमगर्भेण पल्लवार्घ्येण दूरान्मामुपतिष्ठते !

हिन्दी—

[नेपथ्य में]

तपस्विनी जी का स्वागत है !

[तदनन्तर पथिकवेष में तापसी प्रवेश करती है]

तापसी—अरे । वनदेवी फल-फूल सहित पल्लव-निर्मित अर्घ्य से दूर से ही मेरी पूजा कर रही हैं ।

संस्कृत-व्याख्या

अथ सीतादेव्याः परित्यागानन्तरं किमभूदिति वृत्तान्तं सूचयितुं द्वितीयाङ्कमारभते कविः । तत्रादौ पान्थवेषे काचिदात्रेयी नाम्नी तापसी प्रविशति, नेपथ्ये वनदेवी तस्याः स्वागतं करोति । तामवलोक्य तापसी कथयति—अये इति । अस्य वनस्य देवी दूरादेव फलकुसुमगर्भेण फलपुष्पमिश्रितेन पल्लवनिर्मितेनार्घ्येण मामुपतिष्ठते=अर्चयति । अतिथेरपि देवतुल्यत्त्वात् "उपाद्देवपूजासंगतिकरणमित्रकरणपथिष्वतिवाच्यम्" इत्यात्मनेपदे न दोषः ।

टिप्पणी

(१) 'नेपथ्ये'—परदे के पीछे के स्थान में जहाँ नट वेष-भूषा धारण करते हैं । 'नेपथ्यं तु प्रसाधने । रङ्गभूमौ वेषभेदे'—इति हैमः । कुशीलवकुटुम्बस्य स्थली नेपथ्यमिष्यते ।' (२) 'स्वागतम्' यहाँ 'चूलिका'—नामक अर्थोपक्षेपक है क्योंकि जवनिका के अन्दर से आत्रेयी के आगमन-रूप अर्थ की सूचना दी गई है । 'अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका' (सा० द०/ ६) । (३) 'पल्लवार्घ्येण'—अर्घः=पूजाविधिः (मूल्ये पूजाविधावर्घः'–इत्यमरः) तदर्थनिदमर्घ्यम् । "पादार्घाभ्यां च" पा० ५/४/२५) इति यत् । अर्घ+यत् ।

[प्रविश्य]

वनदेवता—(अर्घ्यं विकीर्य ।)

यथेच्छाभोग्यं वो वनमिदमयं मे सुदिवसः,
सत्तां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति ।

सरुच्छाया तोयं यदपि तपसां योग्यमशनं
फलं वा मूलं वा तदपि न पराधीनमिह वः ॥१॥

अन्वयः—इदं वनं वः यथेच्छाभोग्यम् । अयं मे सुदिवसः । हि सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि पुण्येन भवति । तरुच्छाया, तोयं यदपि तपसां योग्यम् अशनं फलं वा मूलं वा, तदपि इह वः पराधीनं न ॥ १ ॥

हिन्दी—

[प्रवेश कर]

वनदेवता (अर्घ्य देखकर)

[श्लोक १]—(तपस्विनी जी!) यह वन आपको इच्छानुसार उपभोक्तव्य है। आज का दिन मेरे लिए बड़ा शुभ है (क्योंकि आप पधारी हैं।) (सच तो यह है कि) सत्पुरुषों का सत्पुरुषों से सम्बन्ध बड़े पुण्यों से होता है। वृक्षों की छाया, (शीतल एवं निर्मल) जल तथा तपस्या के लिये उपयुक्त भोजन, जो कुछ भी फल-मूल आदि हैं, वह भी आपके लिये पराधीन (अप्राप्य) नहीं है [अर्थात्—यह वन आपका ही है। चाहे यहाँ से फल-फूल ग्रहण करें। आप इस विषय में स्वतन्त्र हैं। ऐसे स्थान में थोड़ा विश्राम करने के उपरान्त जाइएगा।]

संस्कृत-व्याख्या

दूरादेव भूमौ पूजापात्रादर्घ्यं विकीर्य वनदेवी तपस्विन्याः स्वागतं कर्तुमुपक्रमते यथेच्छेति।

भोः तापसी! इदम्=पुरो दृश्यमानम्, वनम्=विपिनम् वः=युष्माकम्, यथेच्छाभोग्यम्=इच्छामनतिक्रम्य समन्ताद्भोक्तव्यम् (अस्ति)। (अद्य), अयम्=उपस्थितः, मे=मम, सुदिवसः=शुभावसरः। शोभनमद्यतनं दिनमुपस्थितम्। हि=यत्, सत्यम्, सताम्=सज्जनानाम्, सद्भिः=सत्पुरुषैः, सङ्गः=सङ्गतिः, कथमपि पुण्येन=केनापि सुकृतेनैव भवति=जायते। तरुच्छाया=अश्वत्थपादच्छाया, तोयम्=जलम्, यदपि, तपसाम्, नियमानाम्=योग्यम्=समुचितम्, अशनम्=भोजनम्, फलं वा मूलं वा, तदपि इह, वने वः=युष्माकम्, भवद्विधानां कृते वा, पराधीनम्=परायत्तम् नास्ति। अस्मिन् वने विद्यमानाः सर्वेऽपि पदार्थाः भवच्छदृशानां कृते पराधीना न सन्ति। अतो यथेच्छं विश्रामं कृत्वा सनाथ्यतामिदं वनमिति भावः। अत्रातिथिसत्कारो धर्मः, इति मत्वा प्रेक्षकाणां पुरस्तात् इमं प्रसङ्गमवतारितवान् कविः।

अत्र अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। शिखरिणीच्छन्दः। तल्लक्षणं यथा—

"रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी।" इति।

प्रसादो गुणः। लाटी रीतिः ॥१॥

टिप्पणी

(१) यथेच्छाभोग्यम्—इसके स्थान पर 'यथेच्छं भोग्यम्' पाठ भी उपलब्ध होता है जिसका अर्थ भी 'इच्छानुसार भोगने योग्य' ही होगा। पहला पाठ समस्त है, दूसरा व्यस्त।

इच्छामनतिक्रम्य = यथेच्छम् 'अव्ययं विभक्ति।'
(पा० २/१/६) इति यथार्थेऽव्ययीभावः।
भोक्तुं योग्यं भोग्यम्,
"ऋहलोर्ण्यत्" (पा० ३/१/१२८) इति ण्यत्, 'चजोः कुघिण्यतो" (पा० ७-३-५२) इति कुत्वम्। समन्ताद्भोग्यम्, यथेच्छम्, आभोग्यम् यथेच्छाभोग्यम्।

(१) १. "सतां सद्भिः सङ्गः–' तुलना कीजिये—
'गृह्णानुपैतुं प्रणयादभीप्सवो,
भवन्ति नापुण्यकृतां मनीषिणः।" (शिशुपालवध१ /१४)

२. पुण्येन—'हेतौ' तृतीया। ३. तपसाम्—"तपसः" पाठ भी उपलब्ध है। पराधीनम्—परस्मिन् अधि इति पराधीनम्।

"अषडक्षाषितङ्ग्वलंकर्मालंपुरुषा—ध्युत्तरपदात्खः" (पा० ५/४/७) इति खप्रत्ययः। "आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्यया—दीनाम्" (पा० ७/१/२) इति ईनादेशः। पर = अधि + ख (ईन।)

(५) "वः"—बहुवचनस्य वसनसौ" (पा० ८/१/२१) इति अपवादौ वसादेशः। (६) अलङ्कार—अर्थान्तरन्यास। शिखरिणी छन्द। प्रसाद गुण। लाटी रीति।

तापसी—किमत्रोच्यते ?

प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः,
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः।
पुरो वा पश्चाद्वा तदिदमविपर्यासितरसं,
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते॥२॥

अन्वयः—वृत्तिः प्रियप्राया; वाचि विनयमधुरः नियमः; मतिः प्रकृत्या कल्याणी परिचयः अनवगीतः। इदम् तत् पुरो वा पश्चाद् वा अविपर्य्यासितरसम् साधूनाम् अनुपधि विशुद्धं रहस्यं विजयते॥२॥

हिन्दी—

तापसी—इस विषय में क्या कहना।

[श्लोक २] सज्जनों का परम शुद्ध चरित्र सदा विजयी (सर्वोत्कृष्ट सिद्ध) होता है। उनका व्यवहार बड़ा प्रिय, (उनकी) वाणी में बड़ी मृदुता तथा संयम, बुद्धि स्वभाव से ही कल्याणकारिणी, अनिन्दनीय परिचय तथा वे जो कुछ कहना चाहते हैं वह प्रत्यक्ष और परोक्ष में समान ही होता है। (इसलिए उनका चरित्र सर्वोत्कृष्ट है।)

संस्कृत-व्याख्या

वनदेवतायाः सरसां तथ्यां पथ्याञ्च वाङ्माधुरीं निपीय तापसी सहर्षमाह—प्रियेति।

श्रुतिः = आवृत्तिः प्रियप्राया = अतिशयप्रीतिकरी। वाचि = वाण्याम् विनयमधुरः = विनयेन मनोहरः, नियमः। मतिः, प्रकृत्या = स्वभावेन, कल्याणी = मङ्गलमयी। परिचयः = संस्तवः, अनवगीतः = अनिन्दितः। इदम् = उक्तस्वरूपम् पुरो वा पश्चाद् वा = (१) सङ्गमात्पूर्वं सङ्गमाऽनन्तरं वा (२) समक्षे परोक्षे वा अविपर्यासितरसम् = समानरूपम् साधूनाम् = महात्मनाम्, अनुपधि = अकैतवम् विशुद्धम् = पावनम् रहस्यं विजयते = विजयि भवति।

साधूनां किमपि परम-विशुद्धरहस्यं सर्वदा विजयि भवति। साधवः सर्वस्मात् सदाचार परिशीलितां वृत्तिमेव स्वीकुर्वन्ति; तेषां व्यवहारः प्रियः, वाण्यामतीव विनयो माधुर्यञ्च सदैव वर्तते; तेषां स्वभावेनैव मतिः कल्याणकारिणी भवति; परिचयोऽपि निन्दितो न भवति; सम्मुखे परोक्षे वा "तद्" "इदम्" वा, इति विपर्ययो न भवति; यत्किमपि ते वक्तुमिच्छन्ति तत्सर्वदा समानरूपमेव सम्पद्यते। अतएव सज्जनानां परमपवित्रमिद रहस्यं विजयते। अन्येषां लौकिकानां जनानां व्यवहार ईदृशो न भवति। तेषां व्यवहारे सारल्यं विनयो वा प्रायो न दृश्यते। अतएव सर्वोत्कर्षेण साधुजनानां रहस्यं विशेषरूपेण जयतीति भावः। अत्र अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कारः। व्यतिरेकश्च। शिखरिणीच्छन्दः। लक्षणं तूक्तं प्राक् पद्यमिदमनवद्यम् वितरति महाजनोचितो परमपावनीम् शिक्षाम्। अत्रापि कविहृदयं पवनबलेन सञ्चालितवीचिजालं सर इव समुच्छलति ॥२॥

टिप्पणी

(१) प्रकृत्या कल्याणी मतिः—"प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्"—इस नियम से तृतीया। (२) पुरोवा पश्चाद्वा···—इसके दो अर्थ किये जा सकते हैं १. सङ्गम से पहले अथवा बाद में। २. सामने अथवा पीछे। (३) तदिदमविपर्यासितरसम्—इसका भी दो प्रकार से अर्थ किया जा सकता है। एक अर्थ में 'तदिदम्' रहस्य का विशेषण होगा जिसका भाव होगा—"ऐसा (उक्तस्वरूप) यह साधुओं का रहस्य विजयी होता है।" द्वितीय अर्थ में 'तद्' 'इदम्' का विशेषण होगा 'अविपर्यासितरसम्' जिसका भाव होगा "(साधुओं का) 'तद्' और 'इदम्' सदा एकसा ही रहता है। भाव यह है कि वे सामने और पीछे यथार्थ बात ही कहते हैं।" इस पक्ष में, 'तदिदमविपर्यासितरसम्' पृथक् ही वाक्य होगा और चतुर्थ चरण पृथक्। (४) अविपर्यासितरसम् इसके भी दो अर्थ सम्भव हैं। (१) अनुलङ्घितानुरागम्। (२) एकरसम्। यह पद 'रहस्यं' और 'तदितम्'—दोनों का विशेषण हो सकता है। विपर्यासः सञ्जातोऽस्येति विपर्यासितः तदस्य सञ्जातं "तारकादिभ्य इतच्" (पा० ५/२/३६) इतीतच्प्रत्ययः। विपर्यास + इतच् न विपर्यासित इत्यविपर्यासितो (नञ्) रसो यस्य तदविपर्यासितरसम्। विपर्यासः = व्यत्यासः। 'स्याद् व्यत्यासो विपर्यासो व्यत्ययश्च विपर्यये"—इत्यमरः। (५) विजयते—"विपराभ्यां जेः" (पा० १/३/१९) इति विपूर्वकाज्जेरात्मनेपदत्वम्। (६) अलङ्कार—अप्रस्तुतप्रशंसा, काव्यलिङ्ग तथा व्यतिरेक। (७) तुलना कीजिये—

"वदनं प्रसादसदनं, सदयं हृदयं, सुधामुचो वाचः ।
करणं परोपकरणं, येषां केषां न ते वन्द्याः ?"

(उपविशतः)

वनदेवता—कां पुनरत्रभवतीमवगच्छामि ?

तापसी—आत्रेय्यस्मि ।

वनदेवता—आर्ये आत्रेयि ! कुतः पुनरिहागम्यते ? किं प्रयोजनो दण्डकारण्योपवनप्रचारः ?

आत्रेयी—

अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे, भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति ।
तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां, वाल्मीकिपार्श्वादिह पर्यटामि ।।३।।

अन्वयः—अस्मिन् प्रदेशे अगस्त्यप्रमुखाः भूयांसः उद्गीथविदः वसन्तिः तेभ्यः निगमान्तविद्याम् अधिगन्तुम् इह वाल्मीकिपार्श्वात् पर्यटामि ।।३।।

वनदेवता—यदा तावदन्येऽपि मुनयस्तमेव हि पुराणब्रह्मवादिनं प्राचेतसमृषिं ब्रह्मपारायणायोपासते, तत्कोऽयमार्याया प्रवासः ?

आत्रेयी—तस्मिन् हि महानध्ययनप्रत्यूह इत्येष दीर्घप्रवासोऽङ्गीकृतः ।

वनदेवता—कीदृशः ?

आत्रेयी—तत्रभगवतः केनापि देवताविशेषेण सर्वप्रकाराद्भुतं स्तन्यत्यागमात्रके वयसि वर्तमानं दारकद्वयमुपनीतम् । तत्खलु न केवलं तस्य, अपि तु तिरश्चामप्यन्तःकरणानि तत्त्वान्युपस्नेहयति ।

वनदेवता—अपि तयोर्नामसंज्ञानमस्ति ?

आत्रेयी—तयैव किल देवतया तयोः कुशलवाविति नामनी च प्रभावश्चाख्यातः ।

वनदेवता—कीदृशः प्रभावः ?

आत्रेयी—तयोः किल सरहस्यानि जृम्भकास्त्राणि जन्मसिद्धानीति ।

वनदेवता—अहो नु भोश्चित्रमेतत् ।

आत्रेयी—तौ च भगवता वाल्मीकिना धात्रीकर्मतः परिगृह्य पोषितौ रक्षितौ च । निवृत्तचौलकर्मणोस्तयोस्त्रयीवर्जमितरास्तिस्रो विद्याः सावधानेन परिनिष्ठापिताः तदनन्तरं भगवतैकादशे वर्षे क्षात्रेण कल्पेनोपनीय त्रयीविद्यामध्यापितौ । न त्वेताभ्यामतिदीप्तप्रज्ञाभ्यामस्मदादेः सहाध्ययनयोगोऽस्ति । यतः—

हिन्दी—

[दोनों बैठ जाती हैं।]

वनदेवता—सम्माननीया आपको मैं कौन समझूं ? (आप कौन हैं ? आपका परिचय ?)

तापसी—मैं आत्रेयी हूँ। (मेरा नाम आत्रेयी है)।

वनदेवता—आर्ये, आत्रेयी ? अब आप कहाँ से पधार रही हैं तथा आपके दण्डकवन में घूमने का क्या प्रयोजन है ?

आत्रेयी—[श्लोक ३] इस प्रदेश में 'अगस्त्य'—प्रभृति अनेक ब्रह्मवेत्ता (उद्गीथविद्) ऋषि रहते हैं। उनसे वेदान्तविद्या प्राप्त करने के लिए (पढ़ने के लिए) मैं वाल्मीकि जी के पास से यहाँ आ रही हूँ।

वनदेवता—जबकि और मुनिगण भी वेदाध्ययन करने के लिए उन्हीं पुरातन ब्रह्मवादी वाल्मीकि जी की सेवा करते हैं तब आप क्यों दूसरे-दूसरे स्थानों पर (वेदान्तविद्या की खोज में) घूम रही हैं ? (बड़े-बड़े मुनि भी जिनके पास वेदाध्ययन करने के लिए जाते हैं, आप उन्हीं वाल्मीकि जी के पास वेदान्तविद्या न पढ़कर इधर-उधर दूसरे गुरुओं की खोज में घूम रही हैं। बड़ा आश्चर्य है!) इसका क्या कारण है ?

आत्रेयी—वाल्मीकि जी के यहाँ अध्ययन में बड़ा विघ्न उपस्थित हो गया है; इसलिए मैंने इस लम्बे प्रवास को अपनाया है।

वनदेवता—कैसा (विघ्न) ?

आत्रेयी—वहाँ भगवान् वाल्मीकि को किसी देवता ने सर्वात्मना आश्चर्यकारी दुधमुँहे बच्चों का एक जोड़ा समर्पित किया है। वह (जोड़ा) न केवल महर्षि के ही अपितु पशु-पक्षियों के हृदय में भी स्नेह उत्पन्न कर देता है।

वनदेवता—क्या (आपको) उनके नाम का पता है ?

आत्रेयी—(बच्चों को देने वाले) उसी देवता ने उन दोनों के 'कुश' और 'लव' ये नाम तथा प्रभाव बतलाया है।

वनदेवता—कैसा प्रभाव ?

आत्रेयी—(यह कि) उनको (प्रयोग तथा संहार—शान्त करने के) रहस्य से युक्त 'जृम्भकास्त्र' जन्मसिद्ध हैं।

वनदेवता—भगवान् वाल्मीकि ने धात्री-कर्म से लेकर (सब प्रकार की सेवा करके) उनका पालन-पोषण किया है। मुण्डन होने के अनन्तर (उन्होंने उनको वेद छोड़कर शेष तीन विद्याएँ बड़ी सावधानता-पूर्वक पढ़ाईं। तदनन्तर महर्षि जी ने ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय विधि से यज्ञोपवीत-संस्कार कर उनको वेदाध्ययन भी कराया। प्रखर प्रतिभाशाली उन दोनों के साथ हम जैसों का अध्ययन करना सम्भव नहीं है। क्योंकि—

संस्कृत-व्याख्या

परस्परपरिचयप्रदानेन दण्डकारण्यप्रवेशः किम्प्रयोजनः ?—इति पृच्छन्तीं वन-देवीं प्रति समाधत्ते आत्रेयी—अस्मिन्निति ।

अस्मिन् प्रदेशे=दण्डकारण्ये, अगस्त्यप्रमुखाः—अगस्त्यप्रभृतयः भूयांसः=बहवः, उद्गीथविदः=उद्गीथवेत्तारः, वसन्ति=निवसन्ति । तेभ्यः—अगस्त्यादिभ्यः, निगमान्तविद्याम्=वेदान्तविद्याम्, अधिगन्तुम्=ज्ञातुं, पठितुम् प्राप्तुम् वा, इह=अत्र, वाल्मीकिपार्श्वात्=वाल्मीकिसमीपात्, पर्यटामि=भ्रमामि । वेदान्तशास्त्रे 'उद्गीथ'—शब्देन 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इति छान्दोग्योपनिषत् सर्वस्मिन्नपि ब्रह्माण्डे सगुणोपासनया 'एकत्वमनुपश्यतः' इति सिद्धान्तानुसारमेकं ब्रह्मतत्त्वं पश्यतां सतां कृते 'ओङ्कार'-पूजा उच्यते । सर्वमिदमोङ्कार एवेति 'समत्वं योग उच्यते' इति गीता-नुसारं ब्रह्मदर्शनं कुर्यात् साधकः इति शास्त्राणां हृदयम् । एषा विद्या च वेदान्तविद्या निगमान्तविद्या चोच्यते ।

"पुराकल्पे तु नारीणां, मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।
अध्यापनं च वेदानां, सावित्रीवचनं तथा ।।"

इति यमस्मृत्या आत्रेय्याः निगमान्तविद्याधिकारः सर्वथा समुचितः । अत्रैवार्थे 'हरीतः' अपि स्वमतिं प्रकाशयति—'द्विविधाः स्त्रियः—ब्रह्मवादिन्यः सद्यो वध्वश्च । तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भैक्ष्यचर्या:" इति । 'तेभ्यः' इत्यत्र 'आख्यातोपयोगे' (पा० १/४/२९) इति नियमपूर्वकविद्यास्वीकारे पञ्चमीविभक्तिर्भवति ।।३।। 'ननु ब्रह्मणः=वेदस्य पारायणम्=अध्ययनं कर्तुं बहवो मुनयस्तमेव प्राचेतसं वाल्मीकिमुपासते, पुनरत्रभवती कथमरण्यक्लेशं वहती'ति प्रश्नस्य समाधानं कर्तुमु-स्थितमध्ययने प्रत्यूहम्—विघ्नं निरूपयति आत्रेयी—तत्रभगवत इति । महर्षेः हस्ते केनापि देवताविशेषेण बालकद्वयं न्यासीकृतम् । तच्च युगलं सर्वेषां चराचराणां मनांसि स्निग्धानि करोति स्वव्यापारेण । अत्र प्रतिमुखसन्धिः । आत्रेयी आह—तौ चेति । भगवता वाल्मीकिना तयोश्चूडाकर्म कृतम् । उपनयनात्पूर्वं वेदं विना सर्वा विद्या अध्या-पिताः, उपनयनानतरञ्च वेदोऽपि । ताभ्यां दीप्तबुद्धिभ्यां सहास्मद्विधानामध्ययनं नैव सम्भवति—इति सारः । चूडाकर्मणो विधाने शास्त्रे नियमः परिकल्पितः—

"चूडाकर्म द्विजातीनां, सर्वेषामेव धर्मतः ।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात् ।।" [मनुस्मृतौ] ।

विद्याश्चतुर्विधाः । तथा हि—

"आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीतिश्च शाश्वती ।
विद्या ह्येताश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः ।।"

तत्र त्रयी-ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यास्त्रयो वेदाः । उपनयन-नियमोऽपि मनुना निरधारि । तथा हि—

"गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत, ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो, गर्भात्तु द्वादशे विशः ।।" इति ।।

"त्रयीर्विद्यामध्यापितौ"—इत्यत्र 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्त्ता स णौ" इति द्वितीयाविभक्तिः। एतेन वाल्मीकिमहर्षेराश्रमे बालिकानां बालकैस्सहाध्ययन-व्यवस्था समासीदिति ज्ञायते।

टिप्पणी

(१) कां पुनरत्रभवतीम्···—यह परिचय प्राप्त करने का बहुत ही सभ्य और शिष्ट ढङ्ग है। (२) आत्रेय्यस्मि—आत्रेयी का उत्तर विनम्रता से युक्त है। वह अपना अधिक लम्बा परिचय प्रस्तुत न करके केवल नाम ही बताती है। आत्रेयी = अत्रेरपत्यं स्त्री आत्रेयी, 'इतश्चाऽनिञः' (पा० ४/१/१२२) सूत्र से उसे ठक्: आयनेयी०' से एच् ठिड्ढाणञ्···"(पा० ४/१/१५) से ङीप्। (३) अगस्त्यप्रमुखाः—प्रकृष्टं मुखं प्रमुखम्। अगस्त्यः प्रमुखो येषाम् अथवा अगस्त्यः प्रमुखे येषाम् ते। अगस्त्य मित्रावरुण के पुत्र थे जो वसिष्ठ के साथ ही एक कुम्भ से उत्पन्न हुए थे। (४) उद्गीथविदः =उद्गीथं विदन्ति इति जानन्ति इति उद्गीथविदः उद्गीथ + विद + क्विप्। "उद्गीथ" शब्द का तात्पर्य है "ॐ" (ओंकार) जिसे प्रणव भी कहते हैं। ओङ्कार ब्रह्म का प्रतीक है जिसका सतत ध्यान करने से ब्रह्म की प्राप्ति की जा सकती है। "यह सारा संसार ओंकारमय है"—ऐसा समझकर साधक उस परमतत्त्व को प्राप्त करे—यही शास्त्रों का सार है। (५) तेभ्योऽधितन्तुम्—जिससे नियमपूर्वक विद्या स्वीकार की जाय उस (आख्याता) में पञ्चमी होती है "आख्यातोपयोगे" (पा० १/४/२९) के अनुसार। (६) निगमान्तविद्याम्—वेदान्तविद्या को। निगम' शब्द का अर्थ है 'वेद'। नितरां गम्यते बुध्यते परमतत्त्वमनेनेति निगमः नि + $\sqrt{}$गम् + अप् करणे। अथवा निगच्छन्त्यनेनेति निगमच्छन्दः। वणिपयथः पुरं वेदो निगमाः" इत्यमरः। वेद 'मन्त्र' और 'ब्राह्मणों' का संकलन है। 'ब्राह्मणों के अन्तिम भाग को 'आरण्यक' कहते हैं जिसमें प्रधान उपनिसद् समाविष्ट है। उपनिषदों में ब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञान भरा पड़ा है। इन उपनिषदों में स्थित विद्या (विद्यते ज्ञायते इति विद्या $\sqrt{}$वद + क्यप् (भावे) वेदान्त या निगमान्त विद्या कहलाई जाती है। (७) तेभ्योऽधिगन्तुं ···पर्यटामि—आत्रेयी निगमान्तविद्या को प्राप्त करने की अधिकारिणी थी क्योंकि यमस्मृति की अनुमति है—एक शङ्का यहाँ से हो सकती है कि पहले स्त्रियों को वेदाधिकार नहीं था फिर आत्रेयी कैसे इसकी अधिकारिणी हुई? इसका समाधान यह है कि पहले दो प्रकार की स्त्रियाँ होती थीं—१. गृहिणियाँ तथा २. ब्रह्मवादिनी। इसमें दूसरे प्रकार की स्त्रियों को वेदाधिकार था। हारीत इस विषय में लिखते हैं—'द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च; तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भैक्ष्यचर्या।" अतएव, "सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्री-शूद्रयोर्नेच्छन्ति" एवं 'सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्री शूद्रो यदि जानीयात् मृतः सोऽधोगच्छति" इत्यादि उक्तियाँ गृहिणियों के विषय में ही जाननी चाहिएँ ब्रह्मवादिनियों के विषय में नहीं। (८) पुराणब्रह्मवादिनम्—पुराणश्चासौ ब्रह्मवादी तम्। ब्रह्म वदतीति ब्रह्मवादिन्। देखिए श्वेताश्वतर० के ये शब्द—"ब्रह्मवादिनो वदन्ति। किं कारण ब्रह्म कुतः स्म जाता? जीवाम केन? क्व

च सम्प्रतिष्ठाः ?'' (९) प्राचेतसम्—वाल्मीकि को। वाल्मीकि प्रचेतस् (वरुण) के दशम पुत्र थे। 'प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनन्दन।' (रामा०/उत्तर०/९६/१८) (१०) तत्खलु न केवलं तस्य······—इसके स्थान पर यह पाठ अधिकतया उपलब्ध है—"तत् खलु न केवलमृषीणामपि तु चराचराणां भूतानामन्तराणि तत्त्वान्युपस्नेहयति।" (११) अपि तयो···—'नामसंज्ञानम् के स्थान पर "नामसंविज्ञानम्" पाठा०। (१२) आख्यातः—आ + √चक्ष (ख्या) + क्त कर्मणि। (१३) धात्रीकर्मतः परिगृह्य—१. धात्री का कार्य स्वीकार करके उनका पोषण किया है। २. धात्री के कार्य से लेकर आचार्य के कार्य तक सभी कार्य करके पोषण किया है। पाठान्तर—"धात्रीकर्म्मवस्तुतः परिगृह्य।"

(१४) निवृत्तचौलकर्मणोः—निवृत्तं चौलकर्म ययास्तयोः। जिनका चूडाकर्म (मुण्डन) हो गया है। इसके विषय में नियम है—"चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामिव धर्मतः। प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात्।' (मनु० २/३५) तृतीयेवर्षे चौलं यथाकुल धर्मं वा (आश्वलायन गृह्य०)। (१५) त्रयीवर्जमितरास्तिस्रो विद्याः—'त्रयी का अर्थ है—'ऋक्, साम और यजुर्वेद। "स्त्रियामृक् सामयजुषी इति वेदास्त्रयी" इत्यमरः।

'कामन्दक' के अनुसार अङ्ग और पुराण भी त्रयी में समाविष्ट हैं—

"अङ्गानि वेदाश्चत्त्वारो, मीमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणं च, त्रयीदं सर्वमुच्यते।" (२/१३)

'त्रयी' के अतिरिक्त तीन विद्याएँ हैं—१. आन्वीक्षिक, २. वार्ता एवं दण्डनीति।

'त्रयीवर्जमितरस्तिस्रः"—के स्थान पर केवल 'त्रयीवर्जमितराः" पाठ भी है। इस पाठ के अनुसार तीन वेदों को छोड़कर शेष एकादश विद्याएँ भी गृहीत हो सकती हैं। चतुर्दश विद्याएँ प्रसिद्ध हैं।

त्रयीवर्जम् = त्रयीं वर्जयित्वा। त्रयी + √वर्जि (चुरादि) + णमुल् भावे। "द्वितीयायां च" (पा० ३/४/५३)

(१६) तदनन्तरं··· अध्यापितौ—पाठान्तर—"समनन्तरञ्च गर्भैकादशे वर्षे क्षात्रेण कल्पेनोपनीय तौ त्रयीविद्यामध्यापितौ।'

'त्रयी विद्या यज्ञोपवीत होने के अनन्तर' ही शिष्य को गुरु के द्वारा दी जाती थी। क्षत्रिय का उपनयन गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में किया जाने का विधान है—'उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्। वेदमध्यापयेदेनं, शौचाचारांश्च शिक्षयेत्।' (यज्ञ० १/१५) गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपमनायवम्। गर्भादेकाशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः।' (मनु० २/२६)

(१७) एकादश—एकादशानां पूरणम् इति एकादशम्; तस्मिन्। एकादश + डट्। तस्य पूरणे डट्" (पा० ५/२/४८)। (१८) अस्मदादेः—वयम् (अर्थात् अहम्) आदिर्यस्य जडसमूहस्य) सः अस्मदादिस्तस्य। (१९) सहाध्ययनम्—सह अध्ययनम् इति सहाध्ययनम्। 'सुप् सुपा' समासः। आत्रेयी के इस कथन से 'उस समय सहशिक्षा (Co-education) की व्यवस्था थी—यह ज्ञात होता है।

वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां तथैव तथा जडे,
न तु खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा।
भवति हि पुनर्भूयान् भेदः फलं प्रति तद्यथा,
प्रभवति शुचिर्बिम्बग्राहे मणिर्न मृदादयः ॥४॥

अन्वयः—गुरुः यथा प्राज्ञे तथैव जडे विद्यां वितरति, तयोर्ज्ञाने शक्तिं न तु करोति न वा अपहन्ति खलु। फलं प्रति पुनः भूयान् भेदः भवति। तद् यथा—शुचिः मणिः बिम्बग्राहे प्रभवति, मृदादयः न (प्रभवन्ति) अथवा मृदां चयः न प्रभवति ॥४॥

हिन्दी—

[श्लोक ४]—गुरु जिस प्रकार बुद्धिमान् (छात्र) को विद्या प्रदान करता है उसी प्रकार मूर्ख को भी। वह न तो उन दोनों के ज्ञान में शक्ति (योग्यता) बढ़ाता है और न घटाता ही। परन्तु साथ-साथ पढ़ाये जाने पर भी परिणाम में बहुत भेद होता है। (कोई प्रथम, कुछ द्वितीय, अन्य तृतीय तथा दूसरे उससे भी आगे की (०) श्रेणी में आते हैं।) इस प्रकार स्पष्ट है (कि) निर्मल मणि ही प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ होती है, मिट्टी आदि पदार्थ नहीं।

संस्कृत-व्याख्या

कथं नाध्ययनयोगः ? इत्यत्रोक्तोऽपि हेतुः प्रकारान्तरेण विन्यस्यते—वितरति इति।

अयमाशयः—गुरुर्यथा (येन प्रकारेण) प्राज्ञाय शिष्याय विद्यां ददाति तथैव-जडायापि न च स तयोर्ज्ञाने शक्तिं वर्धयति न वा शक्ति-ह्रासं कस्यचित् करोति, किन्तु फलं प्रति बलीयान् भेदः स्फुटं प्रतीयते। एकस्मिन्नेव समये एकयैव शैल्या अध्यापितेषु छात्रेषु फलवैषम्यं दृश्यते एव। तत्र केचित् प्रथमां श्रेणीं लभन्ते, केचन द्वितीयां केचन च तृतीयाम्। अपरे पुनः सर्वथैव स्वभाले वैफल्य-तिलकं संयोजयन्ति। अतः स्पष्टमिदत्—मृदां चयो बिम्बग्रहणेऽसमर्थः, मणिस्तु शुचिः समर्थः। तस्मादत्र गुरुजनानां दोषो मनागपि नाशङ्कनीयः। छात्राणामपि विशिष्टो दोषो नास्ति। बुद्धिस्तु स्वकर्मफलानुसारं सर्वेषां यथायथं भिन्नैव भवति।

अत्र "उपमा" "दृष्टान्तश्च" अलङ्कारौ। 'मृदादयः' इत्यत्र 'मृदां चयः' इति क्वचित् पाठः। प्रसादो गुणः। लाटी रीतिः। हरिणीच्छन्दः। तल्लक्षणम् यथा—
"रसयुगहयैर्न्सौम्रौस्लौगो यदा हरिणी तदा।" ॥४॥

टिप्पणी

(१) पाठान्तर—१. 'भवति हि' के स्थान पर 'भवति च'। २. 'मृदादयः' के स्थान पर मृदां चयः=मिट्टी का ढेर। (२) फलं प्रति—"अभितः—परितः—समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि"—इति द्वितीया। (३) प्रभवति शुचि—वस्तुतः पात्र के गुणवैशिष्टय से ही उसमें अन्य गुणों की संक्रान्ति हुआ करती है। इस विषय में रैवतक-वर्णन में आया हुआ महाकवि माघ का यह श्लोक द्रष्टव्य है—

१. "फलाद्भिरुष्णांशुकराभिमर्शात्,
कार्शानवं धाम पतङ्गकान्तैः ।
शशंस यः पात्रगुणाद्गुणानां,
संक्रान्तिमाक्रान्तगुणातिरेकाम् ॥ (शिशुपाल०, ४/१६)

और भी भावसाम्य के लिये—

२. "पात्रविशेषे न्यस्तं, गुणान्तरं व्रजति शिल्पमधातुः ।
पय इव समुद्रशुक्तौ, मुक्ता फलतां पयोदस्य ॥"
(मालविकाग्निमित्र, १/१३)

३. "क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति" (रघुवंश, ३/२९)

४. "चीयते बालिशस्यापि, सत्क्षेत्रपतिता कृषिः ।
न शालेः स्तम्बकरिता, वप्तुर्गुणमपेक्षते ॥" (मुद्राराक्षस, १/३)

वनदेवता—अयमध्ययनप्रत्यूहः ?

आत्रेयी—अन्यश्च ।

वनदेवता—अथापरः कः ?

आत्रेयी—अथ स ब्रह्मर्षिरेकदा माध्यन्दिनसवनाय नदीं तमसामनुप्रपन्नः । तत्र युग्मचारिणोः क्रौञ्चयोरेकं व्याधेन वध्यमानं ददर्श । आकस्मिकप्रत्यवभासां वाचमनुष्टुभेन छन्दसा परिणतामभ्युदैरयत् ।

"मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्" ॥५॥

हिन्दी—

वनदेवता—यही अध्ययन में विघ्न है ?

आत्रेयी—(नहीं) और (दूसरा) भी है ।

वनदेवता—वह और कौनसा है ?

आत्रेयी—(वह यह है कि)—एक दिन महर्षि मध्याह्नकालिक स्नान के लिये तमसा (नदी) पर गये । वहाँ उन्होंने परस्पर विहार करने वाले क्रौञ्च (नाम के पक्षियों) के जोड़े में से एक को (किसी) व्याध के द्वारा मारे जाते हुए देखा । (इस करुण दृश्य को देखकर) उन्होंने सहसा प्रादुर्भूत "अनुष्टुप्" छन्दोबद्ध वाणी कही—

[श्लोक ५]—अरे निषाद ! तू शाश्वत वर्षों (बहुत काल) तक स्थिति (शान्ति) मत प्राप्त कर, क्योंकि इस क्रौञ्च के जोड़े में से काम से मोहित एक (पक्षी) को तूने मार डाला है ॥५॥

संस्कृत-व्याख्या

विघ्नान्तरं प्रदर्शयति आत्रेयी—अथ स इति । एकदा भगवान् वाल्मीकिः मध्याह्नकालिकस्नानं [सवनं त्रिविधं—प्रातः, मध्याह्ने सायं च स्नानं कुर्वन्ति

धर्मानुष्ठातारः] कर्त्तुं तमसायास्तीरे गतः। तत्र क्रौञ्चयोर्युगले एकः सहचरः केनापि व्याधेन हतः। इदं करुणापूर्णदृश्यं दृष्ट्वा परिखिद्यतः ऋषेराननात्सहसैवानुष्टुप्-च्छन्दोमयी वाणी निर्गता। कीदृशी सा? इत्याह—मा निषाद! इति। [अयं श्लोको वाल्मीकि-रामायणस्य बालकाण्डे द्वितीयसर्गे १५ संख्याकः। ततश्चात्र नाटके ५ संख्यास्य नोचिता। अस्यार्थास्तु विद्वद्भिर्यथामपि विविधाः कृताः। ते च स्वयं रामायणभाष्यादौ द्रष्टव्याः। प्रकृतोपयोग्यर्थोऽत्र दीयते] तथा हि—भो निषाद! = व्याध! तव सर्वदा प्रतिष्ठा मा भूत यतस्त्वं काममोहितमस्याः सहचरं मारितवान् इति। अत्र करुणोरसः। शोकोऽत्र स्थायिभावः। क्रौञ्च आलम्बनविभावः। तत्संहार उद्दीपनविभावः वाल्मीकेराक्रोशः अनुभावः। निषादचिन्तादयो व्यभिचारिणः।

अस्यैव श्लोकस्य कीर्तनं ध्वन्यालोके—

"काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथाचादिकवेः पुराः।
क्रौञ्चद्वन्द्वविययोगोत्यः शोकः श्लोकत्वमागतः॥"

कविकुलगुरूरप्याह रघुवंशस्य चतुर्दशे सर्गे—

तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी, कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निपादविद्धाण्डज दर्शनोत्थः, श्लोकत्व मापद्यत यस्य शोकः॥

अत्र काव्यलिङ्गमलङ्कारः।

टिप्पणी

(१) माध्यन्दिनसवनाय—मध्याह्नकालिक स्नान एवं सन्ध्या के लिए √सु + ल्युट् भावे सवनम्। दिन में तीन सवन होते थे—१, प्रातः सवन, २. माध्यन्दिन सवन तथा ३. तृतीय सवन (सायन्तन सवन) देखिए छान्दोग्य० और रामायण—

"ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातः सवनम्, रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनमा-दित्यानाञ्च विश्वेषांदे वानाञ्च तृतीयसवनम्। (छान्दोग्योप० २/२४/१)

"अभिपूज्य तदा हृष्टाः, सर्वे चक्रुर्यथाविधि।
प्रातः सावनपूर्वाणि, कर्माणि मुनिपुङ्गवाः॥
ऐन्द्रश्च विधिवद्दत्तो, राजा चाभिषुतीऽनघः।
माध्यन्दिनञ्च सवनं, प्रावर्त्तत यथाक्रमम्॥
तृतीयसवनं चैव, राज्ञोऽस्य सुमहात्मनः॥

(रामायण, बालकाण्ड, १४/५/७)

(२) तमसाम्—तमसा एक नदी थी जो गङ्गा के समीप ही प्रवाहित होती थी।

"स मुहूर्त्तं गते तस्मिन्, देवलोकं मुनिस्तदा।
जगाम तमसातीरं, जाह्नव्यास्त्वदूरतः॥" (रामायण, बालकाण्ड, २/३)

(३) आकस्मिकप्रत्यवभासाम्—आकस्मिकः प्रत्यवभासः यस्यास्ताम्। जो सहसा प्रकाशित हुई है। कहीं 'वाचम्' के आगे 'अव्यतिकीर्णवर्णाम्' पाठ और प्राप्त होता है जिसका अर्थ है 'स्पष्टाक्षर वाली। (वाणी) को'। प्रति + अव + √भास् + घञ् भावे = प्रत्यवभासः। (४) मा अगम—श्लोक में 'मा अगमः' यह आर्ष प्रयोग है। व्याकरण के 'न माङ्योगे' (पा० ६/४/७४) नियमानुसार 'माङ्' के योग में 'अट्' का आगम नहीं हो सकता। अतः 'मा गमः' शुद्ध प्रयोग है। यदि 'माङ्' के स्थान

पर 'मा' मानकर अडागम का समर्थन करने की चेष्टा की जाय तो भी छुटकारा नहीं मिल सकता क्योंकि 'माङि लुङ्' नियम के अनुसार 'माङ्' के विना लुङ् लकार हो ही नहीं सकता। अतः इसे आर्ष प्रयोग ही मानना उचित होगा। वैसे वीरराघव ने 'त्वमगमः' में से 'तु+अम+गमः' ये तीन पद निकाले हैं। ऐसी अवस्था में उपर्युक्त शङ्का नहीं रहती किन्तु 'अम' का "न विद्यते मा लक्ष्मीर्यस्य सः अमः तस्य सम्बुद्धौ" 'हे अम्'—यह अर्थ क्लिष्ट कल्पना-सा ही जान पड़ता है। अस्तु। (५) श.श्वतीः समाः—'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० २/३/५) इस नियम से द्वितीया। (६) मा निषाद······काममोहितम्—इस पद्य के तीन प्रकार से व्याख्याकारों ने अर्थ किये है—१. निषाद के पक्ष में, २. राम के पक्ष में एवं ३. रावण के पक्ष में। निषाद पक्षीय अर्थ ऊपर लिखा जा चुका है। श्रीराम के पक्ष में व्याख्या यह होगी—'मा-लक्ष्मीर्निषीदति अस्मिन्निति मानिषादः। तत्सम्बुद्धौ हे मानिषाद! = हे राम! (रामस्य विष्णुत्वात् सीतायाश्च लक्षम्यशत्वात) त्वं शाश्वतीः समाः = निरन्तरान् वत्सरान्, प्रतिष्ठाम् अगमः—प्राप्तवान् असि। यत्—यस्मात् क्रौञ्चमिथुनात् बालि-तारयोः रावणमन्दोन्दर्योर्वा यन्मिथुनं तस्मात् एकं काममोहितम् = कामतः भ्रातृपत्न्यां तारायां रममाणं बालिनं, सीतायामासक्तचितं रावणं च, अवधीः = हतवान्। रावण के पक्ष में यह अर्थ होगा—"नितरां सादयति = पीडयति इति निषादः = रावणः तत्सम्बुद्धौ निषाद! = रावण! यत् = यस्मात् क्रौञ्चमिथुनात् = (अल्पीभावार्थक्रुञ्चेः पचाद्यच्। क्रुञ्चम्। तयः स्वार्थिकोऽण्। क्रौञ्चम्) राजक्षयवनवासादिदुःखादत्यल्पीभूतं यन्मिथुनं सीतारामरूपं तस्मादेकं सीतारूपं यस्मादवधीः वधादभ्यधिकपीडां प्रापित-वानसि तस्मात्त्वं प्रतिष्ठाम्···अतः परं मा गमः।" यद्यपि ये अर्थ पूर्णतः तीनों पक्षों में लग जाते हैं तथापि यह अधिक ठीक जँचता है कि मूलतः इस श्लोक का सम्बन्ध निषाद से ही है क्योंकि इस श्लोक में वाल्मीकि का ही शोक बीजरूप से प्रतिष्ठित है। देखिये—रामायण, रघुवंश एवं ध्वन्यालोकः—

१. "पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः।
शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे, श्लोको भवतु नान्यथा॥"

× × ×

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः, पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद्भूयः, शोकः श्लोकत्वमागतः॥
तस्य बुद्धिरियं जाता, महर्षेर्भावितात्मनः।
कृत्स्नं रामायणं काव्यमीदृशैः करवाण्यहम्॥"

(बालकाण्ड, २/१८, ४०-४१)

२. 'निषादविद्धाण्डजदर्शनेन,
श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥' (रघुवंश, १४/७८)

३. "काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः, शोकः एव श्लोकत्वमागतः॥

विविधविशिष्टवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः सन्निहितसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः शोकः एव श्लोकतया परिणतः।"

(ध्वन्या०, १/५)

वनदेवता—चित्रम् । आम्नायादन्यत्र नूतनश्छन्दसामवतारः ।

आत्रेयी—तेन हि पुनः समयेन तं भगवन्तमाविर्भूतशब्दब्रह्मप्रकाशमृषिमुपसंगम्य भगवान् भूतभावनः पद्मयोनिरवोचत—'ऋषे ! प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि । तद्ब्रूहि रामचरितम् अव्याहतज्योतिरार्षं ते चक्षुः प्रतिभातु । आद्यः कविरसि" इत्युक्त्वान्तर्हितः । अथ स भगवान् प्राचेतसः प्रथमं मनुष्येषु शब्दब्रह्मणस्तादृशं विवर्तमितिहासं रामायणं प्रणिनाय ।

वनदेवता—हन्त तर्हि पण्डितः संसारः ।

आत्रेयी—तस्मादेव हि ब्रवीमि 'तत्र महानध्ययनप्रत्यूह' इति ।

वनदेवता—युज्यते ।

आत्रेयी—विश्रान्तास्मि भद्रे ! सं प्रत्यगस्त्याश्रमस्य पन्थानं ब्रूहि ।

वनदेवता—इतः पञ्चवटीमनुप्रविश्य गम्यतामनेन गोदावरीतीरेण ।

आत्रेयी—(सास्रम् ।) अप्येतत्तपोवनम् ? अप्येषु पञ्चवटी ? अपि सरिदियं गोदावरी ? अप्ययं गिरिः प्रस्रवणः ? जनस्थानवनदेवता त्वं वासन्ती ?

वनदेवता—तथैव तत्सर्वम् ।

आत्रेयी—हा वत्से जानकि !

स एष ते वल्लभबन्धुवर्गः, प्रासङ्गिकीनां विषयः कथानाम् ।
त्वां नामशेषामपि दृश्यमानः, प्रत्यक्षदृष्टामिव नः करोति ॥६॥

अन्वयः—प्रासङ्गिकीनां कथानां विषयः दृश्यमानः सः एष ते वल्लभबन्धुवर्गः नामशेषाम् अपि त्वाम् नः प्रत्यक्षदृष्टाम् इव करोति ॥६॥

हिन्दी—

वनदेवता—आश्चर्य है ! वेद से अतिरिक्त (लोक में) भी छन्दों का नया प्रादुर्भाव !

आत्रेयी—उस समय, भगवान् वाल्मीकि, जिनके (अन्तःकरण में) शब्द रूप ब्रह्म का प्रकाश आविर्भूत हो चुका था—के पास आकर समस्त संसार के उत्पादक ब्रह्माजी ने कहा "ऋषे ! तुम शब्दस्वरूप ब्रह्म में प्रबुद्ध हो गये हो, अतः रामचरित्र को कहो (लिखो=वर्णन करो) । अप्रतिहत प्रकाश वाला आर्ष ज्ञान तुम्हारे अन्तःकरण में) सदा प्रकाशित हो, तुम 'आदिकवि' हो ।" यह कहकर वह अन्तर्धान हो गये । तदनन्तर भगवान् वाल्मीकि ने मनुष्यों में सर्वप्रथम शब्द-ब्रह्म के वैसे "विवर्त्त-रूप" रामायण (नामक) इतिहास का निर्माण किया । (इसलिये "रामायण" —रचना में संलग्न रहने के कारण आदिकवि के पास पढ़ाने के लिये समय ही नहीं है । अतः मैं इन दो कारणों से यहाँ चली आई हूँ ।)

वनदेवता—वाह ! तब तो (सारा) समाज (ही) पण्डित हो गया !

आत्रेयी—इसीलिए तो मैं कहती हूँ कि वहाँ अध्ययन में बड़ा विघ्न है !

वनदेवता—ठीक है !

आत्रेयी—भद्रे ! मैं विश्राम कर चुकी हूँ। (अतः) अब अगस्त्याश्रम का मार्ग बतलाओ।

वनदेवता—यहाँ से पञ्चवटी में प्रवेश करके गोदावरी के किनारे-किनारे चली जाइये।

आत्रेयी—(आँखों में आँसू भरकर) क्या यह (वही) तपोवन है ? क्या यह (वही) पञ्चवटी है ? क्या यह (वही) गोदावरी नदी है ? क्या यह प्रस्रवण पर्वत है ? क्या तुम (भी) जनस्थान वन की देवी वासन्ती हो ?

वनदेवता—यह सब कुछ वही है !

आत्रेयी—हा वत्से सीते !

[श्लोक ६]—प्रासङ्गिक बातचीत के विषय-भूत दिखाई देने वाले तुम्हारे ये प्रिय बन्धुगण (बन्धु-तुल्य, वृक्ष, पर्वत, नदी, पशु-पक्षी आदि) नामशेष (मृत) तुमको हमारे लिए प्रत्यक्षः-दृष्ट-सी कर रहे हैं। (यद्यपि तुम आज इस संसार में नहीं हो यथापि इन प्रदेशों का निरीक्षण करने से तुम्हारी सलौनी सूरत आँखों के सामने रहकर नाच उठती है।)

संस्कृत-व्याख्या

आत्रेयीवचनं निशम्य साश्चर्यमाह वनदेवी—चित्रमिति । आश्चर्यम् ! आम्नायः=वेदः, आम्नायसमाम्नायशब्दौ वेदे प्रसिद्धौ । "श्रुति स्त्री वेद आम्नाय-स्त्रयी" इत्यमरः । तस्मादन्यत्र लोके नूतन एवायं छन्दसाम्=अनुष्टुबादीनाम् अव-तारः=समागमनम् । वेदे एव छन्दांस्यासन्, न तु लोके । लोके केवले गद्ये एव काव्यादिकं प्रचलति स्म । श्रीवाल्मीकेरारम्भादेवेयं प्रवृत्तिरभूदिति भावः । छन्दांसि द्विविधानि—वैदिकानि लौकिकानि च । वैदिकेषु वर्णानां परिगणनम्, लौकिकेषु च वर्णानां मात्राणाञ्च । वैदिकेऽनुष्टुप्छन्दसि चत्वारः पदाः प्रतिपादमष्टौ वर्णाः, मिलित्वा ३२ द्वात्रिंशदक्षराणि यथा—पुरुषसूक्ते "सहस्र शीर्षाः" इत्यादौ । लौकिके चापि तथैव । परं प्रतिपदं पञ्चमो वर्णो लघुः षष्ठश्च दीर्घः—इति नियमः । इति दिक् । कथा-क्रमं पुनरारभ्यात्रेयी ब्रूते—तेन हि इति । तदैव भगवन्तं वाल्मीकिं, आविर्भूतः प्रकटितः शब्दरूपब्रह्मणः प्रकाशो यस्मिन् (यस्य वा) तं, समुपेत्य भगवान् भूतानां=सर्वजगतां भावनः—समुत्पादकः, पद्ममेवयानिः=उत्पत्ति-स्थानं यस्य सः, अवोचत्=अकथयत्—"ऋषे ! त्वं शब्दब्रह्मणि निष्णातः, अतो राम-चरितं वर्णय । अव्याहतप्रकाशं च ते आर्षम्=ऋषिसम्बन्धि चक्षुः=ज्ञाननेत्रं प्रका-शितं भवतु । आदिकविस्त्वमेवासि"—इत्युक्त्वा प्रच्छन्नोऽभूत् । अनन्तरं च स एव भगवान् प्राचेतसः=वाल्मीकिः मनुष्येषु प्रथमावतीर्णं शब्दात्मक ब्रह्मणो विवर्तरूप-मितिहासं "रामायणं"=रामस्य अयनं,=स्थानं, प्रणिनाय,=प्रणीतबान् ततश्च —रामायणनिर्माणे संलग्नः सः महर्षिः । अध्यापनार्थं तस्य सविधे समय एव नास्ति —इति को लाभस्तत्रेति मत्वा समागतास्मीति भावः । "विवर्त्त"—पदेन कस्य-

चित्पदार्थस्य परिणामविशेष एव गृह्यते । परन्तु परिणाम—विवर्त्तयोर्भेदोऽस्ति । तथाहि—"प्रकृतिस्वरूपापरित्यागे सति रूपान्तरस्वीकारो विवर्त्तः" "प्रकृतिस्वरूप-परित्यागेन रूपान्तरस्वीकरणं परिणामः" इति । अतएव—"अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदीरितः"—इति लक्षणम् । अत्रेदं रहस्यम्—वेदान्तसिद्धान्ते 'विवर्त्तवादो' मतः । तन्मते कारणान्येव कार्यरूपं धारयन्ति । "नामरूपे व्याकरवाणि" इति श्रुत्य-नुसारं वस्तुतत्त्वमपरिहाय नाम-रूप-भेद एव भवति । अतएव ब्रह्मैव जगद्रूपेण परि-णतम्, न तु वस्तुतो "जगत्"-संज्ञः कोऽप्यतिरिक्तः पदार्थः । यथा मृदेव घटरूपं धारयति । तत्र 'घटः' इति नाम वर्तुलाद्याकारश्चोभावपि मिथ्याभूतौ । तयोः परि-त्यागे मृदेवावशिष्येत । अयमस्ति विवर्त्तवादः । 'परिणामवादे च—कारणं कार्ये विलीनं सत् स्वरूपं सर्वथा परित्यजति—इति संक्षेपः । इतिहासः—इति ह= इत्यमेवं=आस्ते । इति+ह पूर्वकात् √"आस्" धातोर्घञ् प्रत्ययेन निष्पन्नोऽयं शब्दः । "शब्दब्रह्म"—इति । वैय्याकरणाः, मीमांसकाः साहित्यिकाश्च शब्दं नित्यं मन्यन्ते । नैयायिकाश्च अनित्यम् । वैय्याकरणानां मते च "शब्द-स्फोटः" एव ब्रह्म-व्यापकं विद्यते । ततश्चरामायणनामकः कश्चिन्नवीनः पदार्थो नास्ति अपि सदातन इतिहास एव रामायणशब्दैर्विशेषरूपेण वर्त्तते—इति विवर्त्तभावं गमितः । एतेन वेदवद् रामायणस्यापि नित्यता । अतएव ब्रह्मणा आर्षम् ज्ञानं त्रिकालाबाधितम् ते प्रतिभातु—इत्याशीर्वादः प्रदत्तः । "ऋषिदर्शनात्" । "ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो भवति" इति भावः । आत्रेयी मुखाद्रामायणसमाचारमाकर्ण्य सहर्षमाह वनदेवी—हन्त इति । 'हन्ते'ति हर्षद्योतकमव्यय-पदम् । "हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः"—इत्यमरः । तर्हि संसारः पण्डितो जातः, सर्वोऽपि लोको रामायणं पठित्वा श्रुत्वा च राम-चरित्र-पाण्डित्यं लप्स्यते—इति भावः । वासन्त्याः वचनात् 'पञ्चवटीय'मिति विदित्त्वा सकरुणं सीता संस्मृत्य आह=स एष इति ।

हा वत्से जानकि ! तव प्रसङ्गे समागतानां कथानां विषयभूतोऽयम् तवाति-प्रियो बन्धुवर्गः (अत्रत्या वृक्षाः, पर्वताः, सरितः, पशु-पक्षिणश्च सर्वेऽपि बान्धवा इवाभवन् दृश्यमानः सन् नामशेषां (विपन्नाम् ?) अपि प्रत्यक्षदृष्टामिवास्माकं करोति । यद्यपि मया सीतादेवी नैव दृष्टा, सा चेदानीमस्मिन् भुवो भागे न विद्यते तथाप्येतेषां स्थानादीनां दर्शनेन प्रत्यक्षदृष्टामिव तां मन्ये—इति भावः । क्वचित् "बन्धु"—इत्यस्य स्थाने "शाखी"ति पाठः । अत्र सीतायाः प्रत्यक्षवर्णनमिव कृतमिति । "भावि-कालङ्कारः" । तल्लक्षणं यथा—

"अद्भुतस्य पदार्थस्य, भूतस्याथ, भविष्यतः ।
यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम् ॥" इति ।

"इव"—पदोपपादनेन "उत्प्रेक्षा" च । इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोर्मिश्रणादुपजातिश्छन्दः । लक्षणञ्च—'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ, पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ।' इति । प्रसादो गुणः । वैदर्भी रीतिः ॥६॥

टिप्पणी

(१) आम्नायादन्यत्र नूतनश्छन्दसामवतारः—आम्नायते इति आम्नायः= वेदः। आ+√म्ना+घञ् कर्मणि । "श्रुतिः स्त्रीः वेद आम्नायस्त्रयी धर्मस्तु तद्विधिः" इत्यमरः। अवतरत्यनेन इति अवतारः=अव+√तृ+घञ् करणे। छन्द दो प्रकार के हैं—वैदिक और लौकिक। वैदिक छन्द वर्णों की संख्या पर चलते हैं किन्तु लौकिक (वर्णिक और मात्रिक) छन्दों में लघु गुरु का विचार किया जाता है। उदाहरणार्थ—वैदिक "अनुष्टुप्" में चार चरण होते है जिनमें आठ-आठ अक्षर होते हैं—"द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् चत्वारोऽष्टाक्षराः समाः" (ऋ० प्रा० प० १६/३७) जैसे "सहस्रशीर्षा पुरुषः" आदि में। लौकिक "अनुष्टुप् में भी यद्यपि आठ-आठ वर्णों से युक्त चार चरण होते हैं परन्तु उसमें अन्तर यह है कि प्रत्येक चरण का पञ्चम वर्ण लघु और षष्ठ वर्ण दीर्घ होता है एवं द्वितीय-चतुर्थ चरण का सप्तम् वर्ण लघु और प्रथम-तृतीय चरणों का दीर्घ होता है—

"श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं, सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥"

रामायण से पूर्व लौकिक छन्द में कविता नहीं थी । सर्वप्रथम क्रौञ्चद्वन्द्व-वियोगविक्लान्त महर्षि वाल्मीकि के अन्तस् लौकिक छन्द में "मा निषाद" आदि कविता प्रस्फुटित हुई। अतएव वनदेवता ने साश्चर्य यह कहा है कि वेद से अन्यत्र (लोक में) भी छन्दों का प्रारम्भ हो गया। (२) तेन समयेन—"अपवर्गे तृतीया" (पा० २/३/६) इति तृतीया। (३) आविर्भूतशब्दब्रह्मप्रकाशम्—आविर्भूतः शब्दब्रह्मणः प्रकाशो यस्मिन्। वैयाकरणों के अनुसार शब्द ब्रह्मरूप है। अपि-ब्रह्म का ज्ञान शब्दों के द्वारा ही हो सकता है । इसलिये दूसरे शब्दों में अव्यक्त ब्रह्म के रूप हैं शब्द। उपनिषदों में, वेदों को ब्रह्म का "निःश्वसित" कहा गया है—

"अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो " (बृहदारण्यकोपनिषद्, २/४/१०॥)

वाक्यपदीय की पहली कारिका भी द्रष्टव्य है:—

"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन, प्रक्रिया जगतो यतः॥"

(४) भूतभावनः पद्मयोनिः—भावयति=जनयतीति भावनः। √भू+णिच् +ल्युट्, कर्त्तरि बाहुलकात्। भूतानां भावनः—इति भूतभावनः। संसारोत्पादक। पद्मं विष्णोर्नाभिपद्मं योनिर्यस्य सः पद्मयोनिः ब्रह्मा । ब्रह्माजी की उत्पत्ति विष्णु के नाभिकमल से मानी जाती है। (५) वागात्मनि ब्रह्मणि—देखिये टिप्पणी संख्या ३। (६) अव्याहतज्योतिरार्षम्—अव्याहतं ज्योतिर्यस्य तदव्याहतज्योतिः—अविच्छिन्न प्रकाश डाला। ऋषेरिदम् आर्षम्। ऋषि+अण्। (७) ते चक्षुः प्रतिभातु—इसके स्थान पर "ते प्रातिभं चक्षुः" और "ते प्रतिभाचक्षुः । भी पाठ है। प्रतिभाया इदं प्रातिभम्। प्रतिभा+अण्। प्रातिभं चक्षुः प्रतिभाचक्षुः । नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा

को प्रतिभा कहते हैं—"प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।" (क्षेमेन्द्र औचित्य-विचारचर्चा, भट्टतौत के मत का उद्धरण) ध्वन्यालोकलोचन में अभिनवगुप्त ने "प्रतिभा" का लक्षण यह किया है: —"प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माण क्षमा प्रज्ञा।" वस्तुतः महर्षि वाल्मीकि का प्रातिभ नेत्र खुल ही गया था; तभी तो उन्होंने अपूर्व रामचरित का प्रणयन किया। (८) तेन हि···अन्तर्हितः—यहाँ भवभूति ने रामायण का ही अनुसरण किया है। देखिये—

रामस्य चरितं कृत्स्नं, कुरु त्वमृषिसत्तम !" (बालकाण्ड, २/३२)

× + +

वैदेह्याश्च यद्वृत्तं प्रकाशं यदि वा रहः। (बाल०, २/३४)
तच्चाप्यविदितं सर्वं, विदितं ते भविष्यति।
न ते वागनृता काव्ये, काचिदत्र भविष्यति॥ (बाल०, २/३५)
इत्युक्त्वा भगवान् ब्रह्मा, तत्रैवान्तरधीयत॥ (बाल०, २/३८)

(९) शब्दब्रह्मणस्तादृशं विवर्त्तम्—विवर्त्तते विभिन्नरूपेण वर्त्तते अनेन इति विवर्त्तः। वि + √वृत् + घञ् करणे।

"विवर्त्त" वेदान्तशास्त्र का एक शास्त्रीय शब्द (Technical word) है। वेदान्ती कार्य-कारण के सम्बन्ध में "विवर्त्तवाद' मानते है। उनके अनुसार—कारण ही कार्यरूप में परिणत हो जाता है; ये दोनों भिन्न नहीं हैं। इनमें केवल नाम और रूप का भेद है इसलिए 'ब्रह्म' ही 'जगत्' रूप में परिवर्तित हो जाता है, 'जगत्'—नामक कोई नया पदार्थ नहीं है। मिट्टी ही घड़ा बन जाती है; घड़ा कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं है। नाम और रूप का परित्याग करने पर मिट्टी ही शेष रह जायेगी। इसलिये वेदान्तियों के मत में कार्य मिथ्या है और कारण सत्य। 'जगत्' मिथ्या है और 'ब्रह्म' सत्य। "परिणामवाद" भी यद्यपि "कारण के कार्यरूप में परिवर्तित होने" का समर्थन करता है, परन्तु परिणाम और विवर्त्त में भेद है। 'परिणाम' में कारण कार्य-रूप में विलीन होने पर अपने स्वरूप का सर्वथा परित्याग कर देता है परन्तु "विवर्त्त" में रूपान्तर स्वीकार कर लेने पर भी कारण का स्वभाव बना रहता है—"परिणामभावो नाम वस्तुनो यथार्थतः स्व-स्वरूपं परित्यज्य स्वरूपान्तरप्रतिप्रत्तिर्यथा दुग्धमेव स्वरूपं परित्यज्य दध्याकारेण परिणमते। विवर्त्तभावस्तु वस्तुनः स्व-स्वरूपापरित्यागेन स्वरूपान्तरेण मिथ्याप्रतीतिर्यथा रज्जुः स्व-स्वरूपापरित्यागेन सर्पाकारेण मिथ्या प्रतिभासते।"

"अवस्थान्तरतापत्तिरेकस्य परिणामिता।
स्यात्क्षीरं दधि, मृत्कुम्भः, सुवर्णं कुण्डलं यथा॥
अवस्थान्तरभानं तु, विवर्त्तो रज्जुसर्पवत्।
निरंशेऽप्यस्त्यसौ व्योम्नि, तलमालिन्यकल्पनात्।
ततो निरंशे आनन्दे, विवर्त्तो जगदिष्यताम्॥"

(पञ्चदशी, १३, ८-१०)

कवि ने "विवर्त्त" का प्रयोग इसी नाटक के तृतीय अङ्क के ४७ वें श्लोक में भी किया है। किन्तु यहाँ इस दब्द का प्रयोग, श्री पी० वी० काणे के मत में, शास्त्रीय अर्थ में नहीं है अपितु साधारण अर्थ में है। उनका कथन है:—

'It seems to us that the author has not used the word विवर्त्त here in its technical sense. He wanted to show his knowledge of ahe Vedanta phieosophy and uses the word विवर्त्त because the word ब्रह्म has already used. विवर्त्त here simply means a modification of words in the form of रामायण. The author, we think, has no intention to suggest the रामायण is such an illusory appearance of the word principle as the serpent of the rope. It is not impossible, we must however say, to explain विवर्त्त even here in its technical sense.

— P. V. Kane, on Uttarramcharita (59)

(१०) इतिहासम्—इति ह आस वभूव इति यत्र उच्यते स इतिहासः पुरावृत्तम्। 'ऐसा हुआ'—यह जिस शास्त्र में वताया जाय—उसे इतिहास कहते हैं। इति ह + √आस् + घञ् अधिकरणे। "इतिहासः पुरावृत्तम्"—इत्यमरः। (इति ह आसीद्यत्रेतीतिहासः। इतित्येवमर्थे हः किलार्थे—इति क्षीरस्वामी; इति ह इति पारम्पर्योपदेशेऽव्ययम्। तदास्ते अस्मिन्निति घञ्—इति व्याख्यासुधा)। (११) हन्त! तर्हि पण्डितः संसारः—यहाँ 'हन्त' हर्षसूचक अव्यय है। "हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः"—इत्यमरः। 'पण्डितः' के स्थान पर 'मण्डितः' भी पाठ है जिसका अर्थ है कि रामायण से संसार सुशोभित हो गया है। (१२) पञ्चवटीम्—पञ्चानां वटानां समाहारः पञ्चवटी ताम्। 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (पा० २/१/५१) इति समासस्तस्य "संख्यापूर्वो द्विगुः" (पा० ५/१/५२) इति द्विगुसंज्ञा, "अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः; स्त्रियामिष्ट-" इति वचनात् "द्विगोः" (पा० ४/१/२१) इति ङीप्।

(अ) "वल्लभबन्धुवर्गः"—वल्लभाश्च (तेपोवन-पञ्चवटी-गोदावरी-प्रभृतयः) बन्धुश्च (वासन्ती) वल्लभबन्धवः। द्वन्द्व में यद्यपि 'अल्पाचतरम्' नियमानुसार 'बन्धु' शब्द पहले आना चाहिए था, तथापि कहीं-कहीं इस नियम का ध्यान नहीं रहता। यहाँ तक कि पाणिनि भी पूर्णतया इसका पालन नहीं कर सके यथा—" लक्षणहेत्वोः' आदि। वल्लभबन्धुनां वर्गः इति वल्लभबन्धुवर्गः। अथवा —बन्धूनां वर्गः बन्धुवर्गः। बल्लभो बन्धुवर्गः वल्लभबन्धुवर्गः। पञ्चवटी आदि प्रिय बन्धुगण। वृक्ष और पशु-पक्षियों को भी बन्धु कहा गया है। इसीलिए तो—

"यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बान्धवो मे" ऐसी उक्ति है। (उत्त०, ३/६)।

"वल्लभबन्धुवर्गः' के स्थान पर 'वल्लभशाखिवर्गः' भी पाठ है जिसका अर्थ है प्रिय वृक्ष-समूह। वल्लभाश्च ते शाखिनश्च तेषां वर्गः।

(आ) प्रासङ्गिकीनाम्—प्र + √सञ्ज् + भावे घञ् = प्रसङ्गः । प्रसङ्गे भवाः इति प्रासङ्गिक्यः, तासाम् + ठञ् ।

(इ) प्रत्यक्षदृष्टाम्—अक्ष्णः प्रति इति प्रत्यक्षम् । प्रति + अक्षि + टच् समासान्त । अव्ययीभाव-समास "प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः" नियम से । प्रत्यक्षदृष्टाम्, 'सुप् सुपा समास ।

वासन्ती—(सभयम् । स्वगतम्) कथं नामशेषेत्याह ? (प्रकाशम्) किमत्याहितं सीतादेव्याः ?

आत्रेयी—न केवलमत्याहितम्, सापवादमपि । (कर्णे) एवमिति ।

वासन्ती—अहह ! दारुणो दैवनिर्घातः (इति मूर्च्छति) ।

आत्रेयी—भद्रे ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

वासन्ती—हा प्रियसखि ! ईदृशस्ते निर्माणभागः ? हा रामभद्र ! अथवा अलं त्वया । आर्ये आत्रेयी ! अथ तस्मादरण्यात्परित्यज्य निवृत्ते लक्ष्मणे सीतयाः किं वृत्तमिति काचिदस्ति प्रवृत्तिः ।

आत्रेयी—नहि नहि ।

वासन्ती—कष्टम् । आर्यारुन्धतीवसिष्ठाधिष्ठितेषु नः कुलेषु, जीवन्तीषु च वृद्धासु राज्ञीसु कथमिदं जातम् ।

आत्रेयी—ऋष्यश्रृङ्गसत्रे गुरुजनस्तदाऽऽसीत् । संप्रति परिसमाप्तं द्वादशवार्षिकं सत्रम् । ऋष्यश्रृङ्गेण च संपूज्य विसर्जिता गुरवः । ततो भगवत्यरुन्धती "नाहं वधूविरहितामयोध्यां गच्छामि" इत्याह । तदेव राममातृभिरनुमोदितम् । तदनुरोधाद्भगवतो वसिष्ठस्यापि श्रद्धा 'वाल्मीकिवनं गत्वा वत्स्याम" इति ।

वासन्ती—अथ स रामभद्रः किमाचारः ?

आत्रेयी—तेन राज्ञा राजक्रतुरश्वमेधः प्रक्रान्तः ।

वासन्ती—अहह धिक् ! परिणीतमपि ?

आत्रेयी—शान्तम्, नहि नहि ।

वासन्ती—का तर्हि यज्ञे सहधर्मचारिणी ?

आत्रेयी—हिरण्मयी सीताप्रकृतिर्गृहिणीकृता ।

वासन्ती—हन्त भोः !

वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि, को नु विज्ञातुमर्हति ॥७॥

अन्वयः—लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति ? (तानि) वज्रादपि कठोराणि कुसुमादपि मृदूनि (भवन्ति)। यद्वा—लोकोत्तराणां चेतांसि वज्रादपि कठोराणि कुसुमादपि-मृदूनि। को नु (तानि) विज्ञातुमर्हति ?

हिन्दी—

वासन्ती—(आशङ्कित होकर स्वयं ही) क्या "नामशेष" यह कह रही हैं ? (प्रकाश में सीतादेवी पर क्या विपत्ति आ पड़ी ?)

आत्रेयी—केवल विपत्ति ही नहीं, प्रत्युत लोकापवाद भी। (वह लोकापवाद से कलङ्कित होकर मरी हैं।)

(कान में) ऐसा-ऐसा······।

वासन्ती—अहह ! (हाय !) दुर्दैव का (यह) बड़ा भारी आघात है !

[मूर्छित हो जाती है।]

आत्रेयी—कल्याणि ! धैर्य धारण करो ; धैर्य धारण करो।

वासन्ती—हा प्रियसखि ! तुम्हारे जीवन का ऐसा (दुःखमय) अन्त हुआ ? (तुम्हारे भाग्य में यही बदा था ?) हा ! रामभद्र ! अथवा, (रहने दो ?) तुम्हें उपालम्भ देने से क्या लाभ है ? आर्ये ! आत्रेयी ! तदनन्तर सीता को छोड़कर लक्ष्मण जी के लौट जाने पर उनका (सीता का) क्या हुआ ? क्या कुछ पता है ?

आत्रेयी—नहीं नहीं। (कुछ पता नहीं !)

वासन्ती—(ओह !) दुःख है ! आर्या अरुन्धती तथा वसिष्ठ जी से अधिष्ठित हमारे (रघुकुल में) और बूढ़ी रानियों के जीवित रहते हुए सब कुछ कैसे हो गया ?

आत्रेयी—गुरुजन तब "ऋष्यश्रृङ्ग" के यज्ञ में (सम्मिलित) थे। (अतः उन पर दोष न लगाओ !) अब वह बारह वर्षों तक होने वाला यज्ञ पूर्ण हो गया है और ऋष्यश्रृंङ्ग ने गुरुजनों को आदरपूर्वक विदा कर दिया है। तब भगवती अरुन्धती ने— "मैं वधू (सीता) से रहित अयोध्या में नहीं जाऊँगी" यह कहा (यह निश्चय किया) और (कौशल्या आदि) राम-माताओं ने भी इसका ही समर्थन किया। उसके आग्रह से भगवान् वसिष्ठ को भी—"वाल्मीकि आश्रम में जाकर निवास करें—"यह इच्छा हुई।

वासन्ती—आजकल रामभद्र क्या कर रहे हैं।

आत्रेयी—अब उन राजा (?) ने "अश्वमेध"—नामक राजयज्ञ आरम्भ किया है।

वासन्ती—अरे रे ! धिक्कार है ! विवाह भी कर लिया ? (क्योंकि बिना धर्मपत्नी के यज्ञादि कोई भी शुभकार्य सम्पन्न नहीं होते।)

आत्रेयी—शान्त ! नहीं ! नहीं !

वासन्ती—तब यज्ञ में सहधर्मिणी कौन है ?

आत्रेयी—सुवर्णमयी "सीता-प्रतिमा" को पत्नी बनाया है।

वासन्ती—अहो।

[श्लोक ७]—"वज्र से भी कठोर और कुसुम से भी सुकुमार लोकोत्तर (महापुरुषों) के हृदयों को कौन समझ सकता है ?"

संस्कृत-व्याख्या

"नामशेषा" मिति श्रवणेन भीतेव वासन्ती पृच्छति—किमिति । सीतादेव्या किमत्याहितम् =जीवितसंशयकरं व्रत्तं संवृत्तम् ? "अत्माहितं महाभीतिः कर्म जीवानपेक्षि च"—इत्यमरः ।

आत्रेयी कथयति—न केवलमिति । न केवलमिति भयमेव, प्रत्युत निन्दासहितमपि । सीताया निन्दापि जाता । निन्दितं मरणमभूदिति कर्णे "एव" मिति कथयति । एतेन सीता-परित्यागो लोकापवादमूलः—इति सूचितम् ।

अत्यन्तकटुवचनं निशम्य वासन्ती प्राह—अहह इति । 'अहह" इति दुःखातिशयेऽव्ययपदम् । हा ! दारुणः=अतिशयितकठोरो दैवस्य निर्घातः=आघातः । दुर्दैववशात् सीतादेव्या उपरि महानाघातः संजातः । इति स्मृत्वा मूर्च्छिताभवदिति ।

स्वर्णमयीं सीतां धर्मपत्नीं मत्वा रामभद्रोऽश्वमेधं प्रारभते—इति श्रुत्वा वासन्ती प्राह—वज्रादपीति ।

वस्तुतोऽलौकिकानां महापुरुषाणां हृदयानां विचारान् को वा विज्ञातुमर्हति ? तेषां हृदयानि सत्यवसरे वज्रादपि कठोराणि भवन्ति, कदाचिच्च प्रसूनेभ्योऽपि सुकुमाराणि सम्पद्यते । सीतापरित्यागे कठोरतमं रामस्य हृदयं यज्ञसमये सीताप्रतिकृतिं परिकल्प्यातिशयसुकुमारतां प्रकटयति । अतः साधारणजनैर्दुर्विज्ञेयमेव रामहृदयमिति टिप्पणीनामवसर एव तत्र नास्तीति भावः ।

अत्र मृदु-कठोरयोरेकत्र वर्णनाद् विषमालङ्कारः । अप्रस्तुतप्रशंसा च ॥७॥

टिप्पणी

(१) किमत्याहितं सीतादेव्याः ?—आत्रेयी के द्वारा 'नामशेषाम्' इस शब्द को सुनकर वासन्ती शङ्कित होकर उससे पूछती है कि क्या सीता पर महाविपत्ति आ गई है अर्थात् क्या वह मर गयी ?

"अत्याहितं महाभीतिः कर्म जीवानपेक्षि च" इत्यमरः ।

अतिशयेन आहितम् =अत्याहितम् अति + आ + √धा + क्त कर्म्मणि ।

(२) "निर्घातः"—निर् + हन् + घञ् भावे । 'दारुणो दैवनिर्घातः का तात्पर्य है भयङ्कर धक्का । वैसे इस शब्द का अर्थ दो वायुओं का संघर्ष होता है—

"वायुना निहतो वायुर्गगनाच्च पतत्यधः ।
प्रचण्डघोरनिर्घोषो, निर्घात इति बुध्यते ॥"

(३) कष्टम् ! आर्यारुन्धती············पाठान्तर १. आर्यारुन्धतीवसिष्ठाधिष्ठितेषु रघुकदम्बकेषु, २. आर्यारुन्धतीवसिष्ठाधिष्ठितेषु रघुकुलकदम्बकेषु ३. हा कष्टम् ! आर्यारुन्धतीवसिष्ठाधिष्ठिते रघुकुलगृहे जीवन्तीषु च प्रवृद्धासु राज्ञीषु प्रवृद्धराज्ञीषु । अर्थ सरल है । 'कदम्बक' शब्द श्रेष्ठता के अर्थ में 'कुञ्जर' आदि के समान अथवा समूह के अर्थ में प्रयुक्त होता है । वासन्ती का आशय यह है कि इन सबके रहते हुए यह सब कुछ हो कैसे गया ? कितनी स्वाभाविक मनोदशा का चित्रण है ! पहले तो गुरु वसिष्ठ के रहते हुए सीता का निर्वासन असम्भव था । इतने पर भी यदि वसिष्ठ जी वहाँ उस समय उपस्थित न हों—इसलिए सीता निकाली जा

सकती थीं—यह सम्भव नहीं क्योंकि वहाँ बूढ़ी रानियाँ जो जीवित थीं ही जिनके लिए सीता आँखों का तारा थी। (देखिए—"प्रतनुविरलैः"········उत्तर०, १/२०) यह क्योंकर हो गया? बहुवचनों की ध्वनि दर्शनीय है! (४) अथ स रामभद्रः किमाचारः? कः आचारः यस्य स किमाचारः। पाठान्तर, 'किमारम्भः', कः आरम्भः (व्यापारः) यस्य सः। (५) राजक्रतुरश्वमेधः—क्रतूनां राजा राजक्रतुः। राजदन्तादित्वात्परनिपातः। अश्वः मेध्यते (हिंस्यते) यत्रत्यश्वमेधः। पाठा०, 'तेन राज्ञा क्रतुरश्वमेधः'। अश्वमेध क्रतु प्राचीन काल में अपनी सार्वभौमता सिद्ध करने के लिये राजाओं द्वारा किया जाता था। क्रतु में, बलिदान आवश्यक है। अश्वमेध क्रतु में, एक घोड़ा राजचिह्न से अलंकृत करके छोड़ दिया जाता था जिसके पीछे सेना चलती थी। जो भी राजा उस घोड़े को पकड़ता था उससे युद्ध होता था। यदि अश्वपक्षी राजा की विजय हो जाती तो फिर वह अश्व आगे चलता था। इस प्रकार पृथ्वी का परिभ्रमण करके घोड़ा लौट आता था। तब उनकी बलि दे दी जाती थी। देखिए विशद वर्णन के लिये रामायण बाल०, १२–१४ सर्ग। (६) परिणीतमपि—परि + √नी + भावे क्त। अश्वमेध बिना पत्नी के कोई भी राजा नहीं कर सकता था। अतः वासन्ती को श्रीराम के द्वितीय विवाह की शङ्का हुई! भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि स्त्री-पुरुष दोनों को महत्ता प्रदान की गई है। इसीलिये तो सभी धार्मिक कार्यों में पत्नी की उपस्थिति अपेक्षित है। तुलना कीजिए—

"यज्ञवाटं गताः सर्वे यथाशास्त्रं यथाविधि।
श्रीमांश्च सह पत्नीभी राजा दीक्षामुपाविशत् ॥" (रामा०, बाल० १३/४१)

(७) हिरण्मयी सीताप्रतिकृतिः—हिरण्यस्य विकार इति हिरण्यमयः हिरण्य + मयट्। तस्य विकारः (पा० ४/३/१३४) इति मयट्। 'दाण्डिनायन······" (पा० ६/४/१७४) इति यलोपनिपातः। "टिड्ढाणञ्······" (पा० ४/१/१६) इति स्त्रियां ङीप्। यहाँ श्रीराम के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। यद्यपि उन्होंने सीताजी को लोकाराधन के लिए निष्कासित कर दिया था तथापि अब भी उनके हृदय में उनके प्रति अपार प्रेम है। इसी समय लगभग बारह वर्ष हो गये हैं किन्तु उन्होंने दूसरा विवाह न करके सीताजी की सौवर्णी प्रतिमा बनाकर अपने एकपत्नीव्रत एवं लोकाराधन दोनों का परिचय दिया है। (७) वज्रादपि·········अर्हति?—महाकवि भवभूति का यह श्लोक सहृदय-समाज में बहुत ही प्रसिद्ध है। इसमें कविवर ने लोकोत्तर महानुभावों के हृदय की अज्ञेयता सिद्ध की है। उनका हृदय कब कैसा हो जाता है। इसका किसी को पता नहीं। श्रीरामचन्द्रजी का हृदय जहाँ सीता परित्याग के समय अतिशय कठोर हो गया था वहाँ यज्ञ में सीता की प्रतिकृति से ही उसे सम्पन्न करना उनके हृदय की अलौकिक मृदुता को प्रकट करता है।

तुलना कीजिये—

"सम्पत्सु महतां चित्तं, भवत्युत्पलकोमलम्।
आपत्सु च महाशैल-शिलासंघातकर्कशम् ॥" (भर्तृहरि)

पाठा०, "को नु विज्ञातुम्" के स्थान पर 'को हि विज्ञातुम्'।

आत्रेयी—विसृष्टश्च वामदेवानुमन्त्रितो मेध्याश्वः। प्रक्लृप्ताश्च तस्य यथाशास्त्रं रक्षितारः। तेषामधिष्ठाता लक्ष्मणात्मजश्चन्द्रकेतुर्दत्तदिव्यास्त्रसंप्रदायश्चतुरङ्गसाधनान्वितोऽनुप्रहितः।

वासन्ती—(सहर्षकौतुकास्रम्।) कुमारलक्ष्मणस्यापि पुत्र इति मातः! जीवामि।

आत्रेयी—अत्रान्तरे ब्राह्मणेन मृतं पुत्रमुत्क्षिप्य राजद्वारे सोरस्ताडमब्रह्मण्यमुद्घोषितम्। ततो 'न राजापचारमन्तरेण प्रजानामकालमृत्युः सञ्चरती'-त्यात्मदोषं निरूपयति करुणामये रामभद्रे सहसैवाशरीरिणी वागुदचरत्—

"शम्बूको नाम वृषलः, पृथिव्यां तप्यते तपः।
शीर्षच्छेद्यः स ते राम! तं हत्वा जीवय द्विजम्" ॥८॥

[अन्वयः—शम्बूको नाम वृषलः, पृथिव्यां तदः तप्यते। (हे) राम! सः ते शीर्षच्छेद्यः। तं हत्वा द्विजं जीवय ॥८॥]

इत्युपश्रुत्य कृपाणपाणिः पुष्पकमधिरुह्य सर्वा दिशो विदिशश्च शूद्रतापसान्वेषणाय जगत्पतिः सञ्चारं समारब्धवान्।

वासन्ती—शम्बूको नामाधोमुखो धूमपः शूद्रोऽस्मिन्नेव जनस्थाने तपश्चरति। अपि नाम रामभद्रः पुनरिदं वनमलङ्कुर्यात्?

आत्रेयी—भद्रे! गम्यतेऽधुना।

हिन्दी—

आत्रेयी—(उन्होंने) 'वामदेव' ऋषि के द्वारा अभिमन्त्रित यज्ञ का घोड़ा छोड़ा है। शास्त्रनिर्दिष्ट प्रकार से उसके रक्षक भी नियुक्त किये हैं और उन (रक्षकों) के अध्यक्ष लक्ष्मण-नन्दन 'चन्द्रकेतु' को दिव्यास्त्र देकर चतुरङ्गिनी सेना के साथ (मेध्याश्व के) पीछे भेजा है।

वासन्ती—(हर्ष, कौतूहल और आँसुओं के साथ) कुमार लक्ष्मण के भी पुत्र है? ओ माँ! मैं तो इस वृत्तान्त के स्मरणमात्र से ही) प्रत्युज्जीवित सी हो गयी हूँ। जो (लक्ष्मण कल यहाँ स्वयं कुमार थे आज वे भी पुत्रशाली हैं! यह परम हर्ष का विषय!)

आत्रेयी—इसी बीच में (एक दिन) कोई ब्राह्मण राजदरवार में अपने मरे हुए पुत्र को रखकर छाती पीट-पीट कर "ब्राह्मणों पर विपत्ति है?" इस प्रकार सकरुण श्रीरामचन्द्र जी के अपने दोषों की विवेचना करने पर सहसा ही (यह) आकाशवाणी हुई—

[श्लोक ८]—"राम ! पृथ्वी पर 'शम्बूक'—नामक शूद्र (घोर) तप कर रहा है। (अतः) आप उसका सिर काटकर इस ब्राह्मण-पुत्र को जिलाइये।"

यह सुनकर जगदीश्वर श्रीरामचन्द्रजी ने हाथ में खड्ग से 'पुष्पक-विमान' पर चढ़कर शूद्र-तपस्वी को खोजने के लिये दिशा और विदिशाओं (ईशान प्रभृति कोणों) में घूमना आरम्भ कर दिया।

वासन्ती—अरे, (केवल) धुंआ पीकर ही (रहने वाला) शम्बूक-नामक शूद्र तो इसी जनस्थान में ही नीचे को मुँह लटकाए हुए (उग्र) तप कर रहा है ! क्या राम (यहाँ आकर पुनः इस वन को अलङ्कृत करेंगे ? [एक बार तो वे अपने वनवास-काल में यहाँ रहे थे। क्या अब पुनः इस वन को अपने शुभागमन से पवित्र करेंगे ? यदि ऐसा है तो बहुत सुन्दर है ! उनके दर्शन का सौभाग्य मिलेगा।]

आत्रेयी—भद्रे ! अब चलती हूँ !

संस्कृत-व्याख्या

वामदेवनामकेन ऋषिणाऽनुमन्त्रितेन यज्ञीयाऽश्वेन सहितः शास्त्रानुसारं रक्षिभिर्युक्तः गज-रथ-अश्व-पदातिरूपया चतुरङ्गिण्या सेनाया युक्तः प्राप्तदिव्यास्त्रो लक्ष्मणस्य पुत्रः सेनाधिष्ठाता इति निशम्य सहर्षकौतुकास्रम् प्राह वासन्ती–कुमार इति।

"लक्ष्मणस्यापि पुत्र."—इति हर्षः, "सेनापतिः"—इति कौतुकम्, "सीता सम्प्रति नास्ति"—इति अस्रम्। य एवात्र कुमार आसीत्, तस्यापि पुत्रः सञ्जात इति स्मरणेनैव मातः—आत्रेयी ! जीवामि=पुनर्जीवनमिव संवृत्तम्। आत्रेय्या विद्यायां वयोवृद्धत्वात् "मातः" इति सम्बोधनमुचितम्। अथवा 'मातः' इति स्त्रीणामुक्तौ स्वभाव एवेति।

"राज्ञोऽन्यायं विना प्रजाजनस्याकालमृत्युर्नैव भवती'ति स्वकीयं दोषं निरूपयति रामे देववाणी उद्‌चरत्=उच्चारिताऽभूत्। कीदृशी सेत्याह—शम्बूक इति।

शब्दार्थः—वृषलः=शूद्रः।

[श्लोक ७–८]—शम्बूकाभिधानः शूद्रः पृथिव्यां तपः करोति। त्वं तस्य शिरः कर्त्तनं कृत्वा ब्राह्मणस्य बालमुज्जीवयेति। अस्य शिशोः प्राणप्राप्तेरयमेवाभ्युपाय इति सारः। शूद्रस्य सर्वेषां वर्णानां सेवावृत्तिस्तदा शास्त्रकारैर्निश्चिता। तां परित्यज्य तपःकरणाद् व्यवस्थाभङ्गो मृत्युमेव जनयति। ब्राह्मणाश्च धर्माचार्याः। अन्यायाचरणे तेषामेव पुत्रा म्रियन्ते-इति भावः।

अत्रेदं परमतत्वम्—ब्राह्मणानां कृते धर्माचरणम्=यैरुपायैर्देशः सुखसमृद्धिशाली स्यात्तद्विभागो ब्राह्मणानाम्, रक्षा-विभागः=सेनादिविभागः क्षत्रियाणाम् धनादिसंवर्धनात्मको व्यापारविभागो वैश्यानां, सेवा विभागः शूद्राणां च हस्ते समासीत्। परस्परकृता च सर्वेषां प्रीतिर्देशरक्षणार्थमासीत्। जाति वंशकृतो-द्वेषश्च नासीत्। तदा सर्वे लोकाः स्वकर्त्तव्यपालनतत्परा भूत्वा सर्वदा सुखिनः समभवन्। तां पद्धतिं परित्यज्य प्रतिदिशं क्लेशजातमेवाधुनाऽनुभवन्ति-इति विचारणीयो विषयः ॥८॥

शम्बूकवधोद्यतरामागमनोदन्तेन प्रसन्ना वासन्ती प्राह—शम्बूक इति। शम्बूकस्तु ननु अधोमुखः सन् धूम्रपस्तपति, अस्मिन्नेव जनस्थाने, किंस्विद् रामः पुनरपि शुभगमनेन वनमिदं कृतार्थयिष्यति ? तद्दर्शनेनात्मा सुखी भविष्यति-इति महान् हर्ष इति भावः।

टिप्पणी

(१) वामदेवानुमन्त्रितः—वामदेव एक ऋषि थे। प्रायः इनके नाम का उल्लेख वसिष्ठ जी के नाम के साथ होता है। वसिष्ठ जी की अनुपस्थिति में रामचन्द्र जी ने इनकी देख-भाल में अश्वमेध का कार्य आरम्भ कर दिया था। (२) मेध्याश्व०—अश्वमेध में घोड़ा छोड़ने और उसके अनुगमन के शास्त्रीय विधान का उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण में है जिसकी चर्चा यहाँ भवभूति ने की है:—

"देवा आशापाला एतं देवेभ्योऽश्वं गोपायतेत्याह शतं वै तल्प्या राजपुत्रा देवा आशापालाः।" (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/८/९/४)

"तस्यैते पुरस्ताद्रक्षितार उपक्लृप्ता भवन्ति। राजपुत्राः कवचिनः शतं राजन्या निषङ्गिणः शतं सूतग्रामण्यां पुत्रा इषुवर्षिणिः शतं क्षात्रसंगृहीतॄणां पुत्रा दण्डिनः शतमश्वशतं निरष्टं निरमणं यस्मिन्नेनमपिसृज्य रक्षन्ति।" (शतपथ ब्राह्मण १३/४/२/५)

"अश्वमुत्सृज्य देवा आशापाला इति त्रिभ्यः परिददाति शतं कवचिनो रक्षन्त्यपर्यावर्त्तयन्तोऽश्वमनुचरन्ति।" (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र)

"शतं कवचिनो रक्षन्ति यज्ञस्य संतत्या अव्यच्छेदाय।"

(शतपथ ब्राह्मण, १३/१/६/४)

(३) चतुरङ्गसाधनान्वितः—'चत्वारि अङ्गानि यस्य तत् चतुरङ्गं, चतुरङ्गं च तत् साधनं च, तेन अन्वितः। चार अङ्ग ये हैं:—(१) हस्ति, (२) रथ, (२) अश्व तथा (४) पदाति। साधन=सेना "साधनं मृतसंस्कारे सैन्ये सिद्धौषधे गतौ" इति मेदिनी। (४) "सोरस्ताडमब्रह्मण्यमुद्घोषितम्"—उरसः ताडः (ताडनम्) उरस्ताडः, उरस्ताडेन सह यथा स्यात्तथा सोरस्ताडम्। अव्ययीभाव। ब्रह्मणि वेदे साधु इति ब्रह्मण्यम् ब्रह्मन्+यत्। न ब्रह्मण्यम्=अब्रह्मण्यम्। वेदविरुद्धं हिंसेत्यर्थः। (५) न राजापचारमन्तरेण—राज्ञः अपचारः राजापचारस्तमन्तरेण। अप=√चर्+भावे घञ् अपचारः=दुर्वृत्त। "अन्तरान्तरेणयुक्ते" (पा० २/३/४) इति द्वितीया। (६) वृषलः—वृषल का अर्थ शूद्र है। "शूद्राश्चावरणाश्च वृषलाश्च जघन्यजाः" इत्यमरः। (७) शीर्षच्छेद्यः—शीर्षच्छेदं नित्यमर्हतीति शीर्षच्छेद्यः "शीर्षच्छेदाद्यच्च" (पा० ५/१/६५)

प्राचीन धर्मशास्त्रों के अनुसार शूद्र का कार्य सेवा था। इसके अतिरिक्त वेदाध्ययन आदि उसके कर्त्तव्य नहीं थे। यदि वह अपना कार्य छोड़कर इन कार्यों को करता था तो वह दण्डनीय होता था।

"विप्रसेवैव शूद्रस्य, विशिष्टं कर्म कीर्त्यते ।
यदतोऽन्यद्धि कुरुते, तद्भवत्यस्य निष्फलम् ॥" (मनुस्मृति, १०/१२३)

(८) दिशो विदिशश्च—दिशाएँ पूर्वादि । विदिशाएँ-आग्नेयादि । दिशाओं के मध्य की दिशाएँ 'विदिशा' कहलाती हैं । दिग्भ्यां विनिर्गता विदिक् । "दिशोर्मध्ये विदिक् स्त्रियाम्" इत्यमरः । (९) धूमपः—जो धुएँ को पीता हो । तुलना—

"तस्मिन् सरसि तप्यन्तं तापसं सुमहत्तपः ।
ददर्श राघवः श्रीमांल्लम्बमानमधोमुखम् ॥"
(रामा०, उत्तर०, ७५/१४)

वासन्ती—आर्ये आत्रेयि ! एवमस्तु । कठोरश्च दिवसः ! तथाहि—

कण्डूलद्विपगण्डपिण्डकषणोत्कम्पेन सम्पातिभि-
घर्मस्त्रंसितबन्धनैश्च कुसुमैरर्चन्ति गोदावरीम् ।
छायापस्किरमाणविष्किरमुखव्याकृष्टकीटत्वचः—
कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुलाः कूले कुलायद्रुमाः ॥९॥

अन्वयः—कूले (गोदावर्याः) छायापस्किरमाणविष्किर-मुख-व्याकृष्ट-कीटत्त्वचः, कूजत्-क्लान्त-कपोत-कुक्कुट-कुलाः, कुलायद्रुमाः, कण्डूल-द्विप-गण्ड-पिण्ड-कषणोत्कम्पेन सम्पातिभिः धर्मस्रंसित-बन्धनैः कुसुमैः गोदावरीम् अर्चन्ति ॥९॥

(इतिपरिक्रम्य निष्क्रान्ते ।)

इति शुद्धविष्कम्भकः ।

हिन्दी—

वासन्ती—आर्ये आत्रेयि ! ऐसा ही हो ! (बहुत अच्छा ! जाइए ! क्योंकि) दिन भी (सूर्य की प्रखर किरणों से) असह्य हो रहा है क्योंकि—

[श्लोक ९]—गोदावरी के तट पर स्थित वृक्षों की छाया में बैठे हुए कुछ (कौए आदि जङ्गली) पक्षी अपनी चोंचों से वृक्षों की छाल कुरेद-कुरेद कर कीड़े निकाल कर खा रहे हैं । और (दूसरी ओर) गर्मी से व्याकुल घोंसलों में बैठे हुए कबूतर, मुर्गे आदि पक्षीगण कूजन कर रहे हैं । इन वृक्षों के तनों से जब जङ्गली हाथी (आ-आकर) खुजलाने के लिए अपने गण्डस्थलों को रगड़ते हैं तब उनकी रगड़ से (हिलने के कारण) धूप से मुरझाए हुए शिथिल बन्धनों वाले पुष्प (नीचे बहने वाली गोदावरी के जल में) गिर (चू) पड़ते हैं । (तब ऐसा प्रतीत होता है कि) मानों ये वृक्ष (इस प्रकार पुष्प चढ़ाकर) गोदावरी की अर्चना कर रहे हैं ।

[घूमकर चली जाती हैं]

शुद्ध विष्कम्भक ।

संस्कृत-व्याख्या

गन्तुमिच्छत्यात्रेयी कृतविश्रामा सती । दिनस्यातिदुःसहत्वं (सूर्यस्य प्रखरकिरण-सन्तप्तत्व) प्रदर्शयितुमाह वासन्ती—कण्डूलेति ।

कूले = गोदावर्यास्तटे छायायाम् = अनातपे, अपस्किरमाणाः—चञ्च्वा भूमिभागम् वृक्षांश्च (यथायथम्) परिस्खलन्तः, (किरतेर्हर्षजीविका-कुलायकरणेष्विति वाच्यम्" इत्यात्मनेपदत्वम्, "अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने" इति सुडागमः, स सुडपि च "सुडपि हर्षादिष्वेव वक्तव्यः" इत्युक्तेर्थेष्वेव भवति ।) छायापस्किरमाणाश्च ते विष्किराः काकादयः पक्षिणः, तेषां ते मुखैः व्याकृष्टाः - विशेषरूपेणकृष्टाः कीटा याभ्यस्तादृश्यस्त्वचो येषां ते (वृक्षाः), कूजत्क्लान्तकपोत-कुक्कुटकुलाः = कूजन्तः = मधुरं शब्दं कुर्वन्तः, क्लान्ताः = आतपखिन्नाः ये कपोताः कुक्कुटाश्च तेषां कुलानि येषु ते (वृक्षाः), कुलायद्रुमाः -- कुलायाः = नीडास्तैर्युक्ताः द्रुमाः = वृक्षाः, कण्डूलद्विपगण्डपिण्डकषणोत्कम्पेन कण्डूं = खर्जूतिं लान्ति = आददते इति कण्डूलाः ये द्विपाः = द्वाभ्यां (मुखशुण्डाभ्यां) पिबन्ति इति द्विपाः = हस्तिनः, तेषां गण्डा एव पिण्डाः = समूहाः, तेषां कपोलभागानां कषणन = घर्षणेन य उत्कम्पः = उत्कृष्टं कम्पनं तेन कृत्वा सम्पातिभिः = पतनशीलैः, घर्मेण = आतपेन स्रंसितानि = शिथिलानि बन्धनानि = वृन्तानि येषां तैः कुसुमैः = पुष्पैः, गोदावरीमर्चन्ति = पूजयन्ति (इव) इति ।

अयमत्र सरलार्थः—गोदावर्या नद्यास्तटयोरुभयभागे वहवो वृक्षाः स्थिताः । तेषां कोटरेषु पक्षिभिः स्वकीयाः कुलायाः (नीडः) निर्मिताः । रविप्रतापस्य दुःसहत्वात् वायसादयः पक्षिणः छायायां स्वभावानुरूप चञ्चुभिः किमपि खाद्यं गवेषयितुं पृथिवीं खनन्ति, वृक्षाणां त्वगभ्यश्चेतस्ततो विशेषरूपेण कीटानाकर्षन्ति, कपोताः कुक्कुटाः = ताम्रचूडाश्च कूजन्ति, अपि च—घर्मातिरेकात् पुष्पाणां बन्धनानि शिथिलतां भजमानानि सन्तिः आरण्यकाः गजाः समागत्येतस्ततो गण्डस्य (कपोलस्य) कण्डूतिं दूरीकर्त्तु वृक्षान् संघर्षन्तिः, तेषामा त-प्रत्याघातैः परिकम्पितेभ्यः पादपेभ्यः पुष्पाणि परिपतन्ति गोदावर्याः पयसि; ततः कविरत्रोत्प्रेक्षते—"एते वृक्षाः स्वकुसुमैर्मन्ये भगवतीं गोदावरीं पूजयन्ती"ति ।

अत्र निदाघकालस्य वर्णनं शोभनं कृतं कविना । यादृशस्तीव्रो निदाघः, शब्दाः अपि तादृशा एव । "अपस्किरमाण"—"विष्किर"–प्रभृतश्च शब्दाः गम्भीरवैयाकरणत्वं द्योतयन्ति कवयितुः । ककार-लकार-प्रयोग-कुशलता चानुप्रास-कलाकोविदतामाकलयंतीति कृतार्थता कवेः ।

इवादिशब्दाभावात्—प्रतीयमानोत्प्रेक्षा । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः । तल्लक्षणं च—"सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्" इति । ओजो गुणः । तल्लक्षणं तथा—"ओजश्चित्तस्य बिस्तार-रूपं दीप्तत्वमुच्यते" इति । डम्बर-बन्धात्मिका गौडी रीतिः ॥९॥

इत्येवं परिक्रम्य = इतस्ततः पादप्रक्षेपं कृत्वा उभे अपि = आत्रेयी-वासन्त्यौ

निष्क्रान्ते = निर्गते ।

शुद्धविष्कम्भकः---इति । अंकेष्वदर्शनीयाः पदार्थाः "अर्थोपक्षेपकैः" प्रदर्श्यन्ते । ते च अर्थमुपक्षिपन्तीति व्युत्पत्त्या सार्थकाः पञ्च भवन्ति । तथा हि—

"अर्थोपक्षेपकाः पञ्च, विष्कम्भकप्रवेशकौ ।
चूलिकाऽङ्कावतारोऽथ, स्यादङ्कमुखमित्यपि ॥" [सा० द०/६]

अत्र चायं विष्कम्भकः । लक्षणञ्चास्य—

"वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां, कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भः, आदावङ्कस्य दर्शितः ॥"

स च द्विविधो भवति शुद्धः सङ्कीर्णश्च । तथा चोक्तम्—

"मध्येन मध्यमाभ्यां वा, पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः ।
शुद्धः स्यात्स तु संकीर्णो, नीचमध्यमकल्पितः ॥" इति ।

तथा चात्र आत्रेयी-वासन्ती-रूप-संस्कृत-भाषि-पात्राभ्यां (मध्यमाभ्याम्) प्रयुज्यमानत्वात् 'शुद्धविष्कम्भकः" इति ।

तथा चात्र सीता-निर्वासन-कुशलवोत्पत्ति-प्रभृतीनां प्राग्गतानाम् शम्बूक-वधार्थं रामभद्रस्य पञ्चवटी-प्रवेशादि-भविष्यतां वृत्तानां वर्णन-सूचना-दानेन विष्कम्भकलक्षणं चरितार्थम् ।

टिप्पणी

(१) व्याकरण, शब्दार्थ तथा समास के लिये संस्कृत टीका देखिये ।

(२) शुद्धविष्कम्भकः—संस्कृत-नाटकों में अङ्कों में न दिखलाई जाने वाली घटनाएँ "अर्थोपक्षेपकों" से सूचित की जाती हैं । कथासूत्र से सम्बद्ध अर्थों का उपक्षेप कराने के कारण इनको "अर्थोपक्षेपक" कहते हैं । ये पाँच होते हैं—

(१) विष्कम्भक, (२) प्रवेशक, (३) चूलिका, (४) अङ्कावतार एवं (५) अङ्कमुख । जैसा कि कहा है—

"अङ्केष्वदर्शनीया या, वक्तव्यैव च सम्मता ।
या च स्याद् वर्षपर्यन्तं, कथा दिनद्वयादिजा ॥
अन्या च विस्तरा सूच्या, सार्थोऽपक्षेपकैर्बुधैः ।
वर्षादूर्ध्वं तु यद्वस्तु, तत्स्याद्वर्षादधोभवम् ॥
दिनावसाने कार्यं यद्, दिनेनैवोपपद्यते ।
अर्थोपक्षेपकैर्वाच्यमङ्कच्छेद्यं विधाय तद् ॥
अर्थोपक्षेपकाः पञ्च, विष्कम्भकप्रवेशकौ ।
चूलिकाङ्कावतारोऽथ स्यादङ्कमुखमित्यपि ॥" (सा० द०, ६/३०८-११)

इन अर्थोपक्षेपकों में से यहाँ विष्कम्भक है । जो बीती हुई या आने वाली घटनाओं की संक्षेप में सूचना देता है उसे 'विष्कम्भक' कहते हैं । यह अङ्क के आदि में प्रयुक्त होता है । यह (१) शुद्ध और (२) संकीर्ण भेद से दो प्रकार का होता है ।

"वृत्तवर्तिष्यमाणानां, कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भः, आदावङ्कस्य दर्शितः ॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा, पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः ।
शुद्धः स्यात्सतु संकीर्णो' नीचमध्यमकल्पितः ॥" (सा० द० ६/३१२)

यहाँ वासन्ती और आत्रेयी मध्यम पात्र हैं तथा संस्कृत में सम्भाषण कर रही हैं । अतः यह 'शुद्ध विष्कम्भक' है ।

भवभूति 'विष्कम्भकों के प्रयोग में बड़े कुशल हैं । वे उनमें कथा का समुचित निर्वाह करने वाले तत्त्वों की सूचना दे देते हैं । उनका प्रकृत विष्कम्भक 'सीता-परित्याग', 'कुश-लव-जन्म' आदि बीती हुई तथा 'शम्बूक-वध' करने के लिए श्रीरामचन्द्रजी के 'पञ्चवटी-प्रवेश' की आने वाली घटना की सूचना देने के कारण पूर्ण सफल है ।

(ततः प्रविशति सदयोद्यतखड्गो रामभद्रः ।)

रामः—

रे हस्त ! दक्षिण ! मृतस्य शिशोर्द्विजस्य,
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम् ।
रामस्य बाहुरसि, निर्भरगर्भखिन्न-
सीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते ? ॥ १० ॥

[अन्वयः—रे दक्षिण हस्त ! द्विजस्य मृतस्य शिशोः जीवातवे शूद्रमुनौ कृपाणं विसृज, (त्वं) रामस्य बाहुरसि । निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटोः, ते करुणा कुतः ? ॥१०॥]

(कथंचित्प्रहृत्य) कृतं रामसदृशं कर्म । अपि जीवेत्स ब्राह्मणपुत्रः !

हिन्दी —

[तदनन्तर करुणापूर्वक (हाथ में) तलवार ताने
हुए श्रीराम प्रवेश करते हैं ।]

राम—[श्लोक १०] अरे दक्षिण हस्त ! तू मरे हुए ब्राह्मण-बालक को जिलाने के लिये शूद्र मुनि पर तलवार का प्रहार कर । (इस विषय में हिचक क्यों करता है ?) अरे तू तो परिपूर्ण गर्भ से खिन्न (प्रियतमा) सीता का परित्याग करने में पटु राम का हाथ है; अतः तुझमें करुणा कहाँ से आयी ? (निर्दय व्यक्ति का अङ्ग होने के कारण तू भी करुणाहीन होकर 'शूद्र तापस' पर प्रहार कर ।

(किसी प्रकार प्रहार करके) राम-सदृश कार्य कर दिया ! क्या वह ब्राह्मण-पुत्र जी गया होगा ?

संस्कृत-व्याख्या

ततः सदयं (यथा स्यात्तथा) हस्ते खड्गमुत्कर्षतो रामस्य प्रवेशो भवति । शूद्रमुनौ प्रहर्तुंभगवान् रामः स्वदक्षिणहस्तं प्रेरयति—रे हस्त इति ।

'रे'=इति अनादरद्योतकमव्ययम्, दक्षिणहस्त ! =वामेतर कर ! द्विजस्य=विप्रस्य, मृतस्य-उपरतस्य, शिशोः=बालकस्य, जीवातवे=जीवनाय, शूद्रमुनौ=शम्बूके इति भावः। कृपाणं=असिं, विसृज-विमुञ्च। त्वं रामस्य बाहुः=भुजः असि। निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटोः=पूर्णगर्भक्लिष्टसीताप्रवासन-निपुणस्य, ते=तव, करुणा=दया, कुतः=कस्मात् (जायते, इति भावः।)

श्लोकोऽयमतीव मार्मिकः। अत्र कोमलता स्पृहणीयता च भावानामभिव्यज्यते। तथाहि=रे दक्षिण हस्त ! त्वं मृतस्य द्विजबालकस्योज्जीवनहेतौ शूद्रमुनौ कृपाणप्रहारं कर्तुं कथं नोत्सहते? परिपूर्णगर्भभारपरिखिन्नायाः स्वप्राणप्रियायाः परित्यागादरुणस्य रामस्य बाहुरसि, अङ्गिनोऽकरुणत्वात्तदीयस्याङ्गस्यापि करुणा न सम्भवति। अतो निःशकं प्रहारं कुरु—इति भावः।

अत्र 'रे' इति नीचसम्बोधन-पदं रामस्यात्मग्लानिं सूचयति। 'दक्षिण' विशेषणेन च कुशलतारूपोऽर्थो गृह्यते। यो हि सीताविवासने आज्ञाप्रदाने दक्षिणो हस्तः स्वभावेनैवाग्रेसरो भवति। अपि च—दक्षिणस्यैव बाहो रामस्याङ्गत्वमुपपद्यते; वामभागस्तु पत्न्या भवति। सा च स्वयं निराकृता तदीयाङ्गस्य सम्बोधनादावपि कीदृशोऽधिकारः ! किञ्च—"ब्राह्मणो मामकी तनुः" इत्युक्तत्त्वाद् द्विजरक्षां विना दक्षिणत्वं कुतस्तरां स्यादिति युक्तैव तथोक्तिः।

'शूद्रमुनौ'—इति पदेन च मुनित्वेऽपि शूद्रत्वे सति मुनित्वं नोचितमिति मर्यादाभञ्जकत्त्वान्मुनिरपि वध्यः। तदानीं शूद्राणां तपस्यानिषेधात्। एतेन मर्यादा पुरुषोत्तमता रामस्त सूचिता भवति।

'कृपाण'—पदप्रयोगश्च वैज्ञानिकतां कवेः प्रकटयति। कृपां आ समन्तान्नयतीति, कृपया वा अनति=जीवतीति व्युत्पत्त्या प्रहारोऽप्ययं कार्यद्वयस्य साधकः—ब्राह्मणशिशोरुज्जीवनस्य, शूद्रस्य चास्य तपस्याफलत्वेनोत्तमलोकप्राप्तेरिति। ततश्च नागमस्य वधो द्वेषमूलः, प्रत्युत कल्याणकर. एवेति भावः 'जीवातुरस्त्रियां भक्ते जीविते जीवनौषधे" इति मेदिनि।

अत्र 'हे हस्त'—इति पाठस्तु साहित्य-सौहित्यानभिज्ञपरिकल्पितः। 'हे ह' इत्यनुप्रासलोभो नात्र युक्तः। कोमल-रसेऽनुप्रासस्य विरुद्धत्वात्। हस्तबाहु:-पादयोः पौनरुक्त्याच्च। 'निर्भर' इत्यादि कथनस्य 'हे' इति सम्बुद्धिपदेनापोषणाच्च। 'रे' इति पाठस्तु परमरमणीयः। कारुण्यभावञ्च विशेषरूपेण पोषयति, इति सहृदयैः स्वयमामीलितलोचनैर्विचारणीयम्। 'रामस्ये'त्यत्रार्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिप्रभेदः।

अत्र काव्यलिङ्गालङ्कार। वसन्ततिलका च्छन्दः। रामस्य परितापनिन्दादिवस्तुव्यञ्जकतया चोत्तमकाव्यत्त्वम्।

अपि च—'निर्भर·····पटोः' इति विशेषणमत्र महान्तं भ्रमं जनयतीत्यपि विवेचनीयम्। 'रामस्य' इति षष्ठयन्त पदस्येदं विशेषणम्? अथवा 'ते' इति

षष्ठ्यन्तस्य ? 'रामस्य बाहुरसि' इत्यत्र वाक्यं परिसमाप्तम्, अनन्तरञ्च 'निर्भर'—इत्यादि कथनं समाप्तपुनरात्तत्वदोषनिगृहीतम् । 'रामस्ये' त्यत्रार्थान्तरसंक्रमितवाच्य-ध्वनिनैव 'अकरुणत्व' रूपस्यार्थस्य प्रतीतेश्च विशेषणेनानेन न किमपि वैशिष्ट्यमायाति। अतो निःसन्देहं कवेः कौशलमत्र 'ते' इत्यस्य विशेषणेनैव प्रकटीभवति। हस्तनैव राजानः 'आज्ञोल्लेखनं' कुर्वन्ति, अतो हस्त-द्वारा रामनिन्दाप्रतीतौ वैचित्र्याधिक्यं नः प्रतिभाति प्रतिभावतां सताम् सुविचारोऽत्राभ्यर्थनीयः । वस्तुतस्तु 'पटो' इति निर्विसर्गपाठस्वीकारे सम्बुद्धि-पदेऽर्थस्यातितमां चमत्कृतिः स्पष्टता चायाति, यदि विज्ञेभ्योऽस्माकं विचारो रोचेत ।।१०।।

कथञ्चिदिति । कथंकथमपि=केनापि प्रकारेणानिच्छन्नपि, लोकसीमारक्षणाय प्रहारं कृत्वा; रामसदृशं कर्म कृतमिति सकरुणमाह । ब्राह्मणपुत्रो जीविष्यति किमिति विवेचयन् स्थितः ।

टिप्पणी

उक्त श्लोक अत्यन्त मार्मिक है। इसमें भावों की सुकुमारता, उदारता तथा स्पृहणीयता भली-भाँति अभिव्यक्त हो रही है। श्रीरामचन्द्र जी का दाहिने हाथ को सम्बोधन कर करुणापूर्ण वचन कहना उनकी आत्म-ग्लानि का द्योतक है। इसके शब्दों में अपूर्व ध्वनि तथा अर्थगाम्भीर्य भरा पड़ा है।

(१) रे!—इस नीचता-सूचक सम्बोधन पद का प्रयोग करने से राम की आत्मग्लानि स्पष्ट हो रही है।

कुछ लोग 'रे' के स्थान पर 'हे' पाठ स्वीकार करते हैं। परन्तु हमारे मत में तो 'रे' का प्रयोग ही उपयुक्ततर है, क्योंकि 'रे' ही राम की आत्मग्लानि तथा हाथ की निर्दयता को विशेष रूप से अभिव्यक्त करता है। (२) दक्षिण!—हस्त का यह विशेषण भी बहुत ही साभिप्राय है—

[क] प्रथम तो—इस विशेषण से सीता-निर्वासन' के लिये आगे बढ़कर आज्ञा देने में हाथ की अत्यन्त कुशलता सिद्ध होती है क्योंकि उसी के संकेत देकर लक्ष्मण को सीता-परित्याग की आज्ञा दी गई थी। अतः ऐसे कठोर कार्य करने में हाथ चतुर (दक्षिण) है ही। उसे शूद्रमुनि पर तलवार चलाने में हिचक नहीं होनी चाहिए। [ख] दूसरी बात यह है कि दायाँ हाथ ही राम का हो सकता है—बायाँ नहीं क्योंकि वाम भाग पत्नी का होता है। परन्तु राम ने तो निरपराध पत्नी का परित्याग कर दिया है। इसलिये अब उन्हें उसके (वाम) अङ्ग को सम्बोधन करने का अधिकार ही क्या है ? [ग] तीसरी बात यह है कि बाँयी ओर हृदय होता है, अतः बाँये अङ्ग में सहृदयता होती है। इसलिये शूद्रमुनि के मारणरूपी कठोर कार्य को बाँया हाथ सम्पन्न नहीं कर सकता। [घ] चौथा भाव इस विशेषण के प्रयोग में यह है कि—"ब्राह्मणो मामकी तनुः' के अनुसार ब्राह्मण भगवान् का ही रूप है। बिना उनकी रक्षा किये 'दक्षिणता' कैसे आ सकती है ?

अतः इन सब कारणों से 'ब्राह्मण' की रक्षा के लिये 'शूद्रमुनि' पर

प्रहार करते समय श्रीरामचन्द्रजी के हाथ के लिए 'दक्षिण' विशेषण प्रयुक्त करना सर्वथा उचित है।

(३) कृपाणम्—कृपाण शब्द का प्रयोग भी कवि की अनुपम विदग्धता का परिचायक है। कृपाम् आ समन्तान्नयति'—इस व्युत्पत्ति से यह प्रहार भी १. ब्राह्मण-शिशु को जीवन-दान तथा २. शूद्रमुनि को उत्तम लोकों की प्राप्ति कराने से दो कार्यों का साधक है।

इससे—'शूद्रमुनि का वध द्वेष-मूलक नहीं प्रस्तुत कल्याण अथवा दया की भावना से युक्त है'—यह ध्वनित होता है। (४) रामस्य बाहुरसि—पाठान्तर, रामस्य गात्रमसि'। निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटो—पाठा० 'दुर्वहगर्भखिन्न...'।

यद्यपि यह विशेषण राम के लिए भी लगाया जा सकता है, परन्तु इसे 'रामस्य' का विशेषण मानने में कोई विच्छित्ति नहीं है क्योंकि 'रामस्य बाहुरसि' अथवा 'रामस्य गात्रमसि' पर वाक्य समाप्त हो चुका है; पुनः 'निर्भर...' आदि विशेषण 'रामस्य' के साथ लगाने से (समाप्तपुनरात्तत्व' दोष आ जाने के कारण) वाक्य दूषित हो जाता है।

और भी—यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यही सिद्ध होगा कि यह ('निर्भर...') 'ते' का ही विशेषण है क्योंकि राजागण हाथ से ही आज्ञा का उल्लेख किया करते हैं। 'सीता-निर्वासन' आज्ञा देने में भी राम का हाथ दोषी है। अतः उसके लिए ही यह विशेषण उपयुक्त हैं।

हमारे मत में तो—'निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटो !' इसको सम्बोधन मान लेने से अर्थ में अधिक चमत्कार हो जायेगा। (६) अलकार काव्यलिङ्ग। (७) छन्द—वसन्ततिलका (८) कथञ्चित् प्रहृत्य—किसी प्रकार प्रहार करके अर्थात् कठिनता से। राम की दयालुता प्रकट होती है:—

मञ्च पर वध दिखलाना चिन्त्य है जैसा कि कहा है:—

'दूराह्वानं वधो युद्धम् राज्यदेशादिविप्लवः" (सा० द०/६)

अतः इसकी यहाँ सूचना देनी ही ठीक थी; प्रदर्शित करना नहीं।

(९) कृतं रामसदृशं कर्म्म—इसके विषय में वीरराघव कहते हैं:—'रामसदृशं कर्म्म, न तु दशरथसदृशं कर्म। दशरथो ह्यबुद्धिपूर्वकं शूद्रतापसवधं कृतवान्। तथा च 'पितुः शतगुणं पुत्रः' इति न्यायेन दोषविषय एव न तु गुणविषय इति स्वोपालम्भ इह व्यज्यते।"

(प्रविश्य)

दिव्यपुरुषः—जयतु देवः।

दत्ताभये त्वयि यमादपि दण्डधारे,
सञ्जीवितः शिशुरसौ मम चेयमृद्धिः।

शम्बूक एष शिरसा चरणौ नतस्ते,
सत्संगजानि निधनान्यपि तारयन्ति ॥११॥

अन्वयः—यमादपि दत्ताऽभये त्वयि दण्डधारे (सति) असौ शिशुः सञ्जीवितः मम च इयम् ऋद्धिः। एष शम्बूकः शिरसा ते चरणौ नतः, सत्सङ्गानि निधनानि अपि तारयन्ति ॥११॥

हिन्दी—

[प्रवेश कर]

दिव्यपुरुष—महाराज की जय हो।

[श्लोक ११]—"यमराज से भी अभयदान देकर आपके दण्ड धारण करने पर (आपकी कृपा से) यह ब्राह्मण बालक जीवित हो उठा और मेरी यह (अलौकिक) शोभा हो गयी। यह शम्बूक आपके चरणों में सिर से (सिर झुकाकर) प्रणाम करता है। (यह सच है कि) सत्सङ्ग से उत्पन्न मरण भी (प्राणियों) का उद्धार कर देते हैं।

सस्कृत-व्याख्या

दिव्यरूपमाकल्प्य शम्बूकः प्रविश्य राम पप्रमन्नाह—दत्ताभयेति।

शब्दार्थः—दण्डधारे=शासितरि। ऋद्धिः=समुन्नतिः, सम्पद्। निधनानि=मृत्यवः।

देव! तव विजयः सर्दवास्तु। महाराज! भगवान् सर्वेषामभयप्रदः। अनुचित-कार्य-करणे यमराजमपि दण्डयतो भवतोऽनुग्रहेणैवासौ ब्राह्मण-शिशुः सञ्जीवितः, मम चेयं प्रत्यक्षतो वर्तमानाः समृद्धिः सञ्जाता। 'शम्बूक'-नामायं भवतामनुगृहीतः सेवकः सविनयं चरणयोः प्रणतः। सत्यमेवैतत्—सत्सङ्गाज्जातं—मानानि निधनानि=मरणान्यपि तारयन्ति संसारसागरतः। तस्मान्नायं मम मृत्युः, अपितु रोगिणः पीडा-करस्य कायस्य चिकित्सेव निर्विचिकित्सं कल्याणसाधनमेव।

अत्र विरुद्धान्मृत्योः "दिव्यरूपकार्योत्पत्तेः" विषमाऽलङ्कारः। विशेषार्थस्य सामान्यतया समर्थनादर्थान्तरन्यासश्च। तयोश्च परस्परन्निरपेक्षतयाऽत्र संसृष्टिः। वसन्ततिलकावृत्तम्। प्रसादो गुणः। लाटी रीतिः ॥११॥

टिप्पणी

(१) दत्ताभये—दत्तम् अभयं येन, तस्मिन्। (२) यमात्—"भीत्रार्थानां भयहेतुः" से पञ्चमी। (३) सञ्जीवितः शिशुरसौ—तुलना कीजिये देवताओं की राम के प्रति यह उक्ति—

"यस्मिन् मुहूर्ते काकुत्स्थ! शूद्रोऽयं विनिपातितः।
तस्मिन्मुहूर्ते बालोऽसौ, जीवेन समयुज्यत ॥"

(रामा० उत्त० ७६/१५)

(४) नतः—√नम्+क्त। (५) सत्सङ्गजानि निधनान्यपि तारयन्ति—

शम्बूक देवत्व की प्राप्ति के लिये तप कर रहा था । उ · सत्सङ्ग से उत्पन्न मृत्यु के उपरान्त मिला; अतएव वह तर गया । उसकी कामना यही थी—

"शूद्रयोन्यां प्रजातोऽस्मि तप उग्रं समास्थितः ।
देवत्वं प्रार्थये राम ! सशरीरो महायशः ॥

(रामा०, उत्त०, ७६/२)

सतां सङ्गः सत्सङ्गः, तस्माज्जायन्ते इति सत्सङ्गजानि । ʽ धनानि = नि + √धा + क्यु भावे ।

(६) अलङ्कार—१. काव्यलिङ्ग (प्रथम दो पंक्तियाँ ती· पंक्ति की कारण है), २ .अर्थान्तरन्यास (चतुर्थ पंक्ति में) ।

रामः—द्वयमपि प्रियं नः, तदनुभूयतामुग्रस्य तपसः परिपाकः ।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च, यत्र पुण्याश्च सम्पदः ।
वैराजा नाम ते लोकास्तैजसाः सन्तु ते शिवाः ॥१२॥

हिन्दी—

राम—ये दोनों ही बातें मेरे लिये बड़ी प्रसन्नता की हैं । अतः अब तुम इस उग्र तपस्या के फल का अनुभव करो ।

[श्लोक १२]—जहाँ आनन्द, प्रमोद तथा दिव्य सम्पत्तियाँ हैं, वे "वैराज" नामक (ब्रह्म-सम्बन्धी सबसे ऊँचे) लोक तुम्हें (इस तपस्या के फलस्वरूप) प्राप्त हों ।

संस्कृत-व्याख्या

शुभसमाचारश्रवणेन प्रसन्नो भगवान्—"उग्रस्य तपसः फलमनुभवे"ति शम्बूकं प्रत्याह—यत्रेति । "वैराजाः" तैजसाः लोकास्तुभ्यं निर्धारिताः सन्ति । यत्रानन्दाः = आत्मसाक्षात्कृतानि सुखानि, मोदाः = दिव्यसुखानि, पुण्याः = परमोत्तमाः सम्पदश्च सन्ति, शिवाः मङ्गलकारकास्ते लोकाः परमतपसः फलकत्वेन त्वया सुचिरमनुभूयन्ताम् ।

विराजः—ब्रह्मण इमे वैराजाः । ब्रह्मसम्बन्धिनो लोकाः । तेजोमयाः सर्वोपरिवर्तमानाः लोकाः प्रशस्ततपःकर्तॄणां कृते सुनिश्चिताः ।

अत्रसमुच्चयालङ्कारः । अनुष्टुप् छन्दः ॥१२॥

टिप्पणी

(१) पाठान्तर—"पुण्याश्च सम्पदः" के स्थान पर "पुण्याभिसंभवः" । (२) यत्रानन्दाश्च मोदाश्च—आनन्द और मोद का अन्तर वीरराघव ने इस प्रकार दिखाया है—"आनन्दाः आत्मानुभव-जन्या हर्षाः मोदाश्च दिव्यविषयानुभवजन्या हर्षाः ।

तुलना०—

"यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।" (ऋग्वेद, ६/११३/११)

(३) वैराजाः—विराजः ब्रह्मण इमे वैराजाः। विराज् + अण् :

"लोकाः सान्तानिका नाम, यत्र तिष्ठन्ति भास्वराः।
ते वैराजा इति ख्याता देवानां देवि देवताः॥"

(४) तैजसाः—तेजस इमे। तेजस् + अण्।

शम्बूकः—स्वामिन्! युष्मत्प्रसादादेवैषामहिमा। किमत्र तपसा? अथवा महदुपकृतं तपसा।

अन्वेष्टव्यो यदसि भुवने लोकनाथः शरण्यो,
मामन्विष्यन्निह वृषलक योजनानां शतानि।
क्रान्त्वा प्राप्तः स इह तपसां संप्रसादोऽन्यथा तु,
क्वायोध्यायाः पुनरुपगमो दण्डकायां वने वः? ॥१३॥

अन्वयः—(हे स्वामिन्!) भुवने अन्वेष्टव्यः लोकनाथः शरण्यः (त्वम्) यत् मां वृषलकं अन्विष्यन् योजनानां शतानि क्रान्त्वा इह प्राप्तः असि, स इह तपसां संप्रसादः अन्यथा तु वः अयोध्यायाः दण्डकायां वने क्व पुनः उपगमः॥१३॥

हिन्दी—

शम्बूक—प्रभो! आपके प्रसाद की ही यह महिमा है। इसमें तपस्या का क्या (प्रभाव) है? अथवा (यह बात नहीं) तप ने बहुत उपकार किया है (क्योंकि)—

[श्लोक १३]—जो कि संसार में (बड़ी-बड़ी तपस्याएँ कर मुनियों के द्वारा अन्वेषणीय, लोकों के स्वामी तथा शरणागतवत्सल हैं, वही आप मुझ (तुच्छ) शूद्र को खोजते हुए सैकड़ों योजन लाँघकर यहाँ आये हैं—यह तप का ही अनुग्रह (प्रभाव) है। नहीं तो अयोध्या से दण्डक-वन में फिर आपका आगमन कैसे होता?

संस्कृत-व्याख्या

देवशरीरधारी शम्बूको रामं सर्वैश्वर्यसम्पन्नं सम्बोधयति—स्वामिन्निति। स्वामिन्=इति विशेषणेन रामस्य सर्वविधैश्वर्यशालित्वं सूच्यते। स्वं=सर्वविधं धनमस्यास्तीति "स्वामिन्नैश्वर्ये" इति "आमिनच्"—प्रत्ययान्तो निपातः। भवतां कृपैवाऽत्र हेतुः, किं तपसा? अथवा तपस्ययैव महदुपकृतम्।

कथमिति चेदत्राह—अन्वेष्टव्य इति।

(स्वामिन्!) भुवने=लोके, अन्वेष्टव्यः=सर्वदा सततप्रयत्नशीलैर्महामुनिभिरपि ध्यान-धारणादिभिर्योगिकैरुपायैरन्वेषणीयः लोकनाथः=सर्वेषां लोकानां यः प्रभुः शरण्यः=शरणागतवत्सलः, (त्वम्) यत् मां वृषलकम्=शम्बूकनामानं शूद्रम् अन्विष्यन्=विचिन्वन् योजनानां शतानि=बहूनि योजनानि क्रान्त्वा=अतिक्रम्य,

इह=अत्र प्राप्तः समागतोऽसि । इह अस्मिन् विषये सः तपसां सम्प्रसादः=तपश्चर्याया अनुग्रह एव, अन्यथा तु वः=युष्माकम् अयोध्याया दण्डकायां वने=दण्डकारण्ये क्व पुनः उपगमः=आगमनं सम्भवति ?

यम तपस एव फलमेतद्यत्त्वम् मां अन्वेषयन् स्वयमेवात्र समागतोऽसि । अन्यथा क्वायोध्या ? क्व चात्र दण्डकारण्यं महावनम् ? अत्र भवतामागमनं साधारणतया नैव सम्भाव्यते—इति भावः ।

अत्र विषमालङ्कारः, अतिशयोक्तिः काव्यलिङ्गञ्चेत्येते अलङ्काराः । मन्दाक्रान्ता छन्दः ॥१३॥

टिप्पणी

(१) युष्मत्प्रसादादेव—यदि श्रीरामचन्द्रजी शम्बूक का वध न करते तो उसे ऐसी सम्पत्ति प्राप्त नहीं हो सकती थी । ऐसा विश्वास था कि राजाओं के द्वारा दण्डित पापी शुद्ध हो जाते हैं और वे स्वर्ग-प्राप्ति भी कर लेते हैं—

"राजभिः कृतदण्डास्तु, कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति, सन्तः सुकृतिनो यथा ॥" (मनु० ८/३१८)

(२) लोकनाथः—पाठा०, "भूतनाथः" । (३) अन्वेष्टव्यः—खोजने योग्य । "य आत्मा अपहतपाप्मा सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः ।" (बृहदारण्यकोपनिषद्) अनु + √इष् + तव्य कर्म्मणि ।

(४) शरण्यः—शरणे साधु इति शरण्यः । "तत्र साधुः" (पा० ४/४/९८) इति यत् । शरण + यत् । (५) वृषलकम्—कुत्सितो वृषलः वृषलकः । "कुत्सिते" (पा० ५/३/७४) इति कन् । वृषल + कन् । तात्कालिक धर्मानुसार अपने "द्विजातिसेवा-धर्म' के विरुद्ध आचरण करने के कारण शम्बूक धर्मोच्छेदक था । इसलिए 'वृषं =धर्मं लुनातीति वृषलः' इस व्युत्पत्ति से उसका यह विशेषण उपयुक्त है, कहा भी है :—

"वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥" (मनुस्मृति)

(६) दण्डकायां वने वः—ये शब्द कथा को आगे बढ़ाने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं । इन्हें सुनते ही श्रीराम की बीती याद आती है और वे उस वन को देखते हैं ।

रामः—किं नाम दण्डकेयम् ? (सर्वतोऽवलोक्य) । हा, कथम्—

स्निग्धश्यामाः क्वचिदपरतो भीषणाभोगरूक्षाः,
स्थाने-स्थाने मुखरककुभो झाङ्कृतैर्निर्झराणाम् ।
एते तीर्थाश्रमगिरिसरिद्गर्तकान्तारमिश्राः,
संदृश्यन्ते परिचितभुवो दण्डकारण्यभागाः ॥१४॥

अन्वयः—क्वचित् स्निग्धश्यामाः अपरत्र भीषणाभोगरूक्षाः स्थाने-स्थाने निर्झराणां झाङ्कृतैः मुखरककुभः तीर्थाश्रमगिरिसरिद्गर्तकान्तारमिश्राः परिचितभुवः एते दण्डकारण्यभागाः संदृश्यन्ते ॥१४॥

हिन्दी—

राम—क्या यह दण्डकारण्य है ? (चारों ओर देखकर) हा ! कैसे !

[श्लोक १४] कहीं (हरी-हरी घास से) स्निग्ध और श्याम, कहीं भयङ्कर (ऊबड़-खाबड़) दृश्यों से रूखे, स्थान-स्थान पर झरनों के कल-कल निनाद से मुखरित दिशाओं वाले, तीर्थ, आश्रम, पर्वत, नदी, गड्ढों और सघन वनों से मिश्रित ये पूर्व परिचित भूमि वाले दण्डकारण्य दिखलाई दे रहे हैं ।'

('भाव यह है कि कहीं हरियाली के कारण स्निग्ध तथा श्यामल भूमि-भाग हैं, कहीं रूखे और डरावने दृश्य । थोड़ी-थोड़ी दूर पर झरने झर-झर कर रहे हैं। उनके प्रपातकालीन निनाद से दिशाएँ मुखरित हो रही हैं । कहीं ऋषियों के द्वारा सेवित तीर्थ हैं, कहीं मुनियों से अधिष्ठित आश्रम; कहीं पर्वत हैं तो कहीं नदियाँ; कहीं गड्ढे हैं तो कहीं सघन वन ।)"

संस्कृत-व्याख्या

शम्बूकमुखाद् 'दण्डकायां वने वः' इति 'दण्डका'शब्दमाकर्ण्य सञ्जातस्मृतिर्भगवान् रामो दण्डकां वर्णयति—स्निग्धेति ।

हन्त ! एतस्यां दण्डकायामेतेऽस्माकं पूर्वपरिचिता भूमेर्भागाः कीदृशाः प्रतिभान्ति ? क्वचित्तु स्निग्धश्यामाः=मसृणकृष्णवर्णाः अतिशयितश्यामाः, अपरत्र च भीषणैः=भयंकरैः आभोगैः=शरीरैः, रूक्षाः=रूक्षकायाः, स्थाने-स्थाने=प्रतिस्थानम्, निर्झराणाम्=झराणां झाङ्कृतैः="झाम्" इति शब्दैः झामिति शब्दानुकरणम्] मुखराः=शब्दायमानाः ककुभः=दिशो येषु ते, तीर्थाश्रमगिरिदृगर्त्तकान्तारमिश्राः दण्डकारण्यस्य भागाः परिचिता भुवो येषान्ते तथाविधा दृश्यन्ते । तीर्थानि=ऋषिसेवितानि जलानि ("निपानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टजले गुरौ" इत्यमरः) आश्रमाः=मुनिजनानां निवासस्थानानि, गिरयः पर्वताः, सरितः=नद्यः, गर्त्ताः=अवटाः, खातस्थानानि । कान्ताराणि=वनानि । एतैः सम्मिश्राः ।

अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः । मन्दाक्रान्ता च्छन्दः ॥१४॥

टिप्पणी

(१) प्रकृति-वर्णन में भवभूति अत्यन्त कुशल है । यहाँ दण्डकारण्य में कोमल और कठोर दोनों प्रकार के दृश्य दिखलाकर कवि ने एक और तथ्य की ओर संकेत किया है । यहाँ जिस प्रकार कहीं कठोर भूमि है और कहीं कोमल उसी प्रकार यहाँ किसी स्थल को देखने से मृदु स्मृति आ रही है और किसी स्थल को देखकर भयंकर। प्रकृति का वातावरण-निर्माण के रूप में सुन्दर वर्णन है। (२) स्निग्ध—√स्निह्+क्त

कर्तरि=स्निग्ध। (३) आभोगः=पूर्णता। (४) मुखरककुभः=मुखराः ककुभः (दिशः) येषाम् ते मुखरककुभः। "दिशस्तु ककुभः काष्ठाः" इत्यमरः ॥१४॥

शम्बूकः—दण्डकैवैषा। अत्र किल पूर्वं निवसता देवेन—

चतुर्दश सहस्राणि चतुर्दश च राक्षसाः।
त्रयश्च दूषणखरत्रिमूर्धानो रणे हताः ॥१५॥

येन सिद्धक्षेत्रेऽस्मिन्माहशामपि जानपदानामकुतोभयः सञ्चारः संवृत्तः।

रामः—न केवलं दण्डकैव, जनस्थानमपि।

शम्बूकः—बाढम् एतानि खलु सर्वभूतरोमहर्षणान्युन्मत्तचण्डश्वापदकुलाक्रान्तविकटगिरिगह्वराणि, जनस्थानपर्यन्तदीर्घारण्यानि दक्षिणां दिशमभिवर्तन्ते। तथाहि—

हिन्दी—

शम्बूक—यह 'दण्डकारण्य' ही है जहाँ पहले रहते हुए आपने—

[श्लोक १५] चौदह हजार और चौदह निशाचर तथा 'दूषण' 'खर' और 'त्रिशिरा'—इन तीनों को मारा था।

राम—यह केवल 'दण्डकारण्य' ही नहीं, 'जनस्थान' भी है।

शम्बूक—जी हाँ! (भय के कारण) सब प्राणियों के रोंगटे खड़े कर देने वाले मदोन्मत्त तथा अत्यन्त क्रोधी (व्याघ्र आदि) हिंस्र पशुओं से व्याप्त अथवा विकट गिरि-कन्दराओं से युक्त 'जनस्थान' की सीमाओं में स्थित लम्बे-लम्बे वन दक्षिण दिशा तक फैल रहे हैं। क्योंकि—

संस्कृत-व्याख्या

शम्बूको दण्डकैवेयमिति पूर्ववृत्तान्तस्मरणपूर्वकं स्थिरीकरोति—चतुर्दशेति। अत्र 'अत्र किल पूर्वं निवसता देवेन' इति संस्कृत-गद्यमन्वेति। नाटकेषु गद्यभागस्य "चूर्णक" इति नाम्ना व्यवहारः। अत्र पूर्वं निवसता महाराजेन भवता चतुर्दशसहस्राणि चतुर्दश च राक्षसाः त्रयः प्रधानराक्षसानां नायकाः 'दूषणः' 'खरः' 'त्रिमूर्द्धा' इति नामानो रणे हताः। अतः सैवेयं दण्डकास्ति ॥१५॥

येन इति। भवता राक्षसानां विनाशादेव अस्मिन् सिद्धक्षेत्रे माहशा अपि जनपदनिवासिनो निर्भयं परिभ्रमन्ति पूर्वन्तु राक्षसानां भयादत्र कस्यापि समागन्तुमुत्साहो नाभूदिति महानुपकारः कृतो भवतेति भावः।

"जनस्थानमपी"ति रामप्रश्नमुत्तरयति शम्बूकः—बाढमिति। आम्! सत्यमेवेदं जनस्थानमस्ति। एतानि सर्वेषां जीवानां हर्षणानि=दर्शनमात्रेण रोमाञ्चकारीणि भयानकानि, उन्मत्ताः=मदोन्मत्ताः, चण्डाः=क्रोधयुक्ताः, ये श्वापदाः=हिंसका

व्याघ्रादयः, तेषां कुलैः = समुदायैः समाक्रान्तानि विकटानि गिरीणां पर्वतानां गह्वराणि येषु तानि जनस्थानस्य सीम-विभागे दीर्घानि, अरण्यानि = वनानि दक्षिणां दिशं यावत् अभिवर्तमानानि सन्ति ।

टिप्पणी

(१) चतुर्दश···हताः—दूषण, खर और त्रिमूर्द्धा (त्रिशिरा) राम के द्वारा मारे गये राक्षसों के नाम हैं । जब शूर्पणखा के लक्ष्मण द्वारा नाक-कान काट लिए गए तब वह अपने भाई खर के पास गई जो कि जनस्थान में राक्षसों का अधिपति था । शूर्पणखा के द्वारा राम-लक्ष्मण से बदला लिए जाने के लिए कहा जाने पर खर ने पहले चौदह राक्षस भेजे । राम के द्वारा उन्हें मार देने पर खर ने अपने सेनापति दूषण को १४,००० राक्षसों के साथ भेजा । ये भी मारे गए । और इसके बाद अकेले बचे त्रिशिरा और खर भी भगवान् राम ने मार दिए । देखिये रामायण, अरण्यकाण्ड १६–३० ।

"इति तस्यां ब्रुवाणायां चतुर्दश महाबलान् ।
व्यादिदेश खरः क्रुद्धो, राक्षसानन्तकोपमान् ॥" (अरण्य०, १६/२१)
अब्रवीद्दूषणं नाम, खरः सेनापतिं तदा ।
चतुर्दशसहस्राणि, मम चित्तानुवर्त्तिनाम् ॥
सर्वोद्योगमुदीर्णानां रक्षसां सौम्य कारय ।" (अरण्य० २२/७–६)

(२) 'चतुर्दश च राक्षसाः'—पाठा०, 'रक्षसां भीमकर्मणाम्' । सम्भवतः इस पाठान्तर पर इसकी छाया पड़ी हो—

"चतुर्दश सहस्राणि, रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
हतान्येकेन रामेण, मानुषेण पदातिना ॥" (अरण्य०, २६/३५)

(३) दूषणखरत्रिमूर्द्धानो'—पाठा०, "······त्रिमूर्धानो" "त्रिमूर्धानः" पाठ में 'द्वित्रिभ्यां षः मूर्ध्नः' (पा० ५/४/११५) से 'ष' प्रत्यय नहीं होता, समासान्तविधि के अनित्य न होने से ।

(क) 'काणे' आदि विद्वान् 'दूषणखरत्रिमूर्धा नः' यह पाठ स्वीकार करते हैं । नः = अस्माकं समरे, भवत्कृतसमरे-इत्यर्थः । "······त्रिमूर्धाः" पाठ में 'द्वित्रिभ्यां षः मूर्ध्नः' (पा० ५/४/११५) से ष प्रत्यय हुआ । त्रि + मूर्धा + षः ।

(ख) कुछ विद्वान् "दूषणखरत्रिमूर्धा नो······" में 'नो' को प्रश्नवाचक मानकर यह अर्थ करते हैं—'दूषण' खर और त्रिमूर्ध क्या रण में नहीं मारे ? अपितु मारे ही ।"

(ग) कुछ विद्वान् 'दूषणखरत्रिमूर्धानः' पाठ में कथञ्चित् च्युतसंस्कृति दोष की उद्भावना करके "······त्रिमूर्धाः समरे हताः" यह स्वीकार करते हैं ।

निष्कूजस्तिमिताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः,
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः ।
सीमानः प्रदरोदरेषु विरलस्वल्पाम्भसो यास्वयं,
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते ॥१६॥

अन्वयः—क्वचित् निष्कूजस्तिमिताः, क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्वस्वनाः, स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः, प्रदरोदरेषु विरलस्वल्पाम्भसः सीमानः (सन्ति) यासु तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैः अयम् अजगरस्वेद्रप्रवः पीयते ॥१६॥

हिन्दी—

[श्लोक १६]—(इस भयङ्कर वन के सीमान्त प्रदेशों में) कहीं एक दम निस्तब्धता छायी हुई है और कहीं हिंसक पशुओं का घोर गर्जन सुनाई पड़ रहा है। कहीं स्वेच्छा से सुखपूर्वक सोये हुए मोटे-मोटे सर्पों की फुङ्कारों से आग धधक उठी है। कहीं-कहीं गड्ढों में थोड़ा-सा पानी पड़ा हुआ है (झिलमिला रहा है) और कहीं प्यास से व्याकुल गिरगिट (पानी न मिलने के कारण) अजगर के पसीने को पीकर अपनी प्यास बुझा रहे हैं ॥१६॥

संस्कृत-व्याख्या

रोमहर्षणकारितामेव स्थिरीकर्तुं प्राह शम्बूकः—निष्कूज इति । अत्र क्वचित्स्थाने कूजनमपि पक्षिणां शब्दोऽपि न श्रूयते, अपर भागे च चण्डानां = भयङ्कराणां सत्त्वानां = जन्तूनां स्वनानि = शब्दाः श्रुतिपथमायान्ति, अन्यत्र च महाकायाः अजगराः सानन्दं शयानास्तीव्रान् श्वासान् परिमुञ्चन्ति, येन सर्वत्राग्नयः प्रदीप्ता भवन्ति । स्वेच्छया सुप्तानां, गभीरो भोगो देहो येषां तेषाम्, भुजगानां = सर्पाणाम्, श्वासैः प्रदीप्ता अग्नयो यत्र ताः सीमानः = प्रान्तभागाः, प्रदराणाम् = पर्वनगर्तानाम्, उदरेषु = मध्यभागेषु सन्ति; किञ्च-विरलस्वल्पानि = क्वचित् स्थाने स्वल्पानि विरलानि च जलानि यास्वेवंविधाः सीमानः सन्ति, यासु सीमसु (परिपतितैः) तृष्यद्भिः = पिपासाकुलितैः, प्रतिसूर्यकैः = सरटैः = कृकलासैः "गिरगिट" इति नाम्ना प्रसिद्धैः ("सरठः कृकलासः स्यात् प्रतिसूर्यशयानकौ" इति हलायुधः ।) अयं, अजगरस्य स्वेदद्रवः = प्रस्वेदजललवः एव पीयते । जलाभावात् अजगरशरीरान्निर्गतः एव पीयते, इत्यर्थः । एतेन वनप्रान्ते भयंकराणां जीवानां शब्दः कुत्रचिच्च सर्वथा शान्तिः अजगराणां श्वासैरग्नि-प्रज्ज्वलनम्, अजगर स्वेदपानरताः कृकलासाः, इत्यादि-वर्णनेन जनस्थानपर्यन्तवनानां रोमहर्षकत्वमुचितमेवेतिभावः । स्वभावोक्तिरलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः ॥१६॥

टिप्पणी

(१) प्रकृति के चतुर चित्रकार "भवभूति" ने अपने नाटकों में प्रकृति का यथार्थ चित्रण किया है। उनके वर्णनों में कृत्रिमता नहीं है; उसमें वास्तविकता एवं विशदता का अनुपम सामञ्जस्य है। वे केवल प्रकृति के कोमल पहलू को ही लेकर

नहीं चले हैं, प्रत्युत उन्होंने वहाँ के घोर एवं भयावह दृश्यों का ही अपेक्षाकृत अधिक वर्णन किया है। उनके तीनों नाटकों में इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं। "मालती-माधव" के पाँचवे अङ्क का 'श्मशान-वर्णन" तथा नवें अङ्क का 'वन-वर्णन' उनके प्रकृति-चित्रण के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

प्रस्तुत नाटक में भी प्रकृति का वर्णन बहुत ही सूक्ष्म एवं यथार्थ रूप में हुआ है। गर्मी की कड़कती हुई दोपहरी का सच्चा चित्र हमें "कण्डूलद्विप०......" (२/९) श्लोक में देखने को मिलता है और 'दण्डकारण्य' की भीषणता का इस श्लोक में।

(४) समास और कोष के लिए संस्कृत टीका देखिए। (३) अलङ्कार—स्वभावोक्ति। (७) शार्दूलविक्रीडित छन्द।

राम:—

पश्यामि च जनस्थानं, भूतपूर्वखरालयम्।
प्रत्यक्षानिव वृत्तान्तान्, पूर्वाननुभवामि च ॥१७॥

(सर्वतोऽवलोक्य।) प्रियारामा हि वैदेह्यासीत्। एतानि नाम कान्ताराणि। किमतः परं भयानकं स्यात्? (सास्रम्।)

त्वया सह निवत्स्यामि, वनेषु मधुगन्धिषु।
इतीवारमतेहासौ, स्नेहस्तस्याः स तादृशः ॥१८॥
न किञ्चिदपि कुर्वाणः, सौख्यैर्दुःखान्यपोहति।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं, यो हि यस्य प्रियो जनः ॥१९॥

हिन्दी—

राम—[श्लोक १७]—मैं "खर" भूतपूर्व निवासालय 'जनस्थान' को देख रहा हूँ, और (साथ ही साथ) बीते हुये वृत्तान्तों का वर्तमानवत् अनुभव कर रहा हूँ।

(चारों ओर देखकर) सीता को उपवन (बहुत) प्रिय थे (परन्तु) ये महावन हैं! इससे अधिक और क्या भयानक बात होगी? (आँखों में आँसू भरकर)

[श्लोक १८]—(अयोध्या से चलते समय—"प्राणनाथ"!—) "मैं आपके साथ मधु के मधुर गन्ध से सुरभित वनों में रहूँगी' इस प्रकार (यह कह-कहकर) उसका मन यहाँ लगा रहता था! (मेरे साथ वह वन में भी प्रसन्न थी परन्तु मेरे) वियोग में उसने 'अयोध्या' में भी रहना नहीं (चाहा!) (ओह!) उसका यह कैसा (अनुपम) प्रेम था?"

[श्लोक १९]—जो जिसका प्रिय होता है, वह (उसके लिए) कुछ न करता हुआ भी (सान्निध्य-स्मरण रूप) सुखों से दुःख दूर कर देता है। प्रिया व्यक्ति प्रेमी के लिए कोई अनिर्वचनीय पदार्थ होता है।

संस्कृत-व्याख्या

भगवान् रामोऽपि जनस्थानवृत्तान्तान् स्मृत्वा प्राह—पश्यामीति। यत्र पूर्वं

खरस्य स्थानमासीत्, एवंविधं जनस्थानं पश्यामि, पूर्वान् वृत्तान्तानिदानीं प्रत्यक्षानिव अवलोकयामि। अत्र भाविकमलङ्कारः ॥१७॥

रामः सीतां स्मृत्वाऽनुशोचति। वैदेह्या उपवनानि प्रियाण्यासन्, अत्र चेमानि वनानि। विधिविडम्बना कीदृशी विचित्रा भवति ? इति सर्वतोऽवलोक्य सशोकः प्राह—त्वयेति। सीता, अयोध्यातो निर्गमनकाले—"नाथ ! मधुनो गन्धमुक्तेषु त्वया-सह निवासं करिष्यामि, न च तत्र क्लेशो मे भविता," इत्युक्त्वाऽत्र क्रीडारता आसीत् ! हन्त ! तस्याः स स्नेहः कीदृशो मधुर आसीत्। अधुना कीदृशो विपरिणामः ? को नाम काल-कलनां वेत्ति ? ॥१८॥

सत्यमेवेदं कथनमित्याह—न किञ्चिदिति। यो हि यस्य प्रियो जनो भवति, स किमपि कार्यं मा करोतु, परन्तु "अयं मे प्रियः" इति स्मरणमात्रेणापि सुखन्तु ददात्येव। सुख-प्रदानेन दुखन्तु दूरीकारोत्येव ! अतः प्रियो जनः किमपि अनिर्वचनीयं "द्रव्यं" अस्ति। किन्तदिति विशेषरूपेण वक्तुं यद्यपि न शक्यते, तथापि तस्य महिमाऽवाङ्मनस-गोचरः, अतश्च सीतायाः स्मरणेनापि महत् सुखमनुभवामीति हृदयम्। अथवा—तदानीं मया सीतायाः कोऽप्युपकारो यद्यपि न कृतोऽत्र वने जीवने वा, तथापि सा मया सह वनेऽपि सुखं विन्दते स्म, स्वकीयजनसम्पर्कमात्रतोऽपि सुखानुभवादिति भावः। स्वेष्टजनस्य दर्शनमात्रेणापि स्वर्गसुखमनुभवन्ति प्रियाः। [अत्र "द्रव्यम्" इति पददानेऽपि कवेर्वैशिष्ट्यम्। गत्यर्थकाद्'द्रु" धातोर्द्रव्यं निष्पद्यते। ततश्च प्रियो जनो यदि किमपि विशिष्टं कार्यं न करोति, तथापि साधारणतया तस्यां दिशि किञ्चित् चलनं तु करोत्येव। अपि च—सर्वे गुणाः, क्रियाश्च द्रव्याश्रिता एव भवन्ति, अतः पूर्वं द्रव्यस्यास्तित्वमपेक्षितं भवतीति प्रियो जनो द्रव्यत्त्वेनैवोच्यते। इति कवेर्दार्शनिकत्वं सूचयति। अथवा—"द्रव्यं भव्ये" इति नियमात् भव्यपदार्थः] अत्रार्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। अप्रस्तुतप्रशंसा च। अनुष्टुप्छन्दः ॥१९॥

टिप्पणी

(१) भूतपूर्वखरालयम्—पूर्वं भूतः, भूतपूर्वः। सुप्सुपा समास, "भूतपूर्वे चरट्" के आधार पर भूत का पूर्व निपात। भूतपूर्वः खरालयो यस्मिन् तम्। जनस्थान में पहले 'खर' राक्षस रहता था। (२) प्रियरामा···आरमते यस्मिन्निति आरामः। आ + $\sqrt{}$रम् + घञ् अधिकरणे। प्रियः आरामः अस्याः इति प्रियारामा। "वा प्रियस्य" (वार्तिक) के अनुसार प्रिय का विकल्प से पूर्वनिपात। "आरामः स्यादुपवनं कृत्रिमं वनमेव यत्" इत्यमरः।

कहीं "प्रियारामा" के स्थान पर "प्रियरामा" भी पाठ है किन्तु यह किसी विशेषता को प्रकाशित न करने के कारण स्पृहणीय नहीं है। (३) त्वया सह—सहयुक्तेऽप्रधाने (पा० २/३/१९) इति तृतीया। (४) मधुगन्धिषु—मधुनः (पुष्परसस्य) गन्धः एषाम् एषु वा इति मधुगन्धिनस्तेषु। मधुगन्ध + इनिः। यह विशेषण इसलिए दिया गया है क्योंकि वनों में भीनी-भीनी गन्ध वाले और पुष्परस से युक्त फूल खिले रहते थे। (५) इतीवारमतेहासौ—इसके कई पाठान्तर तथा भेद मिलते हैं:—

१. इतीहारमतेवासी (इति इह अरमत एव असौ)।
२. इति वा अरमत इह असौ ।
३. इति च अरमत इव असौ ।
४. इति हा रमते सीता ।
५. इति इव अरमत इह असौ । (इतीव=इसी प्रकार जैसा कि उस ने कहा था उसी प्रकार)। ६. इति इव आरमते हा असौ ।
७. त्वया सह·········तादृशः—तुलना कीजिए:—

(सीता) "सुखं वने निवत्स्यामि, यथैव भवने पितुः ।
अचिन्तयन्ती त्रील्लोकांश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम् ।
शुश्रूषमाणां ते नित्यं, नियता ब्रह्मचारिणी ।
सह रंस्ये त्वया वीर ! वनेषु मधुगन्धिषु ।"
(रामा०, अयोध्या०, २७/१२-३)

(७) न किञ्चदपि-जनः—सौख्यं=सुख+ष्यञ् तृ० बहु० । चाहे प्रिय व्यक्ति प्रेमी के लिये कुछ भी न करे परन्तु उसके लिये वह अमूल्य निधि होता है। प्रिय के स्मरण-मात्र से प्रेमी का दुःख दूर हो जाता है।

'वह अवर्णनीयता क्या है ? यद्यपि इसका वर्णन स्पष्ट रूप से नहीं कर सकते तथापि उसकी महिमा अनिर्वचनीय है। उसके स्मरण-मात्र से ही अनुपम सुख मिलता है। यही कारण है कि मैं "सीता" के स्मरण से ही किसी अलौकिक सुख का अनुभव कर रहा हूँ अथवा—यद्यपि मैंने उस समय सीता का कोई विशेष उपकार नहीं किया था तथापि वह मेरे साथ वन में रहकर भी सुख का अनुभव करती थी। इसमें एकमात्र हेतु यही था कि—"प्रिय के साथ रहने में हृदय को कोई अनिर्वाच्य विश्राम मिलता है" । इसलिये सीता मेरे साथ कण्टकाकीर्ण वनों में चली आयी थी। (८) तत्तस्य किमपि द्रव्यम्—(क) यहाँ "द्रव्य" का प्रयोग कर कवि ने अपनी शब्द-प्रयोग-चातुरी का परिचय दिया है। गत्यर्थक √'द्रु' धातु से यह शब्द निष्पन्न होता है। उसके अनुसार—चाहे प्रियजन कोई विशेष कार्य न करे तथापि उस दिशा में चलने का प्रयास तो करता ही है ॥—यह अर्थ प्रस्फुटित होता है।

(ख) दूसरा रहस्य इस शब्द के प्रयोग में यह है कि—'सारे गुण और क्रियाएँ 'द्रव्य' के ही आश्रित रहती है अर्थात् द्रव्य की आवश्यकता सर्वप्रथम होती, इसलिए प्रियजन के लिए "द्रव्य" शब्द का प्रयोग किया गया है।

(ग) अथवा—"द्रव्यं भव्ये" के अनुसार "द्रव्य" शब्द का प्रयोग "भव्य" अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इस श्लोक में कवि ने विशुद्ध प्रेम का प्रभाव बताया है। 'द्रव्य' शब्द के प्रयोग से कवि की सहृदयता तथा दार्शनिकता प्रकट होती है।

शम्बूकः—तदलमेभिर्दुरासदैः । अथैतानि मदकलमयूरकण्ठकोमलच्छविभिरवकीर्णानि पर्यन्तैरविरलनिविष्टनीलबहुलच्छायातरुषण्डमण्डितान्यसंभ्रान्तविविधमृगयूथानि पश्यतु महाभागः प्रशान्तगम्भीराणि श्वापदकुलशरण्यानि महारण्यानि ।

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरमुक्त-
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति ।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज-
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः ॥२०॥

[अन्वयः–इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरमुक्तप्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्जखलनमुखरभूरिस्रोतसः निर्झरिण्यः वहन्ति ॥२०॥]

अपि च—

दधति कुहरभाजामत्र भल्लूकयूना-
मनुरसितगुरूणि स्त्यानमम्बूकृतानि ।
शिशिरकटुकषायः स्त्यायते शल्लकीना-
मिभदलितविकीर्णग्रन्थिनिष्यन्दगन्धः ॥२१॥

अन्वयः—अत्र कुहरभाजां भल्लूकयूनाम् अनुरसितगुरूणि अम्बूकृतानि स्त्यानं दधति । शल्लकीनां शिशिरकटुकषायः इभदलितविकीर्णग्रन्थिनिष्यन्दगन्धः स्त्यायते ॥२१॥

हिन्दी—

शम्बूक—(बीती हुई बातों की याद दिलाकर दुःख उत्पन्न करने वाले) इन दुर्गम वनों (के वर्णनों को रहने दीजिये । अब महाप्रभावशाली आप—मद से मधुर कूक करने वाले केकियों (मयूरों के कोमल कण्ठों की कान्ति के समान समीपस्थ प्रदेशों से व्याप्त, सघनता से खड़े हुए नीली-नीली शोभा वाले छायादार वृक्षों के समूहों से सुशोभित निर्भय (विचरण करने वाले) भाँति-भाँति के हरिणों के झुण्डों वाले शान्त एवं दुर्गम, (व्याघ्र आदि) हिंसक पशुओं के निवास-स्थान—इन महावनों को देखिये । [आशय यह है कि इन महावनों के प्रान्तभागों में मयूर के कण्ठ के समान शोभा वाले, सघन और छायादार वृक्ष खड़े हैं। यहाँ के मृगों को किसी प्रकार का भय नहीं है । इन शान्त और गम्भीर प्रदेशों में अनेक हिंस्र पशु सुखपूर्वक रहते हैं । इन महावनों को आप अपने मनोरञ्जन के लिये देखिये ।]

[श्लोक २०]—वहाँ मस्त पक्षियों से आश्रित वेतस से गिरे हुए पुष्पों से सुगन्धित, शीतल और स्वच्छ जल वाली फलसमूह के परिपाक से श्याम वर्ण वाले घने जामुन-कुञ्जों में गिरने से शब्दायमान अनेकों प्रवाहों वाली नदियाँ बहती हैं ।

(भाव यह है कि यहाँ मद के कारण किलोल करने वाले पक्षियों के बैठने से हिलने के कारण किनारों पर उगी हुई 'बेत' की लताओं के पुष्प जल में गिर रहे हैं। जिससे कि स्वभाव से ही मधुर और शीतल नदियों का जल सुगन्धित हो रहा है। उनकी धारायें फलों से लदे हुए काले-काले जामुन के कुञ्जों से टकराने पर (अथवा) फल गिरने के कारण (अत्यन्त शब्द करती हुई अनेक धाराओं में बह रही है।")

और भी—

[श्लोक २१]—यहाँ (महावन में) पहाड़ों की गुफाओं में रहने वाले तरुण रीछों के थूकने का शब्द प्रतिध्वनित होकर और अधिक बढ़ गया है। अर्थात्—यह महावन गिरि-गुहा-निवासी तरुण भालुओं के थूकने के शब्द से प्रतिध्वनित हो रहा है।) और यहाँ हाथियों के द्वारा तोड़ी (मसली) तथा इधर-उधर फैलाई हुई 'सल्लकी' लताओं की ग्रन्थियों के रस का शीतल, तीक्ष्ण तथा कषाय (कुछ-कुछ कसैला=सुगन्धित) गन्ध फैल रहा है।"

संस्कृत-व्याख्या

भगवत्याः सीतादेव्याः स्मृत्या सदुःखं महाराजं विदित्वा महारण्यदर्शनेन रामस्य चित्तानुरञ्जनार्थं प्राह—तदलमिति। तत्=तस्मात् कारणात् यतो दुःखप्रदान्येतानीति हेतोः, एभिर्दुरासदैः=दुःखेन प्राप्तुं योग्यैः वनैः अलम्। एतेषां वर्णनं दर्शनञ्चेदानीमनावश्यकमिति भावः। अथ=अधुना एतानि महारण्यानि पश्यतु महाभागो भवान्। कीदृशान्येतानीति विशेषयति—मदकलेति। मदेन कलाः=अव्यक्तमधुरारवं कुर्वाणाः मयूरास्तेषां कण्ठानामिव कोमला च्छविः=कान्तिर्येषां तैः पर्यन्तभागैः, अवकीर्णानि=परिव्याप्तानि, अविरलं=निरन्तरम्, निविष्टाः=स्थिताः नीलवर्णाः बहुलाः=अनेके ये छायातरवः=छायाप्रधानास्तरवः (शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समासः) तेषां षण्डेन=समुदायेन मण्डितानि=सुशोभितानि, असंभ्रान्ताः=संभ्रम-(भय)-रहिताः विविधाः=अनेके मृगाणां यूथाः=समुदाया येषु तानि, प्रशान्तानि=शान्तियुक्तानि, गम्भीराणि=दुष्प्रवेशानि, श्वापदकुलानां=हिंसक-व्याघ्रादि-कुलानां शरण्यानि शरणे=रक्षणे समर्थानि महारण्यानि पश्यतु महाभागः (गद्यभागस्य कठिनत्त्वात् प्रतिपद-व्याख्यानं कृतम्।)

सरलार्थस्तु—"एतेषु महावनानां प्रान्तभागेषु मयूरकण्ठच्छवियुक्ताः वृक्षाः सन्ति; छायायुक्तास्तरवो बहवो वर्त्तन्ते, अत्रत्यानां मृगाणां भयं नास्ति, एतानि प्रशान्तगम्भीराणि, हिंसक-कुलानि चात्र सुखेन निवसन्ति, एवंविधानि महारण्यानीमानीति मनसोऽनुरञ्जनं करिष्यन्तीति।

अपि च—अत्र निर्भरिण्योऽपि मधुरतया वहन्तीत्यपि प्रेक्षणेन चेतसि कौतुकं प्रभवति—इति विलोकयतु महाभागः-इत्याशयेनाह—इह इति।

इह महारण्येषु, समदाः=मदयुक्ता ये शकुन्ताः=पक्षिणस्तैः आक्रान्ता ये वानीराः=वेतसाः, तेभ्योः विमुक्ताः स्खलिताः से प्रसवाः कुसुमानि तैः सुरभि=सुगन्धसहितम्, शीतलम् स्वच्छञ्च तोयं यासु ताः निर्झरिण्यः, किञ्च फलानां भरस्य

यः परिणामः=परिपाकः, तेन श्यामाः ये जम्बूनां निकुञ्जास्तेषु स्खलनेन मुखराणि –शब्दितानि, भूरीणि=बहूनि स्रोतांसि=प्रवाहा यसां तादृश्यो निर्भरिण्यः नद्यो वहन्ति=प्रवहन्ति।

सरलार्थस्तु––वेतसानां शाखासूत्प्लुत्य मदसहिताः पक्षिण उपविशन्ति, ततस्तेभ्यः पुष्पाणि निपतानि जले, स्वभाव-शीतलं मधुरञ्च पयः पुष्पाणां गन्धसम्बन्धात् सुरभितं सम्पद्यते। किञ्च––(फलानां) परिपाकवशात् नीलवर्णानि जम्बूफलानि जले परिपतन्ति, तेषां पातेन च महान् कलकलो भवति। एवंविधा-निर्झरिण्यः निर्झरेभ्यः प्रादुर्भूता नद्यः प्रवहन्ति––इति।

अत्र स्वभावोक्ति। मालिनी च्छन्दः॥ २०॥

अन्यदपि विशिष्टं निरीक्षणीयमात्रास्तीति प्राह––दधति इति।

अयमाशयः––पर्वतगुहासु भल्लूकयुवानो निवसन्ति, तेषामनुरसितेन=प्रतिध्वनिना गुरूणि=वृद्धिं गतानि, अम्बूकृतानि सनिष्ठीवनशब्दाः, स्त्यानं=वृद्धिं, दधति=धारयन्ति। शल्लकीनां=लतानां, शिशिरः=शीतलः, कटुः तीक्ष्णः, कषायः=कषायरसोद्‌गारी सुरभिः, इभैः=गजैः, दलिताः=विच्छिन्नाः विकीर्णाः=इतस्ततः पर्यस्ता इति यावत् ('विकर्णाः इति पाठान्तरे कर्णरहिता अर्थात् पर्यस्ता इत्यावर्थः) ग्रन्थः=पर्वाणि तेषां निष्यन्दस्य=रसस्य गन्धः स्त्यायते=वृद्धिं भजते। "अम्बूकृतं सनिष्ठीवनम्" इत्यमरः। "स्त्यानं स्निग्धे प्रतिध्वाने घनत्वालस्ययोरपि" इति विश्वः। "गन्धिनी गजभक्ष्या तु सुवहा सुरभी रसा। महेरुणा कन्दुरुकी, शल्लकी ह्लादिनीति च" इत्यमरः। कटुतिक्तकषायास्तु सौरभे च प्रकीर्तिताः" इत्यमरः। "इभः स्तम्बेरमः हस्ती" इत्यमरः। "ग्रन्थिर्ना पर्वपरुषी" इत्यमरः। "गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः" इति विश्वः।

सरलार्थस्तु––"अत्र महावने पर्वत-गुहासु तिष्ठन्तो युवानो भल्लूकाः=ऋक्षाः उच्चैः स्वरेण निष्ठीवन्ति, तेन च स्वाभाविकोऽपि तेषां शब्दः प्रतिध्वनितः सन् वृद्धिं प्राप्नोति। अपि च––गजानां भक्षणीयाः 'शल्लकी' लता गजैर्भज्यन्ते, ता इतस्ततो निपतिताः तासां शीतलः कटुः सुरभिश्च गन्धः सर्वत्र वने वर्धते। इति।"

अत्र स्वभावोक्ति काव्यलिङ्गञ्चालङ्कारौ। मालिनी च्छन्दः। ओजो गुणः। गौडी रीतिः॥ २१॥

टिप्पणी

(१) "समद······वानीरमुक्त······" पाठा०, 'वानीरमुक्त' के स्थान पर ······वानीरवीरुत्··· । 'लताप्रतानिनी वीरुद्गुल्मिन्युलप इत्यपि' इत्यमरः। विशेष समास आदि संस्कृत टीका में देखिए। यह श्लोक 'महावीरचरित' के पञ्चम अङ्क में ४०वीं संख्या पर है। 'इह समदशकुन्ताक्रान्त······' आदि की तुलना के लिए देखिये––'उपान्तवानीर-वनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि'। (कालिदास)। (२) **दधति कुहरभाजाम्**––यह श्लोक 'मालतीमाधव' के नवम अङ्क में छठी संख्या पर है। (३) **कुहरभाजाम्**––कुहरं (गह्वरं) भजन्ते इति कुहरभाजस्तेषाम्। कुहर+√भज्+णि कर्तरि। (४) **अनुरसित**––अनु+√रस+क्त भावे। (५) **अम्बूकृतानि**––

अनम्बु अम्बु कृतानि इति अम्बूकृतानि । अम्बू + √च्वि + कृ + क्त कर्मणि (६) महाकवि 'भवभूति' ने केवल प्रकृति के भयावह दृश्यों का ही वर्णन नहीं किया है, प्रत्युत उसके सुरम्य रूप का भी उन्होंने चित्रण किया है । २० वें श्लोक में बहते हुए पहाड़ी सोतों का क्या ही सुन्दर वर्णन है ?

'जो 'भवभूति'—कूजत्कान्त-कपोत-कुक्कुट-कुलाः कूले कुलायद्रुमाः' लिखकर दोपहरी के प्रचण्ड ताप का वर्णन कर सकते हैं वे ही ऐसी मसृण शब्दावली से पहाड़ी के प्राकृतिक दृश्यों का भी मनोहर चित्रण कर सकते हैं । वास्तव में 'भवभूति' प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षक हैं । धन्य हैं ! प्रकृति के सच्चे उपासक भवभूति !

रामः—(सवाष्पस्तम्भम् ।) भद्र ! शिवास्ते पन्थानो देवयानाः । प्रलीयस्व पुण्येभ्यो लोकेभ्यः ।

शम्बूकः—यावत्पुराणब्रह्मर्षिमगस्त्यमभिवाद्य शाश्वतं पदमनुप्रविशामि ।

(इति निष्क्रान्तः ।)

रामः—

एतत्पुनर्वनमहो कथमद्य दृष्टं !
यस्मिन्नभूम चिरमेव पुरा वसन्तः ।
आरण्यकाश्च गृहिणश्च रताः स्वधर्मे,
सांसारिकेषु च सुखेषु वयं रसज्ञाः ॥२२॥

[अन्वयः—अहो ! अद्य एतत् वनं पुनः कथं दृष्टम् हि । यस्मिन् पुरा चिरमेव वसन्तः आरण्यकाः गृहिणश्च वयं स्वधर्मे रताः, सांसारिकेषु सुखेषु रसज्ञाश्च भू अम ॥२०॥]

एते त एव गिरयो विरुवन्मयूरा-
स्तान्येव मत्तहरिणानि वनस्थलानि ।
आमञ्जुवञ्जुललतानि च तान्यमूनि,
नीरन्ध्रनीपनिचूलानि सरित्तटानि ॥२३॥

[अन्वयः—विरुवन्मयूरा एते ते एव गिरयः (सन्ति), मत्तहरिणानि तानि एव वनस्थलानि (सन्ति) आमञ्जुवञ्जुललतानि नीरन्ध्रनीपनिचुलानि अमूनि तानि सरितटानि (सन्ति) ॥२३॥]

मेघमालेव यश्चायमारादिव विभाव्यते ।
गिरिः प्रस्रवणः सोऽयमत्र गोदावरी नदी ॥२४॥

[अन्वयः—मेघमाला इव यश्च अयम् आराद् इव विभाव्यते, सोऽ प्रस्रवणःयं गिरिः (अस्ति), अत्र गोदावरी नदी अस्ति ॥२४॥]

हिन्दी—

राम—(उमड़ते हुए आँसुओं को रोककर) सोम्य ! 'देवयान' नामक (देवताओं के) मार्ग तुम्हारे लिए कल्याणकारी हों ! पुण्य लोकों में जाने के लिए तैयार हो जाओ !

शम्बूक—मैं (पहिले) पुरातन ब्रह्मर्षि 'अगस्त्यजी' को प्रणाम कर (तदनन्तर) चिरन्तन लोकों में प्रवेश करता है (करूँगा) (चला जाता है।)

राम—[श्लोक २२]—ओह ! मैंने आज यह वन पुनः क्यों देख लिया ? जिसमें कि पहिले चिरकाल तक (सीता-लक्ष्मण के साथ) रहते हुए हम लोग 'वानप्रस्थ' तथा 'गृहस्थ' का धर्म में एक साथ तत्पर थे तथा सांसारिक सुखों का अनुभव भी किया करते थे। (हमारे जीवन की वे घड़ियाँ कितनी सुखद थीं ! परन्तु आज सीता के वियोग में यह वन मुझे बीती बातों की याद दिलाकर अत्यन्त दुःखी कर रहा है।)

[श्लोक २३]—मयूरों के कूजन से युक्त ये वे ही पर्वत हैं तथा ये मस्त हरिणों के विहार-स्थान वे ही वनस्थल हैं और सर्वाङ्ग-सुन्दर 'बेंत' की लताओं, सघन कदम्ब एवं 'हिज्जल' नामक वृक्षों से सम्पन्न ये सरिताओं के तट (भी) वे ही हैं (जहाँ कि हम आनन्दपूर्वक दिन बिताया करते थे)।

[श्लोक २४]—(उमड़ती हुई) मेघ-मालाओं के समान जो कि बिल्कुल पास में खड़ा हुआ-सा लग रहा है, यह वह 'प्रस्रवण' पर्वत है (तथा) यहीं (वह) गोदावरी नदी (भी) है।

संस्कृत-व्याख्या

यथा कथञ्चिद् भगवान् रामः लोचनजलावरोधं विधाय शम्बूकमाह—भद्रेति। भद्र ! ते=तुभ्यं देवयानाः—देवान् यान्ति यैस्ते देवप्रापकाः पन्थानः=मार्गाः, शिवा=कल्याणकारिणो भवन्तु। पुण्येभ्यो लोकेभ्यः=पुण्यान् लोकान् प्राप्तुं, प्रलीयस्व=लीनो भव, युक्तो भवेति यावत्। 'लीङ् श्लेषणे' इति धातोर्लोट् लकारः।

देवयानाश्च—"अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः, षण्मासा उत्तरायणम्" इति गीतोक्ताः, वेदितव्याः। एभिर्मार्गैर्गतवतां मोक्षो भवति, इति "अर्चिरादि मार्गेण गत्वा ब्रह्मानन्दानुभूतिस्वरूपमाप्नुहि।" इति भावः ते च मार्गाः यथा छान्दोग्योपनिषदाख्याता—तथाहि "मासेभ्यः संवत्सरम्, संवत्सरादादित्यम्, आदित्याच्चन्द्रमसम्, चन्द्रमसो विद्युतम्, तत्पुरुषो मानवः स एनां गमयत्येष देवयानः पन्थाः" इति। एतत्प्राप्तिफलञ्चापि तत्रैवोक्तम्—

"स एतान् ब्रह्म गमयति, एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते' इति।

"लोकेभ्यः इत्यस्य च लोकाननुभवितुमित्यर्थः। तत्र 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इति सूत्रेण चतुर्थी विभक्ति भवति।

क्वचित् 'देवयानं प्रतिपद्यस्व' इति पाठः। तत्र देवयानम्=विमानं, इत्यर्थो भवति। लोकान्तरं गन्तुं विमानारोहणं कुरु, इति भावः।

महर्षिमगस्त्यं प्रणमितुं शम्बूके निर्गते रामस्तत्रत्यवस्तुजातमवलोक्य सखेदमाह—एतदिति।

सखेदमाह—अद्येदं पूर्वदृष्टं वनं मया कथं दृष्टम्? अत्रागत्येदानीं मया किं फलमुपलब्धम्? एतस्मिन् वने पूर्वं सीतालक्ष्मणाभ्यां सह निवासं कुर्वन्तो वयं गृहस्थधर्मे वानप्रस्थधर्मे च सहैव निरता आस्म। उभय-धर्मरसास्वादनेन कीदृशं तज्जीवनमभूदिति कथं निरूप्यते? सीतामन्तरा दृष्टमिदं वनमधुना परितापमेवं जनयिष्यति, इति भावः। पञ्चयज्ञ-सेवनपरा वयं गृहस्थधर्मानुष्ठाने रताः सञ्जाताः। पञ्चयज्ञाश्च गृहस्थस्य नित्यमनुष्ठेयत्वेनोक्ताः शास्त्रकृद्भिः। ते च यथा—स्वाध्यायः=वेदपारायणम्, अग्निहोत्रम्=हवनम्, अतिथि-पूजनम्, पितृ—तर्पणम्, बलिकर्म=सर्वेभ्यो भूतेभ्यः प्रतिदिनं यथाशक्ति अन्नादिदानम्। एतेषां पालनं यो नियतं करोति, देवास्तस्मै सर्वानपि भोगान् वितरन्ति, यश्चैतान् न पालयति, तस्य जीवनमेव व्यर्थम्। तथा च गीतायाम्—

"इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते तेन एव सः॥"
"एवं प्रवर्तितं चक्रं, नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ! स जीवति॥"

इति तृतीयाध्याय (१२, १६) श्लोकयोः स्पष्टमुक्तं भगवता श्रीकृष्णेन।

वानप्रस्थ-धर्माश्च—

"भूमौ मूल-फलाशित्वं, स्वाध्यायस्तप एव च।
संविभागो यथान्यायं, धर्मोऽयं वनवासिनः।" इति।

ततश्च भूमिशयनादि सेवनाद् वानप्रस्थस्यापि रसास्वादोऽस्माकमासीदिति तत्त्वम्।

अत्र तुल्ययोगिता अलङ्कारः। प्रसादो गुणः। लाटी रीतिः। वसन्ततिलका च्छन्दः॥२२॥

पुनरपि दृष्टचराणि वस्तूनि दृष्ट्वा प्राह रामः—एते इति।

अयमाशयः—एते ते एव गिरयः=पर्वताः, येषु मधुरं कूजन्तो मयूराः सन्ति। तान्येव चेलानि वनस्थलानि यत्र सानन्दं मत्तहरिणाः, सरितां तटान्यपि एतानि तान्येव सन्ति, येषु आ—समन्ताद् मञ्जुलानाम्=मनोहराणाम् वञ्जुलानाम्=वेतसानां लताः, नीरन्ध्राः=छिद्ररहिताः, सघना इत्यर्थः। नीपाः=कदम्बाः, निचुलाः=हिज्जलाश्च आसन्, सन्ति चाधुनापीति भावः।

अत्र तत्पदं पूर्वानुभूतार्थे प्रयुक्तम्। तुल्ययोगिता चालङ्कारः। वसन्ततिलकाच्छन्दः। प्रसादो गुणः। वैदर्भी रीतिः॥२३॥

पुनः प्रस्रवणपर्वतं दृष्ट्वा कथयति—मेघमालेति।

यत्रायमारादिव समीपस्थ इव नीलवर्णः मेघ-समुदाय इव प्रस्रवणनामकः पर्वतोऽस्ति, अत्रैव सा प्रसिद्धा 'गोदावरी' नदी वर्त्तते।

अत्र उपमा, उत्प्रेक्षा चालङ्कारौ संसृष्टौ॥२४॥

टिप्पणी

(१) भद्र ! शिवास्ते पन्थानो देवयानाः। प्रलीयस्व पुण्येभ्यो लोकेभ्यः— पाठा० "भद्र ! शिवास्ते पन्थानो प्रतिपद्यस्व पुण्येभ्यो लोकेभ्यः।

प्रथम पाठ के अनुसार अर्थ—'देवयान नामक मार्ग तुम्हारे लिये कल्याणकारी हों' ! 'तुम पुण्य लोकों को प्राप्त करो'—होगा।

द्वितीय पाठ के अनुसार—'शिवास्ते पन्थानः—तुम्हारी यात्रा मङ्गलमय हो। देवयानं प्रतिपद्यस्व पुण्येभ्यः लोकेभ्यः=देवयान मार्ग पर पुण्य लोकों के लिये चढ़ो' अथवा देवयान' का अर्थ 'पुष्पक विमान' भी हो सकता है किन्तु यह कोई अधिक अच्छा अर्थ नहीं है। 'देवयान' का अर्थ 'ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग' ही अधिक औपयिक है। इसकी स्पष्टता के लिये यों समझना चाहिये—

उपनिषदों में इन दो मार्गों के विषय में प्रायः चर्चा की गई है—१. देवयान तथा २. पितृयान। 'देवयान' मार्ग साधक ज्ञानी को अनेक स्थानों से पार कराता तथा 'ब्रह्म' तक ले जाता है, जहाँ से पुनरावर्त्तन नहीं होता। 'पितृयान' मार्ग—जिसके लिये दया, तपश्चर्या आदि वाञ्छित हैं—चन्द्रमा की ओर ले जाता है जहाँ कि जीव सुकर्मों के रहने तक निवास करता है, सुकर्मों के नष्ट होने पर पृथ्वी पर लौट आता है।

'तद्यथा इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्। १. मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमत्येष देवयानः पन्था इति। २. अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड्दक्षिणैति मासांस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति। ३. मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति। ४. तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्यानं निवर्त्तन्ते।" (छान्दोग्य०, ५/१०)

भगवद्गीता के अष्टम अध्याय के २३–२६ श्लोकों में इन्हीं मार्गों की चर्चा है—

"यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं, वक्ष्यामि भरतर्षभ॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः, षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः, षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चन्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते, जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः॥"

(२) शाश्वतं पदम्—जो 'देवयान' मार्ग से जाता है वह फिर नहीं लौटता; अतः यहाँ शाश्वत पद कहा गया है। तुलना कीजिये—

"स एतान् ब्रह्म गमयति एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानधमावर्त्तं नावर्त्तन्ते ॥" (छान्दोग्य०, ४/१५/६)

"ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं,
यस्मिन् गता न निवर्त्तन्ति भूयः ।" (भगवद्गीता, १५/४)

(३) एतत्पुनर्वनमहो कथमद्य दृष्टम् पाठा०, 'एतत्तदेव हि वनं पुनरद्य दृष्टम् । (४) आरण्यकाश्च···—अरण्य + वुञ् । "अरण्यान्मनुष्ये" पा० ४/२/१२६) ।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि कन्दमूल-फल पर आश्रित रहने के कारण श्रीराम जी वानप्रस्थ (आरण्यक) थे और सपत्नीक विवाहित जीवन बिताने के कारण गृहस्थ थे । (५) आमञ्जुवञ्जुललतानि-पाठा० "आमञ्जुवञ्जुलरुतानि" । आमञ्जवः वञ्जुललताः येषु तानि । आमञ्जु वञ्जुलेषु रुतं येषु तानि । (६) आरादिव—पाठा० "आरादपि" ।

अस्यैवासीन्महति शिखरे गृध्रराजस्य वास-
स्तस्याधस्ताद्वयमपि रतास्तेषु पर्णोटजेषु ।
गोदावर्याः पयसि विततानोकहश्यामलश्री-
रन्तः कूजन्मुखरशकुनो यत्र रम्यो वनान्तः ॥२५॥

[अन्वयः—अस्य एव महति शिखरे गृध्रराजस्य वास आसीत्, तस्य अधस्तात् वयमपि तेषु पर्णोटजेषु रताः, यत्र गोदावर्याः पयसि विततानोकहश्यामलश्रीः मुखरशकुनः अन्तः कूजन् रम्यः वनान्तः (अस्ति) ॥२५॥]

अत्रैव सा पञ्चवटी, यत्र निवासेन विविधविस्रम्भातिप्रसङ्गसाक्षिणः प्रदेशाः, प्रियायाः प्रियसखी च वासन्ती नाम वनदेवता । किमिदमापतितमद्य रामस्य ?

हिन्दी—

[श्लोक २५]—(प्रस्रवण के) इसी ऊँचे शिखर पर गृध्रराज (जटायु) का निवास-स्थान था । उसी के नीचे हम लोग पर्णकुटी में आनन्द-पूर्वक रहते थे, जहाँ गोदावरी के जल में वृक्षों की छाया पड़ने से नीली-नीली कान्ति वाला सुन्दर वन प्रान्त है । जो अपने अन्दर चहचहाते हुए पक्षियों से (अत्यन्त) रमणीय लग रहा है ।

यही वह 'पञ्चवटी' है जहाँ कि निवास करते समय अनेक प्रदेश हमारे विश्वस्त विलासों के साक्षी हैं और यहीं प्रियतमा (सीता) की 'वासन्ती' नाम वाली वन-देवी प्रिय सखी थी । आज (परम दुःखित) राम पर यह क्या (विपत्ति) आ पड़ी ?

संस्कृत-व्याख्या

अत्रैव जटायोर्वासोऽप्यासीदिति निरूपयति—अस्यैवेति ।

शब्दार्थः—पर्णोटजेषु पर्णशालासु। विततानोकहश्यामलश्रीः = विस्तृतवृक्षनीलशोभः। स्पष्टमन्यत्।

अयं भावः—अस्यैव पर्वतस्य महति शिखरे गृध्रराजोऽपि निवसति स्म। तस्यैवाधोभागे पर्णकुटीरेषु वयमपि सानन्दं रता आस्म। अपि च—गोदावरी-वारिणि विततानां = विस्तृतानाम्, अनोकहानाम् = वृक्षाणाम् ('अनोकहः कुटः सालः पलाशी द्रुद्रुमागमाः' इत्यमरः) श्यामला श्यामवर्णा श्रीः = शोभा यस्य सः, तथा कूजद्भिः पक्षिभिः शब्दायमानः परमरमणीयो वनान्तोऽस्ति।

अत्रस्वभावोक्तिरलङ्कारः। मन्दाक्रान्ता च्छन्दः। प्रसादो गुणः। लाटी रीतिः ॥२५॥

अपरमपि दृष्ट्वा परितापमनुभवन्नाह—अत्रैव सा इति। अत्रैव पञ्चवटी विद्यते यत्र विविधाः प्रदेशाः प्रियायाः विश्वासपूर्वकमेकान्त क्रीडाभूमयोऽभवन्; यत्र च सीतादेव्याः प्रियसखी वासन्ती देवी! हन्त! अद्य रामस्य (अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो ध्वनिः। तेनातिदुःखितस्य रामस्येत्यर्थः) इदं सर्वमपि किमापतितम्? किमर्थमिदं दृष्टवानस्मि? एतेषां सर्वेषामपि पदार्थानां दर्शनेन मम मनसि महती पीडा भवतीति भावः।

टिप्पणी

(१) गृध्रराजस्य वासः—गृध्राणां पक्षिविशेषाणां राजा गृध्रराजः। "राजाहः सखिभ्यष्टच्" (पा० ४/४/९१) इति टच् समासान्तः।

उष्यतेऽस्मिन्निति वासः। √वस्+घञ् करणे।

(२) विततानोकहश्यामलश्रीः—वि+√तन्+क्त कर्मणि (स्त्री०)—वितता। अनसः = शकटस्य अकं = गतिं हन्तीति अनोकहः। अनस्+अक+√हन्+ड। श्रि+क्विप् = श्रीः। वितता श्यामलानाम् अनोकहानां (वृक्षाणां) श्रीः यत्र सः।

सम्प्रति हि—

चिराद्वेगारम्भी प्रसृत इव तीव्रो विषरसः,
कुतश्चित्संवेगात्प्रचल इव शल्यस्य शकलः।
व्रणो रूढग्रन्थिः स्फुटित इव हृन्मर्मणि पुनः,
पराभूतः शोको विकलयति मां नूतन इव ॥२६॥

[अन्वयः—तीव्रः चिरात् वेगारम्भी प्रसृतः विषरसः इव, कुतश्चित् संवेगात् प्रचलः शल्यस्य शकलः इव, रूढग्रन्थिः स्फुटितः हृन्मर्मणि व्रण इव पराभूतः शोको नूतन इव मां पुनः विकलयति ॥१६॥]

तथाविधानपि तावत्पूर्वसहृदो भूमिभागान् पश्यामि । (निरूप्य ।) अहो ! अनवस्थितो भूतसन्निवेशः । तथाहि—

हिन्दी—

इस समय—

[श्लोक २६]—दुःसह, चिरकाल के बाद (वेदना के) वेग को उत्पन्न करने वाला और सर्वत्र फैले हुए विष-रस के समान, कहीं से अत्यन्त वेग से चले हुए बाण के अग्रभाग के समान, उत्पन्न हो गयी है ग्रन्थि जिसमें (अर्थात् जो कुछ सूखने लगा है) ऐसे एवं हृदय के मर्मस्थल में फूटे हुए घाव (फोड़े) के समान प्राचीन शोक भी नया-सा होकर मुझे फिर व्याकुल कर रहा है।"

वैसे (शोकोत्पादक) होने पर भी मैं अपने पुराने मित्र इन भू-प्रदेशों को देखता हूँ। (यद्यपि इनके देखने से मुझे असह्य दुःख हो रहा है तथापि बहुत काल तक सहवास करने के कारण मित्रों के समान इन भू-खण्डों को अवश्य देखूँगा।)

(देखकर) (ओह !) पदार्थों की स्थिति बड़ी अस्थिर है ! जैसा कि—

संस्कृत-व्याख्या

प्राचीनोऽपि शोको नवीन इव भूत्वा मां पीडयतीत्याशयेनाह रामभद्रः—चिरादिति । अयं पुराभूतः शोकः पुनरद्य मां नव इव भूत्वा विकलं करोति, चिरात् अतिशयित-वेगेन विसर्पन् विषरस इव मोहं सम्वर्धयति, कुतश्चित्स्थानान्तरात् प्रचलनशीलः शल्यस्य=कीलविशेषस्य शकल इव, यथा वा महता वेगेन प्रक्षिप्तोबाणखण्ड इव शरीरे प्रविष्टः, अथवा—हृदयमर्मस्थाने भूतपूर्वो व्रणः कथञ्चित् शुष्कोऽपि पुनः प्ररूढग्रन्थिः स्फुटित इवायं शोको मां विकलयति । इत्येव महादश्चर्यं मम विद्यते यः शोकः पूर्वं परिसमाप्तः, स इदानीं पुनः कथं प्रादुर्भूतः ?

अत्र शोकस्य विषरसत्त्वेन शल्यस्य शकलत्त्वेन, व्रणत्त्वेन, पुरातनस्य च नवीनत्त्वेन सम्भावनादुत्प्रेक्षा-माला, परस्परं संसृष्टाः । शिखरिणी च्छन्दः । प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः ॥२६॥

शोकोत्पादका अपि पूर्वदृष्टा भूमिभागाः पुनर्द्रष्टव्या एवेति वदति—तथाविधानिति । यद्यपि एतेषामालोकनेन मम हृदये महद्दुःखं प्रादुर्भवति, तथापि पूर्वं सुहृदः=पूर्वपरिचित-मित्राणीव बहुकालं यावत् सेवितान् भूभागानवश्यमवलोकयामि । सर्वतो निरूप्याह—अहो ! अनवस्थितो भूतानां=पदार्थानां सन्निवेशः, निश्चित-मर्यादो नास्ति । यः पदार्थः पूर्वमत्र स्थितो मयाऽवलोकितः, इदानीं सोऽत्र न दृश्यते, यश्च तदानीमत्र नासीत् स इदानीमत्र वर्तते, अतो युक्तमिदं भूतानां स्थितिरनवस्थिता भवति ।

["पूर्वसुहृदः" इति कथनेन भगवतो रामस्यौदार्यं प्रतीयते । "अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति" इत्यभियुक्तोक्त्या प्राचीनसमये सुहृद्भूतानां कालान्तरसम्पर्कात्

शत्रुवत् शोकोत्पादकत्त्वेऽपि सम्मुखे पतितानां परित्यागो नोचितः तथैव पूर्वपरिचितानां मे तेषां सम्प्रति दुःखप्रदत्त्वेऽपि दर्शनं नैवं परिहार्यमिति भावः ।]

टिप्पणी

पूर्वसुहृदः—श्रीरामचन्द्रजी का वृक्षों को "पूर्वसुहृदः" कहना ही उनकी उदारता का द्योतक है। जिन भूमि-भागों से उनकी पहिले मित्रता थी वे ही आज शोकोत्पादक होकर उनसे शत्रुता का व्यवहार कर रहे हैं। इतने पर भी राम उन्हें अपने 'पूर्वसुहृदः' बतलाते हैं। ठीक है—"अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति।"

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां
विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम् ।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं,
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति ॥२७॥

[अन्वयः—यत्र पुरा सरितां स्रोतः, अत्र अधुना पुलिनम् (अस्ति); क्षितिरुहां घनविरलभावो विपर्यासं यातः; बहोः कालात् दृष्टम् इदं वनम् अपरम् इव मन्ये (परं) शैलानां निवेश इदं तदिति बुद्धिं द्रढयति ॥२७॥]

हन्त हन्त। परिहरन्तमपि मां पञ्चवटी स्नेहाद् बलादाकर्षतीव। (सकरुणम्।)

यस्यां ते दिवसास्तया सह मया नीता यथा स्वे गृहे,
यत्सम्बन्धिकथाभिरेव सततं दीर्घाभिरास्थयत ।
एकः सम्प्रति नाशितप्रियतमस्तामेव रामः कथं,
पापः पञ्चवटीं विलोकयतु वा गच्छत्वसम्भाव्य वा ? ॥२८॥

[अन्वयः—यस्यां मया तया सह ते दिवसाः स्वे गृहे यथा नीताः, सततं दीर्घाभिः यत्सम्बन्धकथाभिरेव आस्थीयत सम्प्रति नाशितप्रियतमः एकः पापो रामः तामेव पञ्चवटीं कथं विलोकयतु वा असम्भाव्य कथं गच्छतु ! ॥२८॥]

हिन्दी—

[श्लोक २७] पहिले जहाँ नदियों की धारायें बहती थीं, अब वहाँ रेतीले तट निकल आये हैं। वृक्षों का 'वन-विरल-भाव' भी बदल गया है। (वृक्ष भी जहाँ सघन थे वहाँ विरल और जहाँ विरल थे वहाँ सघन हो गये हैं।) बहुत समय के अन्तर से देखने के कारण यह वन मुझे दूसरा-सा ही लग रहा है। केवल इन शैलमालाओं की स्थिति ही—"यह (वही) वन—है" इस विचार को दृढ़ कर रही है। [और सब दृश्य बदल चुके हैं परन्तु ये पर्वत श्रेणियाँ ज्यों की त्यों खड़ी हैं। अतः मैं इनसे ही पहिचान रहा हूँ कि यह वही वन है।]"

हाय ! हाय ! (इस स्थान को) छोड़ते हुए भी मुझको यह 'पञ्चवटी' बल-पूर्वक खींच-सी रही है। (यद्यपि मैं इसे छोड़ना नहीं चाहता तो भी ऐसा लगता है कि मानो यह 'पञ्चवटी' मुझे बल-पूर्वक रोक-सी रही हो।)

(शोक-पूर्वक)

[श्लोक २८] जिस 'पञ्चवटी' में मैंने सीता के साथ अपने घर की भाँति वे (सुखमय) दिवस बिताये हुए थे, और बड़ी-बड़ी चर्चाएँ करते हुए ही हम लोग ('अयोध्या' में भी) रहते थे, आज प्रियतमा का विनाश करने वाला या 'पापी' राम एकाकी इसको (पञ्चवटी' को) कैसे (कौन-सा मुँह लेकर) देखे ? अथवा (बिना किसी सेवा-सत्कार के) निरादर कर कैसे चला जाय ? (क्या करूँ ? कुछ समझ में नहीं आ रहा है।)"

संस्कृत-व्याख्या

उक्तमेवाशयं स्फुटीकर्त्तुमाह—पुरेति।

श्लोकोऽप्यमतीव स्पृहणीयः। अत्र कविः सर्वस्यापि जगतः स्थितिं प्रकटयति व्यञ्जनया वृत्त्या सुकुमारया शैल्या। तथाहि—यत्र पुरा नदीनां स्रोतः = प्रवाह आसीत्, अधुना तत्र पुलिनं = सैकतं = सिकतामयं तटमस्ति। क्षितिरुहाणां = वृक्षाणां वनविरलभावः = सान्द्रत्वविरलत्वं च विपर्यासं = वैपरीत्यं यातः = भजते इति भावः। यत्र पादपाः सघना आसन् तत्रेदानीं विरलता वर्त्तते, यत्र च विरला वृक्षा आसन् तत्र साम्प्रतं सघनता विद्यते। बहोः कालात् = अतिदीर्घसमयानन्तरं दृष्टमिदं वनमपरमिव मन्ये = सम्भावयामि। केवलं शैलानां = पर्वतानां निवेशः = स्थितिः "तदेवेदं वन"-मिति बुद्धिं स्थिरां करोति। पर्वता यत्र पूर्वं स्थितास्तत्रैवाद्यापीति भावः।

एतेन ग्रामनगराणि परिवर्तनशीलानि संसारस्य परिवर्त्तनस्वभावत्वं सूचयन्ति। किञ्च—लघुकायाः पदार्थाः स्वल्पेनैव समयाघातेन स्थानभ्रष्टाः भवन्ति, महापुरुषाश्च पर्वता इवाचला भवन्तीति साम्प्रतमपि तृतीयाङ्के तथाविधाः वस्तुस्थितिः प्रत्यक्षा भविष्यतीति यत्र मया सावधानेनाचलेनेव स्थेयमिति भावः।

अत्र काव्यलिङ्गोत्प्रेक्षयोः सङ्करः। शिखरिणी च्छन्दः ॥२७॥

अहमिदानीं पञ्चवटीं परित्यक्तुमीहे तथापीयं मां स्नेहात् बलपूर्वकमाकर्षतीवेत्याह यस्यामिति।

शब्दार्थः—आस्थीयत = स्थितम्। असम्भाव्य = अनादृत्य।

अयमाशयः—हन्त ! यस्यां = पञ्चवट्यां मया पूर्वं ते दिवसाः सीतया सह यथा स्वे = स्वकीये गृहे इव व्यतीताः, यस्याः = पञ्चवट्याः सम्बन्धिन्यः कथाः एव पूर्वं सम्भवन्ति स्म = सर्वदा पञ्चवटी स्थानादि-निषेवणचर्चा एव भवन्ति स्म, साम्प्रतं स्वयं प्रियतमां विनाश्य एकाकी पापी रामः पञ्चवटीं -विलोकयतुं, अथवा यथात्मभवने पापकारिणा रामेण छलं कृत्वा सीतां परित्यज्यान्यत्र = कार्यान्तरे चित्तमायोजितम्,

तथैवमामपि दूरत एवासम्भाव्य=सेवासत्कारादिकं विनैव परित्यज्य वा । गच्छतु = किं कार्यमिति नावधारयामीति भावः ।

अत्र विरोधालङ्कारः । उपमा काव्यलिङ्गञ्च । शार्दूलविक्रीडतं च्छन्दः ।।२८।।

टिप्पणी

(१) पुरा यत्र स्रोतः···द्रढयति—इस श्लोक में कवि ने संसार की अस्थिरता की एक झाँकी दिखलायी है, समय के प्रभाव से कोई पदार्थ नहीं बच सका है। यदि आज एक स्थान पर शोभा है तो कल दूसरे पर। संसार परिवर्तन-शील है। हाँ, वह बात अवश्य है कि इस परिवर्तन के प्रवाह में लघुकाय पदार्थ अपनी सत्ता एकदम खो बैठते हैं परन्तु महापुरुष पर्वत की भाँति अचल रहकर अपनी कीर्ति-कौमुदी का विस्तार करते रहते हैं।

इसलिये इससे—"श्रीरामचन्द्रजी को भी अविचलित रहकर ही भावी घटनाओं को धैर्यपूर्वक सहना चाहिए' यह नाटकीय अर्थ अभिव्यक्त होता है। साथ ही पहले-दूसरे अङ्क की घटनाओं के १२ वर्षों के अन्तर को बड़ी सुन्दरता से दिखलाया गया है।

(२) पुरा यत्र···—आदि श्लोक को कुवलयानन्दकार ने समासोक्ति के उदाहरण के रूप में उद्धृत करते हुए लिखा है:—

"अत्र वनवर्णने प्रस्तुते तत्सारूप्यात्कुटुम्बिषु घनसन्तानादिसमृद्ध्यसमृद्धिविपर्यासं प्राप्तस्य तत्समाश्रयस्य ग्रामनगरादेर्वृत्तान्तः प्रतीयते।" (कुवलयानन्द, ६१)

इस श्लोक को क्षेमेन्द्र ने अपनी "औचित्यविचारचर्चा" में देशौचित्य का उदाहरण माना है और लिखा है:—

"अत्र बहुभिर्वर्षसहस्रैरतिक्रान्तैः शम्बूकवधप्रसङ्गेन दण्डकारण्यं रामः पूर्वपरिचितं पुनः प्रविष्टः समन्तादवलोक्यैवं ब्रूते, "पुरा यत्र नदीनां प्रवाहस्तत्रेदानीं तटम्, वृक्षाणां घनविरलत्वे विपर्ययश्चिराद्दृष्टं वनमिदमपूर्वमिव मन्ये, पर्वतसन्निवेशस्तु तदेवैतदिति बुद्धिं स्थिरीकरोति।' इत्युक्ते चिरकालविपर्ययपरिवृत्तसंस्थानकाननवर्णनया हृदयसंवादी देशस्वभावः परमौचित्यमुद्घोषयति।"

(३) पापः—इस शब्द से रामचन्द्रजी की आत्मग्लानि प्रकट होती है। (४) आस्थीयत—आ + √ष्ठा + लङ् प्र० पु० एक०। (५) तया सह मया नीताः—यहाँ 'मया' को कर्त्ता मानकर कुछ लोग 'विलोकयतु' को शुद्ध बताते हैं तथा "विलोकयानि" शुद्ध करते हैं। यदि 'तया' को कर्त्ता माना जाय तो यह शङ्का समाप्त हो सकती है।

(प्रविश्य।)

शम्बूकः—जयतु देवः। भगवानगस्त्यो मत्तः श्रुतसान्निधानस्त्वामाह—"परिकल्पितावरणमङ्गला प्रतीक्षते वत्सला लोपामुद्रा, सर्वे च महर्षयः। तदेहि। सम्भावयास्मान्। अथ प्रजविना पुष्पकेण स्वदेशमुपगत्याश्वमेधसज्जो भव इति।

रामः—यथाज्ञापयति भगवान् ।

शम्बूकः—इत इतो देवः ।

रामः—(पुष्पकं प्रवर्तयन् ।) भगवति पञ्चवटि ! गुरुजनादेशोपरोधात्क्षणं क्षम्यतामतिक्रमो रामस्य ।

शम्बूकः—देव ! पश्य—

हिन्दी—

[प्रवेश कर]

शम्बूक—महाराज की जय हो ! मेरे द्वारा आपके शुभागमन का समाचार सुनकर भगवान् अगस्त्य जी ने आपके लिए कहा है—"पूजा का साज-सजाकर वात्सल्यमणी 'लोपामुद्रा' तथा सब महर्षिगण आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। अतः आइए और (आतिथ्य स्वीकार कर) हमारा मान बढ़ाइये । तदनन्तर तीव्रगामी पुष्पकविमान से अयोध्या में पहुँच कर अश्वमेध-यज्ञ में सम्मिलित हो जाइये ।

राम—जो भगवान् की आज्ञा ।

शम्बूक—महाराज ! इधर से (पधारिए) इधर से ।

राम—(पुष्पक को घुमाते हुए) भगवति ! पञ्चवटि ! गुरुजनों की आज्ञा का पालन करने के कारण थोड़ी देर के लिए राम के इस अतिक्रमण (लाँघकर जाने के अपराध) को क्षमा करो ! (गुरुजनों की आज्ञा का पालन करना अत्यावश्यक है; इसलिए मैं शीघ्रता से जा रहा हूँ। थोड़ी देर में लौटते समय तुम्हारे पास अवश्य होकर जाऊँगा । अतः तब तक के लिए तुम मुझे क्षमा करो ।)

शम्बूक—देव ! देखिए ।

संस्कृत-व्याख्या

शम्बूकः प्रविश्य महर्षेरगस्त्यस्य सन्देशं निवेदयति—जयतु-इति । विजयतां महाराजः मत्तः=मत्सकाशात्, श्रुतं सन्निधानं=अतिसमीपावस्थानं येन सः, भगवानगस्त्यः एवमाह—"लोपामुद्रा (अगस्त्यस्य धर्मपत्नी) वात्सल्यात् भवन्तं पूजयितुं पूजासम्भारं सञ्चित्य प्रतीक्षमाणा वर्तते, अन्ये च महर्षयोऽपि भवद्दर्शनलालसाः प्रतीक्षन्ते, ततोऽत्रागत्य सर्वेषामेषामुत्साह-परिपोषणं कार्यम्, अनन्तरञ्च वेगवता पुष्पकविमानेन गत्वाऽश्वमेधयज्ञे सम्मिलितेन भवता भवितव्यमिति भावः ।

रामः पञ्चवटीं प्रार्थयते—भगवति ! इति । भगवति ! पञ्चवटी ! गुरुजनानामगस्त्यादीनामादेशस्यानुरोधादिदानीं स्वल्पकालस्य कृतेऽयं व्यतिक्रमः=प्राप्तस्य क्रमस्योल्लङ्घनम्, क्षम्यातम् । अगस्त्यस्य महर्षेराज्ञायाः प्रथमं पालनमावश्यकम्, अन्यथा, पापसंपर्कः, महर्षि-शाप-कोपयोः सम्भावनापि स्यात् । अतः क्षणानन्तरमायास्यामीति चेतसि कोऽपि दूषितो विचारो न स्वीकार्यः ।

अत्र भगवतो रामस्य सभ्यता सहृदयता च स्पष्टीभवति । महाजनोचित एवायं क्रमः ।

टिप्पणी

(१) गुरुजनोपरोधात्—गुरुजन + उप + √रुध् + घञ् पञ्चमी एकवचन । श्रीराम की मर्यादाप्रियता ध्वनित होती है ।

गुञ्जत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटाघुत्कारवत्कीचक-
स्तम्बाडम्बरमूकमौकुलिकुलः क्रौञ्चाभिधोऽयं गिरिः ।
एतस्मिन्प्रचलाकिनां प्रचलतामुद्वेजिताः कूजितै-
रुद्वेल्लन्ति पुराणरोहिणतरुस्कन्धेषु कुम्भीनसः ॥२९॥

अन्वयः—गुञ्जत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटाघुत्कारवत्कीचकस्तम्बाडम्बरमूकमौकुलिकुलः क्रौञ्चाभिधः अयं गिरिः (अस्ति), एतस्मिन् प्रचलतां प्रचलाकिनां कूजितैः उद्वेजिताः कुम्भीनसाः पुराणरोहिणतरुस्कन्धेषु उद्वेल्लन्ति ॥२९॥

हिन्दी—

[श्लोक २९] गूंजते हुए कुञ्ज-कुटीरों में उल्लुओं के समूह के घू-घू शब्दों के समान ध्वनि वाले 'कीचकों' (हवा भरने से बजने वाले बाँसों) के शब्दों से (भयभीत होने के कारण) मूक कौवों के कुल वाला यह "क्रौञ्च" नामक पर्वत है । यहाँ चलते (उड़ते) हुए मोरों के कूजन से भयभीत सर्प चन्दन के वृक्षों की शाखाओं में लिपट रहे हैं ।

[सरलार्थ]—यह "क्रौञ्च" पर्वत है । यहाँ 'कीचकों के झुण्डों के उल्लू 'घू-घू' करके चिल्ला रहे है । उनके इस शब्द को सुनकर कौए भय से बिलकुल शान्त हो गये हैं । इधर-उधर मोर कूक रहे है; जिनके शब्दों से डरकर बेचारे सर्प पुराने चन्दन के वृक्षों से लिपट रहे हैं ।]"

संस्कृत-व्याख्या

शम्बूकः क्रौञ्चपर्वतस्य सश्रीकतां दर्शयितुमाह—गुञ्जदिति । देव ! अयं क्रौञ्चनामा पर्वतः, एतस्यावलोकनमप्यावश्यकम्प्रतीयते । श्लोकेऽस्मिन् कठिनत्त्वात्पूर्वं कतिचित्पदानि सावधानतया ध्येयानि । कौशिकः = उलूकः । घुत्कारः = उलूकानां ध्वनिः । कीचकाः = वेणवः । मौकुलिकुलम् = काक-कुलम् । प्रचलाकिनः = मयूराः । रोहिणतरुः = चन्दनवृक्षः । कुम्भीनसाः = सर्पाः ।

गुञ्जन्तः = शब्दायमानाः ये कुञ्जाः = निकुञ्जास्ते एव कुटीराः = स्वल्पा कुट्यः, तेषु कौशिकानाम् = उल्लूकानां या घटाः = समुदायाः, तासां यो घुत्कारः = ध्वनिविशेषः, तथाविधध्वनियुक्ता ये कीचकाः = वेणवः ("वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये

स्वनन्त्यनिलोद्धताः"—इत्यमरः) तेषां स्तम्बानां = समुदायानां य आडम्बरः = शब्द-विशेषस्तेन मूकानि = कृतमौनावलम्बनानि, मौकुलिकुलानि = काकसमूहा यस्मिन् सः क्रौञ्चाभिधः = क्रौञ्चनामाऽयं गिरिः = पर्वतः । किञ्च-एतस्मिन् पर्वते प्रचलताम् = इतस्ततो गमनशीलानाम् प्रचलाकिनां = मयूराणाम् कूजितैः = शब्दैः, उद्वेजिताः = भीतियुक्ताः कुम्भीनसाः = सर्पाः, पुराणाः = प्राचीनाः ये रोहिणतरवः चन्दनवृक्षाः तेषां स्कन्धेषु, उद्वेल्लन्ति = परितश्चलन्ति ।

सरलार्थस्तु—एतस्मिन् क्रौञ्चपर्वते कीचकानां स्तम्बेषु गुञ्जतां कौशिकानां घुत्कारध्वनिं निशम्य काकाः मौनमालम्ब्य स्थिता, किञ्च इतस्ततः प्रचलतां मयूराणां शब्दमाकर्ण्य सर्पाः प्राचीन-चन्दन-पादपेषु भीताः सन्तः प्रचलन्ति ।

अत्र क्रौञ्चमिषेण संसारस्य स्वरूपमेवोपस्थापितमस्ति । सर्वेऽपि प्राणिनोऽत्र परस्परं भीतभीता इव निवसन्ति ।

अत्र रूपकालङ्कारः, स्वभावोक्तिश्च । द्वयोः साङ्कर्यम् । गौडी रीतिः । शार्दूल-विक्रीडित च्छन्दः ॥२९॥

टिप्पणी

(१) शब्दार्थ, समास आदि के लिये संस्कृत-टीका देखिये । (२) इस श्लोक में कवि ने अपने पाठकों को 'क्रौञ्च'—वर्णन के बहाने संसार के सच्चे स्वरूप की एक झलक दिखाई है। वह यह कि—"संसार में प्रत्येक जीव एक दूसरे से डरा हुआ है ।" (३) वर्णनानुकूल शब्दों का प्रयोग द्रष्टव्य है ॥२९॥

अपि च,

एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयो,
मेघालम्बितमौलिनीलशिखराः क्षोणीभृतो दाक्षिणाः ।
अन्योन्यप्रतिघातसङ्कुलचलत्कल्लोलकोलाहलै-
रुत्तालास्तु इमे गभीरपयसः पुण्याः सरित्सङ्गमाः ॥३०॥

अन्वयः—कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयः मेघालम्बितमौलिनीलशिखराः ते एते दाक्षिणाः क्षोणीतः (सन्भृत) । अन्योन्यप्रतिघातसङ्कुलचलत्कल्लोलकोलाहलैः उत्तालाः ते इमे गभीरपयसः पुण्याः सरित्सङ्गमाः (सन्ति) ॥३०॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति महाकविश्रीभवभूतिविरचित उत्तररामचरिते पञ्चवटीप्रवेशो नाम द्वितीयोऽङ्कः

हिन्दी—

और भी—

[श्लोक ३०]—गिरि-कन्दराओं में कल-कल-निनादिनी 'गोदावरी के जल से

युक्त तथा मेघों के लिपटने से नीले-नीले शिखरों वाले ये दक्षिण दिशा के पर्वत (दिखाई दे रहे) हैं। और (दूसरी ओर) परस्पर आघात-प्रतिघातों से चञ्चल तरङ्गों के कोलाहल से त्वरित-गति से अथाह जल वाले पवित्र नदियों के सङ्गम हैं।

[सरलार्थ]—शम्बूक कह रहा है—"महाराज देखिये ! इस दक्षिण दिशा में बहुत से पर्वत हैं 'गोदावरी' नदी उनके पास को ही उछल-कूद करती हुई बह रही है। पर्वतों के शिखरों को मेघों ने ढक लिया है। अतः वे नीले-नीले दिखलाई पड़ रहे हैं। दूसरी ओर, ये नदियों के सङ्गम हैं जहाँ कि परस्पर लहरों की टक्कर के कारण बहुत कोलाहल हो रहा है।"

महाकवि श्री 'भवभूति' विरचित 'उत्तररामचरित' में
'पञ्चवटी-प्रवेश नामक द्वितीय अङ्क समाप्त।

संस्कृत-व्याख्या

पुनः शम्बूकः दक्षिणदिशि वर्तमानानां पर्वतानां सरित्संगमानाञ्च वर्णनं करोति—एते इति। देव ! एते दक्षिणदिग्भवाः पर्वता अपि विलोकनीयाः सन्ति। कीदृशा एते सन्तीत्याह—कुहरेषु = गर्त्तेषु नदन्ति = अव्यक्तध्वनिं कुर्वन्ति गोदावर्या नद्या वारीणि येषु ते, किंच मेघैरालम्बिता मौलयः = शिखराणि येषान्ते, एते दाक्षिणाः = दक्षिणदिग्भवाः क्षोणीभृतः = पर्वताः सन्ति। किञ्च—अन्योन्यप्रतिघातेन सङ्कुलाः = सघनाः, चलन्तः प्रचलन्तो ये कल्लोलाः—वीचिमालाः, तेषां कोलाहलैः कल-कलध्वनिविशेषैः, उत्तालाः = शीघ्रगमनाः, गभीराणि पयांसि येषु ते, पुण्याः पावनाः, सरितां संगमाः सन्ति।

सरलार्थस्तु—अस्मिन् दक्षिणप्रान्ते बहवः पर्वताः सन्ति, येषां संविधे गोदावरी महता वेगेन कल-कल ध्वनि-महिता प्रवहति। येषां पर्वतानामुपरिभागे नीलमेघमाला सर्वदा सन्नद्धा वर्तन्ते। अपि च—नदीनां संगमा अपि मनो हरन्तीव प्रेक्षकाणाम्। अन्योन्याघात-प्रतिघात-परम्पराभिर्नदीनां जले गभीरपयसामुच्चैस्तरां शब्दो भवति ॥ इति ॥

एतेन चात्र—यथा परस्पर नदीनां संगमो भवति तथैव—
"नासूचितं विशेत् पात्रम्।

इति। सिद्धान्तानुसार तृतीयाङ्के नदीनां मुरला-तमसा-गङ्गादीनां संगमो भविष्यति। सीताया सह भवतोऽपि संगमे भविष्यतीति सूचितं भवति।

अत्र स्वभावोक्ति अलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः। ओजो गुणः। गौडी रीतिः ॥३०॥

अस्मिन्नङ्के पञ्चवट्यां रामस्य प्रवेशोऽभूदिति कृत्वाऽस्य नाम "पञ्चवटी-प्रवेशः" सार्थकः ॥

इति "उत्तररामचरित"-नाटके श्रीप्रियम्वदा-ख्यटीकायां "पञ्चवटीप्रवेशः" नाम द्वितीयोऽङ्कः।

टिप्पणी

(१) वर्णन के अनुरूप शब्दों के प्रयोग में भवभूति बड़े कुशल हैं। उनके शब्दों से वर्णनीय विजय का चित्र-सा सम्मुख उपस्थित हो जाता है। शब्दों में वर्ण्य-विषय की झङ्कार उत्पन्न करना उनकी विशेषता है। "उत्तररामचरित" के 'पाँचवें' तथा 'छठें' अङ्क के श्लोकों में रण-भूमि का वर्णन करते समय वही शस्त्रों की झनझनाहट हमारे कर्ण-कुहरों में गूँजने लगती है। "मालतीमाधव" के नवें अङ्क में भयङ्कर झंझावात के वर्णन में वही हवा के झझकोरे सुनाई देने लगते हैं। प्रस्तुत पद्य में भी गिरि-गुहाओं में 'गद्-गद्'-नाद से बहने वाली 'गोदावरी' का वर्णन पढ़ते ही हृदय गद्गद हो उठता है।

इसके साथ-साथ इस श्लोक में वर्णित नदियों के सङ्गम से—"नासूचितं विशेत् पात्रम्" इस नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तानुसार—'तृतीय' अङ्क में होने वाले "तमसा"—"मुरला" आदि नदियों के सङ्गम की सूचना मिलती है।

श्री "प्रियम्वदा-टीकालंकृत उत्तररामचरित'-नाटक के "पञ्चवटी-प्रवेश" नामक द्वितीय अङ्क का सटिप्पण हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

तृतीय अंक
(छाया)

"एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्, विकारान्,
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्".॥

तृतीय अङ्क की कथावस्तु का विश्लेषण

घटनाओं की दृष्टि से उत्तररामचरित के तृतीय अङ्क को निम्नलिखित दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) शुद्ध विष्कम्भक तथा
(ख) अवशिष्ट अंश।

शुद्ध विष्कम्भक
[स्थान—दण्डकारण्य]

इसमें 'तमसा' एवं 'मुरला' नामक दो नदियाँ परस्पर वार्तालाप करती हैं उनकी वार्ता निम्नलिखित चार बातों की सूचना देती है—

(१) लोपामुद्रा का सन्देश।
(२) सीता जी का, वन में त्याग कर दिये जाने के उपरान्त का वृत्त।
(३) लवकुश की वर्षगाँठ।
(४) गङ्गा-प्रभाव से सीता जी की अदृश्यता।

(१). मुरला को भगवान् अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा ने गोदावरी से अपना सन्देश कहने के लिये भेजा है। उनके सन्देश का सार यह है—"रामचन्द्रजी सीता-वियोग में अत्यन्त कृश हो गये हैं। वे अगस्त्य आश्रम में लौटकर पुनः दण्डकारण्य के उन-उन प्रान्तों को देखेंगे, जहाँ उन्होंने वनवास-काल में सीता जी के साथ निवास किया था। ऐसी अवस्था में उनके मूर्च्छित हो जाने की बहुत कुछ सम्भावना है, अतः उन्हें (गोदावरी को) उनकी (रामचन्द्र जी) की रक्षा करनी चाहिए।

(२) जब लक्ष्मण सीताजी को वाल्मीकि-ऋषि के तपोवन के पास छोड़कर चले गये थे तब प्रसव-वेदना के कारण वे गङ्गाजी में कूद पड़ी थीं। वहाँ उनके दो पुत्र हुए, जिनको गङ्गा और पृथ्वी ने पाताल पहुँचा दिया, दुग्धत्याग के अनन्तर गङ्गाजी ने उनको वाल्मीकि के आश्रम पर पहुंचा दिया, उन्होंने उनका लव एवं कुश नाम रखकर शास्त्राध्ययन कराना आरम्भ कर दिया है।

(३) सीताजी के परित्याग को आज बारह वर्ष हो गए हैं। आज उनके पुत्रों की बारहवीं वर्षगाँठ है। अतः वे भगवान् सूर्य की पूजा के लिए पृथ्वी पर आई हैं। भगवती भागीरथी ने 'तमसा' को सीताजी के साथ ही रहने का आदेश दिया है।

(४) गङ्गाजी के प्रभाव से सीताजी को मनुष्य क्या वनदेवता भी नहीं देख सकते हैं। वे रामचन्द्रजी की मूर्छा को दूर करने में उपाय स्वरूप हैं।

(ख) अवशिष्ट अंश

[स्थान—पञ्चवटी]

सीताजी पूजा के लिए पुष्पावचयन करती हुई प्रविष्ट होती हैं। इसी समय वासन्ती नेपथ्य में यह कहती है कि सीता द्वारा पाले गए हाथी पर किसी ने आक्रमण कर दिया है। इस पर वे रामचन्द्रजी का सम्बोधन कर, पुनः नेपथ्य में रामचन्द्रजी के वचन सुनकर तथा उनके कृश शरीर को देखकर मूर्च्छित हो जाती हैं। इधर रामचन्द्रजी भी पुरातन वस्तुओं को देखकर सीता की स्मृति में मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं, जिनको तमसा के आदेशानुसार सीताजी अपने स्पर्श से आश्वस्त कर देती हैं।

इसी समय पुनः सीताजी को हाथी का वृत्तान्त सुनाई देता है, जिसका प्रतीकार करने के लिये रामचन्द्रजी उठ खड़े होते हैं, किन्तु वासन्ती प्रवेश करके उनको हाथी की विजय की सूचना देती है। इधर रामचन्द्रजी तथा वासन्ती सीता-विषयक वार्त्तालाप करते हुए उनके मयूर को देखने लगते हैं, उधर बीच-बीच में (अदृश्य) सीता तथा तमसा की भी बातचीत होती रहती हैं।

वासन्ती रामचन्द्रजी से लक्ष्मण की कुशलता पूछकर यथावसर सीता के परित्याग का कारण पूछती हैं तथा रामचन्द्रजी को अनेकानेक प्रश्नों से अनेक बार रुला देती हैं। राम मूर्च्छित हो जाते हैं। सीता उन्हें पुनः आश्वस्त कर देती हैं। राम पुनः विलाप करते हुए सीता-विषयक वार्त्तालाप कर वासन्ती से विदा लेते हैं। उधर सीता उनके गमन से मूर्च्छित हो उठती हैं। अन्त में वासन्ती रामचन्द्रजी को तथा तमसा सीताजी को आशीर्वाद देती हैं।

(क) रामचन्द्रजी एवं वासन्ती की बातों से निम्नलिखित सूचनाएँ मिलती हैं—

(१) रामचन्द्रजी ने लोकाराधन के लिए सीताजी का परित्याग किया है। (यहाँ दुर्मुख द्वारा प्रथम अङ्क में लाए गए समाचार का, नाटकीय वैशिष्ट्य बनाये रखने के कारण संकेत नहीं किया है।)

(२) रामचन्द्र जी को वन में सीताजी के मरण की पूर्ण सम्भावना है।

(३) रामचन्द्रजी बारह वर्षों से सीता की विरह-वेदना से व्याकुल हैं। इस वेदना को वे लोकाराधन के लिये दबाए हुए हैं। किन्तु वे सीता के सम्मान की रक्षा में निरन्तर लगे हुए हैं। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ में सीताजी की हिरण्मयी मूर्ति को ही पत्नी के स्थान पर प्रतिष्ठित किया है।

(ख) सीता एवं तमसा की उक्ति प्रत्युक्तियों से सूचनाएँ मिलती हैं—

(१) सीताजी अपने निर्वासन के कारण से नितान्त अपरिचित हैं।

(२) सीताजी लव एवं कुश की वर्तमान स्थिति से अवगत नहीं हैं।

(३) रामचन्द्रजी को भी सीताजी के पुत्रों के विषय में कोई सूचना नहीं मिली है।

तृतीय अङ्क का नाटकीय महत्व

(१) तृतीय अङ्क की आवश्यकता—

(क) नाटकीय दृष्टि से तृतीय अङ्क का अत्यन्त महत्त्व है। इस अङ्क में नाटकीय मनोविज्ञान का सम्पर्क पाकर सजीव एवं सहृदयश्लाघ्य हो उठी है। भवभूति ने अपनी कल्पना का प्रयोग कर सीताजी को रामचन्द्रजी की व्याकुलता का दर्शन कराने का उपयुक्त अवसर निकाला है। इधर प्रजापालक राम का सीताजी की स्मृति में व्याकुल होने का सर्वोत्तम अवसर दण्डकारण्य में ही मिल सकता है। यदि भवभूति रामचन्द्रजी की इस व्याकुलता का प्रदर्शन, राम के शासन कार्यों के बीच, या उनके निवास गृह में, अथवा उनके लक्ष्मण आदि भाइयों के मध्य कराते तो यह व्याकुलता एकपक्षीय होकर सीता की 'सहानुभूति नहीं प्राप्त कर सकती थी।

(ख) सीता के विचारों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण—

तृतीय अङ्क में रामचन्द्रजी की व्याकुलता का सीताजी के विचारों पर उत्तरोत्तर अधिक प्रभाव पड़ता है। सीताजी रामचन्द्रजी को दो रूपों में देखती है—(१) राजा तथा (२) पति। उनकी धारणा है कि रामचन्द्रजी ने उन्हें निराधार निष्कासित किया है। अतः उनका रामचन्द्रजी के प्रति कुछ आक्रोश होना मनोवैज्ञानिक आधार पर स्वाभाविक ही है। किञ्च, वे रामचन्द्रजी की कठोरता से भी पूर्ण परिचित हैं, इसीलिए पहले स्पर्श में तमसा से "भअवदि तमसे! ओसरह्म दावं। मं पेक्खिअ अणब्भणुण्णादेन संणिहाणेन राआ अहिअं कुप्पिस्सदि।" [भगवती तमसे! अपसरावस्तावत्। मां प्रेक्ष्यानभ्यनुज्ञातेन तन्निधानेन राजाऽधिकं कोपिष्यति।] कहकर दूर हट जाने की इच्छा प्रकट करती हैं। किन्तु तमसा के आदेश से रामचन्द्रजी के पास बैठकर उनका स्पर्श करती हुई वे विश्वास करने लगती हैं "अहं अव्व एदस्स हिअअं जाणामि, मह एसो।" [अहमेवैतस्य हृदयं जानामि, ममैषः।] सीताजी के मनोभावों की यह प्रथम सीढ़ी है। उनके इन भावों की दूसरी सीढ़ी तब दिखाई देती

है जबकि वासन्ती रामचन्द्रजी को सीता का परित्याग के कारण दारुण एवं कठोर बताती है। सीताजी में नारी-जनोचित भावनाएँ (Feminine Instinct) जागृत होकर "सहि वासन्दि ! किं तुमं एव्ववादिणी होसि ?" (सखि वासन्ति ! किं त्वमेवंवादिनी भवसि ?) "सहि वासन्दि ! विरम-विरम ?" (सखि वासन्ति ! विरम विरम।) 'सहि वासन्दि ! तुमं एव्व दालुणा कठोरा अ, या एव्वं पलन्तं पलावेसि।" (सखि वासन्ति। त्वमेव दारुणा कठोरा च, यैवं प्रलपन्तं प्रलापयसि') इत्यादि उत्तरोत्तर निषेध-वाक्यों का प्रयोग करती है तथा अपने पति को निर्दोष समझकर "अज्जउत्त ! सो एव्व दाणिं सि तुमम्" (आर्यपुत्र ! स एवेदानीमसि त्वम्।) सोचने लगती हैं एवं हद्दी हद्दी ! अज्जवि अणुबद्धबहुघुम्मन्तवेअणं ण संठावेमि अत्ताणम्।" (हा धिक् हा धिक् ! अद्याप्यनुबद्धबहुघूर्णमानवेदनं न संस्थापयाम्यात्मानम्। की स्थिति में आ जाती हैं। ये दोनों मनोभावों की स्थितियाँ सीताजी को और भी आगे बढ़ा देती हैं— जबकि वे जान लेती हैं कि उनके पतिदेव द्वितीय विवाह नहीं करेंगे। बस उनका आक्रोश श्रद्धा और विश्वास में परिवर्तित हो जाता है और वे सुकृत-पुण्यजन-दर्शनीय आर्यपुत्र के चरण-कमलों में नमस्कार करती हुई मूच्छित हो जाती हैं।

(२) पात्रसृष्टि—

कवि ने काव्यीय न्याय (Poetic Justice) करने के लिए जहाँ एक ओर सीतादेवी को रामचन्द्रजी के दर्शन का अवसर दिया, वहाँ दूसरी ओर उनके प्रस्तुतीकरण में कला का प्रयोग भी किया है। भागीरथी के प्रभाव से सीताजी, मनुष्यों की तो चर्चा ही क्या, देवताओं को भी दिखाई दे नहीं सकतीं। उक्त तथ्य की सूचना अङ्क में दो बार मिलती है। सीता का राम विषयक प्रेमातिरेक उन्हें चञ्चल न बनादे इसलिए कवि ने तमसा पात्र की सृष्टि की है। उधर सीता की सखी वासन्ती के बिना रामचन्द्रजी को इतना अधिक विलाप करने का अवसर नहीं मिल सकता था, और यदि मिलता भी तो वह नाटकीय दृष्टि से उबा देने वाला हो सकता था। अतएव कवि ने इस अङ्क में पात्रों को आवश्यकता के आधार पर ही रखा है, उनकी भर्ती नहीं की है। कथन एवं उपकथन भी सर्वथा नाटकीय और मनोवैज्ञानिक हैं। इस अङ्क के पात्र युग्म के रूपों में चित्रित हैं। सीता और तमसा तथा राम और वासन्ती का युग्म रूप में ही चित्रण किया गया है।

(३) चरित्र-चित्रण—

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी उक्त अङ्क अपूर्व है। दूसरे अङ्क तक अधिकतर रामचन्द्रजी राजा के रूप में ही चित्रित किए गए हैं। दण्डकारण्य में वे प्रजाहित को ही ध्यान में रखकर आते हैं और जब तक शम्बूक का वध नहीं कर देते हैं तब तक सीताजी की स्मृति में एक भी उच्छ्वास नहीं छोड़ते हैं। तीसरे अङ्क में वे शुद्ध रूप से पतिरूप में ही चित्रित किए गए हैं। दूसरे अङ्क की रामचन्द्रजी की करुणा इस अङ्क में पराकाष्ठा (Climax) पर पहुँच जाती है। दूसरी ओर सीताजी का चरित्र भी पत्नी के रूप में चित्रित किया गया है। यद्यपि माता के रूप में भी वे दिखाई

देती हैं, किन्तु प्राधान्य पत्नी-रूप का ही है। वे विरह-वेदना से पूर्ण परिचित हैं। अतएव अपने पाले हुए हाथी को देखकर "अविउत्तो दाणिं दीहाऊ इमाए सोहृवंसणाए होदु" (अवियुक्त इदानीं दीर्घायुरनया सौम्यदर्शनया भवतु) ऐसी प्रार्थना करती हैं और रामचन्द्रजी "कान्तानुवृत्तिचातुर्यमपि शिक्षितं वत्सेन।" कहकर अपने कान्तानुवृत्ति-अचातुर्य की पुष्टि करते प्रतीत होते हैं। संक्षेप में तृतीय अङ्क चरित्र, भावना, काल एवं कारुण्य की दृष्टि से द्वितीय अङ्क का पूरक है।

(४) प्रकृति-चित्रण—

इस अङ्क का प्रकृति-चित्रण पात्रों की मनोभावनाओं के सर्वथा अनुकूल है। प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ का मनोवैज्ञानिक महत्त्व है। हाथी को हथिनी के एवं मयूर को मयूरी के साथ देखकर रामचन्द्रजी को अपना एकाकी जीवन अवश्य ही खटकता है। पञ्चवटी का लतागृह यदि एक ओर वासन्ती को सीताजी की मुग्धप्रणामाञ्जलि का स्मरण कराता है और दूसरी ओर रामचन्द्रजी भी ऐसा अनुभव करने लगते हैं कि उनको प्रकृति में इधर-उधर सीताजी दिखाई-सी तो दे रही हैं, किन्तु प्रकट होकर उन पर अनुकम्पा नहीं कर रही हैं।

(५) घटनाकाल—

इस अङ्क तथा प्रथम अङ्क की घटना में बारह वर्ष का अन्तर है। इतने समय की सूचना देने के लिए कवि ने लव-कुश की वर्षगाँठ तथा हाथी आदि चित्रों के वर्णन को उपयुक्त समझा है।

(६) नामकरण—

कवि ने तृतीय अङ्क को 'छाया अङ्क' कहा है। यह नामकरण नाटक की घटनाओं से सम्बन्ध रखता है। इसलिए यहाँ तमसा सीता के साथ, सीताजी रामचन्द्रजी के साथ एवं रामचन्द्रजी वासन्ती के साथ छाया के समान अनन्य रूप से दिखाई दिये गये हैं। दूसरे, रामचन्द्रजी के विचारों में सीताजी छाया के समान निरन्तर घूम रही हैं। तीसरे, रामचन्द्रजी एवं सीताजी की शारीरिक स्थिति केवल छाया (कान्ति) मात्र रह गई हैं। चौथे, जिस प्रकार सन्तप्त व्यक्तियों को छाया सन्तोष प्रदान किया करती है, उसी प्रकार इस अङ्क में शोकक्षोभ के प्रलापों से रामचन्द्रजी को, रामचन्द्रजी के दर्शन से सीताजी को, रामचन्द्रजी की पश्चात्ताप शुद्धि से वासन्ती को तथा दोनों (राम एवं सीता) के पारस्परिक स्पर्श से तमसा को परम सन्तोष मिलता है। पाँचवे, रामचन्द्रजी अपने मुख से ही वासन्ती से यज्ञ में सीताजी की स्वर्णमयी मूर्ति की चर्चा करते हैं, जिससे सीताजी को परम धैर्य एवं सन्तोष मिलता है, क्योंकि वह उनकी ही तो छाया है। छठे, इस अङ्क के अन्तिम श्लोक में रामचन्द्रजी एवं सीताजी को मिलने की भी छाया (आभास) मिलती है। इन सब कारणों से कवि ने इस अङ्क का नाम "छाया अङ्क" रखा है।

तृतीयोऽङ्कः ।

(ततः प्रविशति नदीद्वयम्)

एका—सखि मुरले ! किमसि सम्भ्रान्तेव ?

मुरला—सखि तमसे ! प्रेषितास्मि भगवतोऽगस्त्यस्य पत्न्या लोपामुद्रया सरिद्वरां गोदावरीमभिधातुम् "जानास्येव यथा वधूपरित्यागात्प्रभृति—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः ।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ॥१॥

[अन्वयः—गभीरत्वात्, अनिर्भिन्नः, अन्तर्गूढघनव्यथः, रामस्य, करुणः, रसः, पुटपाकप्रतीकाशः (अस्ति) ॥१॥]

तेन च तथाविधेष्टजनकष्टविनिपातजन्मना प्रकृष्टगद्गदेन दीर्घशोकसन्तानेन सम्प्रति परिक्षीणो रामभद्रः । तमवलोक्य कम्पितमिव कुसुमसमबन्धनं मे हृदयम् । अधुना च रामभद्रेण प्रतिनिवर्तमानेन नियतमेव पञ्चवटीवने वधूसहनिवासविस्रम्भसाक्षिणः प्रदेशा द्रष्टव्याः । तत्र च निसर्गधीरस्याप्येवंविधायामवस्थायामतिगम्भीराभोगशोकक्षोभसंवेगात्पदेपदे महाप्रमादानि शोकस्थानानि शङ्कनीयानि । तद्भगवति गोदावरि ! त्वया तत्रभवत्या सावधानया भवितव्यम् ।

वीचीवातैः सीकरक्षोदशीतैराकर्षद्भिः पद्मकिञ्जल्कगन्धान् ।
मोहे मोहे रामभद्रस्य जीवं स्वैरं स्वैरं प्रेरितैस्तर्पयेति ॥२॥

अन्वयः—सीकरक्षोदशीतैः पद्मकिञ्जल्कगन्धान् आकर्षद्भिः, स्वैरं स्वैरं प्रेरितैः वीचीवातैः रामभद्रस्य मोहे-मोहे जीवं तर्पय इति ॥२॥

हिन्दी—

[तदनन्तर दो नदियाँ—'तमसा' और 'मुरला' का प्रवेश होता है ।]

एक—(तमसा)—सखि मुरले ! घबराई हुई-सी क्यों हो ?

मुरला—सखि तमसे ! मुझे भगवान् अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा ने नदियों में श्रेष्ठ गोदावरी से यह कहने के लिये भेजा है—कि 'तुम जानती हो कि वधू (सीता) के परित्याग (के समय) से लेकर—

[श्लोक १]—गम्भीरता के कारण (दूसरों के लिये) अव्यक्त राम का 'करुण रस' (उस) 'पुटपाक' के समान है जिसमें अन्दर ही अन्दर तीव्र वेदना छिपी रहती है । [आशय यह है कि राम गम्भीर हैं, इस कारण यद्यपि उनके हृदय में सीता-

परित्याग की एक गूढ व्यथा सदैव रहती है तथापि उसे वे किसी के सामने प्रकट नहीं होने देते। 'पुटपाक' के समान ही उनके हृदय में एक वेदना सदा खटकती रहती है।)

इस कारण प्रियतमा (सीता) पर टूटने वाली उस घोर विपत्ति से उत्पन्न, अत्यन्त विह्वल बनाने वाले लम्बे शोक से अब रामभद्र बहुत दुर्बल हो गये हैं। उनको देखकर पुरुष के समान (कोमल) बन्ध वाला मेरा हृदय काँप-सा उठा है। इस समय रामभद्र लौटते हुए 'पञ्चवटी' में सीता के साथ अपने स्वच्छन्द विहारों के साक्षी प्रदेशों को अवश्य ही देखेंगे ऐसी दशा में बड़े भारी शोकावेग के कारण पग-पग पर असावधानताजन्य मूर्छा (आदि अनेक) अनर्थ सम्भव हैं। अतः भगवति गोदावरि! आपको सावधान रहना चाहिये। (राम पञ्चवटी के दृश्यों को देखते हुए कोई अनर्थ न कर बैठें, इसलिये तुम सावधान होकर उनकी देख-भाल करना।)

[श्लोक २]—(पूर्व-परिचित प्रदेशों को देखने से) बार-बार मूर्च्छित रामभद्र को (गोदावरी) जल की छोटी-छोटी बूँदों से शीतल, मन्द-मन्द बहने वाले तथा कमलकेसर का गन्ध लेकर उड़ने से सुरक्षित अपनी लहरों के समीर से प्रकृतिस्थ रखना (होश में लाना।)"

संस्कृत-व्याख्या

अथ तृतीयाङ्के सीता-रामयोः संगमनार्थं नदीद्वयमवतारयति कविः। तत्रैका नदी द्वितीयामाह—"सखि मुरले! 'किमसि सम्भ्रान्तेव?" इति। सा प्राह—

अहं भगवतोऽगस्त्यस्य पत्न्या लोपामुद्रया सन्दिष्टं गोदावर्याः समीपे प्रापयितुं गच्छामि, तत्र सन्देशे सीता-परित्यागात्तत्रभवतो रामस्य कीदृशी दशेति विशेषरूपेण वर्णितं, सत्यवसरे सावधानया गोदावर्या भवितव्यमिति निहितमस्ति। अथ रामस्य दशामेवादौ वर्णयति—अनिर्भिन्न इति।

रामस्य करुणो रसः पुटपाकसदृशो विद्यते, गभीरत्वान्निर्भिन्नो न जातोऽपितु अन्तर्गूढा सघना च व्यथाऽवश्यं वर्तते। रामः स्वभावेनैव गम्भीर इति हेतोः शोको बहिर्न भवति, मध्येहृदयमेव परितापमनुविन्दति, स्वयं सीतायाः परित्यागं कृत्वाऽन्यस्य कस्यचिदग्रे विलपनसमयोऽपि नास्ति इति भावः।

शब्दार्थस्त्वेवम्—गम्भीरत्वात् गाम्भीर्यात् पक्षे—सघनप्रलेपयुक्तत्वात्, अनिर्भिन्नः=अव्यक्तः पक्षे-अविदीर्णः, अतएव अन्तर्गूढघनव्यथः अन्तः=अन्तःकरणे, गूढा =गुप्ता, घना=प्रगाढा, व्यथा=पीडा यस्य सः, पक्षे अन्तः=मध्यभागे, गूढा घना व्यथा=दाहो यस्य सः, तथाविधो रामस्य करुणो रसः, पक्षान्तरे रसः=पारदादिः, पुटपाक प्रतीकाशः=मृत्तिकया लिप्ते पात्रविशेषे यः पाकः=औषधादीनां पचनं तत्प्रतीकाशस्तत्तुल्योऽस्ति। मृद्विलेपितयोः पात्रयोर्मध्ये स्थितस्य सुवर्णादिकस्याग्नौ सन्तापो यथा बहिर्नोपलक्ष्यते तथैव रामस्यापि शोको बहिर्नायाति। सोऽप्यन्तरमेव तद्दुःखं सहते इति भावः।

'पुटपाक' इति। वैद्या द्वयोः पात्रयोर्मध्ये किमपि भेषजं सुवर्णादिकं वा धृत्वा

बहिर्मृत्तिकया लेपं कृत्वा च वह्नौ परितापयन्ति। अभ्यन्तर एव तस्य परिपाको भवति। 'रस'—संज्ञाया च स उच्यते।

करुणो रसः इति। यद्यपि "रसस्योक्तिः स्व शब्देन" इति नियमात् स्वशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वाभिधानं दुष्टम् तथापि यत्र विभावादिभिर्व्यञ्जितः सन् स्वशब्देनाभिधीयते 'रस' तत्रैव दोषः। अत्र च वस्तुरूपेणैव स्थितोऽतो न दोषशङ्का-कलङ्क-सम्पर्कोऽपि।

अत्रोपमालङ्कारः। अनुष्टुप् छन्दः।

आगामिनीं विपत्तिमाशङ्क्याह—तेन इति। तेन तादृशपरमप्रेमास्पद-सीता-रूपेष्टजनस्य कष्टस्य यो विनिपातः=पतनं=प्राप्तिरित्यर्थः, तस्माज्जन्म यस्य तेन। प्रकृष्टगद्गदेन=अतिशयितगद्गदेन, औत्सुक्याधिक्यवशाज्जायमानो हृदयस्य विकृति-विशेषः कण्ठस्य ध्वनिविशेषश्च 'गद्गदे'ति व्यपदिश्यते। तेन दीर्घशोकसमूहेन। बध्वा= सीतया सह निवासस्य यो विस्रम्भः=स्वतन्त्रतया विहारः। तस्य साक्षिणः=द्रष्टारः। अतिगम्भीरः आभोगः=शरीरं यस्य एवंविधः शोकस्तज्जन्यो यः संवेगस्तस्मात्। रामभद्रः शोक सन्तप्तः पञ्चवटी-प्रदेशानवलोक्य शोकस्यावेगादनर्थं मा कुर्यादिति भगवत्या गोदावर्या सावधानया भवितव्यमिति सारः।

कथं सावधानता कर्तव्येति निर्दिशति—वीचीवातैरिति।

"यदा पूर्वपरिचितानां पदार्थानां दर्शनेन रामभद्रो विमुग्धो भविष्यति, तदा गोदावरि! भवत्या कमलानां गन्ध जलकणांश्चादाय शनैः-शनैः प्रेरितैः स्वकीयै वीचीनां पवनैः तस्य जीवः सन्तर्पणीयः" इति सन्देशः।

अत्र वातस्य शैत्यम्, सौगन्ध्यम्, मन्दसञ्चारश्च गम्यते। "किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः। स्वभावोक्ति अलङ्कारः। शालिनी छन्दः। लक्षणञ्च—

"शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः" इति॥२॥

टिप्पणी

(१) अनिर्भिन्नो रसः—इस श्लोक में पुटपाक की तुलना द्वारा श्रीराम के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। उनकी गम्भीरता और भावुकता दोनों ही स्पष्ट प्रकट हो रही हैं। "पुटपाक"—शब्द की व्याख्या अपेक्षित है। यह आयुर्वेद का पारिभाषिक शब्द है। वैद्य लोग एक मिट्टी के पात्र में औषधि रख कर दूसरे पात्र से ढक देते हैं। तदनन्तर उस मिट्टी का लेप कर आँच में रख देते हैं जिससे अन्दर ही अन्दर औषधि खदक-खदक कर पक जाती है। वैद्यक की इस प्रक्रिया को "पुटपाक" कहा जाता है। यही दशा श्रीराम जी की है। सीताजी का वियोग उन्हें भीतर ही भीतर दुःखी कर रहा है। वे और किसी को अपना दुखड़ा सुना नहीं सकते क्योंकि वे गम्भीर प्रकृति के व्यक्ति हैं। यदि वे किसी और के समक्ष अपनी व्यथा अभिव्यक्त करके हृदय हल्का करना चाहते तो कर सकते थे क्योंकि—"स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्य-वेदनं भवति" (अभिज्ञान०) किन्तु गम्भीर होने के कारण वे ऐसा नहीं कर सके। प्रतीकाशः—तुल्यः। साधारणः समानश्च स्युरुत्तरपदे त्वमी। निभसंकाश-

सीकाशप्रतीकारोपमादयः ।" इत्यमरः । पाठान्तर—'अनिर्भिन्नगम्भीरत्वात्' । (२) करुणो रसः—यहाँ 'रसस्योक्तिः स्वशब्देन' नियमानुसार रस की स्व शब्द से उक्ति होने के कारण दोष नहीं मानना चाहिये, क्योंकि जहाँ विभावादि से व्यञ्जित रस स्वशब्द से कहा जाता है, वहीं दोष होता है । यहाँ पर तो वह वस्तु रूप से ही स्थित है । अतः दोष की शंका नहीं है । (३ वीचीवातैः······तर्पयेति—यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि सुरभित, शीतल और मृदु पवन विरहियों को कष्ट प्रदान करने वाले होने के कारण तृप्त कैसे कर सकते हैं ? चैतन्य दशा में ही इनसे कष्ट मिलता है मूर्च्छावस्था में नहीं । इस विषय में वीरराघव के शब्द द्रष्टव्य हैं—

"अत्र स्वैरमित्युक्त्वा सुरभिशीतलमृदुवाता अपि विरहिणामनर्थकारिण इति न शङ्क्यम् । विरहिणां चैतन्यदशायामेव दुःसहा इमे, मूर्च्छितानां तु प्राणप्रतिष्ठापनकरा एव । नातस्त्वयातिशंका कर्त्तव्येति व्यज्यते ।"

(४) कोषः—"सीकरोऽम्बुकणाः स्मृताः" "किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्" "मन्दस्वच्छन्दयो स्वैरम्" इति चामरः ।

तमसा—उचितमेव दाक्षिण्यं स्नेहस्य । सञ्जीवनोपायस्तु मूलत एव रामभद्रस्य सन्निहितः ।

मुरला—कथमिव ।

तमसा—तत्सर्वं श्रूयताम् । पुरा किल वाल्मीकितपोवनोपकण्ठात्परित्यज्य निवृत्ते लक्ष्मणे सीतादेवी प्राप्तप्रसववेदनमतिदुःखसंवेगादात्मानं गङ्गाप्रवाहे निक्षिप्तवती । तदैव तत्र दारकद्वयं च प्रसूता भगवतीभ्यां पृथ्वीभागीरथीभ्यामभ्युपपन्ना रसातलं च नीता । स्तन्यत्यागात्परेण दारकद्वयं च तस्य प्राचेतसस्य महर्षेर्गङ्गादेव्या समर्पितं स्वयम् ।

मुरला—(सविस्मयम् ।)

ईदृशानां विपाकोऽपि, जायते परमाद्भुतः ।
यत्रोपकरणीभावमायात्येवंविधो जनः ॥३॥

अन्वयः—ईदृशानां, विपाकः, अपि, परमाद्भुतः, जायते, यत्र एवंविधः, जनः, उपकरणीभावम्, आयाति ॥३॥

हिन्दी—

तमसा—(लोपामुद्रा का यह उदार) व्यवहार स्नेह के अनुरूप ही है (किन्तु) राम के सञ्जीवन का (होश में लाने का) मूल उपाय (सीता) तो समीप ही है ।

मुरला—कैसे ?

तमसा—वह सब कुछ सुनिये । (कुछ समय) पहले वाल्मीकि-आश्रम के पास

से, सीता को छोड़कर लक्ष्मण के लौट जाने पर सीता देवी ने प्रसव-वेदना से अत्यन्त दुःखित होकर अपने को गङ्गा के प्रवाह में फेंक दिया। तभी उन्होंने वहाँ दो बालकों को जन्म दिया और पृथ्वी तथा भागीरथी इन दोनों ने अनुग्रह करके उनको रसातल पहुँचा दिया। माता का दूध छोड़ देने के बाद, गंगादेवी ने उन दोनों बालकों को स्वयं महर्षि वाल्मीकि को समर्पित कर दिया।

मुरला—(आश्चर्य सहित)—

[श्लोक ३]—ऐसे (सीता-राम-सदृश) महानुभावों का विषम परिणाम (विपत्ति भी) बड़ा विचित्र होता है जहाँ कि ऐसे गंगा आदि (अलौकिक) व्यक्ति भी सहायक होते हैं (आशय है कि महानुभावों की विपदावस्था भी बड़ी विचित्र होती है। उनकी सहायता करने के लिए अलौकिक विभूतियाँ स्वतः आ जाती है। बेचारी सीता गंगा जी में कूदी थीं डूबने के लिए परन्तु वहाँ उनके पुत्र उत्पन्न हो गये; और गङ्गा एवं पृथ्वी ने स्वयं उनकी रक्षा भी की। यह विचित्र परिणाम नहीं तो और क्या है ?) ॥३॥

संस्कृत-व्याख्या

शब्दार्थः—दाक्षिण्यम् = औदार्यम्। उपकण्ठात् = समीपात्, दारकद्वयम् = बालकद्वयम्। अभ्युपपन्ना = अनुगृहीता। प्राचेतसस्य महर्षेः = वाल्मीकेः।

सीतायाः परित्यागे कुश—लवयोरुत्पत्तौ 'गंगापृथिवीभ्यां सीतायामनुग्रहः कृतः, इति श्रुत्वा साश्चर्यमाह मुरला ईदृशानामिति।

ईदृशानां = सीतारामतुल्यानां महानुभावानां, विपाकोऽपि = विषय-परिणामोऽपि, परमाद्‌भुतः = परमविचित्रो जायते। यत्र, एवंविधः—गंगापृथिवीसदृशो जन उपकरणीभावम् = सहायकत्वम्, स्वतः एवायाति। एतेन प्रतीयते सौभाग्यशालिनां कृते सर्वत्र सुख-साधनसम्पत्तिः सुलभा भवतीति।

टिप्पणी

अत्र काव्यलिङ्गालङ्कारः। अनुष्टुप छन्दः ॥३॥

(१) दाक्षिण्यम्—दक्षिणस्य भावो दाक्षिण्यम्। दक्षिण + ष्यञ्। "गुणवचन ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" (पा० ५/१/११२) इति ष्यञ्। "दक्षिणे सरलोदारौ" इत्यमरः। (२) मूलत एव—पाठा०, "मौलिक एव"। मूलतः = मूल + तसिः "अपादाने चाहीयरुहोः" (पा० ५/२/४५)। मौलिकः = मूल + ठञ्; "तत आगतः" (आ० ४/३/७४)। मूलसम्बन्धीत्यर्थः। मूलं सीतेति वा। "मूलं पत्नी निदानयोः" इति हैमः। "मौलिक" कहने का अभिप्राय यह भी है कि श्रीराम का सञ्जीवनोपाय तो सीता जी ही है। अन्य किसी नारी में उन्हें चेतना में लाने की क्षमता कहाँ? (३) प्रसूता—प्र + √सू + क्त कर्तरि "आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च" (पा० ३/४/७१) (४) रसातलम्—रसायाः पृथिव्यास्तलम्। तल सात हैं:—अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल तथा पाताल। "भूर्भूमिरचलाऽनन्ता रसा विश्वम्भरा स्थिरा" अधः स्वरूपयोरस्त्री तलम्" इति चामरः। (५) स्तन्यत्यागात्—'अन्या॰

दितरर्ते दिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाज्जाहियुक्ते" से पञ्चमी । (६) परेण—"इत्थम्भूत-लक्षणे" (पा० २/३/२१) अथवा "अपवर्गे०" से तृतीया। पहले नियम में "परेण-उपलक्षितम्" यह शेष होगा । (७) प्राचेतसस्य—प्रचेतस् + अण्—प्राचेतसः । "कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव" इस नियम से सम्प्रदान के अर्थ में षष्ठी । (८) विपाकः = वि + √पच् + घञ् + भावे कर्मणि वा । (९) उपकारी-भावः—उपकरण + च्वि + √भू + घञ् भावे ।

तमसा—इदानीं तु शम्बूकवृत्तान्तेनानेन सम्भावितजनस्थानं रामभद्रं सरयूमुखादुपश्रुत्य भगवती भागीरथी, यदेव लोपमुद्रया स्नेहादभिशङ्कितं तदेवाभिशङ्क्य सीतासमेता, केनचिदिव गृहाचारव्यपदेशेन गोदावरीमुपागता ।

मुरला—सुष्ठु चिन्तितं भगवत्या भागीरथ्या । "राजधानीस्थितस्यास्य खलु तश्च तैश्च जगतामाभ्युदयिकैः कार्यैर्व्यापृतस्य रामभद्रस्य नियताश्चित्त-विक्षेपाः । अव्यग्रस्य पुनरस्य शोकमात्रद्वितीयस्य पञ्चवटीप्रवेशो महाननर्थः" इति । तत् अथं सीतया रामभद्रोऽयमाश्वासनीयः स्यात् ?

तमसा—उक्तमत्र भगवत्या भागीरथ्या—"वत्से देवयजनसम्भवे सीते ! अद्य खल्वायुष्मतोः कुशलवयोर्द्वादशस्य जन्मवत्सरस्य सङ्ख्यामङ्गलग्रन्थिर-भिवर्त्तते । तदात्मनः पुराणश्वशुरमेतावतो मानवस्य राजर्षिवंशस्य प्रसवितारं सवितारमपहतपाप्मानं देवं स्वहस्तापचितैः पुष्पैरुपतिष्ठस्व । न त्वामवनिपृष्ठ-वर्तिनीमस्मत्प्रभावाद्वनदेवता अपि द्रक्ष्यन्ति किमुत मर्त्याः" इति । अहमप्याज्ञा-पिता "तमसे" ! त्वयि प्रकृष्टप्रेमैव वधूर्जानकी । अतस्त्वमेवास्याः प्रत्यनन्तरी-भव" इति । साऽहमधुना यथाऽदिष्टमनुतिष्ठामि ।

मुरला—अहमप्येतं वृत्तान्तं भगवत्यै लोपामुद्रायै निवेदयामि । राम-भद्रोऽप्यागत एवेति तर्कयामि ।

तमसा—तदियं गोदावरीह्रदान्निर्गत्य—

परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं, दधति विलोलकबरीकमाननम् ।
करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणीविरहव्यथेव वनमेति जानकी ॥४॥

अन्वयः—परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं, विलोलकबरीकम्, आननम्, दधती, जानकी करुणस्य मूर्तिः, अथवा, शरीरिणी विरहव्यथा, इव, वनम्, एति ॥४॥

हिन्दी—

तमसा—अब शम्बूक के वृत्तान्त से, जन्मस्थान में रामभद्र के आने की सम्भावना को सरयू के मुख से सुनकर भगवती भागीरथी, जिस बात की लोपामुद्रा ने स्नेह से शङ्का की थी, उसी की शङ्का कर सीता के साथ घरेलू काम के बहाने से गोदावरी के पास आई हैं ।

मुरला—भगवती भागीरथी ने बहुत ठीक विचारा। 'राजधानी में रहते हुए तो जगत् की उन्नति के कार्यों में व्यस्त रहने के कारण रामभद्र का ध्यान बँटा रहता था, परन्तु आज (किसी कार्य में) व्यग्र न रहने के कारण केवल शोक को ही साथ लेकर राम का (एकाकी ही) पञ्चवटी में प्रवेश करना बड़ा अनर्थकारी है। तो (बताओ) सीता के द्वारा रामभद्र को आश्वासन कैसे दिया जा सकेगा ?

तमसा—भगवती भागीरथी ने (सीता से) कह ही दिया है कि 'यज्ञभूमि से उत्पन्न बेटी सीते ! आज चिरायु कुश और लव की बारहवीं वर्ष-गाँठ है। अतः (इस शुभ अवसर पर) अपने पुराण श्वसुर, इतने विशाल मनु से सम्बन्धित राजर्षि वंश के उत्पादक पाप-विनाशक भगवान् सूर्य की अपने हाथों से चुने हुए पुष्पों से पूजा करो। पृथ्वी पर रहती हुई तुमको मेरे प्रभाव से वन-देवता भी नहीं देख सकते, मनुष्यों की तो बात ही क्या है ?" और मुझे (भी) यह आज्ञा दी है कि तमसे ! वधू जानकी को तुममें प्रगाढ़ प्रेम है ही। अतः तुम ही इनके साथ रहना।' अब मैं उनकी आज्ञानुसार करती हूँ।

मुरला—मैं भी इस समाचार को भगवती लोपामुद्रा से निवेदन करती हूँ रामभद्र भी आ पहुँचे—मैं ऐसा समझती हूँ।

तमसा—लो, यह गोदावरी के अगाध जल से निकलकर—

[श्लोक ४]—(विरह से) पीले और कृश कपोलों से सुन्दर तथा (इधर-उधर) बिखरे केशों से युक्त मुख को धारण करती हुई जानकी करुण रस की मूर्ति अथवा शरीरिणी विरह-व्यथा-सी वन में आ रही है।

संस्कृत-व्याख्या

शब्दार्थः—आभ्युदयिकैः=कल्याणरैः। व्यापृतस्य=संलग्नस्य। नियताः= निश्चिताः। संख्यामङ्गलग्रन्थिः=जन्मदिवसानां वत्सरस्य परिसंख्याया मांगलिको दिवसः। प्रसवितारम्=उत्पादकम्। स्वहस्तापचितैः—स्वयं संचितैः। उपतिष्ठस्व= अर्चय। प्रकृष्टं प्रेम यस्याः सा प्रकृष्टप्रेमा=अतिशयप्रेमवती। प्रयत्नन्तरीभव= समीपस्था भव। यथादिष्टम् आदेशो यथा दत्तस्तथा अनुतिष्ठामि=करोमि।

"इयं जानकी गोदावर्या बहुतरजलमध्यात् (ह्रदात्) निष्क्रम्यागच्छति"—इति तमसा' नदी प्राह—परिपाण्डु इति।

परिपाण्डु-इति। परितः पाण्डुवर्णम्, दुर्बलकपोलमपि, सुन्दरम् चञ्चला कबरी =केशपाशो यस्य तादृशं आननम्=मुखं धारयन्ती, करुणरसस्य मूर्तिरिव,शरीर- धारिणी विरहस्य पीडेव, इयं जानकी वनमायाति। विरह-विधुरिता मुक्ताशिरोरुहा भगवती सीता साक्षात् करुणरसस्य प्रतिमूर्तिरिवागच्छतीति भावः।

अत्र उत्प्रेक्षा अलङ्कारः। मञ्जुभाषिणी च्छन्दः। लक्षणं च यथा— 'सजसाजगौ भवति मञ्जुभाषिणी' इति ॥४॥

टिप्पणी

(१) शम्बूकवृत्तान्तेन—पाठा०, 'शम्बूकवधवृत्तान्तेन'। शम्बूक के वध के

वृत्तान्त से । वार्त्ता प्रवृत्तिवृत्तान्त उदन्तः स्यादित्यमरः । (२) सम्भावितजनस्थानम्—पाठा०, १. "सम्भावितजनस्थानगमनम्=सम्भावितं (सम्यक् भावितं निश्चितमित्यर्थः) जनस्थाने आगमनं यस्य तादृशं रामभद्रम् । २. 'सम्भावितजनस्थानम्'=सम्भावितं जनस्थाने आगमनं यस्य तम् । ३. 'सम्भावितजनस्थानम्' का अर्थ होगा—'सम्भावित (आगमनेन सत्कृतम्) जनस्थानं येन तम्' अर्थात् जिन्होंने अपने पावन आगमन से जनस्थान को सम्मानित किया है, एसे श्रीरामचन्द्रजी को । सम्भावितम्—सम्+√भू+णिच्+क्त कर्मणि । (३) सरयूमुखात्—'आख्यातोपयोगे' (पा० १/४/२९) इति पञ्चमी । (४) राजधानीस्थितस्य—पाठा०, 'राजनीतिस्थितस्य'=राजनीति में संलग्न के । (५) आभ्युदयिकैः—अभि+उद्+√इ+अच् भावे अभ्युदयः—उन्नतिः । अभ्युदये नियुक्त आभ्युदयिकस्तैः । अभ्युदय+ठक् । 'तत्र नियुक्तः' (पा० ४/४/६९)। 'हेतौ' (पा० २/३/२३) से तृतीया । (६) नियताः—नि+√यम्+क्त कर्मणि । (७) अव्यग्रस्य—न व्यग्रोऽव्यग्रः । नञ् । (८) शोकमात्रद्वितीयस्य—शोक एव शोकमात्रम्', मयूरव्यंसकादित्वात्समासः । शोकमात्रं द्वितीयं यस्य तस्य । (९) द्वादशस्यजन्मतसयरस्य संख्यामङ्गलग्रन्थिः—पाठा०, १. द्वादश-जन्मसंवत्सरस्य । २.द्वादशसंवत्सरस्य । द्वादशस्य=द्वौ च दश च द्वादश, द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः' (पा० ६/३/४७) इत्यात्वम् । द्वादशानां पूरणो द्वादशस्तस्य । 'तस्य पूरणे डट्' (पा० ५/२/४) इति डट्)

संख्याबोधको मङ्गलार्थो ग्रन्थिः संख्यामङ्गलग्रन्थिः । 'ग्रन्थिरुत्सवपर्वणोः'—इति नानार्थमञ्जरी । सालगिरह या वर्षगाँठ से तात्पर्य है । किन्हीं विद्वान् के अनुसार वर्षगाँठ के दिन व्यतीत वर्षों की संख्या की गाँठ लगाकर सूत्र कलाई में बाँध दिया जाता था । उसी का यह उल्लेख है ।

वर्षसमयसंख्यकग्रन्थिमद्गुग्गुलुनिम्बश्वेतसर्षपदूर्वागोरोचनारूपमङ्गलवस्तुसहितसूत्रधारणविधिरित्यर्थः ।' (प्रेमचन्द्र तर्कवागीशः)

वीरराघव ने इस प्रकार इसकी व्याख्या की है—

'संख्यापूर्तिकहेतुमङ्गलग्रन्थिः । वत्सरे वत्सरे शिशूनां जन्मनक्षत्रे शान्त्युत्सवं कृत्वा मङ्गलार्थं करे पटसूत्रादिना स्त्रियो ग्रन्थिं कुर्वन्ति, स तु करे वलयरूपेण तिष्ठतीत्युपदेशः ।'

विद्यासागर लिखते हैं—'संख्याबोधको मङ्गलार्थो ग्रन्थिः । अतीतवर्षसमसंख्यकग्रन्थिमत्सूत्रमिति यावत् । जन्मतिथौ हस्ते सूत्रमभिबध्यते तच्च सूत्रं जन्मग्रन्थिरुच्यते, यथा तिथितत्त्वे जन्मतिथिप्रकरणे 'गुडदुग्धतिलानद्यात् जन्मग्रन्थेश्च बन्धनम् ।'

घाटे शास्त्री हाथ में डोरे के बन्धन को भ्रममूलक मानते हुए लिखते हैं—'बालजन्मवर्षदिने सूत्रे एको ग्रन्थिर्वर्षगणनय बध्यत इत्याचारः । बालहस्ते बध्यते इति व्याख्यानं भ्रममूलकमेव ।"

(१०) तवात्मनः पुराणश्वसुरम् अपहृतपाप्मानम्—मनोरयम् मानवस्तस्य मानवस्य । 'तस्येदम्' (पा० ४/३/१२०) इति अण् । मनु+अण् ।

मनु आद्य राजा थे जिनसे मानव सृष्टि उत्पन्न हुई। तुल०—

"वैवस्वतो मनुर्नाम, माननीयो मनीषिणाम्।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव॥" (रघु०, १/११)

ये मनु सूर्य (विवस्वान्) के पुत्र थे। श्रीरामचन्द्रजी इन मनु से ३७वीं पीढ़ी में हुए। इस प्रकार 'सूर्य' सीता के पुराण श्वसुर होते हैं।

(११) "प्रसवितारं सवितारम्"—में यमक द्रष्टव्य है।

(१२) 'अपहतपाप्मानम्'=पाप के नष्ट करने वाले, द्वितीया एक०। 'अस्त्री पङ्कं पुमान्पाप्मा पापं किल्बिषकल्मषम्'—इत्यमरः। छान्दोग्य० (१/६/६/७) देखिये—'अथ स एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते। तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम, स एष सर्वेभ्य पाप्मभ्य उचितः, उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद।'

(१३) उपतिष्ठस्व—'उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्' इत्यात्मनेपदत्वम्। (१४) यथादिष्टम्—आदिष्टमनतिक्रम्येति यथादिष्टम्। 'अव्ययं विभक्तिः' पा० (२/१/६) इत्यव्ययीभावसमासः। (१५) प्रत्यन्तरीभव—अप्रत्यन्तरा प्रत्यन्तरा भव—इति प्रत्यन्तरीभव। प्रत्यन्तरा + च्वि + √भू + लोट्, म० पु० एकवचन। 'अभूततद्भावे च्विः'। (१६) परिपाण्डु···जानकी—पाठा०, 'करुणस्य मूर्तिरथवा' के स्थान पर 'करुणस्य मूर्तिरिव वा'। 'विरहव्यथेव' के स्थान पर 'विरहव्यथैव' (इसमें रूपक होगा)।

इस श्लोक में उपमान विधान द्रष्टव्य है। जानकी को 'साक्षात् करुण (रस) की मूर्ति' कहने से उसकी व्यथा का स्पष्ट अनुभव होता है।

श्रीशारदारञ्जन रे ने पाठान्तर 'इव वा' मानकर यथासंख्य के आधार पर इस श्लोक का अर्थ लगाया है और लिखा है—"The comparison is thus two fold—करुणस्य मूर्त्तिरिव through परिपाण्डु etc. and शरीरिणी विरहव्यथेव from विलोल etc. It is not that the epithet परिपाण्डु etc. Plays no part in the second comparison. There is the word व्यथा joined to विरह and परिपाण्डु etc. indicates व्यथा. It is the व्यथा, the torment of विरह, that has taken the colour of the cheeks and hollowed them out. The second comparison is an improvement over the first."

(P. P 262)

मुरला—इयं हि सा?

किसलयमिव मुग्धं बन्धनाद्विप्रलूनं,
हृदयकमलशोषी दारुणो दीर्घशोकः।
ग्लपयति परिपाण्डु क्षाममस्याः शरीरं,
शरदिज इव धर्मः केतकीगर्भपत्रम्॥५॥

(इति परिक्रम्य निष्क्रान्ते ।)

इति शुद्ध विष्कम्भकः ।

अन्वयः—हृदय-कमलशोषी दारुणः, दीर्घशोकः, बन्धनाद् विप्रलूनं, मुग्धं किसलयमिव, परिपाण्डु, क्षामम्, अस्याः, शरीरं, शरदिजः, धर्मः, केतकीगर्भपत्रम्, इव ग्लपयति ॥५॥

हिन्दी—

मुरला—यह वह (सीता) है ?

[श्लोक ५] हृदय कमल को सुखाने वाला दारुण दीर्घ शोक इसके डाल से टूटे हुए कोमल किसलय के समान दुर्बल तथा पीले शरीर को उसी प्रकार सुखा रहा है, जिस प्रकार कि शरद्-ऋतु की कड़ी धूप केवड़े के भीतरी (कोमल) पत्ते को सुखा देती हैं।

(घूमकर चली जाती है।)

शुद्ध विष्कम्भक ।

संस्कृत-व्याख्या

तमसा-वाक्यमाकर्ण्य दूरतः सीतामालोक्य मुरला 'इयं हि सा' इति पृच्छन्ती प्राह—किसलयमिति ।

अये ! दारुणो दीर्घकालव्यापी शोकोऽस्या हृदयकमलं शोषयति । बन्धनात् विप्रलूनं=वृन्तात् छिन्नम्, किसलयं यथा स्वभावेनैव क्षामम्=क्षीणं भवति, तथैव शोकसन्तानसन्तापितमिदमस्याः परिपाण्डुवर्णं दुर्बलञ्च शरीरं दीर्घशोको ग्लपयति=क्षीणं सम्पादयति । यथा वा—शरदिजः=शरदर्तुसमुद्भूतो धर्मो यथा केतक्याः ('केवड़ा' इति भाषायाम्) मध्यवर्तिपत्रं शोषयति, तथैवायं शोकः एनां शोषयति ।

हृदयमेव कमलमित्यत्र रूपकम् । किसलयमिवेत्यत्रोपमा केतकीगर्भपत्रमिव इत्यत्र चोपमैवेति, एतेषामलङ्काराणां साङ्कर्यम् । मालिनीच्छन्दः । लक्षणं यथा—

"न न म य य युतेयं मालिनी भोगिलोकैः ।" इति ॥

माधुर्यं गुणः । वैदर्भी रीतिः ॥५॥

संस्कृतभाषिणोर्द्वयोरपि पात्रयोर्वर्णनात् विष्कम्भकोऽयं शुद्धः । एतल्लक्षणादिकं च विस्तरेण द्वितीयाङ्के विवेचितं, तत एव द्रष्टव्यम् ।

इति शुद्ध विष्कम्भकः ।

टिप्पणी

(१) इयं हि सा ?—

इस पंक्ति की सङ्गति के विषय में लोगों को कुछ भ्रम हुआ है।

प्रो० काणे इसका अर्थ श्लोक की प्रथम पंक्ति से मिलाकर करते हैं—"यह वह सीता है जो बन्धन से टूटे हुए किसलय के समान है (Here is she (सीता) like

a pretty sprout cut off from its stem)। वे 'शरीर' का विशेषण प्रथम पंक्ति को मानने में 'दूरान्वय' दोष मानते हैं।

परन्तु प्रो० काले इस बात से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि कवि का अभिप्राय यहाँ सीता की मनोज्ञता का वर्णन करना नहीं है। 'किसलयम्···शरीरम्' का ही विशेषण है। 'परिपाण्डु-शरीर' की 'वृन्तच्युत किसलय' से तुलना करना बहुत ही सुन्दर है—

इयं हि सा—This is she, indeed. The sentence ends here. Some connect there words with the first line of the next sl......... But this is not a good way. The poet's object is not to describe her lovliness here. सा also has no force. किसलयमिव is in apposition with शरीर in the 3rd line, Gh. distinctly says किसलयमिव स्थितम्। शरीरविशेषणमेतत् The fault of दूरान्वय may be ignored. The परिपाण्डु शरीर is aptly compared to किसलय cut off from the stem which also withers up and gets palish. (उत्तररामचरित Notes, p. p. 58)

इसका समाधान करने के लिये हमने इसे प्रश्नवाचक माना है। 'इयं हि सा' के बाद प्रश्नवाचक चिह्न (?) लगाना चाहिये। सीता को देखकर मुरला का आश्चर्य-चकित होना स्वाभाविक ही है। प्रश्नवाचक चिह्न लगाते ही सब स्थिति स्पष्ट हो जाती है। प्रो० शारदारञ्जन रे ने अपनी टीका मे लिखा है।

'इयं हि सा—इति प्रत्यभिज्ञा।' परन्तु प्रत्यभिज्ञा' पूर्वदृष्ट पदार्थ की स्मृति में ही होती है। मुरला ने सीता को पहले देखा नहीं है प्रत्युत सीता-विषयक सूचना देने वाले प्रधान पात्र तमसा के द्वारा ही सीता का दर्शन होने पर मुरला की आश्चर्य-मयी जिज्ञासा होनी ही स्वाभाविक है। अतएव यह प्रश्न ही होना उचित है—इयं हि सा ?'

(२) किसलयमिव·· पत्रम्—इस श्लोक में विरहिणी सीता का बहुत ही हृदयस्पर्शी चित्र खींचा गया है। (३) हृदयकमलशोषी—श्री शारदारञ्जन रे ने इसे १. 'दीर्घशोक' और २. 'धर्म'—दोनों के पक्ष में लगाया है। १. हृदयं कुसुममिव-अथवा हृदयमेव कुसुमम् ('मयूरव्यंसकादयः' इति रूपकसमासः) तत् शोषयतीति हृदय कमलशोषी। २. हृदये कुसुमम् (सुप्सुपा) अथवा हृदयस्थितं कुसुमम्। (शाकपार्थिवा-दित्वान्मध्यमपदलोपिसमासः) तच्छोषयतीति हृदयकुसुमशोषी (धर्मपक्ष में)। हृदयकुसुम + √ शुष् + णिच् + णिनि कर्त्तरि ताच्छील्ये।

(४) ग्लप्यति—√ग्लै + णिच् + लट्, तिप्। 'ग्लास्नावनुवमां' से विकल्प से अत्व। (५) क्षामम्—√क्षै + क्त 'क्षायो मः' से क्त को म। (६) शरविजः—शरवि जात इति शरविजः। 'सप्तम्यां जनेर्डः' (पा० ३/२/९७) से 'ड' प्रत्ययः। शरद् +

√जन्+ड कर्त्तरि । 'प्रावृटशरत्कालदिवां जे (पा० ६/३/१५) से अलुक्समासः। (७) शुद्धविषकम्भकः—इसके लिये द्वितीय अङ्क के आदि में टिप्पणी।

[नेपथ्ये]

जात ! जात !

(ततः प्रविशति पुष्पावचयव्यग्रा सकरुणौत्सुक्यमाकर्णयन्ती सीता)।

सीता—अम्हहे, जाणामि—"पिअसही वासन्दी व्याहरदि" त्ति । [अहो जानामि "प्रियसखी वासन्ती व्याहरतीति" ।]

[पुनर्नेपथ्ये ।]

सीतादेव्या स्वकरकलितैः सल्लकीपल्लवाग्रै-
रग्रे लोलः करिकलभको यः पुरा वर्धितोऽभूत् ।

सीता—किं तस्स ? [किं तस्य ?]

[पुनर्नेपथ्ये ।]

वध्वा सार्धं पयसि विहरन् सोऽयमन्येन दर्पा-
दुद्दामेन द्विरदपतिना सन्निपत्याभियुक्तः ॥६॥

[अन्वयः—पुरा, अग्रे, लोलः, यः करिकलभकः, सीतादेव्या, स्वकरकलितैः, सल्लकीपल्लवाग्रैः, वर्धितोऽभूत् (इति पूर्वार्धस्यान्वयः । उत्तरार्धस्य त्वेवम्) सोऽयं वध्वा सार्धं पयसि, विहरन्, अन्येन, उद्दामेन, द्विरदपतिना, दर्पात् सन्निपत्य, अभियुक्तः ॥६॥]

सीता—(ससंभ्रमं कतिचित्पदानि गत्वा ।) अज्जउत्त ! परित्ताहि परित्ताहि मह पुत्तअम् । (विचिन्त्य) हद्धी हद्धी ! ताइं एव्व चिरपरिइदाइं अक्खराइं पञ्चवटीदंसणेण मं मन्दभाइणिं अनुबन्धन्ति । हा अज्जउत्त (इति मूर्च्छति ।) [आर्यपुत्र ! परित्रायस्व परित्रायस्व मम पुत्रकम् । हा धिक् हा धिक् । तान्येव चिरपरिचितान्यक्षराणि पञ्चवटीदर्शनेन मां मन्दभागिनीमनुबध्नन्ति हा आर्यपुत्र !] (इति मूर्छति) ।

[प्रविश्य]

तमसा—समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

हिन्दी—

(नेपथ्य में)

पुत्र ! पुत्र !

[तदनन्तर पुष्प चुनने में व्यग्र करुण और उत्कण्ठा के साथ सुनती हुई सीता प्रवेश करती हैं ।]

सीता—ओह ! मैं समझती हूँ कि मेरी प्रिय सखी वासन्ती बोल रही है ।

(पुनः नेपथ्य में)

[श्लोक ६] पहिले सीता देवी ने जिस चञ्चल हाथी के बच्चे को अपने हाथ से 'सल्लकी' लता के कोमल पत्ते दे-देकर हृष्ट-पुष्ट किया था—

सीता—उसका क्या (हुआ) ?

(पुनः नेपथ्य में)

(आज) वह अपनी पत्नी के साथ जल में विहार करता हुआ किसी दूसरे गर्वीले गजराज से बलपूर्वक दबाया जा रहा है।

सीता—(घबराई हुई कुछ पग चलकर) आर्यपुत्र ? मेरे पुत्र को बचाओ ! बचाओ ! हाय, हाय ! पञ्चवटी देखने से वही चिरपरिचित ('आर्यपुत्र' ये) अक्षर मुझ मन्दभागिनी का अनुसरण कर रहे हैं (मेरे मुख से निकल रहे हैं।) हाँ आर्यपुत्र !

[मूर्छित हो जाती है।]

(प्रवेश कर)

तमसा—धैर्य धारण करो ! धैर्य धारण करो !

संस्कृत-व्याख्या

पुनर्नेपथ्ये वासन्ती 'सीता-कर-कमलात्संवर्धितस्य' गजशावकस्याभियोगं वर्णयति—सीतादेव्यी—इति।

यः करि-कलभकः पूर्वं सीतादेव्या स्वहस्तोद्धृतैः सल्लकीनां पल्लवानामग्रभाग-प्रदानेन परिपोषितः, परमलोलः=चपल आसीत् "लोलश्चञ्चलसतृष्णयोः" इति कोशः इत्यर्थं निशम्यैव—

"किं तस्य ?" इति सीतायाः प्रश्ने, (पुनर्नेपथ्ये) वासन्ती प्राह—

स एवायं स्ववध्वा सह जले विहारं कुर्वन्नेव केनाप्यन्येन, उद्दामेन=सगर्वेण बलवता द्विरदपतिना=गजेन्द्रेण, सन्निपत्य=बलादवधर्ष्य, अभियुक्तः=समाक्रान्तः। यस्य पोषणं सीतादेव्या स्वयं सल्लकी-पत्र-प्रदानेन कृतं, स इदानीमन्येन गजेन समाक्रान्तः, इति महान् खेदः। इति भावः। सहोक्तिः अलङ्कारः, मन्दाक्रान्ता छन्दः। तल्लक्षणञ्च यथा—"मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरू चेत्।" इति। माधुर्यं गुणः। वैदर्भीरीतिः। 'उद्दाम' इति शब्दस्य—उद्गतम्=उन्नीतं—दूरीकृतं, दाम=बन्धन-रज्ज्वादिकं यस्य सः। बन्धनरहितः=उच्छृङ्खल इत्यर्थः। (उद्दामो बन्धनरहिते स्वतन्त्रे च प्रचेतसि' इति मेदिनी कोशः।)

टिप्पणी

(१) (नेपथ्ये) जात ! जात !—पाठा०, 'प्रमादः ! प्रमादः।' (२) पुष्पाव-चयव्यग्रा—पाठा०, 'पुष्पावचयव्यग्रहस्ता'। (३) करिकलभकः—यद्यपि 'कलभः करिशावकः' (अमर०)—इस कोष के अनुसार 'कलभ' शब्द का अर्थ ही हाथी का बच्चा है और इस प्रकार 'करि' शब्द का प्रयोग 'अधिकपदत्व' दोष की शङ्का करता है तथापि "विशिष्टवाचकपदानां सति विशेषणपदसमभिव्याहारे विशेष्य—मात्रपरत्वं करिकलभादिशब्दवत्' इस वामनसूत्र के आधार पर यहाँ 'करभ' का अर्थ केवल 'शावक (बच्चा) ही ग्रहीत होगा। करभ+कन् अनुकम्पाया=करभकः।

(४) वर्द्धितः—√वृध् + णिच् + क्त । पाठा०, 'पोषितः' । (५) दर्पात्—पाठां०; 'वेगात्' = जवात् (तेजी से) । (६) उद्दामेन द्विरदपतिना--"चण्ड उद्दाम उद्भटः" इति शब्दार्णवः । द्वौ रदौ (दन्तौ) यस्य सः द्विरदः द्विरदानां पतिर्द्विरदपतिस्तेन द्विरदपतिना । (७) सन्निपत्य—सम् + नि √पत् + (क्त्वा) ल्यप् । (८) सीता—(ससंभ्रम···)—आदि पाठान्तर, १. 'गत्वा' के स्थान पर 'दधती' । २. 'विचिन्त्य' के स्थान पर 'स्मृतिमभिनीय सवैक्लव्यम्' । विक्लवस्य भावो वैक्लव्यम् । विक्लवो विह्वलः स्यात्" —इत्यमरः । (९) पुत्रकम्--पुत्र + कन् अनुकम्पायाम् । "पुत्रकः कृत्रिमे पुत्रे" = इति संसारावर्त्तः ।(१०) पञ्चवटीदंसणेण—पाठा०"······णेण पुणोवि मं' । (११) अनुबध्नन्ति—पाठ०, 'अणुरुन्धन्ति' ।

(नेपथ्ये)

विमानराज ! अत्रैव स्थीयताम् ।

सीता—(ससाध्वसोल्लासम्) अम्हहे, जलभरभरिअमेहमन्थरत्थणिअगम्भीरमंसलो कुदो णु भारईणिग्घोसो भरन्तकण्णविवर मं वि मन्दभाइणिं भत्ति उस्सुआवेइ ? [अहो, जलभरभरितमेघमन्थरस्तनितगम्भीरमांसलः कुतो नु भारतीनिर्घोषो भ्रियमाणकर्णविवरां मामपि मन्दभागिनीं झटित्युत्सुकयति ?

तमसा—(सस्मितास्रम्) अयि वत्से !

अपरिस्फुटनिक्वाणे, कुतस्त्येऽपि त्वमीदृशी ।
स्तनयित्नोर्मयूरीव, चकितोत्कण्ठितं स्थिता ॥७॥

[अन्वयः—स्तनयित्नोः (अपरिस्फुटनिक्वाणे) मयूरी इव, त्वं, कुतस्त्ये, अपरिस्फुटनिक्वाणे अपि, ईदृशीं, चकितोत्कण्ठितं, स्थिता ॥७॥]

सीता—भअवदि ! किं भणसि अपरिप्फुडेत्ति ? सरसंजोएण पच्चहिजाणामि, णं अज्जउत्तेण एव्व एदं वाहरिदम् । [भगवति ! किं भणस्यपरिस्फुटेति ! स्वरसंयोगेन प्रत्यभिजानामि, नन्वार्यपुत्रणैवैतद्व्याहृतम्]

तमसा—श्रूयते—"तपस्यतः कल शूद्रस्य दण्डधारणार्थमैक्ष्वाको राजा दण्डकारण्यमागतः" इति ।

सीता—दिट्ठिआ अपरिहीणधम्मो सो राआ । [दिष्टया अपरिहीनराजधर्मः खलु स राजा]

हिन्दी—

(नेपथ्य में)

विमानराज ! यहीं रुक जाओ ।

सीता—(घबराहट और प्रसन्नता से) अहा ! जल के भार से परिपूर्ण मेघ के मन्द-मन्द गर्जन के समान गम्भीर और प्रभावशाली वाणी की ध्वनि (आवाज) कहाँ से आकर मेरे कर्ण-कुहरों को भरती हुई मुझ मन्द-भागिनी को सहसा उत्सुक कर रही है ?

तमसा—(मुस्कराहट और आँसुओं के साथ) आर्य वत्से !

[श्लोक ७] जैसे मेघ की गड़गड़ाहट में मयूरी चकित और उत्कण्ठित हो जाती है, वैसे ही कहीं से आते हुए इस अस्पष्ट शब्द को सुनकर तुम चकित और उत्कण्ठित हो रही हो ।

सीता—भगवति ! क्या कहती हो कि 'अस्पष्ट शब्द है' ? कण्ठ-स्वर से मैं पहचानती हूँ कि यह आर्यपुत्र ने कहा है । (आर्यपुत्र की ही आवाज है ।)

तमसा—सुना जाता है कि तपस्या करते हुए शूद्र तापस को दण्ड देने के लिए वे इक्ष्वाकुवंशीय 'राजा' दण्डकारण्य में आये हैं ।

सीता—सौभाग्य से वे 'राजा' धर्महीन नहीं है । (अब भी उन्हें अपने धर्म का ज्ञान है, यह बड़े हर्ष का विषय है ।)

संस्कृत-व्याख्या

भगवतो रामस्य शब्दं निशम्य चकित-चकिता सीता देवी प्राह—अह्मओ इति । अहो जलाधिक्याद् भरितो यो मेघः, तस्य यत् मन्थरं=मन्दमन्दम् स्तनितम्= गर्जितम्, तद्वद् गम्भीरः, मांसलो=बलवान् भारत्याः=वाचः निर्घोषः=ध्वनिः, तया ध्रियमाणौ=परिपूर्णौ कर्णौ यस्यास्तां मां मन्दभागिनीं झटिति=शीघ्रम् उत्सुकापयति =उत्कण्ठितां करोति । अकस्मात् मेघध्वनिरिव रामस्य शब्दो मम कर्णविवरे प्रविष्टो मामुत्सुकां करोति । इत्याशयः । अत्र भगवतो रामस्य शब्दः कुतः सम्भाव्यते इति भावः ।

तमसा सस्मितं (पतिदर्शनेनेयं, प्रसीदति, इति सस्मिता) (स्नेहपारवश्यादेवं भवतीति स्रासता) सास्रञ्चाह—अपरिस्फुटेति ।

कुतश्चिदागते स्तनयित्नोः=मेघस्य, अपरिस्फुटे निक्वाणे=शब्दे, मयूरी यथा प्रसन्ना भवति, तथैव न जाने कस्यायं शब्दः ? त्वमपि चैवमेव प्रसन्ना सञ्जातामीति नोचितमेतदिति भावः । अत्रोपमालङ्कारः ॥७॥

शूद्रमुनिं शासितुमद्यागमिष्यति रामः इति तमसा-वचनमाकर्ण्याह—दिट्ठिआ इति । सौभाग्यस्येयं वार्ता, यत् स राजा (रामः) अपरिहीनो धर्मो यस्येदृशः अस्तीति । धर्माघातं न सहते । शूद्रस्य तपस्याचरणं सर्वथाऽसहनीयमेव तस्येति तत्त्वम् ।

टिप्पणी

(१) ससाध्वसोल्लासम्=पाठा,० "ससाध्वसोल्लासोत्कम्पम्" । साध्वस= भय=घबराहट । (२) जलभर···—जलस्य भरेण भरितस्य मेघस्य मन्थरं स्तनितम्; तद्वद् गम्भीरः मांसलश्च जलभरभरितमेघमन्थरस्तनितगम्भीरमांसलः । 'मन्थरस्तु मनोज्ञः', 'स्तनितं गर्जितं मेघनिर्घोषे रसितादि च' इत्यमरः । 'करिकलभ' के समान

ही 'मेघस्तनित' का भी प्रयोग अदुष्ट है। (३) जलभरभरित—जलभर + भर + इतच्। (४) सस्मितास्रम् पाठा०, 'सस्नेहास्रम्'। (५) अपरिस्फुटनिक्वणे—पाठा०, किमव्यक्तेऽपि निनदे'। (६) चकितोत्कण्ठितं स्थिता—पाठा०, 'कुतस्ते प्रीतिरादृशी ?' (७) ऐक्ष्वाकः—इक्ष्वाकोः गोत्रापत्यं पुमान् ऐक्ष्वाकः। (८) अपरिहीनराजधर्मः—अपरिहीनो राजधर्मो यस्य सः।

(नेपथ्य में)

यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बन्धवो मे,
यानि प्रियासहचरश्चिरमध्यवात्सम्।
एतानि तानि बहुकन्दरनिर्झराणि,
गोदावरीपरिसरस्य गिरेस्तटानि ॥८॥

[अन्वयः—यत्र, द्रुमाः अपि, मृगाः अपि मे बान्धवः, प्रियासहचरः, यानि चिरम् अध्यवात्सम्, एतानि, बहुकन्दरनिर्झराणि, गोदावरीपरिसरस्य, गिरेः, तानि, तटानि (सन्ति) ॥८॥]

(नेपथ्य में)

[श्लोक ८] जहाँ वृक्ष और मृग भी मेरे बन्धु थे और जिनमें मैंने प्रियतमा के साथ बहुत दिनों तक निवास किया था, ये बहुत-सी गुफाओं और झरनों से युक्त गोदावरी के निकटवर्ती वे ही ('प्रस्रवण') पर्वत के प्रदेश हैं। (इन रमणीय प्रदेश को देखकर मेरा मन उत्कण्ठित हो उठा हैं।)

संस्कृत-व्याख्या

अगस्त्याश्रमान्निवर्तमानो भगवान् रामः पञ्चवटीमवलोक्य नेपथ्ये ब्रूते—यत्रेति।

यत्र वृक्षा अपि मृगाश्चापि मम बन्धवो बभूवुः, यत्र च प्रियया सह सुचिरं मया निवासः कृतः, एतानि बहुकन्दराभिः, निर्झरैश्च सहितानि गोदावर्याः परिसरस्य—समीपवर्तिनः, पर्वतस्य (प्रस्रवणस्य) तानि तटानि सन्ति। तत्र सानन्दं सीतया सह समयमतिवाहितवानस्मि, यत्र च मृगैर्वृक्षैश्च सह बन्धुतुल्यास्माकं प्रीतिरासीत् अनुभूतपूर्वाणि गोदावर्यास्तटानि निरीक्ष्य मम चित्तस्यैतादृशी एव दशा वर्तते, इति भावः।

'अध्यवात्सम्' इत्यत्र 'उपान्वध्याङ्वसः' इत्यनेन सूत्रेण आधारस्य 'कर्मत्वम्'। 'परिसरः' इत्यस्य पर्यन्तभूरित्यर्थः (पर्यन्तभूः परिसरः' इत्यमरः।)

यत्र द्रुमा अपि बन्धवस्तत्रान्येषां का कथा, इत्यर्थापत्तिरलङ्कारः। तल्लक्षणञ्च यथा—

'दण्डापूपिकयाऽन्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते'। इति। माधुर्यं गुणः। वैदर्भी लाटी च रीत्यौ। वसन्ततिलका च्छन्दः ॥८॥

टिप्पणी

(१) यानि अध्यवात्सम्—यहाँ अधिपूर्वक √वस् धातु के आधार पर 'यानि तटानि' की कर्मसंज्ञा हो गयी है—'उपान्वध्याङ्वसः' (पा० १/४/४८) नियम के अनुसार। (२) बहुकन्दरनिर्झराणि—पाठा०, 'बहुनिर्झरकन्दराणि' बहवः निर्झराः कन्दराश्च येषु तानि' "उत्सः प्रस्रवणं वारि प्रवाहो निर्झरो झरः" इति "दरी तु कन्दरो वा स्त्री देवखातबिले गुहा" इति चामरः। (३) गोदावरीपरिसरस्य—गोदावरी परिसरे यस्य, तस्य। परि + √सृ + घ संज्ञायाम् = परिसरः। (४) तटानि—घनश्याम पण्डित ने इसे प्रामाणिक मानते हुए लिखा है—"तटानीति प्रमादः", 'तटो भृगुः' इत्यमरसिंहे-नाभिधानात्। अतएव "तीरे तटोऽस्त्री पुंस्येव भृगौ" इति शब्दमाला।"

यदि यहाँ झरनों के अर्थ में ही 'तटानि' लिया जाय तब तो निश्चय ही दोष है किन्तु टीकाकारों ने इसका 'प्रदेश' (लाक्षणिक) अर्थ भी किया है। इस अर्थ में दोष नहीं आता क्योंकि इस अर्थ में 'तटम्' भी प्रयुक्त हो सकता है। "तटः तटी तटम्" ये तीनों ही रूप तट के मिलते हैं।

सीता—दिट्ठिआ कहं पहादचन्दमण्डलापण्डपरिक्खामदुब्बलेन आआरेण णिअसोम्हगम्भीराणभावमेत्तच्चहिजेज्जो अज्जउत्तो एव्व होदि? भअवदि तमसे! धारेहि मम् (इति तमसामाश्लिष्य मूर्च्छति।) [दिष्टचा कथं प्रभातचन्द्र-मण्डलापाण्डुपरिक्षामदुर्बलेनाकारेण निजसौम्यगम्भीरानुभावमात्रप्रत्यभिज्ञेय आर्यपुत्र एव भवति? भगवति तमसे! धारय माम्।]

तमसा—वत्से! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि।

(नेपथ्ये)

अनेन पञ्चवटीदर्शनेन—

अन्तर्लीनस्य दुःखाग्नेरद्योद्दामं ज्वलिष्यतः।
उत्पीड इव धूमस्य, मोहः प्रागावृणोति माम् ॥९॥

[अन्वयः—अन्तर्लीनस्य, अद्य, उद्दामं ज्वलिष्यतः, दुःखाग्नेः, धूमस्य, उत्पीड इव, मोहः मां, प्राक्, आवृणोति ॥९॥]

हा प्रिये जानकि!

तमसा—(स्वगतम्) इदं तावदाशङ्कितं गुरुजनेन।

सीता—(समाश्वस्य) हा, कहं एदम्? [हा, कथमेतत्?]

(पुनर्नेपथ्ये)

हा देवि दण्डकारण्यवासप्रियसखि विदेहराजपुत्रि ! (इति मूर्च्छति ।)

सीता—हद्धी हद्धी ! मं मन्दभाइणिं वाहरिअ आमीलिदणेत्तणीलुप्पलो मुच्छिदो एव्व ! हा, कहं धरणिपिट्ठे णिरुद्धणिस्सासणीसहं विपल्हत्थो ? भअवदि तमसे ! परित्ताएहि परित्ताएहि । जीवावेहि अज्जउत्तम् । (इति पादयोः पतति ।) [हा धिक् हा धिक् । मां मन्दभागिनीं व्याहृत्यामीलितनेत्रनीलोत्पलो मूर्च्छित एव । हा, कथं धरणीपृष्ठे निरुद्धनिःश्वासनिःसहं विपर्यस्तः । भगवति तमसे ! परित्रायस्व, परित्रायस्व । जीवयार्यपुत्रम् ।]

तमसा—

त्वमेव ननु कल्याणि ! सञ्जीवय जगत्पतिम् ।
प्रियस्पर्शो हि पाणिस्ते, तत्रैष निरतो जनः ॥१०॥

सीता—जं होदु तं होदु । जइ भअवई आणवेई । (इति ससंभ्रमं निष्क्रान्ता ।) [यद्भवतु तद्भवतु । यथा भगवत्याज्ञापयति ।]

हिन्दी—

सीता क्या, सौभाग्य से, प्रातःकालीन चन्द्र-मण्डल के समान श्वेत (कान्ति-हीन), क्षीण, दुर्बल आकृति वाले तथा अपने शान्त और गम्भीर प्रभाव-मात्र से ही पहचानने योग्य आर्यपुत्र ही हैं ? (आशय यह है कि दुर्बलता आदि अनेक कारणों से बिल्कुल बदले हुए आकार से इनको नहीं पहचाना जा सकता; केवल अपने स्वाभाविक गम्भीर प्रभाव से ही ये पहचान में आते हैं ।)

भगवति तमसे ! मुझे संभालो ।

[तमसा से लिपटकर मूर्च्छित हो जाती है ।]

तमसा—वत्से ! धैर्य धारण करो । धैर्य धारण करो ।

(नेपथ्य में)

इस पञ्चवटी को देखने से—

[श्लोक ६]—अन्दर ही अन्दर छिपी हुई तथा आज भड़ककर जलने वाली दुःखाग्नि के धूम-पिण्ड की भाँति मोह (मूर्छा) पहले (ही) मुझे घेर रहा है । (अर्थात् जैसे आँच जलने से पहले धुँआ बड़े वेग से उठता है वैसे ही दुःख फैलने से पहले ही मूर्छा मुझे घेर रही है—मैं मूर्छित हुआ जा रहा हूँ ।)

हा ! प्रिय, जानकि !

तमसा—(स्वयं ही) गुरुजनों ने इसी बात की शङ्का की थी ।

सीता—(प्रकृतिस्थ होकर) हा ! यह क्या है ?

(पुनः नेपथ्य में)

हा ! देवि ! दण्डकारण्य के निवास-काल की प्रियसखि ! जनकनन्दिनि ।

[मूर्च्छित हो जाते हैं]

सीता—हाय ! मुझ मन्दभागिनी का नाम लेकर नीलकमलसदृश नेत्र बन्द कर आर्यपुत्र मूर्छित ही हो गये ? हाय, श्वास रुकने से शक्तिहीन होकर पृथ्वी पर कैसे गिर पड़े हैं। भगवति तमसे ! रक्षा करो ! रक्षा करो ! आर्यपुत्र को जिला दो।

तमसा—[श्लोक १०]—कल्याणि ! तुम ही (अपने कर-स्पर्श से) जगत्पति (राम) को जिलाओ ! (होश में लाओ !) क्योंकि तुम्हारे हाथ का स्पर्श बड़ा प्रिय है और ये उसी के अभ्यस्त हैं।

सीता—चाहे जो हो ! (अब तो) जो भगवती की आज्ञा है (उसका पालन) करती हूँ।

[घबराई हुई चली जाती है]

संस्कृत-व्याख्या

रामं निरीक्ष्य सीतादेवी प्राह—दिट्ठिआ—इति। सौभाग्येन प्रभातचन्द्रस्य यन्मण्डलम्, तद्वदापाण्डुरः = किञ्चित् श्वेतः—घूसर इति यावत्। परिक्षामः = दुर्बलो य आकारः = आकृतिस्तेन (उपलक्षितः) निजो यः सौम्यः = रमणीयः गम्भीरश्चानुभावः = महिमा, तेन प्रत्यभिज्ञेयः यद्यप्याकृतिमवलोक्य "स एवायमिति" सहसा परिचेतुं न शक्यते, तथापि स्वभाव-गम्भीर-प्रभावमात्रेणैव परिज्ञातुं शक्यते स एवायमार्यपुत्र इति भावः। भगवति तमसे मां पतन्तीमिव धारय।

पुनर्नेपथ्ये भगवान् रामः स्वदशां प्रकटयितुमाह--अन्तरिति।

अनेन पञ्चवटी-दर्शनेन ममान्तर्लीनस्य = गुप्त-रूपेणान्तर्वर्तमानस्य दुःखाग्नेः अद्यातीवोद्दामं = वेगेन यथा स्यात्तथा ज्वलिष्यतः = देदीपिष्यतः, धूमस्य उत्पीडः = समूह इव मोहः मूर्छा मां प्राक् आवृणोति। यथा वह्नेः प्रज्वलनात् पूर्वं वेगेन धूम उद्गच्छति तथैव दुःखात् पूर्वं मोहो मामावृणोति। अहं मोहमनुभवामीति भावः। अत्रोपमालङ्कारः। अनुष्टुप् छन्दः ॥९॥

सीतां स्मृत्वा मूर्च्छितं राममालोक्य शोकविधुरा सीता कथयति—हद्धी इति। हा। मम नाम गृहीत्वा मुद्रित-लोचन-कमलो महाराजो मूर्च्छित एव ! कथं सहसा पृथिव्याः पृष्ठे, निरुद्धनिःश्वासो निःसहः = दुर्बलश्च यथा स्यात्तथा, विपर्यस्तः = विपरीततया = मुखं नीचैः कृत्वा निपतितः ! भगवति तमसे ! आर्यपुत्रमुज्जीवयतु भवती। तथाविधः कोऽप्युपायः क्रियतामिति भावः।

राममुज्जीवयितुं तमसा सीतां प्रेरयति—त्वमेति। कल्याणि सीते ! त्वमेव स्वकर-स्पर्शेन जगत्पतिं सञ्जीवय, यतः प्रियस्पर्शोऽयं तव करः, अत्रैव चायं भगवान् अभ्यस्तोऽस्ति।

["जगत्पति"--शब्देन रामे जीवति एव जगतः समुज्जीवनं भवितुमर्हतीति बुद्ध्या कल्याणवत्या भवत्या सञ्जीवनप्रदानेन विश्व-कल्याणं विधेयमिति। "कल्याणी"—पदस्य स्वारस्यं च स्वपतिबुध्या यदि नोज्जीवयसि, मा उज्जीवय, जगत्पतिधिया तु अवश्यमेव समुज्जीवनं कर्तव्यमिति भावः।

अपि च—अन्या स्त्री कथं स्पर्शं कर्तुं शक्नुयात् ? तवैव पाणि-स्पर्शं सुचिर-मभ्यासवानयमिति त्वयैवात्र स्वकर्तव्य-पालनं कार्यमिति तत्त्वम् ।]

अर्थान्तरन्यासः काव्यलिङ्गञ्च ॥१०॥

टिप्पणी

(१) दिट्ठिआ धारेहि माम्—पाठान्तर—

१. "दिट्ठिआ" (दिष्ट्या) के स्थान पर "हा" !"

२. "······मण्डलापा···कारेण" के स्थान पर—'—मण्डलावपाण्डुरपरिक्षाम-धूमधूसरेण" ।

३. "······प्रत्यभिज्ञेय···माम्" के स्थान पर "···प्रत्यभिज्ञात आर्य—

(२) प्रभातचन्द्रमण्डलापाण्डुरपरिक्षामदुर्बलेनाकारेण—प्रभाते, यच्चन्द्रमण्डलं तदिव आपाण्डुरः (विवर्णः) परिक्षामः (कृशः) च आकारः (देहः) तेन परिलक्षितः ।

यहाँ 'आकारेण' के वाद 'उपलक्षितः' परिशेषलभ्य है । इस प्रकार "इत्थम्भूत-लक्षणे" (पाठा० २/३/२१) से तृतीया हुई । अथवा साथ में तृतीया ।

(३) निजसौम्यगम्भीरानुभावमात्रप्रत्यभिज्ञेयः—निजः सौम्यः गम्भीरश्च अनुभाव एव अनुभावमात्रम् तेन प्रत्यभिज्ञेयः । (४) अन्तर्लीनस्य दुःखाग्ने······—भवभूति भावों की अभिव्यक्ति करने में अत्यन्त निपुण हैं । इस श्लोक में किंकर्तव्य-विमूढ़ चित्त की पीड़ा का क्या ही मनोज्ञ चित्रण किया गया है । "दुःखाग्ने" में "दुःखमग्निरिव" यह उपमित समास होने के कारण 'लुप्तोपमा' माननी चाहिये, 'निरङ्गरूपक' नहीं । इस विषय में जीवानन्द विद्यासागर के ये शब्द द्रष्टव्य हैं—"अत्र पूर्व्वार्द्धे 'दुःखाग्नेः' इत्यत्र 'दुःखमग्निरिव' इत्युपमितिसमात् लुप्तोपमा, परार्द्धे चासौ श्रौतीत्युभयोः परस्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । केचित्तु 'दुःखाग्नेः' इत्यत्र भविष्य-ज्ज्वलनसम्पर्कात् निरङ्गरूपकमाहुस्तदसमीचीनतया नास्मभ्यं रोचते, परार्द्धगतोपमयैक-वाक्यताया एव युक्तत्वादित्यवधेयम् ।" (५) इदं तावदाशङ्कितं गुरुजनेन—पाठा०,—······'जनेनापि' । लोपामुद्रा और भागीरथी से अभिप्राय है । लोपामुद्रा ने मुरला के द्वारा गोदावरी के पास भिजवाए संदेश में इस प्रकार की शङ्का अभिव्यक्त की थी—"तेषु (पञ्चवटी प्रदेशेषु) च निसर्गधीरस्याप्येवंविधायामवस्थायामतिगम्भीराभोगशोक-क्षोभसंवेगात्पदेपदे महान्ति प्रमादस्थानानि शङ्कनीयानि रामभद्रस्य ।" (३/१) (६) हा धिक्········पुत्रम्—पाठान्तर—१. "व्याहृत्य" के स्थान पर "उद्दीशय" । २. "आमीलित······" के स्थान पर "आमीलन···" । ३. निरुद्धनिःश्वासिनः सह" के स्थान पर ' निरुत्साहनिःसहम्' । (७) त्वमेव ननु···जनः—पाठा०, 'तत्रैष निरतो जनः' के स्थान पर १. "यत्रैष/यत्रैव/तत्रैव निरतो भरः/भवः ।" २. "तत्रैव नियतो भव", ३. "नियता भव ।"

(ततः प्रविशति भूम्यां निपतितः सास्रया सीतया स्पृश्यमानः साह्लादोच्छ्वासो रामः)

सीता—(किञ्चित्सहर्षम्) आणे उण पच्चाअदं विअ जीविअं तेल्लोअस्स। [जाने पुनः प्रत्यागतमिव जीवितं त्रैलोक्यस्य।]

रामः—हन्त भोः किमेतत्?

आश्च्योतनं नु हरिचन्दनपल्लवानां?
निष्पीडितेन्दुकरकन्दलजो नु सेकः?
आतप्तजीवितमनः परितर्पणोऽयं,
सञ्जीवनौषधिरसो हृदि नु प्रसिक्तः? ॥११॥

[अन्वयः—हृदि, हरिचन्दनपल्लवानाम्, आश्च्योतनं नु? निष्पीडितेन्दुकरकन्दलजः सेकः, नु? आतप्तजीवितमनः परितर्पणः, अयम्, सञ्जीवनौषधिरसः प्रसक्तः नु? ॥११॥]

अपि च—

स्पर्शः पुरा परिचितो नियतं स एव,
सञ्जीवनश्च मनसः परितोषणश्च।
सन्तापजां सपदि यः परिहृत्य मूर्च्छा-
मानन्दनेन जडतां पुनरातनोति ॥१२॥

[अन्वयः—पुरा परिचितः, सञ्जीवनः मनसः, परितोषणश्च, नियतं, स एव स्पर्शः, यः, सन्तापजां, मूर्छां परिहृत्य, सपदि, आनन्दनेन, पुनः जडताम्, आतनोति ॥१२॥

सीता—(ससाध्वसकरुणमुपसृत्य) एत्तिअं एव्व दाणिं मह बहुदरम्। [एतावदेवेदानीं मम बहुतरम्।]

हिन्दी—

[तदनन्तर भूमि पर पड़े, रोती हुई सीता से स्पर्श किये जाते तथा आह्लादपूर्वक श्वास लेते हुए रामचन्द्रजी का प्रवेश होता है।]

सीता—(कुछ हर्ष के साथ) मैं समझती हूँ कि तीनों लोकों का जीवन फिर से लौट आया है। (जगत्पति राम के जीवित होने पर संसार ही जी गया!)

राम—आश्चर्य! यह क्या है?

[श्लोक ११]—क्या मेरे हृदय पर यह हरिचन्दन के नवपल्लवों का रस (बह रहा) है? अथवा चन्द्रमा के किरणरूपी अङ्कुरों को निचोड़ कर उनके रस से किया गया सेक है? अथवा मेरे सन्तप्त मन और प्राण को तृप्त करने वाला यह 'सञ्जीवन'—औषधि का रस ही (किसी ने) विशेष रूप से सींच दिया है? (यह क्या है, मैं निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ।

और भी—

[श्लोक १२]—सञ्जीवन का हेतु और मन तृप्त करने वाला यह पूर्व-परि-

चित स्पर्श निश्चय ही, वही है, जो कि सन्ताप से उत्पन्न मूर्छा को दूर कर आनन्द प्रदान करने से पुनः (किसी अनिर्वचनीय) जड़ता को फैला रहा है।

सीता—(घबराहट और करुणा के साथ पास जाकर) इस समय मेरे लिए इतना ही बहुत है। (अर्थात्, मुझ निर्वासित को तो इनके दर्शन में भी सन्देह था, स्पर्श की तो बात ही क्या ? परन्तु इस समय मैंने इनका स्पर्श भी कर लिया ! यही मुझे पर्याप्त है।)

संस्कृत-व्याख्या

सीतादेवी स्वकरस्पर्शतः प्रत्याश्वसन्तं महाराजं निरीक्ष्याह—जाणे इति। त्रैलोक्यस्य जीवनं पुनरप्यागतमिति मन्ये। रामे जीवति सर्वेषां लोकानां जीवनं सम्भवति, नान्यथेति भावः।

साश्चर्य इव रामः प्राह—आश्च्योतनमिति।

अये ! मम हृदये केनचित् हरिचन्दनस्य पल्लवानामाश्च्योतनं = रसक्षरणं कृतम् ? आहोस्वित् निष्पीडिताः = निष्पष्टाः, य इन्दुकरकन्दलोः = चन्द्र-किरणाकुंरास्तेभ्यो जातः = निष्पीडितेन्दुकरकन्दलजः—चन्द्रमसः किरण-जालरूप-कन्दलस्य निष्पीडनेन-सेक एव कृतः ? अथवा, आतप्तयोर्मम जीवितमनसोः प्रसादकरः केनचित्-सञ्जीवनौषधिरस एव प्रकर्षेण सिक्तः ? किमेतदिति नावधारयामि ? ईदृशी शान्तिः सहसा पदार्थान्तरसम्पर्कात् प्रायो नैव सम्भवति। अतः किमिदमिति सम्यङ् न निर्णेतुं समर्थोऽस्मीति भावः।

अत्र सन्देहालङ्कारः। तल्लक्षणञ्च यथा—

"सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य, संशयः प्रतिभोत्थितः।
शुद्धो, निश्चयगर्भोऽसौ, निश्चयान्त इति त्रिधा"॥ इति॥

माधुर्यमत्र गुणाः। वैदर्भी रीतिः। वसन्ततिलका च्छन्दः ॥११॥

अपि च—

पुनरपि रामः स्वानुभवमाह—स्पर्श इति।

अयं पूर्वपरिचित एवास्ति स्पर्शः। अनेन मम सञ्जीवनं सञ्जातम्, मनसस्तृप्तिश्च सञ्जाता। मोहात्पूर्वं मम जडताऽऽसीत्, सा च जडताऽनेन स्पर्शेन दूरीकृता यद्यपि, तथापि पुनरानन्दप्रदानेन नवीना काचिदनिर्वचनीय जडता प्रकटिता। जाड्यं द्विविधम्, मोहावस्थायाम् आनन्दावस्थायाञ्चेति। मया चोभयविधमप्यनुभूतमिति भावः इदानीमहं परमानन्दमनुभवामिति हृदयम्।

अत्र विरोधालङ्कारः। वसन्ततिलका च्छन्दः ॥१२॥

कदाचिन्मम करस्पर्शान्महाराजः प्रकुपितो भवेदिति भीतायाः राम दयनीयां दशामालोक्य सदयायाः सीतायाः, वचनम्—एत्तिअमिति। एतावदेव मम निर्वासितायाः प्रियकरस्पर्शनमेव वरम्। निर्वासितायस्तु दर्शनेऽपि महान् सन्देह आसीत्, स्पर्शस्य तु कथैव का ? स च स्पर्शो मयेदानीमनुभूतः इत्यतो ब्रवीमि, एतावदेव मम बहुतरमिति।

टिप्पणी

(१) साह्लादोच्छ्वासः—आह्लादेन सहितः साह्लादः उच्छ्वासो यस्य सः। (२) जीवितं त्रैलोक्यस्य—कहने का तात्पर्य यह है कि श्रीराम पर ही तीनों लोकों का जीवन आधारित है।

वीरराघव इस पर लिखते हैं—

"त्रयाणामपि लोकानां राममगं जीवितत्त्वाद् रामजीवने तज्जीवनमिति भावः। तदुक्तम्—

"रामो रामो राम इति प्रजानामभवद् कथाः।
रामभूतं जगदभूद्रामे राज्यं प्रशासित ॥' इति ॥"

घनश्याम पण्डित ने श्रीराम और त्रैलोक्य का अद्वैत सिद्ध करते हुए लिखा है—"एतेन रामस्य त्रैलोक्यस्य च एकार्थवर्णनादद्वैतमेव प्रामाणिकमिति कविना सिद्धान्तमार्गो दर्शित इति बोध्यम्। अतएव 'हरिरेव जगज्जगदेव हरिः' इति, 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' इति, 'भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः' इति प्राञ्चः'।

सीता ने अन्यत्र भी इसी प्रकार की बात कही है—

१. "सकललोकमङ्गलाधारस्य···" (उत्त० ३/३८ श्लोक के बाद)।

२. "धन्या खलु सा यैवमार्यपुत्रेण बहुमन्यते या चार्यपुत्रं विनोदयन्त्याशानिबन्धनं जाता जीवलोकस्य।" (उत्त० ३/४५ श्लोक के अनन्तर)।

(३) आश्च्योतनम्—पाठा०, 'प्रश्च्योतनम्'। आ समन्तात् श्च्योतनं गलनम् इति आश्च्योतनम् ?

"रसाविर्भूतये यत्स्यादङ्गुलीभिः प्रपीडनम्।
तदाश्च्योतनमाश्च्योतश्चोतनं"—इति च द्विरूपः॥

(४) हरिचन्दनपल्लवानाम्—हरिचन्दन पाँच देवतरुओं में से अन्यतम है अथवा 'गोशीर्ष' नामक चन्दनवृक्ष।

"पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः।
सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम् ॥"
"तैलपणिकगोशीर्षे हरिचन्दनमस्त्रियाम् ॥"—इति चामरः।

(५)···करकन्दलः—किरणसमष्टिः। "कन्दे गोले समष्टौ च कन्दलः" इति संसारावर्त्तः। (६) आप्तजीवितमनः परितर्पणोऽयम्—पाठा०, १. आप्तजीव/जीवित-मनः। पुनः। तरोः परितर्पणो मे। (७) परितोषनश्च—पाठा०, 'परिमोहनश्च'। (८) विरोधात्मक भाषा का चमत्कार दर्शनीय है।

रामः—(उपविश्य) न खलु वत्सलया देव्याभ्युपपन्नोऽस्मि ?

सीता—हद्धी हद्धी ! किंति अज्जउत्तो मे मग्गिस्सदि ? [हा धिक् हा धिक्। किमित्यार्यपुत्रो मां मार्गिष्यति ?]

रामः—भवतु, पश्यामि ।

सीता—भअवदि तमसे ! ओसरह्म दाव । मं पेक्खिअ अणब्भणुण्णादेण संणिहाणेण राआ अहिअं कुपिस्सदि । [भगवति तमसे ! अपसरावस्तावत् । मां प्रेक्ष्यानभ्यनुज्ञातेन सन्निधानेन राजाऽधिकं कोपिष्यति ।]

तमसा—अयि वत्से ! भगीरथीप्रसादाद्वनदेवतानामप्यदृश्यासि संवृत्ता ।

सीता—अत्थि क्खु एदम् ? [अस्ति खल्वेतत् !]

रामः—हा प्रिये जानकि !

सीता—(समन्मुगदगदम् ।) अज्जउत्त ! असरिसं क्खु एदं इमस्स वुत्तन्दस्स । (सास्रम्) भअवदि । किंति वज्जमई जम्मन्तरेसु वि पुणो वि असंभाविअदुल्लहदसणस्स मं एव्व मन्दभाइणिं उद्दिसिअ एव्वं वच्छलस्स एव्वं वादिणो अज्जउत्तस्स उवरि णिरणुक्कोसा भविस्सम् ? अहं एव्व एदस्स हिअअं जाणामि, मह वि एसो । [आर्यपुत्र ! असदृशं खल्वेतदस्य वृत्तान्तस्य । भगवति ! किमिति वज्रमयी जन्मान्तरेष्वपि पुनरप्यसम्भावितदुर्लभदर्शनस्य मामेव मन्दभागिनीमुद्दिश्यैवं वत्सलस्यैवं वादिन आर्यपुत्रस्योपरि निरनुक्रोशा भविष्यामि ? अहमेवैतस्य हृदयं जानामि, ममाप्येषः ।]

रामः—(सर्वतोऽवलोक्य सनिर्वेदम् ।) हा, न किंचिदत्र ।

सीता—भअवदि ! णिक्कारणपरिच्चाइणा वि एदस्स दंसणेण एव्वंविधेण कीलिसी मे हिअआवस्था ? त्ति ण आणामि, ण आणामि । [भगवति ! निष्कारणपरित्यागिनोऽप्येतस्य दर्शनेनैवंविधेन कीदृशी मे हृदयावस्था ! इति न जानामि, न जानामि ।]

तमसा—जानामि वत्से ! जानामि ।

तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशा-
द्वियोगे दीर्घेऽस्मिञ्झटिति घटनात्स्तम्भितमिव ।
प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढकरुणं,
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव ॥१३॥

[अन्वयः—तव हृदयम्, अस्मिन् क्षणे, नैराश्यात्, तटस्थम्, इव अपि च विप्रियवशात्, कलुषम् (इव), दीर्घे, अस्मिन्, वियोगे, झटिति घटनात्, स्तम्भितम्, (इव), सौजन्यात् प्रसन्नम् (इव), दयितकरुणैः गाढकरुणम्, प्रेम्णा द्रवीभूतम् इव (अस्ति) ॥१३॥

हिन्दी—

राम—(बैठकर) कहीं मैं स्नेहमयी देवी (सीता) के द्वारा अनुगृहीत नहीं किया गया हूँ ? (कहीं सीता ने ही तो मेरा स्पर्श नहीं कर लिया है ?)

सीता—हाय ! हाय ! क्या आर्यपुत्र मुझे ढूढ़ेंगे ?

राम—अस्तु, देखता हूँ।

सीता—भगवति तमसे ! तब तक हम (यहाँ से) हट जायें। (अन्यथा) मुझको बिना आज्ञा के यहाँ उपस्थित देखकर 'राजा' अधिक क्रोध करेंगे।

तमसा—वत्से ! तुम तो गङ्गा जी के प्रसाद से वन-देवताओं के लिए भी अदर्शनीय हो गयी हो। (तुम्हें गङ्गा जी के प्रसाद से देवता भी नहीं देख सकते, मनुष्यों की तो बात ही क्या है ? अतः निश्चित रहो, तुमको रामचन्द्रजी नहीं देख पायेंगे।)

सीता—क्या ऐसा ही है ?

राम—हा ! प्रिये ! जानकि !

सीता—(प्रणय-कोप से गद्गद् स्वर में) आर्यपुत्र ! यह इस वृत्तान्त के अनुरूप नहीं है। (मुझे त्यागकर अब 'प्रिये !' सम्बोधन करना उचित नहीं है।) (रोती हुई) भगवति ! दूसरे जन्म में भी मुझे जिनके दर्शनों की सम्भावना नहीं थी जिनका दर्शन मेरे लिए सर्वथा दुर्लभ था, आज मुझ मन्दभागिनी को याद कर स्नेह से ऐसा कहने वाले आर्यपुत्र पर वज्रमयी मैं कैसे कठोर हो सकूँगी ? मैं ही इनका हृदय जानती हूँ और ये मेरा।

राम—(चारों ओर देखकर, खेदसहित) हा ! यहाँ कुछ भी नहीं है !

सीता—भगवति ! अकारण ही (मेरा) परित्याग करने वाले इनको भी इस अवस्था में देखकर, न जाने मेरा हृदय कैसा हो रहा है। यह मैं नहीं जानती।

तमसा—जानती हूँ बेटी ! (मैं) जानती हूँ।

[श्लोक १३'—(बेटी !) इस समय तुम्हारा हृदय (पुनः राम से मिलने की) निराशा से उदासीन, अकारण परित्याग करने (के क्रोध) से कलुषित, इस दीर्घ वियोग में अकस्मात् मिलन हो जाने के कारण स्तब्ध, (राम के सौजन्य से प्रसन्न, प्रिय के करुणामय विलापों से अत्यन्त शोकाकुल तथा प्रेम के कारण द्रवित (पिघला हुआ) सा हो रहा है।

संस्कृत-व्याख्या

रामं स्वान्वेषणे तत्परं विज्ञाय सीता ततोऽपसर्तुमिच्छन्ती तमसामाह—भगवति इति। भगवती तमसे ! आवामितोऽपसरावः। अन्यथा आज्ञां विनैव करस्पर्शेन महाराजोऽधिकं कुपितो भविष्यति।

[अत्र "राजा" इति पदं रहस्यमयं कविनां प्रयुक्तम्। अवसरप्रेक्षणीया हि राजानो भवन्ति। आज्ञामन्तरा च राज्ञः समीपे समुपसर्पणं सर्वथा हानिकरमिति भावः। 'अधिकम्' इति पदेन च पूर्व-कोपस्य फलमिदं मयानुभूयते एव; स च कोपः सामान्य एव, इदानीन्ते समधिकोपस्य न जाने किं फलं स्यादिति अत्र स्थाने नैव स्थेयम्। दूरे यदि कोपः सम्भविष्यति, तदा कथंचित् सोढव्योऽपि भवेत्। इति भावः।]

"अनभ्यनज्ञातेन" = अननुमतेन । निर्वासितताया मम समीपसमागमनमनुमतिं विना नोचितमिति भावः ।

सीताया आशङ्कामपहतुं तमसा प्राह—अयि-इति । अयि वत्से सीते ! त्वयेत्थं नाशङ्कनीयम् तत्रभवत्या भागीरथ्या अनुग्रहेण—वनदेव्योऽपि त्वामवलोकयितुं समर्था न सन्ति, रामस्य तु कथनमेव किम् ?

[रामोऽधुना नरदेहे समवतीर्णः, अतोऽखिललोकस्य स्वामी सर्व-काल-दर्शी सन्नपि न प्रेक्षते, वनदेवीनां वा ततोऽधिकं सामर्थ्यमुक्तमिदमनुचितमिति ना शुङ्कोद्भूलनीया ।]

"हा प्रिये जानकि । इति रामस्य वचनं श्रुत्वा प्रणयकुपिता सगद्गदं प्राह सीता—अज्जउत्त इति । आर्यपुत्र ! इदं तव सम्बोधन-पदं सर्वथाऽनुचितमिदानीं मन्ये । स्वयमेव मां परित्यज्य "हा प्रिये !" इति कथनं कथमुचितमिति विचार्यम् ! पुनः (सास्रम्) = रुदतीं सती तमसामाह देवि ! जन्मान्तरेऽपि ममेदमार्यपुत्रस्य दर्शनं दुर्लभमासीत् । ततो वज्रमयी भूत्वा कथं स्नेहवत् आर्यपुत्रस्योपरि निर्दया भविष्यामि ?

"अहमेवास्य रामस्य हृदयं जानामि, मम चायम्' आवयोर्हृदयविज्ञाने साधारणपामरस्य नरस्य सामर्थ्यं कुतः ? ततश्च मूढजनकथनात् प्रजापालक-धर्मं पालयितुमेवायं माम्परित्यक्तवान्, न तु हृदयेन । इदं च स्फुटीकृतमेव स्वर्णमय्याः सीतायाः यज्ञे धर्मपत्नीस्वीकरणाद्भगवतेति मार्मिकं वचनं सीतादेव्याः परमं प्रेमास्पदत्त्वमभिव्यनक्ति इति महन्नैपुण्यं कवेः ।

मम हृदयस्य कीदृशी दशेति कथयन्तीं सीताम्प्रति तमसा प्राह—तटस्थमिति ।

वत्से ! त्वं तु न वेत्सि स्वहृदयस्य दशां, परमहं सम्यग् जानामि इत्यर्थान्तरसंक्रमितवाक्यध्वनिना "अहमेव जाने, नान्य कश्चित्, न वा त्वामिति वतायाः सामर्थ्यातिरेकः सूचितः ।"] कीदृशं तव हृदयमिति प्रदर्शयति । नैराश्यात् = पुनेरपि कदाचित् समागमो भविष्यति न वा ? इत्याशङ्का अभावात् तटस्थम् = उदासीनवदासीनम् । विप्रियस्य = वियोगस्य वशात् कलुषमिव = सञ्जातकोपकालुष्यमिव । कथमहमनेन परित्यक्तेति भवत्याः कोपोदयात् कलुषमिवेति यावत् । अस्मिन् दीर्घे वियोगे सहसा संघटनात्, = सम्मेलनात्, स्तम्भितमिव = स्पन्दनशून्यमिव । सौजन्यात् = स्वाभाविकसौजन्यकारणात्, प्रसन्नम् = प्रसादयुक्तम् = सहर्षमिति । यावत् । दयितस्य = प्रियतमस्य करुणैः = करुणामयैर्विलापैरित्यर्थः । गाढकरुणम् = अतिशयकारुण्योपेतम्, प्रेम्णा चास्मिन् क्षणे द्रवीभूतम् इव = द्रवितमिव तव हृदयमस्ति ।

एवञ्च—तव हृदये नैराश्य-कालुष्य-स्तम्भत्व-प्रसन्नता-गाढकारुण्य-द्रवीभावादि-विविधभावानां सम्मिश्रणं वर्तते, इति परमहृदयसाक्षितया मया सम्यग् ज्ञातम् । अहमतो न साधारणतया त्वयाऽवमन्तव्येति भावः ।

अत्रोक्तानां भावानां वर्णनात् 'भावशवलता' उत्प्रेक्षालङ्कारः। एकस्मिन् हृदये विरुद्धानां भावानां वर्णनाद् विरोधश्च। शिखरिणी च्छन्दः। तल्लक्षणं च यथा—

"रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसलागः शिखरिणी" इति। माधुर्यं गुणः। वैदर्भी रीतिः।

अत्र किमपि परम रहस्यं तमसया प्रकटितम्। तथाहि—

"आकारैरिङ्गितैर्गत्या, चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च, लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः॥"

इत्यभियुक्तोक्त्या मया तवाकारेण वचनेन च तन हृदयं विज्ञातम्। हृदयमेव मुखे समायातीति युक्तमेव ! ननु कानि तानि मम वचनानि यैर्भवत्या मम हृदयं विशेषरूपेण ज्ञातम् ? इति चेत् श्रूयताम्—"ताइं एव्व चिरपरिइदाइं अक्खराइं पञ्चवटी-दंसणेण मं मन्दभाइणीं अणुबन्धन्ति।" इति वाक्येन "ताटस्थ्यम्" "अज्जउत्त ! असरिसं क्खु एदं इमस्स वुत्तन्तस्स" इति कथनेन "कालुष्यम्", 'दिट्ठआ कहं पहाद-चन्दमण्डलापाण्डरपरिक्खामदुब्बलेण आआरेण णिअ-सोम्ह-गम्भीराणुभावमेत्तपच्च-हिजेज्जो अज्जउत्तो एव्व होदि ?" इति वचनेन "स्तम्भः" किंति बज्जमई जम्म-न्तरेसु वि पुणोवि असंभाविअदुल्लहदंसणस्स मं एव्व मन्दभाइणीं उद्दिसिअ एव्वं-वच्छलस्स एव्वं-वादिणो अज्जउत्तस्स उवरि णिरणुक्कोसा भविस्सम् ?" इति वाक्येन सौजन्यात् 'प्रसन्नता' आश्च्योतनम्'…"स्पर्शः पुरा परिचितः" इत्यादि रामोक्त्या —"एत्तिअं एव्व दाणिं यह् वहुदरम्" इति वचनेन 'मं मन्दभाइणीं वाहरिअ… विपल्हत्थो' इति वाक्येन वा 'कारुण्यम्' प्रकटितं मया (तमसया परिज्ञातमिति भावः।) श्लोकोऽयं हृदयं विज्ञान-पाण्डित्यं कवेरस्य सूचयति॥१३॥

टिप्पणी

(१) न खलु वत्सलया देव्या—पाठा०, "…… 'वत्सलया सीतादेव्या…"। "वत्सलस्तु प्रसन्नः" इति हारावली। (२) किमित्यार्यपुत्रो मां मागिष्यति—पाठा०, …मां निन्दिष्यति' (णिन्दिस्सदि) तथा 'मंस्यते' (मन्तिस्सदि)। (३) राजाधिकं कोपिष्यति—यहाँ 'राजा' का प्रयोग साभिप्राय है। राजा के पास बिना आज्ञा के पहुँचना राजा को कोप दिलाने वाला होता ही है। यहाँ 'राजा' शब्द में यह व्यञ्जना है कि ये श्रीराम जी सीता के पति होते हुए भी राजा पहले हैं तभी तो प्रजापालन के लिए निर्दोष सीता को भी उन्होंने निकाल दिया था। उनका कथन था:—

"स्नेहं दयां च सौख्यञ्च, यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य, मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥" (उत्त० १/१२)

इसलिए सीताजी यहाँ उनके 'राजात्व' को अक्षुण्ण बनाए रखना चाहती है।

(४) सीता—अत्थिक्खु इदम् ?—पाठा०, १. "हुम्, अत्थि एदं।" (हुम्, अस्त्येतत्) २. 'आम्, अत्थि क्खु एदं' (आम्, अस्ति खल्वेतत्), ३. "आम्, अत्थि एदं (आम्, अस्त्येतत्)। (५) (समन्युगद्गदम्)—पाठा०, १. 'ससाध्वसद्गदम्'

२. 'ससाध्वसम्' 'गद्गदं स्खलिताक्षरम्' इत्यमरमाला। (६) असरिसं क्खु एद इमस्स वुत्तन्दस्स—पाठान्तर, "असरिसं क्खु एवं वअणं इमस्स वुत्तन्दस्स" (असदृशं खलु एतद् वचनम् अस्य वृत्तान्तस्य) इस वाक्य का अर्थ टीकाकारों ने विविध प्रकार से किया है। वीरराघव ने वृत्तान्त' का परित्याग रूप' वृत्तान्त अर्थ लिया है—"एतत् प्रियेत्यामन्त्रणम्। अस्य वृत्तान्तस्य। परित्यागरूपस्येत्यर्थः।" अर्थात् उपर्युक्त 'हा प्रिये जानकि!' यह वचन परित्यक्त सीता के लिए ठीक नहीं है। इसी आधार पर शारदारञ्जन रे ने 'मितभाषिणी' में लिखा है—"एतत् वचनं...... ... असदृशम् अननुरूपम्। न हि प्रिया केनचित् त्यज्यते इत्यर्थः।'

घनश्याम ने इस वाक्य को यों खोला है—"आर्यपुत्र आर्यपुत्र असदृशं खल्वेतस्य वृत्तान्तस्य। 'वृत्तान्तस्तु प्रयोगे च व्यवहारे च, इति पद्ममाला। तथा वृत्तान्तस्य प्रिये-जानकि! प्रयोगस्य व्यवहारस्य वा। एतत् निरूपणम् अभिनयं वेति शेषः। असदृशम् अनुचितं खल्वित्यर्थः।

(७) तटस्थ...क्षण इव—१. पाठा०, '...घटनात्स्तम्भितमिव' के स्थान पर 'घटनोत्तम्भितमिव' २. उत्प्रेक्षा और विरोध अलङ्कार। ३. शिखरिणी छन्द ४. माधुर्य गुण। (५) वैदर्भी रीति।

रामः—देवि!

प्रसाद इव मूर्तस्ते, स्पर्शः स्नेहार्द्रशीतलः।
अद्याप्यानन्दयति मां, त्वं पुनः क्वासि नन्दिनि? ॥१४॥

हिन्दी—

राम—देवि!

[श्लोक १४] स्नेह से आर्द्र तथा शीतल तुम्हारा स्पर्श मूर्तिमान् प्रसाद की भाँति मुझे अब भी आनन्दित कर रहा है। (परन्तु) आनन्ददायिनि! तुम कहाँ हो?

संस्कृत-व्याख्या

सीतामानवलोक्य रामः प्राह—प्रसाद इति।

देवि, सीते! स्नेहेनार्द्रः शीतलश्च मूर्तिमान प्रसाद इवायन्तव स्पर्शो मामद्यापि आनन्दयति, नन्दिनि! आनन्दप्रचुरे! त्वं पुनः क्वासि! तवापेक्षया तु तवायं 'स्पर्शः' एव ममातिशयोपकारं कृतवान्?

'अत्र मूर्तः प्रसाद इव' इत्यत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः। अनुष्टुप् छन्दः ॥१४॥

टिप्पणी

(१) अद्याप्यानन्दयति—पाठा० 'अद्याप्येवार्द्रयति'।

सीता—एदे क्खु अगाधमाणसदंसिदसिणेहसंभारा आणन्दणिस्सन्दिणो सुहामआ अज्जउत्तस्स उल्लावा। जाणे पच्चएणे णिक्कालणपरिच्चाअसल्लिदोवि बहुमदो मह जम्मलाहो। [एते खल्वगाधमानसदर्शितस्नेहसम्भारा आनन्दनिष्यन्दिनः सुधामया आर्यपुत्रस्योल्लापाः। जाने, प्रत्ययेन निष्कारणपरित्यागशल्यितोऽपि बहुमतो मम जन्मलाभः।]

रामः—अथवा कुतः प्रियतमा ? नूनं सङ्कल्पाभ्यासपाटवोपादान एष भ्रमो रामभद्रस्य।

(नेपथ्ये)

अहो, महान् प्रमादः ! ['सीतादेव्याः स्वकरकलितैः', इत्यर्धं पठ्यते।]

रामः—(सकरुणौत्सुक्यम्) किं तस्य ?

(पुनर्नेपथ्ये) (वध्वा सार्धम्' इत्युत्तरार्धं पठ्यते।)

सीता—को दाणिं अभिजुज्जइ ? [क इदानीमभियुज्यते ?]

रामः—क्वासौ दुरात्मा ? यः प्रियायाः पुत्रं वधूद्वितीयमभिभवति। (इत्युत्तिष्ठति।)

(प्रविश्य)

वासन्ती—(सम्भ्रान्ता।) देव ! त्वर्यताम्।

सीता—हा कहं मे पिअसही वासन्ती ? [हा, कथं मे प्रियसखी वासन्ती ?]

रामः—कथं देव्याः प्रियसखी वासन्ती ?

वासन्ती—देव ! त्वर्यतां त्वर्यताम्। इतो जटायुशिखरस्य दक्षिणेन सीतातीर्थेन गोदावरीमवतीर्य सम्भावयतु देव्याः पुत्रकं देवः।

सीता—हा ताद जडाओ ? सुण्ण तुए विणा इदं जणट्ठाणम्। [हा तात जटायो ! शून्यं त्वयाविनेदं जनस्थानम्।]

रामः—अहह ! हृदयमर्मच्छिदः खल्वमी कथोद्घाताः।

वासन्ती—इत इतो देवः।

सीता—भअवदि ! सच्चं एव्व वणदेवदावि मं ण पेक्खदि। [भगवति ! सत्यमेव वनदेवतापि मां न पश्यति।]

तमसा—अयि वत्से ! सर्वदेवताभ्यः प्रकृष्टतममैश्वर्यं मन्दाकिन्याः। तत्किमिति विशङ्कसे ?

सीता—तदो अणुसरह्म। (इति परिक्रामति।) [ततोऽनुसरावः।]

रामः—(परिक्रम्य) भगवति गोदावरि ! नमस्ते।

वासन्ती—(निरूप्य) देव ! मोदस्व विजयिना वधूद्वितीयेन देव्याः पुत्रकेण।

रामः—विजयतामायुष्मान् ।

सीता—अह्महे ! ईदिसो मे पुत्तओ संवुत्तो ! [अहो ! इदृशी मे पुत्रकः संवृत्तः ?]

हिन्दी—

सीता—आर्यपुत्र के ये गम्भीर हृदय से प्रेम प्रदर्शित करने वाले तथा आनन्द बरसाने वाले सुधामय प्रलाप है। मैं तो (इन वचनों के) विश्वास से यह समझती हूँ कि अकारण परित्याग के शल्य से विद्ध होने पर भी मेरा जन्म सफल है।

राम—अथवा (यहाँ) प्रियतमा कहाँ से आई ? निश्चय ही निरन्तर सीता-विषयक चिन्तन के अभ्यास से जन्य यह राम का (मेरा) भ्रम है।

(नेपथ्य में)

ओह ! महान् प्रमाद ! महान् प्रमाद ! ("सीता देव्या" इत्यादि (३/६) श्लोक का पूर्वार्ध (वासन्ती के द्वारा) पढ़ा जाता है।)

राम—(करुणा और उत्कण्ठा के साथ) उसका क्या हुआ ?

(पुनः नेपथ्य में)

("बध्वा सार्धम्—इत्यादि उत्तरार्द्ध पढ़ा जाता है।)

सीता—उससे इस समय कौन लड़ रहा है ?

राम—वह दुरात्मा कहाँ हैं जो कि प्रिया (सीता) के सपत्नीक पुत्र पर आक्रमण कर रहा है ? [उठ जाते हैं ?]

[प्रवेशकर]

वासन्ती—(घबराई हुई) महाराज शीघ्रता कीजिये।

सीता—हा, क्या, मेरी प्रियसखि वासन्ती है ?

वासन्ती—महाराज ! शीघ्रता कीजिये, शीघ्रता कीजिये। यहाँ से 'जटायु-शिखर' के दायीं ओर 'सीता-तीर्थ' से गोदावरी में उतर कर आप देवी (सीता) के पुत्र को बचाइये।

सीता—हा ! तात जटायु ! तुम्हारे बिना यह जनस्थान शून्य है।

राम—अहह ! ये बीती हुई बातें हृदय-विदारक हैं।

वासन्ती—महाराज ! इधर से, इधर से।

सीता—भगवति ! सचमुच वनदेवी भी मुझ नहीं, देख रही हैं।

तमसा—बेटी ! गंगा जी का प्रभाव सब देवताओं से बढ़ा हुआ है। फिर किस लिए शङ्का कर रही हो ? [घूमती है।]

सीता—तब हम इनका अनुसरण करें।

राम—(घूमकर) भगवति ? गोदावरी ! नमस्ते।

वासन्ती—(देखकर) महाराज ! (सीता) के विजयी, सपत्नीक पुत्र (के दर्शन) से आप प्रसन्न हों।

राम—चिरञ्जीव विजयी हो।

सीता—ओह ! मेरा पुत्र ऐसा (इतना बड़ा) हो गया है !

संस्कृता-व्याख्या

भगवतो रामस्य स्नेहमयं वचनं श्रुत्वा विकला सती सीता प्राह—एदेक्खु इति। आर्यपुत्रस्यामी उल्लापाः=वियोगभरिता विलापाः, अगाधमानसेन दर्शितः=प्रदर्शितः स्नेहस्य सम्भारः=समूहो यैस्तथाविधाः आनन्दरसस्यन्दिनः, सुधा मया इव सन्ति। एतेषां वचनानां श्रवणेन आर्यपुत्रस्य मानसिक-स्नेहः, आनन्दातिरेकश्च प्रतीयते, इति भावः।

अहन्तु सम्प्रति प्रत्ययेन=आर्यपुत्रवचनानां विश्वासेन एवं जानामि यद् निष्कारण-परित्यागेन मम जन्म-लाभः शल्य-युक्तः सम्भवत् इदानीञ्च साधुजन्मास्मीति विश्वसिमि।

पुनरपि सीतामपश्यन् रामः प्राह—अथवेति। अथवा, अत्र प्रियतमा कुतः सम्भवति ? यद्यभविष्यत्तदा कथन्नाद्रक्ष्यत् ? तर्हि किमेतदित्याह—नूनं सर्वदा सीता-विषयक—सङ्कल्प-कल्पना-वशादयं रामस्य भ्रम एव। संकल्पानाम् तद्गतचिन्ता—सन्तानानामभ्यासः=भूयो भूयोऽनुसन्धानम्, तस्य पाटवं=पटुतैवोपादानं=कारणं यस्मिन् सः, इति। मुहुर्मुहुः सीतायाश्चिन्तनेन सीतामयी भावना तदाकारेणैव परिणतेति तत्वम्।

"जटायु-शिखरस्य दक्षिणदिशि सीता-तीर्थेन गोदावरीमवतीर्य देव्याः पुत्रकं सम्भावयतु देवः" इति वासन्ती-वचनं श्रुत्वा, सीता-रामौ पृथक्-पृथक् परिखिन्नौ। तत्र सीता प्राह—

हा ताद-इति। त्वां विना जनस्थानं शून्यमिवाभिभाति। मन्ये, जनस्थानस्य परा सम्पत्तिस्त्वमेवासीः, इति भावः।

रामोऽप्याह—अहह-इति। अमी=एते कथोद्घाताः=गीता, जटायु-प्रभृतीनां पूर्वतनकथानामुद्घाताः कथनानि, हृदयस्य मर्म=कोमलस्थानं, छिन्दन्ति। एतेषां शब्दानां श्रवणेनैव हृदये महती वेदना प्रादुर्भवतीति हृदयम्।

सत्यमेव वनदेवतापि मां न पश्यति ? सीता वचनं निशम्य तमसा गंगादेव्या माहात्म्यं प्रकाशयितुमाह—अयि वत्से ! इति। वत्से ! सर्वाभ्योऽपि देवीभ्यो गङ्गायाः ऐश्वर्यं प्रकृष्टतममस्ति त्वं किमिति तद्वचसि मुधा शङ्का करोषीति भावः।

टिप्पणी

(१) अगाधमानसंदर्शितस्नेहसम्भाराः=अगाधः मानसे दर्शितः स्नेहसम्भारः येषु ते। पाठा०, "अगाधदर्शितस्नेहसम्भाराः" (अगाधदंसितसिणेहसम्भारा) अगाधश्च दर्शितश्च स्नेहसम्भारः येषु ते। सम्भारः=सम्+$\sqrt{}$भृ+घञ् भावे।

(२) सुधामयाः—पाठा०, "श्रुता मया" (सुदा मए)। (३) निष्कारणपरि-

त्यागशल्यितः—शल्य + इतच् = शल्यितः 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्" (पा०, ५/२/३६)।

पाठा०……"शल्यतः"। घनश्याम पण्डित ने यही पाठ मानकर टीका की है—"शल्यतः शल्यादपि। तथा च ईदृशशल्यनिवारणाय शरीरपातोऽस्तु एतादृशप्रियंवदनाथोपभोगाय पुनर्जन्मलाभोऽस्त्विति सीताया भाव इति बोध्यम्।"

(४) **सङ्कल्पाभ्यासपाटवोपादानः**–संकल्पस्य अभ्यासः, तस्मिन् पाटवं (कौशलं) उपादानं (कारणं) यस्य सः। पाठा०, १. "सङ्कल्पावभासपाटवोपादानः"। घनश्याम ने यही पाठ स्वीकार किया है। "सङ्कल्पस्यावभासे (भासने यत् पाटवं) (सामर्थ्यं) तदेवोपादानं (साधकतमं) यस्य। करणं साधकतमोपादाने' इति विक्रमार्कः।" पाठा०, २. 'सङ्कल्पाभ्यासपाटवोत्पादितः' ३. "पाटवोत्पादः"। (५) **जटायुशिखरस्यदक्षिणेन** पाठा०, १. जटायुशिखरदक्षिणेन, २. जटायुगिरिशिखरस्य दक्षिणेन। 'जटायु' और 'जटायुस्"—दोनों रूप बनते हैं—'जटायुस्तु जटायुवत्" इति लिङ्गनिर्णय। (६) **पुत्रकम्**—अनुकम्पितः पुत्रः पुत्रकस्तम्। "अनुकम्पायाम्" (पा० ५/३/७६) इति पुत्रशब्दात् कन् (७) **कथोद्घताः**—"उद्घात आरम्भः" इत्यमरः। उद् + √हन् + घञ् भावे उद्घातः। (८) **हृदयमर्मच्छिदः**—पाठा०, "हृदयमर्माविधः" हृदयमर्माणि विध्यतीति—मर्माविध्।। मर्म + क्विप्। नहि। वृत्ति-वृषि-व्यधि रुचिसहि तनुषु क्वौ" [पा० ६/३/४६१] इति दीर्घत्वम्। (९) **विजयतामायुष्मान्**—"विपराभ्यां जेः" इत्यात्मनेपदत्त्वम्।

रामः—हा देवि! दिष्टया वर्धसे।

> येनोद्गच्छद्बिसकिसलयस्निग्धदन्ताङ्कुरेण,
> व्याकृष्टस्ते सुतनु! लवलीपल्लवः कर्णमूलात्।
> सोऽयं पुत्रस्तव मदमुचां वारणानां विजेता,
> यत्कल्याणं वयसि तरुणे भाजनं तस्य जातः॥१५॥

[अन्वयः—हे सुतनु! उद्गच्छद्बिसकिसलयस्निग्धदन्ताङ्कुरेण, येन, ते कर्णमूलात् लवलीपल्लवः, व्याकृष्टः, सोऽयम्, तव पुत्रः, मदमुचां वारणानां, विजेता (सन्), तरुणे वयसि, यत् कल्याणं, तस्य भाजनं जातः॥१५॥]

सीता—अविउत्तो दाणिं दीहाऊ इमाए सोह्मदंसणाए होदु [अवियुक्त इदानीं दीर्घायुरनया सौम्यदर्शनया भवतु।]

हिन्दी—

राम—हा देवि! सौभाग्य से बढ़ रही हो! (तुम्हें बधाई है!)

[श्लोक १५]—सुन्दरि! जो (पहले) अपने उगते हुए मृणाल-किसलय के समान स्निग्ध दाँत से तुम्हारे कर्णमूल से 'लवली'—लता का पत्ता खींच लिया करता था; वही तुम्हारा पुत्र अब मद-मत्त-मतङ्गों का विजेता होकर, युवावस्था का जो सुख

होता है, उसका भाजन बन रहा है।

सीता—अब यह दीर्घायु अपनी इस प्रियदर्शना पत्नी से विमुक्त न हो! (इसी के साथ रहे!)

संस्कृत-व्याख्या

तत्रभवान् रामो गजपुत्रं वधूसहितमवलोक्य सीतां वर्धापयन्नाह—येनोद्गच्छ-दिति।

हा देवि! दिष्टया-- सौभाग्येन, वर्धसे। यतोऽयं करि-कलभस्त्वया पोषितो-ऽद्यैदृशः संजातः इति। उद्गच्छत्=उद्भवन—उत्पद्यमानः इति यावत् यो विस-किसलयः—कमलनाल-पत्रम्, तद्वत् स्निग्धः=चिक्कणः दन्तस्याङ्कुरो यस्य तेन, येन तव पुत्रेण सुतनु !=सुन्दरि! तव कर्णमूलात् लवली-लतायाः पल्लवः पूर्वं माकृष्टः, स एवायं तव पुत्रः (समदानां वारणानां=गजानां विजेता, तरुणे वयसि=युवावस्थायां तत् कल्याणं=सुखं भवति, तस्य भाजनं जातः। यौवने प्रबलाशक्तिः, वधू साहाय्यञ्च अपेक्षितं भवति, अयमपि तथा संजातः, इति भावः।

अत्रोपमाऽलङ्कारः। मन्दाक्रान्ता च्छन्दः ॥१५॥

टिप्पणी

(१) हा देवि! दिष्टया वर्धसे—पाठा०, "देवि! दिष्ट्या—"। 'दिष्टि' का प्रयोग हर्ष अथवा सौभाग्य के अर्थ में होता है—"दिष्टिरानन्दे माने च"—इति हैमः। "दिष्ट्या हर्षे मङ्गले च" इति मेदिनी। दिष्ट शब्द का तृतीयान्त रूप 'दिष्ट्या' मानने पर "हेतौ"—नियमानुसार हेतु में तृतीया होगी वैसे "दिष्ट्या" भाग्य अथवा हर्ष-सूचक अव्यय भी है जैसा कि ऊपर मेदिनी कोष से स्पष्ट है।

श्रीरामजी के इस कथन का अभिप्राय है कि मैं तो तुम्हें कुछ सुख न दे सका (मैंने तो तुम्हारे सौख्य में कुछ वृद्धि नहीं की) किन्तु भाग्य तुम पर फिर भी अनुकूल है जो तुम्हें पुत्र-सुख दिया है।

इस हाथी के बच्चे की कथा को अवतरित करने में कवि का उद्देश्य लव-कुश की ओर संकेत करना है जैसा कि आगे होगा—यादृशोऽयं तादृशौ तावपि।"

(२) उद्गच्छद्विसकिसलयस्निग्धदन्ताङ्कुरेण—उद्गच्छत् विसकिसलयवत् स्निग्धः दन्ताङ्कुरो यस्य तेन। अथवा "उद्गच्छत् उदयच्च तत् विसं तदेव किसलयं तद्वत् स्निग्धो मसृणः दन्ताङ्कुरः यस्य तेन। (३) कर्णमूलात्—पाठा०, 'कर्णपूरात्' (४) व्याकृष्टः—वि+आ√कृष्+क्त। (५) भाजनम्—"भाजनं" शब्द नित्यनपुंसक है। (६) अवियुक्तः—भवतु—सीता के इस कथन में उसकी वियोगानुभूति, परदुःख-कातरता आदि स्पष्ट झलकती है। वह देख चुकी है कि प्रिय से वियुक्त होने में कितना कष्ट होता है, इसलिए उसकी इच्छा है कि उसका पुत्र उसके साथ ही रहे। वियोगजन्य वह कष्ट जो उसे अथवा श्रीराम को उठाना पड़ रहा है, बच्चे को न उठाना पड़े।

रामः—सखि वासन्ति ! पश्य पश्य कान्तानुवृत्तिचातुर्यमपि शिक्षितं वत्सेन ।

लीलोत्खातमृणालकाण्डकवलच्छेदेषु संपादिताः,
पुष्यत्पुष्करवासितस्य पयसो गण्डूषसंक्रान्तयः ।
सेकः शीकरिणा करेण विहितः कामं विरामे पुन-
र्यत्स्नेहादनरालनालनलिनीपत्रातपत्रं धृतम् ॥१६॥

अन्वयः—यत्, स्नेहात्, लीलोत्खातमृणालकाण्डकवलच्छेदेषु, पुष्यत्पुष्कर॰ वासितस्य पयसः, गण्डूषसंक्रान्तयः सम्पादिताः, शीकरिणा करेण, कामं, सेकः, विहितः पुनः, विरामे, अनरालनालनलिनीपत्रातपत्रम्, धृतम्॥१६॥

हिन्दी—

राम—सखि ! वासन्ति ! देखो, देखो ! प्रियतमा को प्रसन्न करने की कला भी (इस) बच्चे ने सीख ली है ।

[श्लोक १६] (पहले तो इसने) लीलापूर्वक उखाड़े गये मृणालदण्ड के ग्रासों की समाप्ति पर, विकसित कमलों से सुवासित जल को (अपने) मुख में भर कर (अपनी प्रियतमा के मुख में) छोड़ा (पिलाया) । तदनन्तर जलपूर्ण सूंड से उसे पर्याप्त सिक्त भी किया—(नहलाया) और अन्त में, बड़े स्नेह से एक सीधी नाल वाले कमल के पत्ते के छत्र को उसके ऊपर तान दिया ।

[भावार्थ]—देखो, पहले तो इसने खेल ही खेल में (अनायास) मृणालों को उखाड़कर उनके छोटे-छोटे ग्रास बनाकर अपनी प्रियतमा को खिलाये । फिर विकसित कमलों से सुवासित सरोवर के जल को अपने सूंड में भर कर उसे पिलाया । तदनन्तर अपने सूंड से जल की फुहारें छोड़कर उसे खूब स्नान कराया और अन्त में बड़े स्नेह से एक सीधी नाल वाले कमल-पत्र के छत्र को ऊपर तान दिया ।]

संस्कृत-व्याख्या

गज-कलभस्य स्वकान्तानुवृत्ति-चातुर्यमाख्यातुं रामो वासन्तीं प्रत्याह—लीलोत्खातेति ।

अयं करिवरपोतः स्वसहचरी-समाराधन-निपुणो जातः, तथाहि—यत् = यतः स्नेहात् लीलया = क्रीडयैव, क्लेशं विनैवेति यावत्, उत्खाताः = उत्पाटिताः ये मृणालानां काण्डाः बिस-स्तम्बाः तेषां कवलानां = ग्रासानां छेदेषु = शकलेषु, पुष्यन्ति = विकासं भजमानानि यानि पुष्कराणि = कमलानि, तैर्वासितं = सुगन्धितं, तस्य पयसः = जलस्य गण्डूषानां = मुखजलानां, संक्रान्तयः = प्रदानानि, सम्पादिताः = कृताः तथा शीकरिणा-जलकण-युक्तेन करेण—शुण्डादण्डेन कामं = पर्याप्तं यथा स्यात्तथा सेकः = जलेन सेकः विहितः = कृतः विरामे = अन्ते च पुनः अनरालम् = वक्रतारहितं, नालम् = दण्डो यस्य तत् एवंविधम् यत् नलिन्याः = कमलिन्याः पत्रं = कमल-दलम्, तदेवातपत्रम् = आतप-निवारणार्थं छत्रं धृतम् ।

अयमाशयः—यथा पुरुषा युवावस्थायां स्वपत्नीभिः सह-भोजन-पानादि-

सुखमनुभवन्ति, तथैवायमपि सुखमनुभवितुं तथा यतते। यथाहि—स्वशुण्डादण्डेन सहसा मृणालमुत्पाटयति, तेषां खण्डानि करोति, भोक्तुं तेषामुपरि स्वकरेण जलमादाय परिक्षिपति, येन सुवासितानि शीतलानि च तानि कमलनालशकलानि भोजने परमानन्दं जनयन्ति। ततश्च तस्याः=स्वपत्न्या उपरि पर्याप्तं जलं स्वहस्तेनैव निपातयति, अस्य व्यापारस्यान्ते च नलिनी-पत्रेणातप-निवारणं करोति। एवंविधेन मधुरेण व्यापारेण परस्परं मनसः सन्तर्पणं जायते। इति सरलोऽर्थः।

अत्र सम्भोग-शृङ्गारस्य तिर्यग्गनतत्वेन रसाभासता। गजानां स्वभाव-वर्णनाद् स्वभावोक्तिरलङ्कारः। नलिनी-पत्रे चातपत्रारोपणाद् रूपकालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥१६॥

टिप्पणी

(१) कान्तानुवृत्तिचातुर्यम्—सम्भवतः श्रीराम को यह दृश्य देखने से अपना भी स्मरण हो आया था। देखिये सीता का यह कथन—पश्यामि तावदार्यपुत्रस्वहस्तधृततालवृन्तातपत्रम् आत्मनः दक्षिणारण्यपथिकत्वम्।" (उत्तर०,१/२४ श्लोकान्तर)

(२) लीलोत्खात···—लीलया उत्खातानि मृणालकाण्डानि तेषां कवलाः तेषां छेदेषु (समाप्तिषु)। विद्यासागर ने छेद का अर्थ 'खण्ड' (अंश) लिया है—

"कवलच्छेदेषु ग्रासांशेषु" छेदो विभजने भङ्गव्यययोः"=इति मुकुटः।

(३) सम्पादिताः—पाठा० 'सम्पातिताः"। (४) पुष्यत्पुष्करवासितस्य—पाठा०, 'पुष्यत्···०"। पुष्यत् पुष्करं (पद्म) तेन वासितस्य। अथवा पुष्यत् पुष्करं (करिहस्ताग्रं) तस्मिन् वासितस्य। (५) अनरालनाल ··—अनरालं (अवक्रं) नालं (कमलदण्डः) यस्य तत् नलिनीपत्रम्; तदेवातपत्रम् (छत्रं) तत्। (६) यह पद्य मालतीमाधव के ९ वें अङ्क में ३४ संख्या पर भी आया है। वहाँ 'यत' के स्थान पर 'न'। (७) स्वाभाविक वर्णन दर्शनीय है।

सीता—भअरवदि तमसे! अयं दाव ईरिसो जादो। दे उण ण आणामि, एत्तिएण कालेण कुसलवा कीरिसा संवुत्तेत्ति! [भगवत्ति तमसे! अय तावदृशो जातः। तौ पुनर्न जानाम्येतावता कालेन कुशलवौ कीदृशौ संवृत्ताविति!]

तमसा—यादृशोऽयं, तादृशौ तावपि।

सीता—ईरिसह्मि मन्दभाइणी, जाए ण केवलं अज्जउत्तविरहो पुत्तविरहो वि। [ईदृश्यस्मि मन्दभागिनी, यस्याः न केवलमार्यपुत्रविरहः, पुत्रविरहोऽपि।]

तमसा—भवितव्यतेयमीदृशी।

सीता—किंवा मए पसूदाए? जेण एआरिसं मह पुत्तआणं ईसिविरलधवलदसणकुड्मलुज्जलं, अणुबद्धमुद्धकाअलीविहसिदं, णिच्चुज्जलं, मुहपुण्डरीअजुअलं ण परिचुम्बिअं अज्जउत्तेण। [किं वा मया प्रसूतया? येनै तादृशं मम पुत्रकयोरीषद्विरलधवलदशनकुड्मलोज्ज्वलमनुबद्धमुग्धकाकलीविहसितं नित्योज्ज्वल मुखपुण्डरीकयुगलं न परिचुम्बितमार्यपुत्रेण]

तमसा—अस्तु देवताप्रसादात् ।

सीता—भअवदि तमसे ! एदिणा अवच्चसंसुमरणेण उस्ससिदपण्हुदत्थणी दाणिं वच्चाणं पिदुणो संणिहाणेन खणमेत्तं संसारिणी संवुत्तह्मि । [भगवति तमसे ! एतेनापत्यसंस्मरणेनोच्छ्वसितप्रस्नुतस्तनी इदानीं वत्सयोः पितुः सन्निधानेन क्षणमात्रं संसारिणी संवृत्तास्मि ।]

तमसा—किमत्रोच्यते ? प्रसवः खलु प्रकृष्टपर्यन्तः स्नेहस्य । परं चैतदन्योन्यसंश्लेषणं पित्रोः ।

अन्तःकरणतत्त्वस्य, दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात् ।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति पठ्यते ॥१७॥

अन्वयः—दम्पत्योः, अन्तःकरणतत्त्वस्य स्नेहसंश्रयात्, अयमेव, एकः आनन्दग्रन्थिः, 'अपत्यम्' इति पठ्यते ॥१७॥

हिन्दी—

सीता—भगवति तमसे ! यह तो ऐसा (इतना बड़ा) हो गया है; और न जाने, इतने दिनों में वे कुश और लव (कितने बड़े) हो गये (होंगे) ।

तमसा—जैसा यह है, वैसे ही वे भी (होंगे) ।

सीता—'मैं ऐसी मन्दभागिनी हूँ जिसे न केवल पति का ही विरह है अपितु पुत्रों का भी विरह है ।

तमसा—यह होनहार ही ऐसी है ।

सीता—मेरे पुत्र उत्पन्न करने से क्या लाभ है ! जिससे मेरे पुत्रों के छोटे-छोटे, श्वेत कलिकाओं के सदृश दाँतों से उज्जवल निरन्तर, मनोहर और कल हास्य से युक्त मुख-कमल को आर्यपुत्र ने नहीं चूमा ।

तमसा—देवताओं की कृपा से ऐसा ही हो !

सीता—भगवति तमसे ! इस सन्तान स्मरण से मेरे फड़कते हुए स्तनों से दूध बहने लगा है और इस समय बालकों के पिता (राम) के सान्निध्य से क्षणभर के लिए मैं संसारिणी हो गई हूँ !

तमसा—इस विषय में क्या कहना है ? सन्तान 'स्नेह की चरमसीमा' है । और माता-पिता के हृदय की संयोजन-ग्रन्थि है ।

[श्लोक १७] स्नेह का आश्रय ग्रहण करने से दम्पति के अन्तःकरण में रहने वाले 'आनन्द' (नामक तत्त्व) की एकमात्र 'ग्रन्थि' को (ही) 'सन्तान' कहते हैं । [अर्थात् पति-पत्नी के स्नेह-युक्त हृदयों को एक बन्धन में बाँधने वाली ग्रन्थि तथा हृदय में बिखरे हुए प्रेमकणों के मूर्त रूप को ही 'सन्तान' कहते ।]

संस्कृत-व्याख्या

"पुत्रयोर्मुखमार्यपुत्रेण न परिचुम्बित"मिति खिन्ना सीता देवी तमसां प्रत्याह—

'—किं वा इति । मम पुत्रोत्पत्त्याः को लाभः ? ययोः मुखकमलमपि किञ्चिद्विरल-श्वेतदन्तकुड्मलोपेतम्, निरन्तरकाकलीयुक्तम्, अतिमधुरम्, सततोज्ज्वलम्, आर्यपुत्रेण न परिचुम्बितम् ! पत्या पुत्र-मुख-परिचुम्बनमेव पत्नी-प्रसादकमिति भावः ।

तथा परिसन्तप्तां सीतामाश्वासयितुमाह तमसा—अस्तु इति । देवतानां गङ्गा-पृथिव्यादीनां प्रसादात् एवमस्त्विति ममाशीर्वादः । नियति-नियोग एतादृश एवासीद्, यद्वशात्त्वया पति पुत्र-विरहः समनुभूतः । ननु तत्र रामभद्रस्यान्यस्य वा कस्यचिद-पराधः । स्वकर्मणः फलन्तु सर्वैरपि भोक्तव्यमेव, परं शीघ्रमेव वियोगः संयोगे परिणतो भविष्यत्येवेति शुभाशीर्वादरूपेण प्रतिपादितमिति सारः ।

अहमिदानीमात्मनः पुत्रयोः स्मरणेनार्यपुत्रस्य सामीप्याच्च क्षणं संसारिणी संवृत्तेति प्राह सीता—भअवदि इति । अपत्यस्य = पुत्रयोः, उच्छ्वसितौ = परिकम्पितौ, प्रस्नुतौ = क्षरत्क्षीरौ स्तनौ यस्याः सा । दुर्दैव—वशात् पति-पुत्र-सुखं मया न'नुभूतम्, क्षणमात्रमद्यैवासौ समयः समायातः इति भावः ।

सन्तानस्य स्मरणेनेदं समुचितमेव सञ्जातमिति 'अपत्यस्य' माहात्म्यं प्रकट-यितुमुपक्रमते तमसा—किमत्रेति । अत्र विषये किम् वक्तव्यम् ? प्रसवः = अपत्यं हि नाम, स्नेहस्य = वात्सल्यस्य, प्रकृष्टपर्यन्तः = पराकाष्ठा । परञ्च = अपि च, 'अपत्यं' माता = पित्रोः, अन्योन्यसंश्लेषणम् = परस्परचित्तबन्धनम् । सन्तति विलोक्य जननी-जनकश्चातितमामनुरज्येते । ततश्च कुश-लवयोः स्मरणेन 'संसारिणी' संजातेति-युक्तमेवोक्तं भवत्येति भावः । परमप्रेमसम्पन्नयोरपि दम्पत्योः सन्तानाभावे मनसि विरक्तिः संजायते सांसारिकसुखेषु, तयोश्चित्तावरोधकमपत्यमेव भवतीति परम-तत्त्वम् ।

एतदेव समर्थयते—अन्तः इति ।

स्नेहस्य समाश्रयणादेव, दम्पत्योः = पति-पत्न्योः (जाया च पतिश्च, तौ दम्पती, "जायाया दम्भावो जम्भावश्च वा निपात्यते" इति नियमात् 'जाया' शब्दस्य 'दम'—देशो निपातनात् ।) हृदये वर्तमानस्य तत्वस्य आनन्दस्यैको ग्रन्थिरेव 'अपत्यम्' इति पठ्यते ।

[अत्रेदं परमरहस्यम्—'स्नेहो' हि 'चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः' स्नेहः, इति लक्षण-लक्षितो भवति ततश्च दम्पत्योर्हृदये विकीर्ण इवानन्द, एकत्र "ग्रन्थि"—रूपतामादधदपत्यमेव कथ्यते । 'अपत्य'मिति हि—'न पतति वंशो येन तत्," इति व्युत्पत्त्या सिध्यति ।

अन्तःकरणानि च-मनः, बुद्धिः, अहंङ्कारः इति त्रिविधानि सांख्यसिद्धान्ते । 'चित्तं' सहितानि चत्वार्येतानि वेदान्त-सिद्धान्ते निरुच्यन्ते । इति । आनन्दग्रन्थेः अपत्यरूपे परिणमनात् परिणामाऽलङ्कारः तल्लक्षणञ्च यथा—

"विषयात्मतयारोप्ये, प्रकृतार्थोपयोगिनी ।
परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा ॥" इति ।

अनुष्टुप् च्छन्दः ॥१७॥

टिप्पणी

(१) कीदृशौ संवृत्ताविति—(कीरिसा संवुत्तेत्ति)—पाठा०, कीदृशाविव भवतः (कीदिसा विअ होन्ति)। सुतनिर्विशेष करिकलभ के दर्शन से अपने बच्चों का ध्यान हो आना स्वाभाविक ही है। (२) ईदृश्यस्मि…विरहोऽपि—सीता के इस कथन में कितनी मार्मिकता है! ऐसे संवाद भी कवि की उन विशेषताओं में से अन्यतम हैं जिनके आधार पर 'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते' कहा गया है। (३) भवितव्यता—√भु + तव्य कर्तरि बाहुलकात् = भवितव्यम्। तस्य भावः भवितव्यता। भवितव्य + तल्। (४) ईषद्विरलधवलदशनकुड्मलोज्ज्वलम्—पाठा०, 'ईषद्विरलकोमलधवलदशनोज्ज्वलकपोलम्।' ईषद् विरलैः धवलैः दशनैरेव कुड्मलैरुज्ज्वलम्। पाठा०—"ईषद्विरलाः कोमलाः धवलाश्च दशनास्तैः उज्ज्वलौ कपोलौ यस्य।" घाटे शास्त्री इस प्रकार विग्रह करते हैं—"…दसनाश्च उज्ज्वलौ कपोलौ च यस्मिन् तत्। (५) अनुबद्धमुग्धकाकलीविहसितम्—अनुबद्धे मुग्धे काकलीविहसिते यस्मिन् तत्। अथवा अनुबद्धं काकलीविहसितं यस्मिन्। "काकली तु कले सूक्ष्मे ध्वनौ"—इत्यमरः। (६) नित्योज्ज्वलम्—पाठा०, 'निबद्धकाकशिखण्डकम्'। निबद्धःकाकशिखण्डकः यस्मिन्। (७) भावसाम्य के लिये देखिये—

"आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै-
रव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो,
धन्यास्तदङ्करजसा मलिनीभवन्ति ॥ (अभिज्ञान० ७/१७)

(८) अन्तःकरण…आदि श्लोक में सन्तान की क्या ही भव्य परिभाषा दी गई है।

वासन्ती—इतोऽपि देवः पश्यतु।

अनुदिवसमवर्धयत्प्रिया ते,
यमचिरनिर्गतमुग्धलोलबर्हम्।
मणिमुकुट इवोच्छिखः कदम्बे,
नदति स एष वधूसखः शिखण्डी ॥१८॥

[अन्वयः—अचिरनिर्गतमुग्धलोलबर्हम्, यं, ते प्रिया, अनुदिवसम्, अवर्धयत्, स एष, शिखण्डी, वधूसखः (सन्) कदम्बे, उच्छिखः मणिमुकुटः, इव नदति ॥१८॥]

सीता—(सकौतुकस्नेहास्रम्) एसो सो। [एषः सः ?]

रामः—मोदस्व वत्स! वयमद्य वर्धामहे।

सीता—एव्वं होदु। [एवं भवतु।]

हिन्दी—

वासन्ती—महाराज! इधर भी देखें—

[श्लोक १८] नये निकले हुए सुन्दर और चञ्चल पंखों वाले जिस मयूर को आपकी प्रिय (सीता) ने प्रतिदिन पाला था, वह अब कदम्ब के वृक्ष पर अपनी पत्नी के साथ ऊँची कलंगी से युक्त (अथवा—ऊपर को फैलाने वाली किरणों से युक्त। 'मणिमुकुट' का विशेषण) होकर कूक रहा है।

संस्कृत-व्याख्या

वासन्ती रामं मयूरं निरीक्षितुं प्रेरयति—अनुदिवसमिति। अयं स पर्वतीयो मयूरः, यम् अचिरम्=सद्यः विनिर्गतं मुग्धं=मनोहरम् लोलं=चञ्चलम्, बर्हं=पुच्छं यस्य तम्, यस्य पुच्छं नवीनमेवोद्गतमिति यावत्! तव प्रिया सीता प्रतिदिवसं परिपोषितवती। अधुना सोऽपि शिखण्डी=मयूरः उत्कृष्टा शिखा यस्य स मणिजटितमुकुट इव स्ववधूसहितः कदम्बवृक्षस्योपरि नदति=अव्यक्तस्वरेण केकारवं करोति। यस्य परिपालनं सीतादेव्या कृतम्, सोऽपि वधूसखः सम्प्रति संसारसुखमनुभवति। नारीं विना संसारयात्रा निष्फला भवतीति सर्वेऽपि प्राणिनः सपत्नीका अत्र वनेऽपि, विद्यन्ते केवलं राम एव सीताया रहितः। इति सर्वोऽपि वृत्तान्तसार्थः सन्ततप्तयोः सीतारामयोः सन्तापकः एवेति प्रदर्शयितुमेव कवेरयं प्रयासः। सन्तापानन्तरमेव च संयोगस्यानन्दप्रदत्वं भविष्यतीति हृदयम्।

अत्र उपमा अलङ्कारः। पुष्पिताग्रा छन्दः। तल्लक्षणञ्च यथा—

"अयुजि नयुगरेफतो यकारो,
युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा॥" इति।

माधुर्यमत्र गुणः। वैदर्भी रीतिः॥८॥

टिप्पणी

(१) अनुदिवसम्—दिवसे दिवसे—इति अनुदिवसम्। 'अव्ययं विभक्ति' से अव्ययीभाव समास। प्रथम तथा द्वितीय पंक्ति का पाठान्तर यह भी मिलता है—

"अतरुणमदताण्डवोत्सवान्तेष्वयमचिरोद्गतमुग्धलोलबर्हः।"

किन्तु यह पाठ हृद्य नहीं है। यहाँ 'अतरुण' शब्द कोई विशिष्ट अभिप्राय नहीं रखता जब तक कि उसकी इस प्रकार व्याख्या न की जाय—'नास्ति तरुणो यस्मात्स तथा गुरुरित्यर्थः मदः, तेन ताण्डवं, तस्य उत्सवः तस्य अन्तः, तेषु एष सः।

(२) अचिरनिर्गतलोलमुग्धबर्हम्—अचिरं निर्गतं मुग्धं (मनोहरं) लोलं (चञ्चलं) बर्हं यस्य तम्। पिच्छबर्हे 'नपुंसके'—इत्यमरः।

(३) उच्छिखः—उद्गता शिखा यस्य सः।

(४) वधूसखः—वध्वाः सखा वधूसखः। 'राजाहःसखिभ्यष्टच् (पा० ५/४/९/१) इति टच्।

रामः—

भ्रमिषु कृतपुटान्तर्मण्डलावृत्तिचक्षुः,
प्रचलितचटुलभ्रूताण्डवैर्मण्डयन्त्या ।
करकिसलयतालैर्मुग्धया नर्त्यमानं,
सुतमिव मनसा त्वां वत्सलेन स्मरामि ॥१९॥

[अन्वयः—भ्रमिषु, कृतपुटान्तर्मण्डलावृत्तिचक्षुः, प्रचलितचटुलभ्रूताण्डवैः, मण्डयन्त्या, मुग्धया, करकिसलयतालैः, नर्त्यमानं, त्वां सुतमिव, वत्सलेन मनसा, स्वरामि ॥१९॥]

हन्त, तिर्यञ्चोऽपि परिचयमनुरुन्धन्ते ।

कतिपयकुसुमोद्गमः कदम्बः,
प्रियतमया परिवर्धितोऽयमासीत् ।

सीता—(सास्रम्) सुट्ठु पच्चहिआणिदं अज्जउत्तेण । [सुष्ठु प्रत्यभिज्ञातमार्यपुत्रेण ।]

रामः—

स्मरति गिरिमयूर एष देव्याः,
स्वजन इवात्र यतः प्रमोदमेति ॥२०॥

वासन्ती—अत्र तावदासनपरिग्रहं करोतु देवः ।

(राम उपविशति)

हिन्दी—

राम—[श्लोक १९] (मयूर ! तुम्हारे) चक्कर लगा-लगा कर घूमने पर, (अपाङ्ग देश के) अन्दर ही अन्दर घूमने वाले नेत्रों को चञ्चल एवं सविलास भौंहों के नृत्यों से ही विभूषित करती हुई उस मुग्धा के द्वारा कर-पल्लवों की तालियों से नचाये जाते हुए तुम्हारा पुत्र की भाँति, मैं स्नेहपूर्ण मन से स्मरण करता हूँ ।

[भावार्थ—मयूर ! जब प्रियतमा कर-किसलयों द्वारा ताल देकर तुम्हे नचाया करती थी तब तुम जैसे-जैसे चारों ओर गोलाकार घूमते थे, वैसे ही वैसे उसके नेत्र भी अन्दर ही अन्दर घूमते थे । भौहों के इस निपुण नृत्य से उनकी बड़ी शोभा होती थी । आज उन बातों को याद कर प्रेमपूर्ण मन से पुत्र की भाँति मैं तुम्हारा स्मरण करता हूँ ।]

वाह ! पशु-पक्षी भी परिचय (का ध्यान) रखते हैं ।

[श्लोक २०] "प्रियतमा ने कुछ कलियों से युक्त जिस कदम्ब को (जलदानादि से) बड़ा किया था··· ।"

सीता—(आँखों में आँसू भरकर) आर्यपुत्र ने बहुत ठीक पहचाना ।

राम—"···(उस पर बैठकर) यह पहाड़ी मोर देवी को याद कर रहा है, क्योंकि इस पर यह स्वजन की भाँति आनन्द प्राप्त कर रहा है ।"

वासन्ती—महाराज ! तब तक यहाँ आसन ग्रहण कीजिये ।

[राम बैठ जाते हैं ।]

संस्कृत-व्याख्या

वधूसखं नृत्यन्तं मयूरमालोक्य सानन्दमाह रामः—भ्रमिषु इति ।

अयमाशयः—सीता करतालं वादयन्ती सती मयूरं नर्तयति स्म। यथा यथा च मयूरः परितो भ्रमणं करोति स्म तथैव सापि स्वकीयं नेत्रं नेत्रपुटयोरन्तश्चालयति स्म । एवञ्चाधुनापि सुतमिमं मत्वा प्रीतियुक्तेन मनसा प्राक्तनीं दशां च स्मृत्वा हर्ष-विषादयोः प्रवाहे सन्तरणं करोमीति रामस्य भावः ।

कठिनपदानां व्याख्या चाधो दीयते, श्लोकाशयस्तूपरि दत्त एव ।

भ्रमिषु—भ्रमणेषु, कृता=सम्पादिता, पुटयोः=लोचनावरणयोः, अन्तः= मध्यभागे, मण्डलावृत्ति=मण्डलाकारेण आवर्तते=भ्रमतीति तथा चक्षुः=नेत्रम्, प्रचलिते=प्रकर्षेण चलिते अतिचञ्चले इति यावत्, चटुले=स्वभावेनैव चपले ये भ्रुवौ, तयोस्ताण्डवैः=नर्तनैः, मण्डयन्त्या=अलंकुर्वन्त्या, मुग्धया=मनोहरया, सीतया, कर-किसलययोस्तालैः नर्त्यमानं=नर्तनपरायणं क्रियमाणम्, त्वाम्=मयूरं, सुतमिव=पुत्रमिव, वत्सलेन=प्रीतिसहितेन, मनसा=चित्तेन, स्मरामि=ध्यायामि ।

अत्र उपमा अलङ्कार. । मालिनीच्छन्दः ॥१९॥

रामः सहर्षं मयूर-वृत्तान्तं निरीक्ष्य प्राह—कतिपयेति ।

हन्त ! पशु-पक्षिणोऽपि स्वकीयं परकीयं वेति परिचयं प्राप्नुवन्ति; तथाहि—एष पुरो दृश्यमानः कदम्बपादपः कतिपयकुसुमैरुपेतो यदासीत् अयञ्च सीतादेव्या स्वयमेव जलदानादिना पोषितः, [रामवचनमाकर्ण्य सीता प्राह—सुष्ठु प्रत्यभिज्ञातं= परिज्ञातम्, आर्यपुत्रेण, इति] पुनरपि रामः प्राह—एष गिरिमयूरस्तामेव सीतां संस्मरति, यतोऽस्मिन् स्वजने इव प्रमोदम्=आनन्दम् एति=प्राप्नोति । सर्वेऽपि प्राणिनः स्वजनं परिचिन्वन्त्येवेति भावः ।

अत्र उपमा अलङ्कारः । पुष्पिताग्रा च्छन्दः । प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः ॥२०॥

टिप्पणी

(१) पाठान्तर—'मण्डलावृत्तिचक्षुः' के स्थान पर 'मण्डलावृत्तचक्षुः' ।

(२) कृतपुटान्त···—घनश्याम पण्डित ने 'कृत=ताण्डवैः' को पद माना है । इसका विग्रह इस प्रकार होगा 'भ्रमिषु (भ्रमणेषु) कृताः पुटस्य अन्ते (नेत्रकोशान्तरे) या मण्डलायाम् (मण्डलाकारेङ्गितानां) आवृत्तयः याभ्याम् ते चक्षुषी, प्रचलिते चटुले (चतुरे इति पाठा०) ये भ्रुवौ, तयोः ताण्डवानि च तैः । '(···वृत्तिचक्षुषी च··· ताण्डवानि च तैः ।)

विद्यासागर ने इसके तीन खण्ड किये हैं—१. 'कृत···वृत्ति', २. 'चक्षुः' एवं ३. प्रचलित ताण्डवैः' । यह सरल पाठ है । पहला पद 'चक्षुः' का विशेषण है जो कि 'मण्डयन्त्या' का कर्म है । कृता पुटान्ते मण्डलाकाराः आवृत्तयः (मण्डलावृत्तिः) येन तत् चक्षुः । ···पाठा०, वृत्त' । कृतं पुटस्यान्तः मण्डलावृत्तम् येन तत् कृतपुटान्त-मंण्डलावृत्तचक्षुः । ऐसी दशा में दो खण्ड होंगे—पहला चक्षुपर्यन्त और दूसरा 'मण्डलैः' पर्यन्त ।

(३) करकिसलयतालैः—करौ किसलये इव तयोस्तालाः तैः। 'तालः कालक्रियमानम्' इत्यमरः।

'तालः करतलेऽङ्गुष्ठमध्यमाभ्यां च संमिते।
गीतकालक्रियमाने करास्फाले द्रुमान्तरे॥' इति विश्वः।

(४) देव्या स्मरति—[श्लोक २०] 'अधीगर्थदयेषां कर्मणि' (पा० २/३/५२) से षष्ठी।

वासन्ती—

नीरन्ध्रबालकदलीवनमध्यवर्ति,
कान्तासखस्य शयनीयशिलातलं ते।
अत्र स्थिता तृणमदाद्वनगोचरेभ्यः,
सीता ततो हरिणकैर्न विमुच्यते स्म॥२१॥

[अन्वयः—कान्तासखस्यं ते नीरन्ध्रवालकदलीवनमध्यवर्ति, शिलातलम् (अस्ति); अत्र स्थिता, सीताः, वनगोचरेभ्यः तृणम्, अदात्, ततः, हरिणकैः, न विमुच्यते स्म॥२१॥]

रामः—इदमशक्यं द्रष्टुम्। (इत्यन्यतो रुदन्नुपविशति।)

हिन्दी—

वासन्ती—[श्लोक २१] सघन और छोटे-छोटे केलों के वन के बीच में यह आपके सहित विश्राम करने के लिए शिला-तल था। इस पर बैठी हुई सीता वन में विचरण करने वाले मृगों को (कोमल-कोमल) तिनके दिया करती थी, इसी से उसे मृग नहीं छोड़ते थे।

राम—इसे (तो) देखना (ही) असम्भव है! (क्योंकि यह उन सुखद घड़ियों का स्मरण करा कर मेरे हृदय में वेदना उत्पन्न कर रहा है।)

[रोते हुए दूसरी ओर बैठ जाते हैं।]

संस्कृत-व्याख्या

वासन्ती भूतपूर्वं शयनीयशिलातलं दर्शयितुं रामं प्राह—निरन्ध्रेति। श्रीमन्! सघन-बालकदलीनां वने तव सीता-सहितस्य शिलातलमासीत्। अत्र स्थिता च सीता देवी वनचरेभ्यो मृगेभ्यस्तृणान्यर्पितवती, अत एव ते तां न मुञ्चन्ति स्म। तृणप्रदानादेव मृगाः सीतां परितः प्रतितिष्ठन्ति स्मेति भावः। वसन्ततिलका च्छन्दः। प्रसादो गुणः। लाटी रीतिः॥२१॥

टिप्पणी

(१) नीरन्ध्र···वर्त्ति—पाठा०, 'एतत्तदेव कदलीवनमध्यवर्त्ति।' नीरन्ध्राः (निर्गतं रन्ध्रं याभ्यस्ताः) बालकदल्यः तासां वनं तस्य मध्ये वर्त्तते इति।

(२) विमुच्यते स्म—'लट् स्मे' (पा०, ३/२/११८) इति लट्।

सीता—सहि वासन्दि ! किं तुए किदं अज्जउत्तस्स मह अ एदं दंसअन्तीए ? हद्धी हद्धी ! सो एव्व अज्जउत्तो, तं एव्व पञ्चवडीवणम् ! सा एव्व पिअसही वासन्दी, दे एव्व विविहविस्सम्भसक्खिणो गोदावरीकाणणुद्देसा, दे एव्व जादणिव्विसेसा मिअपक्खिणो पाअवा अ। मह उण मन्दभाइणीए दीसन्तं वि सव्वं एव्व एदं णत्थि। ईदिसो जीवलोअस्स परिणामो संवुत्तो ! [सखि वासन्ति ! किं त्वया कृतमार्यपुत्रस्य मम चैतद्दर्शयन्त्या ? हा धिक् ! हा धिक् ! स एवार्यपुत्रः, तदेव पञ्चवटीवनम्, सैव प्रियसखी वासन्ती, तं एव विविधविस्रम्भसाक्षिणो गोदावरीकाननोद्देशाः, तं एव जातनिर्विशेषा मृग-पक्षिणः पादपाश्च। मम पुनर्मन्दभाग्याया दृश्यमानमपि सर्वमेवैतन्नास्ति। ईदृशो जीवलोकस्य परिणामः संवृत्तः !]

वासन्ती—सखि सीते ! कथं न पश्यसि रामभद्रस्यावस्थाम् ?

नवकुवलयस्निग्धैरंगैर्ददन्नयनोत्सवं,
सततमपि नः स्वेच्छादृश्यो नवो नव एव सः।
विकलकरणः पाण्डुच्छायः, शुचा परिदुर्बलः,
कथमपि स, इत्युनेतव्यस्तथापि दृशोः प्रियः ॥२२॥

[अन्वयः—नवकुवलयस्निग्धैः, अङ्गैः, नयनोत्सवं ददत्, सततम्, अपि, नः, स्वेच्छादृश्यः, स, नवः-नवः, एव (आसीत् परं सम्प्रति तु) शुचा विकलकरणः, पाण्डुच्छायः, परिदुर्बलः, 'स इति' कथमपि, उन्नेतव्यः, तथापि, दृशोः प्रियः ॥२२॥]

सीता—सहि ! पेक्खामि। [सखि ! पश्यामि।]

तमसा—पश्यन्ती प्रियं भूयाः।

हिन्दी—

सीता—सखि वासन्ति ! आर्यपुत्र को और मुझे यह (स्थान) दिखाकर तुमने यह क्या कर डाला ? हाय ! हाय ! यह वही आर्यपुत्र हैं, वही पञ्चवटी-वन है, वही प्रियसखी वासन्ती है, वही (हमारे) विश्वस्त विहारों के साक्षी गोदावरी के वन-प्रदेश हैं और ये वही सुत-निर्विशेष पशु (मृग) पक्षी तथा वृक्ष भी हैं, परन्तु मुझ मन्द-भागिनी के लिए तो यह सब दिखलाई देता हुआ भी कुछ नहीं है। (मेरे लिए) संसार का ऐसा (दयनीय) परिणाम हो गया।

वासन्ती—सखि सीते ! रामभद्र की अवस्था क्यों नहीं देखती ?

[श्लोक २२]—जो राम (पहले) नये नीले कमल के समान स्निग्ध अङ्गों से हमारे नेत्रों को उत्सव देते हुए सदैव अपनी रुचि के अनुरूप हमको नवीन ही नवीन प्रतीत होते थे, वे ही आज शोक से दुर्बल, विकलेन्द्रिय तथा पीले पड़ गये हैं, और बड़ी कठिनता से—"ये वे ही हैं" इस प्रकार पहचाने जाते हैं, फिर भी (ये) आँखों को अच्छे लगने वाले हैं।

सीता—सखि ! देख रही हूँ ।

वासन्ती—चिरकाल तक प्रिय को (यों ही) देखती रहो !

संस्कृत-व्याख्या

रामभद्रस्य चिन्ता-चुम्बितामिव दशां विलोकयितुं प्रत्यक्षेऽनुपस्थितामपि सीतां प्रीत्यतिशयवशाद् वासन्ती प्रार्थयते—नवकुवलयेति ।

नवकुवलयेति सखि ! सीते ! रामस्य कीदृशी दशा वर्तते ? इति त्वं न पश्यसि किमु ? यो रामः पूर्वं नवीननील-कमल-सन्निभैः स्निग्धतरैः शरीरावयवैः नेत्रयोरुत्सवं ददानः सततं स्वरुच्यनुसारं दर्शनीयः प्रतिक्षणं नव इवासीत् स एवाधुना सन्तापाच्छुष्कलेवरः, पाण्डुवर्णः, अतितमां दुर्वलेन्द्रियप्राणः 'स एवाऽय'मिति कथमपि समुन्नेतव्यः, परिचेतव्योऽस्ति । तथापि लोचनरमणीयोऽस्ति । किमु, एवंविधां दशामनुप्रपन्नोऽपि रामस्तुभ्यं न रोचते ? अवश्यमेवानुकम्पनीयोऽयमिति भावः । स्वकीयप्रियं वस्तु सर्वदा प्रियमेव भवति । तथा चोक्तं माघेन—

"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति,
तदेवं रूपं रमणीयतायाः ॥" इति ।

रामस्य माधुर्यातिशयोऽनेनाभिव्यज्यते, इति तत्त्वम् । अत्रोपमालङ्कारः । हरिणी च्छन्दः ॥२२॥

टिप्पणी

(१) ईदृशो जीवलोकस्य परिणामः संवृत्तः—पाठा०, "ईदृशो जीवलोकस्य परिवर्त्तनः (ईदिसो जीवलोअस्स परिवत्तो) । (२) [श्लोक २२] १. "नवकुवलयस्निग्धैः" —पाठा०, "कुवलयदलस्निग्धैः" ।

२. पाण्डुच्छायः—पाठा०, "पाण्डुः सोऽयम् ।"

३. दृशोः प्रियः—पाठा०, "दृशां प्रियः ।"

(३) नवो नव एव सः—पाठा०, "···एव यः ।"

नवीनता लोचनों को प्रिय होती ही है क्योंकि यही तो सुन्दरता है और सुन्दरता उन्हें चाहिए ही—

"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति,
तदेवं रूपं रमणीयतायाः ॥" (माघ)

(४) पश्यन्ती प्रियं भूयाः—पाठा०, 'पश्य प्रियं भूयः ।'

सीता—हा ! देब्व एसो । मए विणा अहंवि एदेण विणेत्ति केण सम्भाविदं आसि ? ता मुहुत्तमेत्तं जन्मन्तरादोवि दुल्लहलद्धदंसणं बाहसलिलन्तरेसु पेक्खामि दाव वच्छलं अज्जउत्तम् (इति पश्यन्ती स्थिता ।) [हा दैव ! एष मया विना अहमप्येतेन विनेति केन सम्भावितमासीत् ? तन्मुहूर्तमात्रं जन्मान्तरादपि दुर्लभलब्धदर्शनं वाष्पसलिलान्तरेषु पश्यामि तावद्वत्सलमार्यपुत्रम् ।]

तमसा—(परिष्वज्य सास्रम् ।)

विलुलितमतिपूरैर्वाष्पमानन्दशोक-
प्रभवमवसृजन्ती पक्ष्मलोत्तानदीर्घा ।
स्नपयति हृदयेशं स्नेहनिष्यन्दिनी ते,
धवलमधुरमुग्धा दुग्धकुल्येव दृष्टिः ॥२३॥

[अन्वयः—अतिपूरैः, विलुलितम्, आनन्दशोकप्रभवं वाष्पम् अवसृजन्ती, पक्ष्मलोत्तानदीर्घा, धवलमधुरमुग्धा, दुग्धकुल्या इव ते दृष्टिः स्नेहनिष्यन्दिनी (सती) हृदयेशं, स्नपयति ॥२३॥]

हिन्दी—

सीता—हा, दैव ! ये "मेरे बिना और मैं इनके बिना रहूँगी" यह किसे सम्भावना थी ? अतः मैं जन्मान्तर में भी दुर्लभ-दर्शन प्रिय आर्यपुत्र को आँसू न गिरते के समय देखती हूँ । (यदि आँसू आ गये तो दुर्लभ दर्शन आर्यपुत्र दिखाई न दे सकेंगे । अतः उन्हें रोककर मैं पतिदेव का दर्शन करती हूँ ।)

[ऐसा कहकर देखती हुई खड़ी रहती है ।]

तमसा—(लिपट कर रोती हुई) ।

[श्लोक २३]—भरपूर वेग से, आनन्द और शोक से उत्पन्न आँसू बरसाती हुई, सघन पलकों से दीर्घ; स्नेह बरसाने वाली तुम्हारी धवल, मधुर (प्रिय) तथा मनोहारिणी दृष्टि दूध की 'कुल्या' (कृत्रिम नदी, नहर आदि) की भाँति प्राणेश्वर (राम) को स्नान करा रही है । [अर्थात् काजल-रहित होने से तुम्हारी श्वेत, प्रिय तथा सुन्दर दृष्टि राम को निरन्तर टकटकी लगाकर देख रही है ।]

संस्कृत-व्याख्या

वासन्त्या वचनेन खिन्ना सती सीता प्राह—हा देव्वेति । "हा दैव ! रामो मां विना, अहञ्च रामं विना स्थास्यामि" इति केन सम्भावितमासीत् !. ततोऽवश्यं दुर्लभ-दर्शनं पश्याम्यार्यपुत्रम् । इति ।

स्वप्राणेशं पश्यन्तीं सीतां तमसा प्राह—विलुलितमिति ।

वत्से ! दुग्धकुल्येव ते दृष्टिः स्नेहं वर्षन्ती सती प्राणनाथं स्नपयति=स्नानं कारयतीव । कीदृशी तव दृष्टिः ? इति श्रूयताम् । धवला, मधुरा, मुग्धा=मनोहारिणीति दृष्टेरभिरामतां, दुग्धकुल्यायाः सर्वगुणसम्पत्तिञ्च विशेषणानि सूचयन्ति । अतिपूरैः—प्रवाहातिशयैः, विलुलितं=इतस्ततः परिचालितम् आनन्दशोकाभ्यामुद्भूतम्, वाष्पमवसृजन्ती=परित्यजन्ती, पक्ष्मला=सघनपक्ष्म-मालयोपेता, उत्ताना=उपरि विस्तारिता ऊर्ध्वं प्रेक्षणेनेति शेषः । दूरतोऽवलोकनेन दीर्घा च तव दृष्टिः, दुग्धकुल्येव प्रतीयते (कुल्याल्पा कृत्रिमा सरित् इत्यमरः) वियोगावस्थायां कज्जलं विना श्यामलतायाः प्रायोऽभावः, शुक्लताया आधिक्यञ्च विद्यते, इति भावः ।

एतेन सीताया रामं प्रति गाढानुरागोऽभिव्यज्यते, इति वस्तुध्वनिः । हर्षशोकाश्रुयुक्ता तव दृष्टिरिति तत्त्वम् ।

अत्रोपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः। मालिनी च्छन्दः। माधुर्यं गुणः। वैदर्भी रीतिः ॥२३॥

टिप्पणी

(१) मुहुर्त्तमात्रम्—पाठा०, 'मुहुर्त्तकम्' (मुहुत्तअं)। (२) दुर्लभलब्धदर्शनम्—पाठा०, १. "अनुलब्धदर्शनम्" (अणुलद्धदंसणं) २. "लब्धदर्शनम्" (लद्धदंसणं)! (३) (इति पश्यन्ती स्थिता)—पाठा०, "(इति सतृष्णं पश्यति।)" (४) स्नपयति—√स्ना + णिच् + ति। "ग्लास्नावनुवमां च" इति वैकल्पिको ह्रस्वः। (५) स्नेहनिष्यन्दिनी—स्नेहं निष्यन्दयतीति स्नेह + नि + √स्यन्द + णिच् + णिनि साधुकारिणि कर्त्तरि स्त्रियाम्। (६) दुग्धकुल्येव—अभिप्राय यह है कि सीता विरहिणी होने के कारण आँखों में काजल नहीं लगाती थीं, अतः श्वेत आँसू निकल रहे हैं। कहा भी है—

"क्रीडां शरीरसंस्कारं, समाजोत्सवदर्शनम्।
हास्यं परगृहे यानं, त्यजेत्प्रोषितभर्तृका॥" (याज्ञवल्क्य०, १/८४)

वासन्ती—

ददतु तरवः पुष्पैरर्घ्यं फलैश्च मधुश्चयुतः,
स्फुटितकमलामोदप्रायाः प्रवान्तु वनानिलाः।
कलमविरलं रज्यत्कण्ठाः क्वणन्तु शकुन्तयः,
पुनरिदमयं देवो रामः स्वयं वनमागतः ॥२४॥

[अन्वयः—मधुश्च्युतः, तरवः, पुष्पैः, फलैः, च अर्घ्यं, ददतु। स्फुटितकमलामोदप्रायाः, वनानिलाः, वान्तु। रज्यत्कण्ठाः, शकुन्तयः अविरलं, कलं, क्वणन्तु। अयं, देवः, रामः, स्वयं पुनः, इदं वनम्, आगतः ॥२४॥]

रामः—एहि सखि वासन्ति! नन्वितः स्थीयताम्।

वासन्ती—(उपविश्य सास्रम्।) महाराज! अपि कुशलं कुमारलक्ष्मणस्य?

रामः—(अनाकर्णनमभिनीय)

करकमलवितीर्णैरम्बुनीवारशष्पै-
स्तरुशकुनिकुरङ्गान्मैथिली यानपुष्यत्।
भवति मम विकारस्तेषु दृष्टेषु कोऽपि,
द्रव इव हृदयस्य प्रस्रवोद्भेदयोग्यः ॥२५॥

[अन्वयः—मैथिली, करकमलवितीर्णैः, अम्बुनीवारशष्पैः, यान्, तरुशकुनिकुरङ्गान्, अपुष्यत् तेषु दृष्टेषु, प्रस्रवोद्भेदयोग्यः, मम, हृदयस्य, द्रव इव, कोऽपि, विकारः, भवति ॥२५॥]

वासन्ती—महाराज! ननु पृच्छामि, कुशलं कुमारलक्ष्मणस्येति?

राम:—(आत्मगतम्) अये ! महाराजेति निष्प्रणयमामन्त्रणपदम्। सौमित्रिमात्रके वाष्पस्खलिताक्षरः कुशलप्रश्नः । तथा मन्ये विदितसीतावृत्तान्तेयमिति । (प्रकाशम्) आः कुशलं कुमारलक्ष्मणस्य ।

हिन्दी—

वासन्ती—[श्लोक २४] क्योंकि भगवान् राम पुनः स्वयं इस वन में आये हैं, अतः (इनका स्वागत करने के लिये) मकरन्द बरसाने वाले वृक्ष, फल और फूलों से अर्घ्य दें। विकसित कमलों का सौरभ लेकर वन का समीर बहे ! और पक्षिगण सुरीले कण्ठ से निरन्तर कूजन करे ।

राम—आओ, सखि वासन्ती ! इधर बैठो ।

वासन्ती—(बैठकर, आँसू भरकर) महाराज 'कुमार लक्ष्मण' सकुशल तो हैं ?

राम—(अनसुना करने का अभिनय कर)

[श्लोक २५]—अपने कर कमलों से जल, नीवार तथा (मृदु) घास देकर मैथिली ने जिन वृक्ष, पक्षी तथा मृगों को पाला था, आज उन्हें देखने पर मेरे हृदय में, झरने के फूटने के समान कोई द्रावक विकार उत्पन्न हो रहा है। (जिस प्रकार झरना बड़े वेग से झरता है, उसी प्रकार मेरा हृदय भी पिघलकर बह-सा रहा है।)

वासन्ती—मैं पूछती हूँ कि 'कुमार लक्ष्मण' सकुशल तो है ?

राम—(स्वयं ही) अरे, 'महाराज !' यह स्नेह-हीन सम्बोधन है और आँसुओं के कारण अस्पष्ट अक्षरों से (गद्गद् स्वर से) केवल लक्ष्मण के सम्बन्ध में ही कुशल प्रश्न किया गया है, इससे मैं अनुमान करता हूँ कि यह सीता के समाचार से परिचित है (प्रकाश में) हा, कुमार लक्ष्मण सकुशल है ।

संस्कृत-व्याख्या

इदानीं रामस्य स्वागतं कर्तुं वासन्ती तत्रत्यान् पादपादीन् प्रेरयति—ददतु इति ।

अयं महाराजो रामः सम्प्रति स्वयमद्य पुनर्वनमागतः । अतः सर्वेऽपि मधुवर्षिणो वृक्षाः पुष्पैः, फलैश्च महानुभावस्यास्य स्वागतं कर्तुं सानन्दमर्घ्यं ददतु, विकसितानां कमलानां मनोरममामोदं गृहीत्वा वनानिलाः प्रवहन्तु, शकुन्तयः=पक्षिणः, अनुरक्तकण्ठाः सन्तः अविरलं=निरन्तरं, कलम्=अव्यक्तं मधुरञ्च क्वणन्तु=कूजन्तु ।

पूर्वन्तु सीतया लक्ष्मणेन च साकं पितुरादेशात् रामो वनमागतः, अद्य चैकाकी समागतः इति स्वागतस्य वैशिष्ट्यं किमपि हृदयगतं साधिक्षेपवचनं सीता-वृत्तान्तविषये सूचितं भवति ।

अत्र काव्यलिङ्गालङ्कारः । हरिणी च्छन्दः ।।२४।।

वासन्त्याः कुमारलक्ष्मण-कुशलप्रश्नमश्रुतं विधाय रामः प्राह—कर इति ।

यानेतान् तरून्, शकुनीन्, कुरङ्गान्=मृगान्, स्वकरकमलद्वाराप्रदत्तैः जलैः, नीवारैः, शष्पैः=तृणैश्च क्रमशोऽपुष्यत्, तेषां दर्शन-मात्रेण मम हृदये कोऽपि विकार इव प्रादुर्भवति, प्रस्रवस्य=प्रस्रवस्योद्भेदयोग्यः हृदयस्य द्रव इव सम्भवति । यथा

निर्झराणां प्रवाहो वेगेन प्रवहति, तथा मम हृदयमपि द्रवीभावं भजते, प्रवाह-युक्तं भवितुञ्च जायते इवेति भावः ।

अत्र यथासंख्यालङ्कारः । उपमा च । मालिनी च्छन्दः ॥२५॥

वासन्त्याः प्रश्नमाकर्ण्य स्वगतमाह रामः—अये इति । "महाराज !" इति प्रणयरहितं सम्बुद्धिपदमनया प्रयुक्तम् । केवलं लक्ष्मणस्यैव कुशल-प्रश्नः, सोऽपि च वाष्पेणास्पष्टाक्षरः, अतो जानासि, सीतावृत्तान्तमियं वेत्ति, इति ।

टिप्पणी

(१) मधुश्च्युतः—वीरराघव ने इसके तीन पाठ मानकर तीनों की सङ्गति इस प्रकार की है—"मधूनि मकरन्दानि श्चोतयन्ति क्षरन्तीति विग्रहः । 'श्चुतिर् क्षरणे' इत्यस्मादन्तर्भावितण्यर्थात् कर्त्तरि क्विप्रत्ययः । यद्वा—मधुभिः मकरन्दैः श्च्योतन्ति आर्द्रीकुर्वन्तीति विग्रहः । 'श्च्युतिर् आसेचने' इत्यस्मात् क्विप् इदं च वनानिलानां विशेषणम् । तृतीयान्तपाठे फलविशेषणं पुष्पविशेषणं वा । 'च्यु च्यवने' इत्यस्माद् भावे क्तप्रत्यये मधूनां च्युतं च्यवनं येभ्यः इति पुष्पपक्षे । फलपक्षे तु कर्मणि क्त प्रत्ययेन मधुभ्यः च्युतैरिति पञ्चमीतत्पुरुषः । पुष्परससमृद्धौ तात्पर्यम् । तदेवं पक्षत्रये—आद्यः शकारचकाराभ्यां युक्तः पाठः । द्वितीयः शकारचकारयकारैर्युक्तः । तृतीयस्तु चकारयकाराभ्यामिति विवेकः ।"

इस प्रकार ये तीन पाठ हुए—१. मधुश्च्युतः, एवं २. मधुश्युतः ३. मधुच्युतः ।

(२) कमलविरलं रज्यत्कण्ठाः—पाठा०, कमलविकलं रत्युत्कण्ठाः ।" (३) (अनाकर्णनमभिनीय)—पाठा०, "(अश्रुतिमभिनीय)" (७) करकमल········ अपुष्यत्—यथासंख्य अलङ्कार । सीता ने अम्बु (जल) से तरुओं का, नीवार से पक्षियों का एवं शष्प (छोटी-छोटी घास) से मृगों का पोषण किया था । (५) प्रस्रवोद्भेद-योग्यः"—पाठा०, "प्रस्तरोद्भेदयोग्यः" । प्रस्तरस्य उद्भेदः तस्मिन् योग्यः । प्रस्तरस्य पाषाणस्य उद्भेदः द्रवः तद्योग्यः तत्तुल्यः (घन०) "योग्यः प्रवीणयोगार्होपायिशक्तेषु वाक्यवत् ।" इति मेदिनी ।

वासन्ती—(रुदती) अयि देव ! किं परं, दारुणः खल्वसि ।

सीता—सहि वासन्दि ! किं तुमं एव्वंवादिणी होसि ? पूआरुहो सव्वस्स अज्जउत्तो विसेसदो मह पिअसहीए । [सखि वासन्ति । किं त्वमेवंवादिनी भवसि ? पूजार्हः सर्वस्यार्यपुत्रः विशेषतो मम प्रियसख्याः ।

वासन्ती—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं,
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।

इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥२६॥
(इति मुह्यति ।)

अन्वयः—त्वं जीवितं, त्वं मे द्वितीयं हृदयम्, त्वं नयनयोः कौमुदी, त्वम् अङ्गे अमृतम् असि, इत्यादिभिः प्रियशतैः, मुग्धाम्, अनुरुध्य ताम् एव—अथवा शान्तम्, अतः परेण किम् ? ॥२६॥

हिन्दी—

वासन्ती—(रोती हुई) देव ! क्या कहूँ ? आप (अत्यन्त) कठोर हैं।

सीता—सखि वासन्ति ! तू ऐसा क्यों कह रही है ? आर्यपुत्र सबके पूज्य हैं, विशेषकर मेरी प्रिय सखि के ।

वासन्ती—

[श्लोक २६]—"तुम (मेरी) प्राण हो, तुम मेरा दूसरा हृदय हो, तुम मेरे नेत्रों के लिये कौमुदी हो और तुम मेरे अङ्गों में अमृत हो !" इत्यादि सैंकड़ों चापलूसी भरे वाक्यों से उस भोली-भाली को बहकाकर आपने उसी को··· । अथवा रहने दो इससे आगे कहने से क्या लाभ ? [मूर्च्छित हो जाती है]

संस्कृत-व्याख्या

रामस्य कठोरत्वं प्रतिपादयन्ती वासन्ती प्राह—अयि देवेनि । महाराज ! किं कथयानि ? अतिशयितकठोरोऽसि । यः परमसुकुमारीं ललना-ललाम-भूतां तादृशीं सतीं सीतामपि निर्वासितवानसि ?

स्वसख्या वासन्त्या मुखात्—महाराजम्प्रति—'दारुण'—वचनं निशम्य भृशं दुःखिता सीता कथयति—सहि-इति । सखि ? एव कथं वदसि ? आर्यपुत्रस्तु सर्वस्य जनस्य सम्यगभ्यर्चनीयः, केनापि महानुभावस्यास्य निन्दा नैव कार्या, विशेष-रूपेण च मम प्रियसख्या भवद्विधया तु सर्वथा पूजनीयोऽयमिति तवैवं कथन्नोचितमिति भावः ।

पुनः वासन्ती रामम्प्रत्याह—त्वमिति ।

महाराज ! त्वं (सीता) मम जीवनमसि, त्वं मेऽपरं हृदयम्, त्वं नेत्रयोः, कृते कौमुदी=चन्द्रिका, त्वञ्च ममाङ्गेऽमृतमित्यादिभिः प्रियवाक्यैरसंख्यैस्तां मुग्धां =मधुरस्वभावाम्, अनुरुध्य=प्रलोभ्य·········[किमिति वने निर्वासितवानसि ? इति वाक्यमनुक्त्वैवाह—] अथवा—शान्तम् अतः परं कथनेन को लाभः ? (इत्युक्त्वा मुग्धा जाता ।)

अत्र रूपकम्, अतिशयोक्तिः, आक्षेपः, इत्येषामलङ्काराणामङ्गाङ्गिभावेन साङ्कर्यम् । आक्षेपालङ्कारस्य लक्षणञ्च—

"वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य, यो विशेषाभिधित्सया ।
निषेधाभास आक्षेपो, वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा ॥" इति ।

वसन्ततिलका च्छन्दः ॥२६॥

(१) पूजार्हः सर्वस्यार्यपुत्रः—पाठा०—,"प्रियार्हः खलु सर्वस्यार्यपुत्रः" । (२) त्वं जीवितं......किमतः परेण ?—पाठा०, "किमतः परेण" के स्थान पर किमिहोत्तरेण ?

प्रस्तुत पद्य महाकवि भवभूति के भावानुरूप मञ्जुल शब्द-योजना का सुन्दर उदाहरण है, जो भवभूति कठोर भावों के चित्रण में दीर्घसमासयुक्त शब्दावली का प्रयोग कर चमत्कार उत्पन्न कर सकते हैं वही कोमल भावों को ऐसे असमस्त कोमल शब्दों में प्रकट कर सकते हैं—इसका यह स्पष्ट प्रमाण है। यही ध्वन्यालोककार को अभीष्ट है—'करुण–विप्रलम्भशृङ्गारयोस्तु असमासैव सङ्घटना। कथमिति चेत् ? उच्यते। रसो यदा प्रधानतः प्रतिपाद्यस्तदा तत्प्रतीतौ व्यवधायका विरोधिनश्च सर्वात्मनैव परिहार्याः। एवं च दीर्घसमासा सङ्घटना समासानामनेकप्रकारसम्भावनया कदाचिद्रसप्रतीतिं व्यवदधातीति तस्यां नात्यन्तमभिनिवेशः शोभते। विशेषतोऽभिनेयार्थे काव्ये ततोऽन्यत्र विशेषतः करुणविप्रलम्भशृङ्गारयोः। तयोर्हि-सुकुमारतरत्वात्स्वल्पायामप्यस्वच्छतायां शब्दार्थयोः प्रतीतिर्मन्थरीभवति।"

(ध्वन्यालोक, ३/६२)

(३) श्लोक के उपमान-विधान की तुलना कीजिए :—

"सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी, प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता॥"

तमसा—स्थाने वाक्यनिवृत्तिर्मोहश्च।

रामः—सखि ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि।

वासन्ती—(समाश्वस्य) तत्किमिदमकार्यमनुष्ठितं देवेन ?

सीता—सहि वासन्दि ! विरम, विरम। [सखि वासन्ति ! विरम, विरम।]

रामः—लोको न मृष्यतीति।

वासन्ती—कस्य हेतोः ?

रामः—स एव जानाति किमपि।

तमसा—चिरादुपालम्भः।

वासन्ती—

अयि कठोर ! यशः किल ते प्रियं,
किमयशो ननु घोरमतः परम् ?
किमभवद्विपिने हरिणीदृशः,
कथय नाथ ! कथं बत मन्यसे ? ॥२७॥

[अन्वयः—अयि, कठोर ! यशः, ते प्रियं किल, ननु अतः परं, घोरं, अयशः, किम् ? हरिणीदृशः, विपिने, किम्, अभवत् नाथ ! कथय, कथं, मन्यसे ? बत ॥२७॥

सीता—सहि वासन्दि ! तुमं एव्व दारुणा कठोरा अ। जा एव्वं पलवन्तं पलावेसि। [सखि वासन्ति ! त्वमेव दारुणा कठोरा च। यैवं प्रलपन्तं प्रलापयसि।]

तमसा—प्रणय एवं व्याहरति शोकश्च।

रामः—सखि ! किमत्र मन्तव्यम् ?

त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टे-
स्तस्याः परिस्फुरितगर्भभरालसायाः।
ज्योत्स्नामयीव मृदुबालमृणालकल्पा,
क्रव्याद्भिरङ्गलतिका नियतं विलुप्ता ॥२८॥

[अन्वयः—त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टेः, परिस्फुरितगर्भभरालसायाः, तस्याः, मृदुबालमृणालकल्पा, ज्योत्स्नामयी इव अङ्गलतिका, क्रव्याद्भिः, नियतं, विलुप्ता ॥२८॥]

सीता—अज्जउत्त ! धरामि एसा धरामि। [आर्यपुत्र ! ध्रिये एषा ध्रिये।]

रामः—हा प्रिये जानकि ! क्वासि ?

सीता—हद्धी हद्धी ! अण्णो विअ अज्जउत्तो पमुक्ककण्ठं परुण्णो होदि। [हा धिक् हा धिक् ! अन्य इवार्यपुत्रः प्रमुक्तकण्ठं प्ररुदितो भवति।]

तमसा—वत्से ! साम्प्रतिकमेवैतत्। कर्तव्यानि खलु दुःखितैर्दुःखनिर्धारणानि।

पूरोत्पीडे तटाकस्य, परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे च हृदयं, प्रलापैरेव धार्यते ॥२९॥

[अन्वयः—तटाकस्य पुरोत्पीडे, परीवाहः, प्रतिक्रिया, अस्ति हृदयं च शोकक्षोभे, प्रलापैः एव धार्यते ॥२९॥

विशेषतो रामभद्रस्य बहुप्रकारकष्टो जीवलोकः।

इदं विश्वं पाल्यं विधिवदभियुक्तेन मनसा,
प्रियाशोको जीवं कुसुममिव धर्मो ग्लपयति।
स्वयं कृत्वा त्यागं विलपनविनोदोऽप्यसुलभ-
स्तदद्याप्युच्छ्वासो भवति ननु लाभो हि रुदितम् ॥३०॥

[अन्वयः—अभियुक्तेन मनसा, इदं विश्वं, विधिवत् पाल्यं; धर्मः, कुसुमम्, इव प्रियाशोकः, जीवं ग्लपयति; स्वयं त्यागं कृत्वा, विलपनविनोदः, अपि, असुलभः तत्, अद्यापि, उच्छ्वासः, भवति, ननु, रुदितम्, लाभः, हि ॥३०॥]

हिन्दी—

तमसा—उचित स्थान पर वाक्य समाप्ति और मूर्छा हुई।

राम—सखि ! धैर्य धारण करो ! धैर्य धारण करो ।

वासन्ती—(आश्वस्त होकर) तो आपने ऐसा अनर्थ क्यों कर डाला ?

सीता—सखि, वासन्ती ! बस कर, रहने दे ।

राम—लोक सहन नहीं करता (इसलिए कर डाला) ।

वासन्ती—किस लिए ?

राम—जो कुछ भी हो, वही जानता है ।

तमसा—(लोक के प्रति) यह उपालम्भ बड़े विलम्ब से है । (यदि ऐसा पहले सोचा होता तो सीता-निर्वासन की बारी ही न आती । परन्तु अब तो समय बीत चुका है, अतः इसका कोई महत्त्व नहीं है ।)

वासन्ती—

[श्लोक २७] कठोरहृदय राम ! आपको यश बहुत प्रिय है, परन्तु इससे अधिक कठोर अपयश और क्या होगा ? (कि आपने निरपराध सीता का परित्याग कर दिया ।) उस मृगनयनी (सीता) का वन में क्या हुआ ? नाथ [(कुछ तो) बतलाइये । क्या सोच रहे हैं ? अथवा, कहिये न [कथय + न + अथ] इसके आगे क्या सोचते हैं ?

सीता—सखि, वासन्ति ! तू ही दारुण और कठोर है जो इस प्रकार प्रलाप करते हुए (आर्यपुत्र) को और अधिक प्रलाप करवा रही है (रुला रही है ।)

तमसा—प्रणय और शोक ही ऐसा कहला रहा है ।

राम—सखि ! इसमें सोचना ही क्या है ?

[श्लोक २८] एक वर्ष के त्रस्त मृग-छौने के समान चञ्चल नेत्रों वाली तथा फड़कते हुए गर्भ के भार से आलस्य-युक्त (सीता की) चन्द्रिकामयी, मृणालोपमा कोमल काया, निश्चय ही, मांसाहारी जीवों ने नष्ट कर दी (होगी ।)

सीता—आर्यपुत्र ? धरी हूँ, यहीं धरी हूँ । (मैं जीवित हूँ, मुझे मौत कहीं नहीं आई !)

राम—हा, प्रिये ! जानकी ! तुम कहाँ हो ?

सीता—हाय ! हाय ! साधारण मनुष्य की भाँति आर्यपुत्र गला फाड़ कर रो रहे हैं ।

तमसा—वत्से ! यह उचित ही है । दुखियों को अपने दुःखों का निश्चय करना ही चाहिये ।

[श्लोक २९] तालाब में अधिक पानी भर जाने पर (नालियों के द्वारा) उसे निकाल देना ही उसकी प्रतिक्रिया होती है । (इसी प्रकार) शोक से क्षुब्ध हृदय रो-

धोकर ही शान्त किया जा सकता है। (अधिक शोक में एक बार अच्छी तरह रो लेने पर जी हल्का हो जाता है।)

विशेषकर रामचन्द्र के लिए संसार विविध कष्टमय है! (कारण—)

[श्लोक ३०]—(पहले तो इन्हें) यथाविधि सावधान चित्त से इस विश्व का पालन करना पड़ता है, (उस पर भी) प्रिया का शोक—जैसे (कड़ी) धूप पुष्प को सुखा देती है—वैसे ही इनके जीवन को सुखा रहा है। स्वयं (पत्नी का) परित्याग कर (इन्हें) रोकर मन बहलाना भी सर्वथा दुर्लभ है। इतने पर भी इनके प्राण अब तक (बचे हुए) हैं (ऐसी दशा में जीवन-धारणार्थ) रोना महान् लाभकारी है।

संस्कृत-व्याख्या

वाक्यनिवृत्तौ वासन्त्या मोहे च युक्ततां निर्धारयन्ती तमसा प्राह—स्थाने इति। वाक्यस्य कथनेन सीताया निन्दा स्यात्, सा च सर्वथाऽनुचितेति वाक्यनिवृत्तिः स्थाने = युक्तिमिदम्। मोहश्चापि युक्त एव। अथवा--'स्थाने' उचित-स्थाने वाक्यावसानम्, मोहश्चापीति। [कवेरत्रापि वैशिष्ट्यं भावुकैरनुभवनीयमेव।]

लोकः सीताया मम भवने निवासं न सहते, इति हेतोः सा निर्वासितेति श्रुत्वा वासन्ती पुनः प्राहः—अयि इति।

अयि कठोर-चरितरामे! स्व-यश एव तव प्रियमस्ति, स्वकीय-यशस एव त्वया चित्वा कृता, सा वराकी कां दशां गतेति न चिन्तितम्। अतः परं किं घोरमयशः स्यात्? सीता-परित्यागो वस्तुतस्तवायशोहेतुरेव जातः। यशसस्तु तत्र लेशोऽपि नास्ति, इति भावः। मृगलोचनायास्तस्या वने किमभूदित्यपि ज्ञायते किमु? नाथ! कथय, एतस्मिन् विषये किं मन्यसे? "यशोधनानां हि यशो गरीयः" इत्युक्त्वा प्रजानुरञ्जनार्थं सीतामपि परित्यजता भवता किंस्विदिदं यशः कारणमयशो वेति न विचारितमिति भावः।

[अत्र 'कठोर'—पदं सारगर्भितम्। वस्तुतो यशोभिलाषुकैः सर्वस्यापि सांसारिक पदार्थसार्थस्य सति समये परित्यागः क्रियते एव। यशोऽर्थिभिरनेकैर्महापुरुषैः प्राणा अपि परेषां कृते परित्यक्ताः। भवताऽपि च स्व प्राणेभ्योऽपि गरीयसी सीतादेवीं परित्यजता तदेव व्रतं परिपालितम्। परं मम तु मते विपरीतमेव तज्जातमिति क्षिप्रकारिता दोषायैव संवृत्तेति वक्तव्यम्। "नाथ" इति पदञ्चापि किमपि तत्त्वमभिव्यनक्ति। नाथ्यते=अभ्यर्थ्यते इति "नाथः"। त्वन्तु सर्वैरपि स्वेष्टलाभायाभ्यर्थनीयः। किमु तयापि परित्याग-वेलायां किमपि अभ्यर्थितम्? त्वयि नाथे साऽनाथा सञ्जाता। पति-मन्तरां पतिव्रतानां कोऽन्यो नाथः? इति तव नाथतेयं कीदृशी? अपि च तस्याः निर्वासनमेव भवदभिमतमासीद्, आहोस्वित् प्राणदण्डः? आद्ये, तस्यां निर्वासिताया अपि रक्षा करणीयैव तव नाथस्योचितेति सा न कृतेति कीदृशोऽसि नाथः? परमार्थ-तस्तु निर्वासन-च्छलेन प्राणदण्ड एवायं सञ्जातस्तपस्विन्याः। नाथेन च सर्वदा रक्षणीया एव दण्डनीया अपि। इति भावः। "हरिणीदृशः" इत्यनेन च सीतायाः श्वापदैर्विलु-प्यमानायाः कातर्यम्, आत्मनः परित्राणार्थमितस्ततोऽवलोकनञ्च सूच्यते।]

अत्र यशोऽर्थे चेष्टमानस्यायशः प्राप्तिः समजनीति विषमाऽलङ्कारः। हरिण्या

इव चञ्चले लोचने यस्या इत्यत्र त्रिपदलुप्तोपमा । द्रुतविलम्बितं च्छन्दः । तल्लक्षणञ्च यथा—

'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ ।" इति ।

प्रसादो गुणः लाटी । रीतिः । अत्रापि कवि-हृदयं स्फुटीभवति विशेषरूपेणेति मार्मिका मनागास्वादयन्तु काव्यरसं स्वानुभूत्येति किं कथनैः ॥२७॥

"प्रलपन्तमार्यपुत्रमधिकं प्रलापयन्ती वासन्ती ! त्वमेव दारुणा कठोरा चे"ति सीताया वचनमाकर्ण्य तमसा प्राह—प्रणय इति । प्रणयवशात् शोमवशाच्चैवं वदतीयम्, नतु यथार्थदृशा । वासन्ती रामेण सह प्रीतिं करोति, अतः कठोरेत्यादि पदं प्रयुङ्क्ते तव समाचारेण च दुःखितेति एवं वदति, ततश्च त्वया नात्र मनोऽतिमात्रं खेदनीयमिति भावः ।

"कथं मन्यसे" इति वासन्त्याः प्रश्नं समाधत्ते रामः—त्रस्त इति ।

सखि ! अस्मिन् विषये किमधिकं मन्तव्यम् ? मम तु मते कोमल-कमलनाल-समम्, चन्द्रिकातुल्यं लतामप्यतिशयानम् भयचकितस्य, एकवर्षावस्था सम्पन्नस्य, विलोलदृष्टेर्मृगस्य दृष्टिरिव चञ्चला दृष्टिर्यस्याः, परितः स्फुरता गर्भस्य भरेणालस्य-युक्तायास्तयाः शरीरं मांसाशिभिः=व्याघ्रादिभिः, नियतं यथा स्यात्तथा विनाशितं भवेत् । वने सीतायाः शरीरं व्याघ्रादिभिर्विनाशितमित्येव सम्भावयामि । अतः परं न किमपि सम्भावयामीति भावः ।

[एकहायनकुरङ्गः स्वभावेनैवलोलदृष्टिर्भवति "वि" इत्युपसर्गेण विशेषरूपेण चाञ्चल्यं सूच्यते । विलोलता च कारणान्तरतोऽपि सम्भाव्यते; सा मा भूदिति त्रस्तेति पदं विलोलता सम्पादकम् । पलायनादिकमपि कर्तुं सा सर्वथाऽसमर्थेति परिस्फुरित-गर्भभरालसेतिविशेषणेन धावनशक्ति-शून्यताऽभिव्यज्यते ।

अङ्गस्य लता-साम्येन, स्वाभाविकेऽपि कोमलत्वे ज्योत्स्नासाम्येन, मृदुत्वेन बालत्वेन च विशेषितस्य मृणालस्य साम्यप्रतिपादेन, शरीरस्य विनाशने काल विलम्बोऽपि न सञ्जातः इति कवेराकूतम् । सीतायाः सौन्दर्यातिशयशालिता चाभिव्यज्यते ।]

अत्रोपमालङ्कारः । वसन्ततिलका च्छन्दः ॥२८॥

स्वविलोपवार्तामाकर्ण्य सीता स्वकीयमस्तित्वं प्रकटयितुमाह—अज्जउत्तेति । आर्यपुत्र ! अहन्तु जीवामि, नान्यथा शङ्कनीयमिति भावः ।

"अहो ! अन्यजनः=प्राकृतजनः=इवार्यपुत्रो मुक्तकण्ठं रोदिति". इति सीता-वचनं समाधत्ते तमसा—वत्से ! इति । साम्प्रतिकम्=उचितमेवैतत् । दुःखितैर्जनैः स्वदुःखस्य निर्धारणन्तु कर्तव्यमेव । एतदेव स्फुटीकर्तुमाह—पूरोत्पीडे इति ।

तटाकस्य जलाधिक्ये जलस्य निःसारणमेव प्रतिक्रिया भवति । एवञ्च—शोके क्षोभे च हृदयस्य संरक्षणं प्रलापैरेव सम्भवति । अतो रामस्य रोदनमुचित-मेवेति भावः ।

अत्र दृष्टान्तोऽलङ्कारः । अनुष्टुप् छन्दः ॥२९॥

विशेषतया रामस्य विविध-कार्यजातैर्जीवलोकः कष्टप्रायः इति प्रदर्शयति तमसा—इदमिति ।

अभियुक्तेन मनसा=सावधानेन चेतसा विधिवद्देवस्य संसारस्य पालनं कर्तव्यम् । सर्वदा संसारपालने मनः समासक्तं भवतीत्याशयः । ततोऽपि च यथा घर्मः =आतपः कुसुमं म्लानं करोति, तथैव प्रियायास्तव शोको रामस्य जीवं म्लानं करोति । राजधान्यां निवसतस्तावद् विलापोऽपि सुलभो नास्ति यतः स्वयमेव (सीतायास्तव) परित्यागः कृतः । स्वयं कृते कर्मणि पश्चात्तापोऽपि कीदृशः ? तस्माद यदि रुदितमद्य कथंचित्प्राप्तम्; ननु तदप्युच्छ्वास एव-जीवनलाभ—एवायमस्येति भावः ।

अत्रोपमा परिणामावलङ्कारौ । शिखरिणी च्छन्दः ॥३०॥

टिप्पणी

(१) स्थाने वाक्यनिवृत्तिर्मोहश्च—'स्थाने' अव्यय 'युक्त' के अर्थ में प्रयुक्त होता है—"युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने" इत्यमरः ।

तमसा का अभिप्राय है कि सीता के प्रति वासन्ती का अपार प्रेम है; उसकी दारुण दशा का ध्यान कर वासन्ती को मूर्छा आनी स्वाभाविक है । वह वाक्य आगे इसलिए नहीं बोल सकी कि उसमें अनिष्ट की शङ्का थी । अपनी अभिन्न सखी के विषय में अनिष्ट बात कहना ठीक नहीं है, विशेपतः कोमलहृदया वासन्ती के लिए ।

दूसरा भाव तमसा का यह है कि यह ठीक ही हुआ जो वासन्ती कहते-कहते रुक गयी और उसे मूर्छा आ गयी । यदि ऐसा न होता तो श्रीरामचन्द्रजी की बहुत बुरी दशा हो जाती । चिरकाल से सन्तप्त उनका हृदय ऐसी-ऐसी कष्टदायक पश्चात्तापजनक बातें सुनकर और भी व्याकुल हो जाता और सम्भव था कि वे भी मूर्च्छित हो जाते जिसे देखकर सीता भी मूर्च्छित हुए बिना न रहती और मूर्च्छित सीता को देखकर तमसा भी धैर्यच्युत हो सकती थी । इस प्रकार वासन्ती के मूर्च्छित होने से एक लम्बी अनर्थपरम्परा से मुक्ति-सी मिल गयी ।

प्रो० काणे इस बात पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—..."Moreover, it seem to us that the poet wants to defend his own treatment of pathos, He means that it is quite in keeping with poeitc ideals that he should make his characters break off in the middle of their speech and that he should represent them as fainting."

(२) कस्य हेतोः—"षष्ठी हेतुप्रयोगे" (पा० १/३/२६) इति हेतुशब्दप्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी । (३) स जानाति किमपि—श्रीरामचन्द्रजी हृदय दुखाने वाली बात नहीं कहना चाहते अथवा लज्जावश 'किमपि' यह गोल-मोल पद कहा है । (४) चिरादुपालम्भः—पाठा, 'उचितस्तदुपालम्भः' ।

'चिरादुपालम्भः' का अर्थ यह है कि श्रीरामचन्द्रजी ने लोक को बहुत देर के बाद उलाहना दिया है, यह तो पहले ही देना चाहिये था । अब बारह वर्षों बाद ऐसी

बात कहना कोई विशेष लाभदायक नहीं। पं० शेषराज शास्त्री का "रामस्य लोकं प्रति सीतानिर्वासनकालादारभ्योपालम्भोऽस्तीति भावः--यह व्याख्यान अधिक हृदयङ्गम नहीं।

अथवा सीता को पुरवासियों ने जो उपालम्भ दिया था, वह आज राम के मुँह से बहुत दिन के बाद फूट पड़ा है।

अथवा 'चिरादुपालम्भ' का यह भाव भी लिया जा सकता है कि लोक ने जो श्रीरामचन्द्रजी को सीताविषयक उपालम्भ दिया था वह चिरकाल बाद (अयोध्या में) दिया था। यदि लोक को ऐसी शंका सीता के प्रति व्यक्त करनी ही थी तो राज्याभिषेक से पूर्व, लङ्का से लौटने पर ही व्यक्त करनी चाहिये थी। एक डेढ वर्ष बाद (चिर) गर्भिणी सीता के प्रति लोक ने ऐसी मूर्खतापूर्ण शङ्का क्यों व्यक्त की जिससे कि श्रीराम, सीता वासन्ती एवं मुझे आज इतना कष्ट हुआ।

अथवा चिरात् = चिरकाल के लिए, सीता, को लोक का उलाहना मिल गया है। तुलना०—'एष ते जीवितावधिः प्रवादः' (अंक १)।

अथवा संसार में उपालम्भ तो चिरकाल से चला ही आ रहा है। ऐसा तो लोक में होता है। 'पिशुनोऽन्वेषयति दूषणान्येव'।

उचितस्तदुपालम्भः पाठ के दो भाव हो सकते हैं—

१. ऊपर श्रीरामजी ने कहा था कि सीता के निर्वासन का कारण लोक ही जानता है, उन्हें कुछ नहीं ज्ञात। इसलिए सीता को बिना कारण जाने ही निकाल दिया तो वासन्ती द्वारा दिया गया उपालम्भ ठीक ही है। तत् = तस्मात् यदि कारणमविज्ञायैव त्यक्तवानसि पत्नीं' तदा उपालम्भः = वासन्त्याः कृतः उचितः = युक्त एव।'

(२) अथवा उस सीतानिर्वासनकारी लोक का उपालम्भ (तिरस्कार) उचित था सीता का नहीं। तस्य = लोकस्य, उपालम्भः = तिरस्कारः उचित आसीन्न वैदेह्याः परित्यागः।'

(५) [श्लोक २७] **कथय नाथ कथं बत मन्यसे ?**—इसके दो अर्थ हो सकते हैं—१. कहिये प्रभो ! (इसमें) आप क्या समझते हैं ?' नाथ ! प्रभो ! २. 'कथय न ? अथं कथं बत मन्यसे ?' = कहिए न ? इससे आगे क्या (हुआ) समझते है ? खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे बत इत्यमरः।

(६) **प्रलपन्तं प्रलापयसि**—पाठा०, प्रदीप्तं प्रदीपयसि' (पलित्तं प्रदीवेसि)। (७) **प्रणय एवं व्याहरति शोकश्च**—पाठा०, 'प्रणय एवं व्याहारयति शोकश्च।' (८) १. [श्लोक] **त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टेः**—त्रस्तः एकहायनः (एकः हायनः संवत्सरः यस्य) कुरुङ्गः, तस्य इव विलोला (चञ्चला) दृष्टिः यस्याः सा तस्याः। । २. **परिस्फुरितगर्भभरालसायाः**—परिस्फुरितः गर्भः तस्य भरेण अलसायाः तुलना०—सीता—स्फुरित मे गर्भभारः (फुरइ में गर्भभारो)।' (उत्त०, १/५१ श्लोक के अनन्तर)। ३. **ज्योत्स्नामयीव**—पाठा०, 'ज्योत्स्नामयी च'। ज्योत्स्ना प्रकृतिरस्या इति ज्योत्स्ना + मयट् स्त्रियाम् ज्योत्स्नामयी। (४) **मृदुबालमृणालकल्पा**—पाठा०, 'मृदुमुग्धमृणाल...'। ईषदसमाप्तं मृदुबाल-

मृणालम् इति मृदुबालमृणाल + कल्पप् स्त्रियाम् बालमृणालकल्पा । ईषदसमाप्तौ कल्पशब्देश्यदेशीयरः' पाठा०: (५/३/६७) इति कल्पप् । 'कल्पबादयः प्रत्ययास्तुल्यार्थे प्रत्ययसन्नाः' (दण्डी काव्यादर्श) । ५. विलुप्ता—पाठा०, 'प्रलुप्ता' । वि + √लुप् + क्त कर्मणि, स्त्रियाम् ।

(९) वत्से ! साम्प्रतिकम्···निर्धारणानि—पाठा०,······निर्वापणानि' । साम्प्रतमेवेति साम्प्रतम् + ठक् स्वार्थे । 'त्रिषु साम्प्रतिकं योग्यम्' इति विक्रमार्कः । निर् + √वा + णिच् + ल्युट् करणे निर्वापणानि । (१०) श्लोक [२९] १. पूरोत्पीडे··· धार्यते—यहाँ श्रीराम का पुटपाक-प्रतीकाश करुण रस' फूट पड़ा है । यह अत्यावश्यक था अन्यथा उनके प्रमुक्तकण्ठ से न रोने पर उनका हृदय जड़ हो सकता था । यहाँ Tennyson की The 'Princess' की यह पंक्ति याद आती. है—

"She must weep or she will die." जिसको यहाँ इस प्रकार परिवर्तित किया जा सकता है:—

"Rama must weep or he will die"

२. पूरोत्पीडे—पूरस्योत्पीडे इति पूर + उत् + √पीड् + घञ् भावे पूरोत्पीडः । उत्पीडे—समूहे, उत्पीडने वा । 'पूरो जल प्रवाहे स्याद्व्रणसंशुद्धि-खाद्ययोः' इति मेदिनी । ३. तटाकस्य—पाठा०, 'तडागस्य' एव 'तड़ाकस्य' ४. परीवाहः—परिवाह्यते अनेनेति परीवाहः । 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' (पा०, ६/ /१२२) इति विकल्पेन दीर्घः । जलोच्छ्वासाः परीवाहाः' इत्यमरः । क्षीरस्वामी ने इस पर लिखा है:—जलं प्रवृद्धमुच्छ्वसिति परिवहति यैर्निर्गममार्गैस्ते परिवाहाः, यल्लक्ष्यम्—'उपार्जितानामर्थानां त्याग एव हि रक्षणम् । तटाकोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम्' ।

(११) विशेषतो रामभद्रस्य बहुप्रकारकष्टो जीवलोकः—पाठ०, 'विशेषतो रामभद्रस्य यस्य बहुतरं प्रकारकष्टो जीवलोकः । (१२) [श्लोक ३०] १. ग्लपयति—पाठा० 'क्लमयति' ।

२. विधिवदभियुक्तेन मनसा—क्षत्रिय का सर्वप्रमुख कर्तव्य प्रजापालन ही है, अतः यहाँ 'अभियुक्त' शब्द दिया गया है । कहा भी है:—

"प्रधानं क्षत्रियं कर्मप्रजानां परिपालनम् ॥" (याज्ञवल्क्य०, १/११९)

३. प्रियाशोको ग्लपयति—तुलना कीजियेः—

"ग्लपयति परिपाण्डुः क्षाममस्याः शरीरं,
सरसिज इव धर्मः केतकीगर्भपत्रम् ॥" (उत्तर०, ३/५)

रामः—कष्टं भोः ? कष्टम् !

दलति हृदयं शोकोद्वेगाद् द्विधा तु न भिद्यते,
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम् ।

ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसा-
त्प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम् ॥३१॥

[अन्वयः—हृदयं, शोकोद्वेगात्, दलति, द्विधा तु न भिद्यते। विकलः कायः, मोहं वहति, चेतनां (तु) न मुञ्चति। अन्तर्दाहः, तनूं ज्वलयति, भस्मसात् (तु) न करोति। मर्मच्छेदी विधिः, प्रहरति, जीवितं (तु) न कृन्तति ॥३१॥

हे भगवन्तः पौरजानपदाः !

न किल भवतां देव्याः स्थानं गृहेऽभिमतं तत-
स्तृणमिव वने शून्ये त्यक्ता न चाप्यनुशोचिता।
चिरपरिचितास्ते ते भावास्तया द्रवयन्ति मा-
मिदमशरणैरद्यास्माभिः प्रसीदत रुद्यते ॥३२॥

[अन्वयः—देव्याः गृहे स्थानं, भवतां न अभिमतम्, ततः तृणम् इव शून्ये वने त्यक्ता, न च अनुशोचिता अपि, चिरपरिचिताः ते ते भावाः मां तथा द्रवयन्ति, अद्य अशरणैः अस्माभिः इदं रुद्यते प्रसीदत ॥३२॥

हिन्दी—

राम—कष्ट ! (अतिशय) कष्ट !

[श्लोक ३१] मेरा हृदय शोकावेग से विदीर्ण हो रहा है परन्तु दो टुकड़ों में विभक्त नहीं होता (टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाता।) शोकाकुल शरीर मोह धारण कर रहा है, परन्तु चेतना को नहीं छोड़ता। अन्तर्दाह शरीर को जला रहा है, परन्तु भस्मसात् नहीं करता ! और यह मर्म-स्थलों पर आघात करने वाला भाग्य प्रहार (तो) करता है, परन्तु जीवन को नष्ट नहीं करता ! (इस प्रकार मैं बड़े भारी कष्ट का अनुभव कर रहा हूँ।)

सामान्य नागरिकों और जनपदवासियों !

[श्लोक ३२] सीता को मेरे घर में रखना आप लोगों को अभीष्ट न था, मैंने उसे तिनके की भाँति शून्य वन में छोड़ दिया और उसके लिये कोई भी शोक नहीं किया ! परन्तु आज वे चिर-परिचित भाव मुझे द्रवित कर रहे हैं, अतः मैं अशरण होकर रो रहा हूँ। आप लोग क्षमा करना ! (शब्दार्थ—प्रसन्न हों।) [आज यहाँ उन चिर-परिचित स्थानों को देखकर मेरे हृदय का बाँध टूट गया है जिससे कि मैं विवश होकर रो रहा हूँ। इसके लिए आप लोग, कृपा कर, मुझे क्षमा दीजियेगा अथवा 'प्रसीदत' व्यङ्ग के रूप में भी हो सकता है।]

संस्कृत-व्याख्या

अतिशयित शोक-वेदनामसहमानो रामो वदति दलतीति।

दलतीति। अहो ! मम विचित्रा दशा वर्तते। शोकस्य वेगान्मम हृदयं दलति=विदलितमिव भवति, परं द्विधा न भिद्यते। खण्डद्वयं हृदयस्य न भवति। अन्यो जनस्तावन्न प्रत्येति यावत् खण्ड्यमानं वस्तु प्रत्यक्षतो भागद्वये विदीर्णं न भवेत्।

ततश्च मदीये हृदये यादृशी वेदना वर्तते, तस्याः परिज्ञानमन्येषां नैव भवितुं युज्यते। स्वानुभववेद्यमिदमपि दुःखमिति भावः, किञ्च विकलः ममायं कायो मोहं वहति=धारयति, परन्तु चेतनां न विमुञ्चति। चेतना-रहितं जनं को नाम सचेता मुग्धं मन्येत ? अपि च—आन्तरिको दाहस्तनूं=शरीरं ज्वलयति, किन्तु भस्मसात्=सर्वथा भस्म न करोति। अथ च मर्मच्छेदी=मर्मस्थानेषु आघात कुरुते विधाता, परन्तु जीवितं=प्राणं न कृन्तति=द्विधा न करोति। एवञ्च जीवनमरणयोर्दोलायामारूढस्येव मम विचित्रा दशा वर्तते। "कस्मै किं कथनीयम् ? कस्य मनः प्रत्ययो भवति ?" परम-शोकाकुलोऽस्मीति हृदयम्।

अत्र दलनादिकारणे विद्यमानेऽपि कार्याभावात् (द्विधा भवनाभावात्) विशेषोक्तिः अलङ्कारः। हरिणी च्छन्दः॥३१॥

सम्प्रति पौरान् सम्बोध्य "किमिति सीतां परित्यज्य सम्प्रत्ति रुद्यते ?" इति शङ्काया उत्तरं ददानः प्राह—न किलेति।

भो! भगवन्तः पौराः जानपदाश्च! महानुभावाः! सीतादेव्या मम भवने निवासो भवतां नाभिलषित आसीद्, इति कृत्वा मया सा परित्यक्ता मनागपि शोकश्च तस्या कृतेः न कृतः किन्त्वत्रागत मां चिरपरिचिता विविधा भावाः द्रवयन्ति, अतोऽवशं इवात्रानुरोदिमि। अशरणं इहास्मि। प्रसीदन्तु भवन्तः अन्या काचिन्नवीना भावना भवद्भिर्नोद्भावनीया।

अत्रापि विशेषोक्ति अलङ्कारः। हरिणीच्छन्दः॥३२॥

टिप्पणी

(१) श्लोक ३१]—

१. शोकोद्वेगात्—पाठा०, 'गाढोद्वेगात्' तथा 'गाढोद्वेगम्। √उद्+विज्+घञ्—उद्वेगः। २. भिद्यते √भिद्+लट्, प्र. पु. एकं (कर्म कर्तुवाच्य)। ३. ज्वलयति—√ज्वल्+णिच्+ति। 'ज्वालयति' रूप भी होता है। ज्वलह्वलह्मलनमाम् अनुपसर्गादा' (गणसूत्र)। ४. भस्मसात्करोति—साकल्येन भस्म इति भस्म+साति+√कृ+ति। 'विभाषा साति कार्त्स्न्ये' (पा० ५/४/५२)। ५. यह श्लोक 'मालतीमाधव' के नवम अङ्क में १२ संख्या पर भी है। त्रिपुरारि ने इस पर टिप्पणी दी है—'अन्तरेव हि दलने यादृशी व्यथा स्यात्तादृशी व्यथा हृदि वर्त्तते···। यदि मोहः कथमेवं जानासीत्यत्रोत्तरम्। चेतनां···तु न मुञ्चत्येवेत्याशयः। तथान्तर्दाहः स्मरपवनसंधुक्षित-शोकानलरूपस्तनुं दहति। तर्हि 'दह भस्मीकरणे' इति धात्वर्थात्किमिति भस्मरूपता न दृश्यते इत्यत्र भस्मसान्न करोतीत्युत्तरम्।' (२) ३० वें श्लोक के अनन्तर बहुत-सी पुस्तकों में सीता का यह कथन और प्राप्त होता है— 'एव्वं ण्णेदं (एवं न्विदम्)'। (३) हे भगवन्तः पौरजानपदाः—पाठा० हे भवन्तः···।

(४) [श्लोक ३२]

१. अभिमतम्—अभि+√मन्+क्त कर्मणि वर्तमाने।

२. भ्रमयन्ति—√भ्रम्+णिच्+ति, मित्वाद् ह्रस्व।

३. पाठान्तर—(१) न वाप्यनुशोचिता, (२) 'परिभ्रमयन्ति मां' या

'परिद्रवयन्ति', (३) 'चिरपरिचितास्त्वेते भावाः' (४) 'किमिह शरणं नाद्याप्येवं (अद्याप्येव) प्रसीदत'।

वासन्ती—(स्वगतम्) अतिगभीरमापूरणं मन्युभारस्य। (प्रकाशम्) देव! अतिक्रान्ते धैर्यमवलम्ब्यताम्।

रामः—किमुच्यते, धैर्यमिति?

देव्या शून्यस्य जगतो, द्वादशः परिवत्सरः।
प्रणष्टमिव नामापि न च रामो न जीवति? ॥३३॥

[अन्वयः—देव्याः शून्यस्य जगतो द्वादशः, परिवत्सरः (वर्तते), नामापि प्रणष्टमिव (जातम्), रामश्च न जीवति (इति) न ॥३३॥]

हिन्दी—

वसन्ती—(स्वयं ही) शोक-भार बहुत बढ़ गया है। (प्रकाश में) महाराज! बीती हुई बातों पर धैर्य धारण कीजिये।

राम—क्या कहती हो? (धैर्य धारण करूँ)

[श्लोक ३३] देवी (सीता) से शून्य हुए आज संसार का बारहवाँ वर्ष है। (इसी बीच में) उनका नाम भी नष्ट (सा) हो गया; फिर भी क्या राम जीवित नहीं है?

संस्कृत-व्याख्या

अत्यधिकदुःखितं रामं निरीक्ष्य वासन्ती स्वगतं प्राह—अति इति। मन्युभारस्य=शोकाधिक्यस्य, अतिगभीरं परिपूरणमस्ति। शोकोऽधिकोस्तीति भावः। प्रकाशं कथयति देव! अतिक्रान्ते वस्तुनि शोको नोचितः। धैर्यधारणं क्रियताम्।

वासन्त्या धैर्य-धारणवार्तां श्रुत्वा रामः सावष्टम्भं प्राह—देव्या इति।

वासन्ति! किं कथयसि—'धैर्यम्। इति? अये! सीताशून्येऽस्मिन् जगति द्वादशवर्षाणि व्यतीतानि, यस्या नामापि सम्प्रति विनष्टमिव जातम्! किमु रामो न जीवति? अपि तु जीवत्येव। अतोऽधिकं किं नाम धैर्यमवलम्बनीयम्भवेत्! धैर्यस्य बलेनैवाद्यापि जीवामि अन्यथा प्राणेश्वरीं विना, को वेत्ति, किं स्यात्? अत्र उत्प्रेक्षा अलङ्कारः। अनुष्टुप् छन्दः ॥३३॥

टिप्पणी

(१) अतिगभीरमापूरणं मन्युभारस्य—पाठा० १. 'अतिगभीरमवपूरणं शोक-शोकसागरस्य', २. 'अतिगम्भीरमापूरणं मन्युसम्भारस्य'।

[श्लोक ३३]—

१. प्रणष्टमिव नामापि—पाठा०, १. लुप्तं सीतेति नामापि', २. न च सीतेति नामापि। २. न च रामो न जीवति—जहाँ दो 'न' का प्रयोग हो वहाँ, स्वीकारोक्ति' ही होती है। 'सम्भाव्यनिषेधनिवर्त्तने द्वौ प्रतिषेधौ' (वामन काव्यालङ्कारसूत्र, ५/१/६)।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब मैं बारह वर्ष सीता के दारुण वियोग में काट चुका हूँ तो इससे अधिक धैर्य और क्या होगा ?

सीताः—ओहरामि अ मोहिआ विअ एदेहिं अज्जउत्तस्स पिअवअणेहिं । [अपह्रिये च मोहितेव एतैरार्यपुत्रस्य प्रियवचनैः ।

तमसा—एवमेव वत्से !

नैताः प्रियतमा वाचः, स्नेहार्द्राः, शोकदारुणाः ।

एतास्ता मधुनो धाराः, श्च्योतन्ति सविषास्त्वयि ॥३४॥

अन्वयः—एताः वाचः प्रियतमाः स्नेहार्द्राः, शोकदारुणाः, न (अपितु), एताः ता सविषाः मधुनः, धाराः, त्वयि श्च्योतन्ति ॥३४॥

हिन्दी—

सीता—मैं आर्यपुत्र के इन प्रिय वचनों से मोहित-सी सुध-बुध खो रही हूँ।

तमसा—ऐसा ही है बेटी !

[श्लोक ३४] ये स्नेह-सिक्त, शोक से दारुण प्रिय वचन नहीं हैं अपितु ये वे विषयुक्त मधु की धारायें हैं जो तुम्हारे ऊपर पड़ रही हैं। [जैसे, मधु मिश्रित विष की बूँद पहले तो अच्छी लगती हैं परन्तु अन्त में मूर्च्छित कर देती हैं, वैसे ही ये वचन सुनने में प्रिय लग रहे हैं परन्तु इनमें लोकापवाद का विष मिला हुआ होने से इनका परिणाम शुभ नहीं है।]

संस्कृत-व्याख्या

राम-वचनादपह्रियमाणामिव सीताम्प्रत्याह तमसा—नैता इति ।

वत्से सीते ! स्नेहेनार्द्राः, शोकेन च दारुणा एताः प्रियतमा वाचो न सन्ति, अपितु सविषा मधुनस्ताः प्रसिद्धा एता धाराः त्वयि श्च्योतन्ति = स्रवन्ति । मधुत्वात् प्रियाः प्रतीयन्ते, सविषाश्च मोहं जनयन्ति । 'एतासां प्रियोक्तीनामन्तस्तवापवाद-विषं निहितमस्तीत्यपि वेदितव्यमिति' भावः ।

अत्रापह्नुति अलङ्कारः ॥३४॥

टिप्पणी

(१) ओहरामि···पिअवअणेहिं = पाठा०, 'मोहिदह्मि एदेहिं अज्जउत्तवअणेहिं (मोहितास्म्येतैरार्यपुत्रवचनैः) ।'

मोहिता = √मुह + णिच् + क्त कर्मणि स्त्रियाम् ।

(२) [श्लोक ३४]—

१. यहाँ अपह्नुति अलङ्कार है।

२. श्रीराम के वचन में दो गुण हैं—'स्नेहार्द्रता' और 'शोकदारुणता'। उन्हीं

के आधार पर क्रमशः मधु की धारा में 'मधुत्व' और 'सविषता' का प्रतिपादन किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि ये श्रीराम की बातें पहले बड़ी प्यारी स्नेह-सिक्त लग रही है किन्तु बाद में कष्टप्रद हैं उसी प्रकार जिस प्रकार कि विषमिश्रित मधु की धारा।

रामः—अयि वासन्ति ! मया खलु—

यथा तिरश्चीनमलातशल्यं प्रत्युप्तमन्तः सविषश्च दन्तः।
तथैव तीव्रो हृदि शोकशंकुर्मर्माणि कृन्तन्नपि किं न सोढः ? ॥३५॥

[अन्वयः—यथा अन्तः प्रत्युप्तं, तिरश्चीनम्, अलातशल्यं, सविषः दन्तश्च, तथैव, तीव्रः, मर्माणि कृन्तन् अपि, हृदि, शोक-शंकुः, किं न सोढः ? ॥३५॥]

सीता—एव्वं वि मन्दभाइणी अहं जा पुणो आआसआरिणी अज्जउत्तस्स। [एवमपि मन्दभागिन्यहं या पुनरायासकारिणी आर्यपुत्रस्य।]

रामः—एवमतिगूढस्तम्भितान्तःकरणस्यापि मम संस्तुतवस्तुदर्शनादद्यायमावेगः। तथा हि—

वेलोल्लोलक्षुभितकरुणोज्जृम्भणस्तम्भनार्थं,
यो यो यत्नः कथमपि समाधीयते तं तमन्तः।
भित्वा भित्वा प्रसरति बलात्कोऽपि चेतोविकार,
स्तोयस्येवाप्रतिहतरयः सैकतं सेतुमोघः ॥३६॥

[अन्वयः—वेलोल्लोलक्षुभितकरुणोज्जृम्भणस्तम्भनार्थं, यः यः यत्नः कथमपि समाधीयते, तं तं कोऽपि चेतोविकारः, अप्रतिहतरयः तोयस्य ओघः, सैकतं सेतुमिव अन्तः बलात्, भित्वा-भित्वा प्रसरति ॥३६॥]

सीता—अज्जउत्तस्स एदिणा दुव्वारदारुणारम्भेण दुःखसंजोएण परिमुसिअणिअदुःखं पमुक्कजीविअ मे हिअअ फुडइ। [आर्यपुत्रस्यैतेन दुर्वारदारुणारम्भेण दुःखसंयोगेन परिसुषितनिजदुःखं प्रमुक्तजीवितं मे हृदयं स्फुटति।]

वासन्ती—(स्वगतम्) कष्टमत्यासक्तो देवः। तदाक्षिपामि तावत्। (प्रकाशम्) चिरपरिचितानिदानीं जनस्थानभोगानवलोकनेन मानयतु देवः।

रामः—एवमस्तु (इत्युत्थाय परिक्रामति।)

हिन्दी—

राम—वासन्ति ! मैंने—

[श्लोक ३५]—जिस प्रकार हृदय में तिरछा धंसा हुआ, तपाने से लाल शल्य (कील) और विषैला दाँत दारुण यन्त्रणा उत्पन्न करता है वैसे ही इस असह्य तथा मर्मस्थलों को विदीर्ण करने वाले, हृदय में गड़े हुए शोकशल्य को क्या मैंने नहीं सहा ? (अपितु सहा है। ऐसे दारुण शोक को सहने पर भी मुझे धैर्य का उपदेश दे रही हो ?)

सीता—मैं ऐसी मन्दभागिनी हूँ जो कि आर्यपुत्र को फिर से दुःख दे रही हूँ।

राम—इस प्रकार अत्यन्त गम्भीरता से अन्तःकरण को रोकने पर भी, चिर-परिचित पदार्थों को देखने से आज मुझे वह शोकावेग हो गया ! जैसा कि—

[श्लोक ३६]—मर्यादा को लाँघकर क्षुब्ध होने वाले शोक की वृद्धि को रोकने के लिए में जैसे-जैसे जो जो यत्न करता हूँ उस उसको बीच ही में रोककर कोई चित्त का विकार जैसे अबाध जल का वेग रेतीले पुल को तोड़कर फैल जाता है, वैसे ही बढ़ रहा है।

सीता—आर्यपुत्र के दुर्वार (न रोके जाने वाले) दारुण शोक से अपना दुःख भूलकर मेरा हृदय निर्जीव होकर फटा (सा) जा रहा है।

वासन्ती—(स्वयं ही) खेद है ! देव (राम) बहुत शोकाकुल हो गये हैं। इसलिए इनका ध्यान दूसरी ओर आकृष्ट करती हूँ। (प्रकाश में) अब आप इन चिर-परिचित दण्डकारण्य प्रदेशों को देखकर (इन्हें) सम्मानित करें।

राम—ऐसा ही सही। (उठकर घूमते हैं।)

संस्कृत-व्याख्या

रामः पुनराह—यथेति।

वासन्ति ! यदा हृदयान्तर्भागे प्रत्युप्तम् = निखातम् अलातशल्यं = प्रज्वलितं लौह-कीलकं तिरश्चीनम् = तिर्यग्भूतं कष्टं वितरति, यथा वा सविषः सर्पादीनां दन्तो दुःखप्रदो भवति, तथैवातिशयशोक-शङ्कुर्मम हृदये मर्मस्थानानि कृन्तन् = छिन्दन्नपि मया अविशेषरूपेण न सोढः किमु ? सोढ एव। सर्वोऽप्यसौ धैर्यस्यैव प्रभाव इति पुनरपि धैर्यावलम्बनार्थं मामुपदिशसि।

अत्रोपमा रूपकञ्च। उपजातिश्छन्दः ॥३४॥

"यद्येवं तर्हि किमेवं खेदः ?" इत्याशङ्कां दूरीकरोति एवमिति। एवमति गूढं यथा स्यात्तथा स्तम्भितं = समवरुद्धं, अन्तःकरणं येन तस्य, संस्तुतानां = दर्शनादद्यायमावेगः शोकस्य संजातः। स्वभावः गम्भीरस्यापि मम पूर्वपरिचितानां पदार्थानामवलोकनेनेदृशी दशाऽद्य सम्पन्नेति भावः।

इममेवार्थं द्रढयति—वेलेति।

वेलायाः = समुद्रस्य मर्यादायाः, उल्लोलः = अतिचञ्चलः क्षुभितः = प्राप्तक्षोभः यः करुणः = शोकस्तस्य यदुज्जृम्भणं = वृद्धिः, तस्यस्तम्भनार्थं = अपनोदार्थं; मर्यादामतिक्रम्य वर्तमानस्यापि शोकसागरस्य स्तम्भनं कर्तुं, इत्यर्थः। क्वचित् "लोलोल्लोल"—इति पाठः। तत्र लोलम् = चञ्चलम् ततोऽपि लोलः—इत्यर्थः। एवंविधस्य अतितमां वृद्धिमापन्नस्य शोकस्यावरोधार्थं यो यो यत्नो मया कथं कथमपि समाधीयते = समाधानं कर्तुमन्विष्यते, तं तं यत्नम् अन्तः = मध्ये, भित्वा-भित्वा-संछिद्य; बलात् कोऽपि मानसो विकारः अप्रतिहतः = अनवरुद्धवेगः, जलस्य वेगो यथा सिकताभिर्निर्मितं सेतुं बलात् भित्वा प्रवहति, तथैवायमपि शोकस्य वेगं भित्वाऽग्रे प्रसारं प्राप्नोत्येव। किं करोमि शोकवेगं निरोद्धुं सर्वोऽपि मम यत्नो निष्फलो भवतीति भावः। सैकतोपमया चेतसोऽतिजर्जरावस्था सूचिता। अनिवार्यः शोकश्चेति ध्वन्यते।

अत्रोपमालङ्कारः। मन्दाक्रान्ता च्छन्दः। प्रथमे पादे ओजो गुणः। शेषेषु प्रसादः। गौडी लाटी च रीत्यौ ॥३६॥

रामस्य शोकावेगमलोक्यात्मनो दशां दर्शयितुमाप जनकनन्दिनी—अज्ज-उत्तस्सेति। दुर्वारः=विशेषप्रयत्नैरपि वारयितुमशक्यः। दारुणः=क्लेशप्रदत्वात् परमकठोरः, आरम्भो यस्य तेन आर्यपुत्रस्य दुःखसंयोगेन, परिमुषितम्=अपहृतं निज-दुःखं यस्य यत्, प्रमुक्तं=निर्गतं, जीवितं—जीवनं यस्य तथाविधं मदीयं हृदयं सम्पन्नम्। आर्यपुत्रस्य दुःखं निरीक्ष्य मम हृदयं तु प्राणशून्यमिव सम्पन्नमित्याशयः।

रामस्य संक्षोभमवलोक्य स्वगतमाह वासन्ती—कष्टमिति। अहो! महान् खेदः देवोऽत्रतु अत्यासक्तः=अतिशोकसङ्के समासक्तचितः सञ्जातः। ततश्चान्यत्रा-क्षिपामि=सञ्चारयामि। (प्रकाशं) ब्रूते—महाराज! पूर्वपरिचितानामेतेषां जन-स्थानस्याभोगानाम्=प्रदेशानामवलोकनेन सम्मानं करोतु श्रीमानिति।

टिप्पणी

(१) तिरश्चीनम्—तिर्यगेव तिरश्चीनम्। तिर्यच्+ख। "विभाषाञ्चेर-दिक्स्त्रियाम्" (पा० ५/४/८)। 'तिर्यक् तिरोऽर्थे वक्रे च विहङ्गादौ त्वनव्ययम्"—इत्यमरः। (२) अलातशल्यम्—अलातरूपं शल्यम्। "अङ्गारोऽलातमुल्मुकम्"—इत्यमरः। शाकपार्थिवादित्वान्मध्यसपदलोपिसमासः।

उन दोनों विशेषणों से व्यथा की विषमता सिद्ध होती है। सीधा शल्य इतना कष्ट नहीं देता जितना कि टेढा। इतनी पर भी वह अङ्गाररूप हो तो और भी कष्टकारी होता है। ठीक यही दशा श्रीरामजी के शोकशङ्कु की है। वह बड़ा विषम हृदयदाहक है।

(४) प्रत्युप्तमन्तः सविषश्च दन्त—१. पाठा०,...."सविषश्च दंशः। २. प्रत्युप्तम्=प्रति+√वप्+क्त। ३. यहाँ 'च' का प्रयोग 'वा' के अर्थ में हुआ है। "च पादपूरणे पक्षान्तरे हेतौ विनिश्चये"—इति त्रिकाण्डशेषः। ४. यहाँ भी एक विशेषता है। श्रीरामजी का शोक अन्तर्मुख है, बहीर्मुख नहीं। शोक हृदय से बाहर को नहीं आता, अपितु हृदय के अन्दर ही अन्दर घुस जाता है।

(५) एवमपि मन्दभागिनी...—पाठा० "एवमस्मि मन्दभागिनी पुनरपि..." (एव्वह्मि मन्दभाइणी पुणोवि)। (६) वेलोल्लोल—पाठा० १. "लोलोल्लोल..." एवं 'हेलोल्लोल'...। २. 'समाधीयते' एवं 'मयाधीयते'। समास संस्कृत-टीका में देखिये।

सीता—संदीवण एव्व दुःखस्स पिअसहीए विणोदणोवाओ त्ति तक्केमि। [संदीपन एव दुःखस्य प्रियसख्या विनोदनोपाय इति तर्कयामि।]

वासन्ती—देव देव!

अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः,
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद्गोदावरीसैकते ।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया,
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥३७॥

[अन्वयः—अस्मिन्नेव, लतागृहे, त्वं, तन्मार्गदत्तेक्षणः, अभवः, सा हंसैः, कृतकौतुका, गोदावरी-सैकते, चिरमभूत् । आयान्त्या, तया, त्वां परिदुर्मनायितम्, इव वीक्ष्य, कातर्यात् अरविन्दकुड्मलनिभः, प्रणामाञ्जलिः, बद्धः ॥३७॥]

सीता—दालुणासि वासन्ति ! दालुणासि । जा एदेहिं हिअअमम्मुग्घाडिअसल्लसंघट्टनेहिं पुणोपुणोवि मं मन्दभाइणि अज्जउत्त अ सुमरावेसि । [दारुणासि वासन्ति ! दारुणासि । या एतैर्हृदयमर्मोद्घाटितशल्यसंघट्टनैः पुनः पुनरपि मां मन्दभागिनीमार्यपुत्रं च स्मरयसि ।]

हिन्दी—

सीता—मैं समझती हूँ कि (आर्यपुत्र के) दुःख को भड़काना ही प्रिय सखी वासन्ती के विनोद का साधन है ।

वासन्ती—देव ! देव !

[श्लोक ३७]—(देखिये) यह वही लतागृह, जहाँ आप मार्ग की ओर आँखें लगाकर सीता की प्रतीक्षा कर रहे थे, परन्तु उन्हें गोदावरी से रेतीले तट पर हंसों से खेलते हुए देर हो गई थी । जब कुछ देर बाद, लौटकर आती हुई उसने आपको कुछ खिन्न सा देखा तो कातरता से कमल-कलिकाओं के समान सुन्दर अंगुलियों को जोड़कर (देरी के लिए क्षमा माँगते हुए) आपको दूर से ही प्रणामाञ्जलि समर्पित की थी ।

सीता—सखि वासन्ति ! तू बड़ी कठोर है जो हृदय के मर्मस्थल में उद्‌घाटित (पकड़े गये) शोकशल्य को बारम्बार हिला हिलाकर मुझे और आर्यपुत्र को (ऐसे हृदय-द्रावक दृश्यों का स्मरण करा रही है । (बार-बार पुराने प्रसङ्गों को उभार उभार कर हम दोनों को दुःखाभिभूत कर रही है ।)

संस्कृत-व्याख्या

रामस्यानुमतिमादाय वासन्ती रामेण सह स्थानान्तरं गत्वा किमपि विशिष्टं स्थानं प्रदर्शयति—अस्मिन्निति ।

देव ! इदं तत् स्थानमस्ति, यत्र कदाचिद् भवान् सीतायाः प्रतीक्षायां तस्या मार्गमन्वीक्षमाणः समुपदिष्टः । सा च गोदावर्याः सैकते तटे हंसैः सह विनोदपरायणा विलम्बमकरोत् । पुनश्च समागच्छन्त्या तया दूरत एव भवन्तं विक्षुब्धमिवावलोक्य कातरया सत्या कोमल-कमलकलिकाकृतिः परमरमणीयः प्रणामार्थमञ्जलिर्बद्ध आसीत् । इदं तदेव लता-गृहं निरीक्ष्यात्मानं विनोदयितुमर्हति महाराज इति ।

अत्रोपमाऽलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः ! प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः ॥३७॥

एतेन लतागृहप्रदर्शनेनातिखिन्ना सीता वासन्त्या व्यापारं निन्दति—दालुणासीत्ति । सखि वासन्ति ! त्वमतिकठोरासि । यतो हृदस्य मर्मस्थानोद्घातनेन यत् शल्य-कीलकमधिगतं' येन मामार्यपुत्रञ्च भूयो भूय एवंविधानां छेदकराणां तत्त्वानां स्मरणं कारयित्वा क्लेशयसि ।

टिप्पणी

(१) संदीपनं···तर्कयामि - वस्तुतः सीता का यह कथन यथार्थ है। अभी आगे चलकर इन चिरपरिचित जनस्थान भागों का अवलोकन करने पर श्रीरामजी का हृदय स्फुटित होने वाला है और उनकी दारुण दशा होने वाली है। देखिए ३८ वाँ श्लोक।

(२) [श्लोक ३७]—

१. तन्मार्गदत्तेक्षणः—तस्याः मार्गस्तन्मार्गः, तस्मिन् ईक्षणं येन सः। २. कृतकौतुका—पाठा०, "स्थिरकौतुका", । ३. गोदावरीसैकते—गोदावर्याः सैकते। सैकतम्=सिकता+अण्। "देशे लुबिलचौ च" (पा० ५/२/१०५)।

४. आयान्त्या······मुग्धः प्रणामाञ्जलिः—इस वर्णन में घनश्याम पण्डित के अनुसार कवि का अचातुर्य है—"अञ्जलिरिति कथनं कवेरचातुर्यम्। वेश्याजनक्रिवाणोऽयं विलासः न तु कुलाङ्गनानां सम्प्रदायः। कदाचिदपराधे सति सत्यः पादपीडनमेवारचयन्तितराम्, इत्युच्चैश्शिरसः। अलौकिकवैदिकाघण्टापथमन्थ (?) विशेषज्ञाः प्रमाणम्।"

किन्तु यह विचार उचित प्रतीत नहीं होता। वीरराघव ने प्रणामाञ्जलि की पुष्टि की है—"प्रणामाञ्जलिः मस्तकन्यस्तकरपुटादिप्रणामाङ्गभूताञ्जलिरित्यर्थः। अथवा—

"नामयत्यपि वा दैवं, रोह्लीभावयति ध्रुवम्।
प्रह्लीभवति नीचो हि, परि नैच्यं विलोकयन्॥
अतो वा नम उक्तीदं, यतं नामयति स्वयम्।
वाचा न इति प्रोच्य, वपुषा मनसा च यत्॥"

इति भगवस्त्रोक्तरीत्या प्रणामः कोपोद्धृतरामहृदयगमनहेतुभूतोऽञ्जलिरित्यर्थः। उक्तञ्च—'अञ्जलिः परमा मुद्रा क्षिप्रं देवप्रसादिनी' इति। अतएव रामायणे—

"कृतापराधस्य हि ते नान्यत्पश्याम्यहं क्षमम्।
अन्तरेणाञ्जलिं बद्ध्वा, लक्ष्मणस्य प्रसादनात्॥ इति॥"

५. यह पद्य 'प्रणयमानं' उदाहरण के रूप में 'दशरूपक' (४/५८) में उद्धृत हुआ है।

रामः—अयि चण्डि जानकि ! इतस्ततो दृश्यसे, नानुकम्पसे ।

हा हा देवि स्फुटति हृदयं, ध्वंसते देहबन्धः,
शून्यं मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि ।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा,
विष्वङ्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि ? ॥३८॥

[अन्वयः—हा हा देवि ! हृदयं स्फुटति, देहबन्धः ध्वंसते, जगत् शून्यं मन्ये, अन्तः अविरलज्वालम्, ज्वलामि, सीदन् विधुरः, अन्तरात्मा, अन्धे तमसि मज्जति इव, मोहः, विष्वक् स्थगयति, मन्दभाग्यः कथं करोमि ? ॥३८॥]

(इति मूर्च्छति ।)

सीता—हद्धी हद्धी ! पुणोवि मुद्धो अज्जउत्तो ! [हा धिक् हा धिक् ! पुनरपि मूढ आर्यपुत्रः ।]

वासन्ती—देव ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

सीता—अज्जउत्त ! मं मन्दभाइणिं उद्दिसिअ सअलजीवलोअमङ्गलि-अजम्मलाहस्स दे वारं वारं संसइदजीविअदशालुणोदापरिणामो त्ति हा हदह्मि । (इति मूर्च्छति) [आर्यपुत्र ! मां मन्दभागिनीमुद्दिश्य सकलजीवलोकमाङ्गलिक-जन्मलाभस्य ते वारं वारं संशयितजीवितदारुणो दशापरिणाम इति हा हतास्मि ।]

तमसा—वत्से । समाश्वसिहि समाश्वसिहि । पुनस्ते पाणिस्पर्शो राम-भद्रस्य जीवनोपायः ।

वासन्ती—कथमद्यापि नोच्छ्वसिति ? हा प्रियसखि सीते ! क्वासि ! सम्भावयात्मनो जीवितेश्वरम् ।

(सीता ससम्भ्रममुपसृत्य हृदि ललाटे च स्पृशति ।)

हिन्दी—

राम—चण्डी (अतिशय कोप करने वाली) सीते ! इधर-उधर दिखाई (तो) दे रही हो पर मुझ पर दया नहीं करतीं ? (यहाँ के कण-कण में तुम बसी हुई-सी लग रही हो परन्तु तुम्हारा प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हो रहा है !)

[श्लोक ३८]—हा, देवि ! (तुम्हारे वियोग में मेरा) हृदय फटा जा रहा है । देह के बन्धन ढीले पड़ रहे हैं । मैं संसार को शून्य समझ रहा हूँ । मैं भीतर ही

भीतर लगातार जला जा रहा हूँ। मेरी व्याकुल अन्तरात्मा निबिड़ अन्धकार में धंसी जा रही है ! मुझे मोह चारों ओर से घेर रहा है ! हा ! मैं भाग्यहीन (अब) क्या करूँ ?

सीता—हाय ! हाय ! आर्यपुत्र फिर मूर्छित हो गये !

वासन्ती—महाराज धैर्य धारण कीजिये। धैर्य धारण कीजिये।

सीता—आर्यपुत्र मुझ मन्दभागिनी को लक्ष्य कर, समस्त संसार के कल्याण के लिये जन्म लेने वाले आपका, जीवन को संशय में डाल देने वाला विषय परिणाम हो रहा है ! हाय ! मैं हतप्राय हो रही हूँ। (मूर्छित हो जाती है।)

तमसा—वत्से ! आश्वस्त हो ! आश्वस्त हो ! पुनः तुम्हारे हाथ का स्पर्श रामभद्र के जीवन का उपाय है। (तुम अपने स्पर्श से उन्हें सञ्जीवित कर दो।)

वासन्ती—क्या अब भी सचेत नहीं हो रहे है ? हा ! प्रियसखि, सीते ! तुम कहाँ हो ? अपने प्राणेश्वर को संभालो !

(सीता घबराहट से पास जाकर हृदय और ललाट पर स्पर्श करती है।)

संस्कृत-व्याख्या

खेदातिशयभिनयन्नाह रामः—हा हेति। हा ! चण्डि सीते ! इतस्ततो दृश्यसे, नतु मामनुकम्पसे—हन्त ! देवि ! ममेदं हृदयं स्फुटति, देहस्य बन्धोऽधुना ध्वंसते= शिथिलीभवति। अहमिदानीं सर्वमपि संसारं चिरशून्यं जानामि निरन्तर—शोकज्वालयाऽन्तर्ज्वलामि चित्ते दाह इव समुद्भवति। सीदन्=दुःखमाप्नुवन् ममान्तरात्माऽन्धे तमसि=घोरेऽन्धकारे विधुरः सन् नियुक्तः सम् निमज्जतीव=अन्धकारसिन्धौ निमग्नो भवतीव। हा ! परितो मोहो मां स्थगयति=आवृणोति। मन्दभाग्योऽहमिदानीं किं करोमि ? किंकर्तव्यताविमूढोऽस्मीति भावः। सीता-विरह-विलोपनोपायो मम विचारनायातीत्याशयः।

अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः। मन्दाक्रान्ता च्छन्दः ॥३८॥

मूर्च्छितं राममवलोक्य दुःखिता सीता प्राह—अज्जउत्तेत्ति। आर्यपुत्र ! भवतो जन्म निखिलविश्वस्य मंगलार्थमस्ति, पुनरपि मम स्मरणेन संकयितजीवित इवासि इति भावः।

टिप्पणी

(१) अयि चण्डि जानकि !—वीरराघव ने 'जानकि' पद की व्यञ्जना इस प्रकार बताई है—'जानकीत्युक्त्वा परमदयालुजनकराजपुत्र्यास्तवेदं निर्दयत्वं नोचितमिति व्यज्यते।" (२) इतस्ततो दृश्यसे नानुकम्पसे—पाठा०, "...दृश्यस इव..."।

तात्पर्य यह है कि सीता की स्मृति उग्ररूप में जागरूक हो जाने से श्रीराम को उसका दर्शन सर्वत्र अतिभ्रान्ति (Hallucination) सी दशा में हो रहा था अथवा सीता-सेवित संस्थलों के दर्शन से प्राचीन स्मृति साकार हो उठी थी।

(३) [श्लोक ३८]—

१. प्रस्तुत पद्य 'मालतीमाधव' (९/२०) में किञ्चित परिवर्तन के साथ मिलता है। "भ्रातमतिर्दलति···" आदि।

२. पाठा०, (१) 'ध्वंसते' के स्थान पर 'स्रंसते'। (२) जगदविरल···' के स्थान पर 'जगदविरत या जगदविरतम्'। ३. कथं मन्दभाग्यः करोमि—की व्याख्या वीरराघव ने इस प्रकार की है—"किं हृदयस्फोटादिं निवारयामि, उत त्वदागमनार्थं लोकाननुनयामि, अथवा तन्निगृह्य त्वामानेष्यामि वेति भावः। ४. जगद्धर ने इस पद्य में शोकस्थायिभाव के व्यभिचारीभावों का प्रकाशन बड़ी रुचिरता से किया है—"द्विधा भवति हृदयमिति पीडा, अवयवसन्धिः शिथिलीभवतीत्यस्वस्थता। विश्वं शून्यं मन्ये इति बाह्यासंवेदना निर्वेदः। अविरल-ज्वालं यथा तथान्तर्ज्वलामिति चिन्ताजनितो दाहः। अन्तरात्मा निरालम्बः सीदन्नवसादं गच्छन्गाढान्धकारे मज्जतीवेति ग्लानिः। विष्वक् सर्वतो मोहश्छादयतीति मोहः। मन्दभाग्योऽहं किं करोमीति दैन्यम्।"

(३) "सकलजीवलोकमाङ्गलिकजन्मलाभस्य"–पाठा०, सकलजीवलोकमङ्गला-धारस्य'।

वासन्ती—दिष्टया प्रत्यापन्नचेतनो रामभद्रः।

रामः—

आलिम्पन्नमृतमयैरिव प्रलेपैरन्तर्वा बहिरपि वा शरीरधातून्।
संस्पर्शः पुनरपि जीवयन्नकस्मादानन्दादपरमिवादधाति मोहम् ॥३९॥

[अन्वयः—अमृतमयैः, प्रलेपैः, अन्तर्वा बहिरपि वा शरीरधातून्, आलिम्पन्निव जीवयन्, अकस्मात्, संस्पर्शः, पुनरपि, आनन्दात् अपरं, मोहम् आदधाति इव ॥३९॥]
(सानन्दं निमीलिताक्ष एव) सखि, वासन्ती! दिष्टया वर्धसे!

वासन्ती—कथमिव?

रामः—सखि! किमन्यत्? पुनरपि प्राप्ता जानकी।

वासन्ती—अयि देव रामभद्र! क्व सा?

रामः—(स्पर्शसुखमभिनीय) पश्य, नन्वियं पुरत एव।

वासन्ती—अयि देव रामभद्र! किमिति मर्मच्छेददारुणैरतिप्रलापैः प्रिय-सखीविपत्तिदुःखदग्धामपि मां पुनः पुनर्मन्दभाग्यां दहसि?

सीता – ओसरिदुं इच्छम्मि ! एसो उण चिरप्पण असंभारसोम्मसीअलेण अज्जउत्तप्परिसेण दीहदारुणंवि झत्ति संदावं उल्लाहअन्तेण वज्जलेहावणद्धो विअ परिअद्धवावारो आसंजिओ विअ मे अग्गहत्थो। [अपसर्तुमिच्छामि। एष पुनः चिरप्रणयसम्भारसौम्यशीतलेन आर्यपुत्रस्पर्शेन दीर्घदारुणमपि झटिति सन्तापमुल्लाघयता वज्रलेपोपनद्ध इव पर्यस्तव्यापार आसञ्जित इव मेऽग्रहस्तः ।]

हिन्दी—

वासन्ती—सौभाग्य से रामभद्र पुनः सचेत हो गये हैं।

राम—[श्लोक ३९]—अन्दर और बाहर (शरीर के भीतर और बाहर की) धातुओं पर अमृतमय लेप करता तथा मुझको जीवित-सा बनाता हुआ यह स्पर्श सहसा आनन्द के कारण पुनः मोह उत्पन्न कर रहा है।

(आनन्द से आँखें बन्द कर) सखि वासन्ति ! सौभाग्य से बढ़ रही हो ! (तुम भाग्यशाली हो, तुम्हें बधाई है।)

वासन्ती—कैसे ?

राम—सखि ! और क्या ? फिर से जानकी प्राप्त हो गई !

वासन्ती—देव, रामभद्र, वह कहाँ ?

राम—(स्पर्श-सुख का अभिनय कर) देखो न, यह सामने ही है।

वासन्ती—देव, रामभद्र ! इन मर्म-विदारक अत्यन्त दारुण विलापों से सखी (सीता) के दुःख से दग्ध मुझ मन्दभागिनी को और क्यों जला रहे हो ?

सीता—मैं दूर हटना चाहती हूँ, क्योंकि, बहुत दिनों से सञ्चित प्रेम से आनन्द-दायक तथा शीतल, आर्यपुत्र के, लम्बे दारुण शोक को दूर करने वाले स्पर्श से वज्र के लेप से जकड़ा हुआ सा निश्चेष्ट होकर हाथ का अग्रभाग चिपक-सा गया है। (प्राणेश्वर के स्पर्श से मेरा हाथ सुन्न-सा हो गया है।)

संस्कृत-व्याख्या

सीतायाः करपङ्कजस्पर्शात् प्रत्यापन्नचेतनो रामभद्रः सहर्षमाह—आलिम्पन्निति।

अहो ! अमृतमयैः प्रकृष्टलेपैः कृत्वा शरीरान्तः स्थितात् बहिः स्थितान् वा धातून्=(दधति—शरीरं पोषयन्तीति धावतः, तान्, धातश्चः—"रसासृङ् मांस मेदोऽस्थि मज्जा-शुक्राणि धातवः।" इति सुश्रुतसंहितोक्तेः उक्ता भवन्ति।) आलिम्पन्निव जानकी-करस्पर्शः पुनरपि मां जीवयन्=उज्जीवितं कुर्वन्। आनन्दाद्=आनन्दं दत्त्वा (ल्यब्लोपेऽत्र पञ्चमी) अपरमिव मोहं समादधाति। आनन्दानुभूतिरपि मोह इवास्ते। मोहेऽपि यथा निश्चेष्टता भवति तथैवानन्देऽपीति भावः।

मोहस्य लक्षणञ्च यथा—

"मोहो विचित्तता भीति-दुःख वेगानुचिन्तनैः ।
मूर्च्छनाऽज्ञान-पतन-भ्रमणदर्शनादिकृत् ॥" इति ।

अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । प्रहर्षिणी च्छन्दः ॥३९॥

सीतायाः करस्पर्शजन्यं सुखमास्वादयन् रामो लोचने निमील्य पुरतो वर्तते सैव मम प्रियतमेति वासन्तीम्प्रत्याह । सा च खेदमभिनयन्ती कथयति अयि इति । अयि देव ! मर्मच्छेदैरति कठोरैः प्रलापैः, सीताया विपत्ति-दुख-दग्धामपि मां किमिति दहसि ? कुत्रात्र तस्या सम्भवः ?

सीता रामस्येदृशीमवस्थामवलोक्य ततोऽपसर्तुकामा स्वकीयकरस्य जडतामिव प्रदर्शयति—ओसरिदुमिति । इतः=स्थानादन्यत्र गन्तुमिच्छामि । दीर्घकाल शोक-सन्तापमपि दूरीकुर्वता आर्यपुत्रस्य चिरकाल-सेवित-सौम्येन, शीतलेन च करस्पर्शेन ममाग्रहस्तो जडीकृत इवास्ते ।

टिप्पणी

(१) शरीरधातून्—शरीर में सप्त धातुएँ कही गयी हैं—१. रस, २. रुधिर, ३. माँस, ४. मेद, ५. अस्थि, ६. मज्जा एवं ७. शुक्र । "रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जा-शुक्राणि धातवः" (वाग्भट) । (२) अमृतमयैः—अमृतस्य विकारैः । अमृतः । मयट् । (३) आनन्दात्—"ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च"—इति पञ्चमी अथवा 'हेतौ' पञ्चमी । (४) अपरविधं मोहं तनोति—अपरा विधा यस्य तम् अपरविधम् । तुलना कीजिए—

१. "तव स्पर्शे स्पर्शे मम च (हि) परिमूढेन्द्रियगणो,
विकारश्चैतन्यं भ्रमयति समुन्मीलयति च ।" (उत्त०, १/३५)

२. "सन्तापजां सपदि यः परिहृत्य मूर्च्छा-
मानन्दनेन जडतां पुनरातनोति । (उत्त०, ३/१२)

रामः—सखि ! कुतः प्रलापः ?

गृहीतो यः पूर्वं परिणयविधौ कङ्कणधरः ।
सुधासूतेः पादैरमृतशिशिरैर्यः परिचितः ।

सीता—अज्जउत्त ! सो एव्व दाणिंसि तुमम् ? [आर्यपुत्र ! स एवेदानी-मसि त्वम् ?]

रामः—

स एवायं तस्यास्तदितरकरौपम्यसुभगो ।
मया लब्धः पाणिर्ललितलवलीकन्दलनिभः ॥४०॥

[अन्वयः—पूर्वं परिणयविधौ कङ्कणधरो यो गृहीतः, सुधासूतेः, अमृतशिशिरैः पादैः यः परिचितः, [सीताया आर्यपुत्र ! स एवेदानीमसि त्वम् ?" इति कथनानन्तरं रामः उत्तरार्द्धं पठति, तस्य चान्वय एवम्] ललित-लवली-कन्दलनिभः, तदितरकरौपम्यसुलभः, स, एवायं, तस्याः, पाणिः, मया लब्धः ॥४०॥]

(इति गृह्णाति ।)

सीता—हद्धी हद्धी ! अज्जउत्तप्परिसमोहिदाए पमादो मे संवुत्तो। हा धिक् हा धिक् ! आर्यपुत्रस्पर्शमोहितायाः प्रमादो मे संवृत्तः ।

रामः—सखि वासन्ति ! आनन्दमीलितः प्रियास्पर्शसाध्वसेन परवानस्मि। तत्त्वमपि धारय माम् ।

वासन्ती—कष्टमुन्माद एव ।

(सीता ससम्भ्रमं हस्तमाक्षिप्यासर्पति ।)

हिन्दी—

राम—सखि ! प्रलाप का क्या काम ?

[श्लोक ४० पू०]—"जिसे (मैंने) पहिले विवाह-विधि में कङ्कण धारण किये हुए पकड़ा था; और जो कि चन्द्रमा की अमृतमय किरणों से परिचित था (चन्द्रकिरणों के समान शीतल था)"—

सीता—आर्यपुत्र ! क्या आप अब भी वहीं हैं ? (मेरा परित्याग करने के अनन्तर भी मुझे चाहते हैं ?) अथवा आप अब भी वही हैं जिनको मैंने विवाह के समय कङ्कण-धारण किये हुए वरण किया था और जो चन्द्र-किरणों के समान प्रियदर्शन थे।

राम—[श्लोक ४० उत्त०] "उससे (पकड़े हुए से अतिरिक्त) दूसरे हाथ के समान शोभा वाला 'लवली' लता के अंकुर के समान यह हाथ मैंने पा लिया है।"

[यह आशय है कि रामचन्द्र जी ने विवाह के समय जो हाथ पकड़ा था उसकी उपमा उनके (सीता जी के) ही दूसरे हाथ से ही हो सकती थी और किसी से नहीं। "तदितरकरौपम्यधुभग", का अभिप्राय यही है।] ॥४०॥ (पकड़ लेते हैं।)

सीता—हाय ! हाय ! आर्यपुत्र के स्पर्श से मोहित मुझसे प्रमाद हो गया है।

राम—सखि वासन्ति (मन में) प्रिया-स्पर्श के आनन्द से उत्पन्न आन्दोलन (हल-चल) मचने के कारण परवश हो रहा हूँ। अतः तुम मुझे संभालो !

वासन्ती—दुःख है ! यह उन्माद ही है। उन्माद के कारण ही ये ऐसा कर रहे हैं।)

(सीता शीघ्रता से हाथ खींचकर दूर हट जाती है।)

संस्कृत-व्याख्या

प्रलापो न, अपितु यथार्थमेव करो मया गृहीत रामः कथयति-गृहीत इति। पूर्वं = विवाह समये य एव कङ्कणधरः करो मया गृहीतः, कीदृशः सः। इत्याह—सुधासूतेश्चन्द्रस्य पीयूषशीतलैः करैर्योऽस्ति परिचितः अतिशयितशीतल इति यावत्। रामेण सीतायाः करमुद्दिश्य यावत् कथितम्, तावत्सीता सर्वाण्यपि विशेषणानि रामे नियोजयन्ती प्राह—आर्यपुत्र ! स एव, यो मया विवाह-समये स्वीकृतः, असि। विवाहे मां स्वीकृत्येदानीं परित्यक्तुमुचितं किमु ? इति स्वयमेव विचार्यमिति हृदयम्। पुनः रामः प्राह—तस्याः सीतायाः अपर-करस्योपमया सुभगः (अनुपम इत्यर्थः) स एवायं ललित-लवली-लताङ्कुर-सदृशः पाणिः मया प्राप्तः ! त्वं वासन्ति ! कथं न पश्यसि ? कथं वा न विश्वसिति ?

अत्र श्लेषः पूर्वार्धे, उपमा चोत्तरार्धे। शिखरिणी च्छन्दः ॥४०॥

एवमुक्त्वा सीतायाः करे गृहीते प्रमादोऽयं ममेति कथयति सीता—हद्धी इति। हा धिक् ! आर्यपुत्रस्य स्पर्शेन मोहिताया मम महान् प्रमादः = अनवधानता, संवृत्तः। मयेदं विस्मृतं किं मया साम्प्रतमनुष्ठेयमिति ! हस्त-ग्रहणे ममैवासावधानतेति भावः।

वासन्तीम्प्रतिः रामः कथयति—सखि इति। सखि ! निमीलित-लोचनोऽपि प्रियतमायाः स्पर्श जन्येन साध्वसेन = शृङ्गारजन्य-भीति-विशेषेण कम्पेनैव परवान् = पराधीनोऽस्मि। ततस्त्वमपि मां धारय। वस्तुतस्तु—"त्वमपि धारयैना" मित्येव पाठः शोभनः। अहन्तु साध्वस-वशात् सीतायाः धारणेऽसमर्थोऽस्मि, अतस्त्वमेव एनां = सीतां धारय = गृहाण, इत्याशयः।

रामस्य विकृतिमवलोक्यानवलोक्य च सीतां, वासन्ती प्राह—कष्टमिति। अहो ! महद्दुःखमुपस्थितम्—यदस्य रामस्य तु उन्माद एव संवृत्तः ! उन्मादस्य स्वरूपञ्च यथा—

"चित्तसम्मोह उन्मादः, कामशोकभयादिभिः।
अस्थान—हास—रुदित—गीत—प्रलपनादिकृत ॥" इति।

टिप्पणी

(१) सुधासूते···परिचित—पाठा०, "चिरं स्वेच्छास्पर्शैरमृतशिशरैः"······ सुधायाः (अमृतस्य) सूतिः (उत्पत्तिः) यस्मात्सः सुधासूतिः तस्य। चन्द्रमा के लिए प्रयुक्त होता है।

"सूर्यरश्मिः सुषुम्नो यस्तर्पितस्तेन चन्द्रमाः।
कृष्णपक्षेऽमरैः शश्वत्पीयते वै सुधामयः॥" (विष्णुपुराण, २/११/२२)

(२) आर्यपुत्र ! स एवेदानीमसि त्वम्—इस वाक्य में बहुत नाटकीयता है। भवभूति ने पद्यों के मध्य में अनेक स्थानों पर गद्य का प्रयोग करके विच्छित्ति उत्पन्न की है। इस वाक्य के तीन आशय हो सकते हैं—

१. आर्यपुत्र ! आप अब भी वैसे ही हैं (प्रश्नवाचक चिह्नरहित पाठ) जैसे कि विवाह के समय थे।" सीता ने अभी श्रीराम का स्पर्श किया है। उसे रामचन्द्र के स्पर्श में वही आनन्द प्रतीत हुआ जो कि पहले विवाह के समय। अथवा श्रीराम का वही सीता के प्रति अनुराग अब भी था जो पहले था।

२. "आर्यपुत्र ! आप इस समय वही हैं (जिसके विषय में आप 'गृहीतो यः ...' आदि कह रहे हैं)।" इस विषय में वीरराघव के शब्द ध्यातव्य हैं—"उक्त-विशेषणसाम्यादाह (सीता)—स एवेदानीं त्वमसि इति। यः करः कङ्कणधरो गृहीतः यः सुधासूतेः, पादैः परिचितः स एव त्वमिदानीमित्यर्थः। उभयत्रापि परिणयविधौ कङ्कणधरत्वं लावण्यसंश्लिष्टत्वरूपसुधासूतिकिरणपरिचितत्वं चाव (वि) शिष्टमिति कृत्वा सीतावाक्यं प्रवृत्तम्।"

३. (प्रश्नवाचक चिह्नयुक्त पाठ) "क्या इस समय आप वहीं हैं (जिन्होंने मुझे कठोर वन में निकाल दिया था)" इसी आशय को विद्यासागर ने व्यक्त किया है—"इदानीम् सम्प्रति, ईदृगनुरागप्रकाशकाले इत्यर्थः। सः एव—यः निरपराधाया अपि मम विजनवनविवासनेनातिदारुणः आसीत्, स एवेत्यर्थः। न ह्येतत्कथमपि सम्भवतीत्यर्थः काक्वा व्यज्यते। तादृगतिदारुणे। ईदृगलोकसाधारणानुरागः पाषाणे पङ्कजोद्भववदत्यन्तसम्भवीतिभावः।"

(३) "तदितरकरौपम्यसुभगः"—पाठा०, "तुहिननिकरौपम्यसुभगः" तथा "तुहिनकरकौपम्यसुभगः"।

रामः—धिक् प्रमादः !

करपल्लवः स तस्याः, सहसैवः जडो जडात्परिभ्रष्टः।
परिकम्पिनः प्रकम्पी, करान्मम स्विद्यतः स्विद्यन् ॥४१॥

[अन्वयः—जडः, प्रकम्पी, स्विद्यन्, तस्याः, सं, करपल्लवः, जडात्, परिकम्पिनः, स्विद्यतः मम करात्, सहसा, एव, परिभ्रष्टः ॥४१॥]

सीता—हद्धी हद्धी ! अज्जवि अणुबद्धबहुघुम्मन्तवेअणं ण संठावेमि अत्ताणम्। [हा धिक् हा धिक् ! अद्याप्यनुबद्धबहुघूर्णमानवेदनं न संस्थापयाम्यात्मानम्।]

तमसा—(सस्नेहकौतुकस्मितं निर्वर्ण्य)

सस्वेदरोमाञ्चितकम्पिताङ्गी, जाता प्रियस्पर्शसुखेन वत्सा।
मरुन्नवाम्भः परिधूतसिक्ता, कदम्बयष्टिः स्फुटकोरकेव ॥४२॥

[अन्वयः—वत्सा, प्रियस्पर्शसुखेन, मरुन्नवाम्भःपरिधूतसिक्ता, स्फुटकोरका, कदम्बयष्टिरिव सस्वेदरोमाञ्चितकम्पिताऽङ्गी जाता ॥४२॥]

सीता—(स्वगतम्) अवसेन एदेण अताणएण लज्जाविदह्मि भ अ वंदीए तमसाये। किंति किल एसा भणिस्सदि—एसो परिच्चाओ, एसो अहिसङ्गो त्ति।

[अवशेनैतेनात्मना लज्जापितास्मि भगवत्या तमसया। किमिति किलैषा मंस्यत 'एष परित्याग एषोऽभिषङ्ग' इति।]

रामः—(सर्वतोऽवलोक्य) हा कथं नास्त्येव ? नन्वकरुणे वैदेहि !

सीता—अकरुणह्मि, जा एव्वंविहं तुमं पेक्खन्दी एव जीवेमि। [अकरुणास्मि, यैवंविधं त्वां पश्यन्त्येव जीवामि।]

रामः—क्वासि प्रिये ? देवि ! प्रसीद प्रसीद। मामेवंविधं परित्यक्तुमर्हसि।

सीता—अयि अज्जउत्त ! विप्पदीवं विअ। [अयि आर्यपुत्र ! विप्रतीपमिव।]

वासन्ती—देव ! प्रसीद प्रसीद। स्वेनैव लोकोत्तरेण धैर्येण संस्तम्भयातिभूमिगतमात्मानम्। कुत्र मे प्रियसखी ?

रामः—व्यक्तं नास्त्येव। कथमन्यथा वासन्त्यपि न पश्येत् ? अपि खलु स्वप्न एष स्यात् ? न चास्मि सुप्तः। कुतो रामस्य निद्रा ? सर्वथापि स एवैष भगवाननेकवारपरिकल्पितो विप्रलम्भः पुनः पुनरनुबध्नाति माम्।

सीता—मए एव्व दारुणाए विप्पलद्धो अज्जउत्तो [मयैव दारुणया विप्रलब्ध आर्यपुत्रः।]

हिन्दी—

राम—ओह ! प्रमाद !

[श्लोक ४१]—सीता का जड़, कम्पित तथा पसीने वाला हाथ मेरे जड़ कम्पित तथा पसीने आये हुए हांथ से अचानक ही छूट गया है।

सीता—हाय ! हाय ! बहुत अधिक बार-बार उत्पन्न होने वाली निरन्तर वेदना के कारण मैं अपने को अब तक नहीं संभाल पा रही हूँ।

तमसा—(स्नेह, कौतूहल और मुस्कराहट के साथ देखकर।)

[श्लोक ४२]—बेटी (सीता) प्रिय (राम) के स्पर्श-सुख से, पवन से कंपाई तथा प्रथम वर्षा के जल से सींची हुई कदम्ब की विकसित डाल के समान, स्वेद से रोमाञ्चित और कम्पित हो गई है।

सीता—(अपने मन में) मेरी इस विवशता के कारण देवी तमसा ने मुझे (बहुत) लज्जित किया है। क्या यह (अपने मन में) सोच रही होगी—"कहाँ यह परित्याग ? और कहाँ यह आसक्ति ?"

राम—(चारों ओर देखकर) हाय ! क्या है ही नहीं ? हे अकरुणे वैदेहि !

सीता—सचमुच 'अकरुणा' ही हूँ जो कि इस प्रकार (दुःखित) आपको देखती हुई भी जी रही हूँ।

राम—प्रिये ! कहाँ हो ! देवि प्रसन्न हो ! प्रसन्न हो ! मुझे इस अवस्था में छोड़ना उचित नहीं है ।

सीता—आर्यपुत्र ! आप उल्टी ही बात कर रहे हैं ! (आपने ही मेरा परित्याग किया है, मैं कैसे कर सकती हूँ !)

वासन्ती—महाराज ! प्रसन्न हो ! प्रसन्न हो ! (शोक ही) सीता का उल्लङ्घन कर दूर पहुँचे हुए स्वयं को अपने लोकोत्तर धैर्य से ही संभालिये ! मेरी प्रिय सखी यहाँ है ही कहाँ ?

राम—सचमुच है ही नहीं ? अन्यथा क्या वासन्ती भी न देखती ? कदाचित् यह स्वप्न हो ? परन्तु मैं सोया नहीं हूँ । राम को नींद कहाँ ? निस्संदेह अनेक बार कल्पित सर्वशक्तिशाली विरह ही मेरा बार-बार अनुसरण कर रहा है। (मुझको सीता का भ्रम कराकर बार-बार धोखा दे रहा है ।)

सीता—(और किसी ने नहीं), कठोरहृदया मैंने ही आर्यपुत्र को धोखा दे रखा है ।

संस्कृत-व्याख्या

सीतायां हस्तमाच्छिद्यापसृतायां "धिक् ! प्रमादः !" इति रामो वदति—'करपल्लव' इति ।

अत्र कविना परमेण कौशलेन सीता-रामयोः करद्वयस्यैक्यं प्रतिपादितम्—प्रथमान्त–पञ्चम्यन्तपदानि विशेषतया मनोहराणि सन्ति । सीतायाः करपल्लवः मम करात् परिभ्रष्टः, इति योजना । ममापि करो जडः, सीतायाश्चापि तादृशः एव । मम च हस्तः प्रकर्षेण प्रकम्पितः, तस्या अपि तादृशः । स्विद्यन्=स्वेदयुक्तो मम पाणिः, तस्या अपि च तादृग्विधः, अतएव परिभ्रष्टः । उभयोरपि शृङ्गारभावनोदयात् सात्विक–भाव–प्रदर्शनं कविकुशलतामाख्याति । समता चात्र कामपि विच्छित्तिं जनयत्येव ।

अत्र रसध्वनिः । आर्या च्छन्दः । तल्लक्षणं यथा—

"लक्ष्मैतत् सप्तगणा गोपेता भवति नेह विषमे जः ।
षष्ठोऽयं न लघुर्वा प्रथमेऽर्धे नियतमार्यायाः ॥
षष्ठे द्वितीयलात्परके नले मुखलाच्च सयतिपदनियमः ।
चरमेऽर्धे पञ्चमके तस्मादिह भवति षष्ठो नः ॥" इति ।

यथा वा सरलं लक्षणम्—

"यस्याः पादे प्रथमे, द्वादश मात्रस्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये, चतुर्थके पञ्चदश सार्या ।" इति ॥४१॥

सीता स्वात्मनो विग्रये प्राह—हद्धीति । धिक् ! अद्यापि अनुबद्धा—निरन्तरं समुत्पन्ना, बद्धो घूर्णमाना—उद्भूता, वेदना—पीडा यस्य तथाविधमात्मानमधुनापि न संस्थापयामि । ममात्मनि वेदनाधिक्येनाधुनापि काप्यशान्तिरस्त्येवेति भावः ।

सीतायास्तादृशीं शृङ्गाररसपरिप्लुतामवस्थां निरीक्ष्य तमसा प्राह **सस्वेद इति** वत्सा सीता प्रियतमस्य-स्पर्शसुखेन मरुता=पवनेन, नवेन=सद्यः समानीतेन (मेघैरिति शेष:) अम्भसा=जलेन, परिधूता=प्रकम्पिता, सिक्ता=जलेनार्द्रिता च, स्फुटाः=विकासं प्राप्ताः कोरकाः=कलिकाः ("कलिकाः कोरकः पुमान्" इत्यमरः) यस्या सा, कदम्बयष्टिरिव=कदम्बपादपस्य शाखेव, 'सस्वेदानि रोमाञ्चितानि कम्पितानि चाङ्गानि यस्यास्तथाविधा सञ्जाता । प्रियतम-स्पर्श-सुखात् प्रस्विन्न-सकलकाया परिकम्पिता चेयं सात्विकभाव—सम्पन्ना सञ्जातेति भावः ।

अत्र उपमा यथासंख्यालङ्कारयोः साङ्कर्यम् । उपजाति च्छन्दः ॥४०॥

तमसोक्त्या लज्जिता सीता स्वगतमाह—अवसेनेति । प्रियतमाङ्गसंस्पर्श जन्येनानन्देनापहृतास्मि । इयं च किं कथयिष्यति—"अहो ! एवंविधः परित्यागः, अभिषङ्गः=आसक्तिश्चेदृशः ?" इति । 'हृदयासङ्गः' इति पाठे च हृदयस्यासक्तिरित्यर्थो भवतीति ज्ञेयम् ।

'प्रिये ! एवंविधं शोकाभिसन्तप्तं मां परित्यक्तुं नार्हसीति" वदन्तं रामम्प्रत्याह सीता—आर्य इति । अयि आर्यपुत्र ! इदं तव कथनन्तु सर्वथा विपरीतमिव वर्तते । मम परित्यागं स्वयमेव कृत्वा, इदानीमिदं कथनं नोचितमाभातीति सारः ।

अतिव्याकुलचेतस रामं सान्त्वयितुमाह वासन्ती— देव ! इति । देव ! प्रसन्नो भव, अतिभूमि=मर्यादाया अतिक्रमण विधाय दूरं यावत् गतमात्मानं स्वीयेनैवा लौकिकेन धैर्येण संस्तम्भय=स्थिरीकुरु । भवद्विधमलौकिकधैर्यधनं कोऽन्यः स्थिरीकर्तुं समर्थः ? इति भावः ।.अत्र मे प्रियसखी नास्ति ।

रामोऽपि वासन्ती-वचनं तथेति निश्चित्याह—व्यक्तमिति । निःसन्देहं सीताऽत्र नास्ति, स्वप्नोऽपि च नास्ति, यतो नास्मि सुप्तः । इदानीं मया परिज्ञातम्—स एव सर्वशक्तिशाली "भगवान्" अनेकवारं परिकल्पितोऽयं विप्रलम्भः=वियोग एव पुनः पुनर्मामनुबध्नाति । एकधा परिकल्पितस्य वियोगस्यापि भावना क्लेश-कारिणी भवति, भूयोभूय परिकल्पितस्य तु प्रभावः केन कथयितुं शक्यते ? अनेकशः सीतां संस्मृत्य तस्या एव मूर्ति स्वपुरतः स्थितामिव वियोग-क्वथितः सन् कल्पनाचित्रैः दृष्टवानस्मि, सैव वासनाद्युनाऽपि प्रादुर्भूता, इति संभावयामि । इति भावः ।

अत्र "भगवान्" इति पदेन सर्वशक्ति-सम्पन्नता वियोगस्य सूचिता । संयोगे तावन्नानन्दाम्बुधिरुद्वेलो न भवति यावान् वियोगे तादृश्यश्चानेककल्पनाः स्थिरीभवन्ति वियोगे एव । अतएव कस्यचित्कवेः सूक्तिः स्मरणीया—

"सङ्गम-विरह-विकल्पे, वरमिह विरहो, न सङ्गमस्यास्याः ।
सङ्गे सैव तथैका, त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे ॥"

टिप्पणी

(१) परिकम्पिनः···स्विद्यत्—कवि ने यहाँ 'वेपथु' (प्रकम्प) और 'स्वेद' नामक सात्विक भावों का उल्लेख किया है ।

जो सत्वसंभूत विकार होते हैं वे सात्विक भाव कहलाते हैं—

"विकाराः सत्वसम्भूताः सात्विकाः परिकीर्तिताः ।
सत्वमात्रोद्भवत्वात्ते, भिन्ना अत्यनुभावतः ।।"

ये आठ माने गये हैं—

"स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः ।।"

स्वेद और वेपथु के ये लक्षण हैः—

"वपुर्जलोद्गमः स्वेदो रतिधर्मश्रमादिभिः ।।
रागद्वेषश्रमादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपथुः ।।"

(साहित्यदर्पण, ३/१३४, ३५, ३७,३८)

सस्वेरोमाञ्चितकम्पिताङ्गी—सस्वेदं (स्वेदेन सह) रोमाञ्चितं कम्पितं च अङ्गं यस्याः सा । रोमाञ्चः सञ्जातः यस्य इति रोमाञ्चितम्, रोमाञ्च + इतच् "तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्यः इतच्" (पा० ५/२/३६) ।

रोमाञ्च सात्विकभाव का लक्षण यह है—

"हर्षाद्भुतभयादिभ्यो रोमाञ्चो रोमविक्रिया ।"

(सा० द०, ३/१३७)

(३) **मरुन्नवाम्भःपरिधूतसिक्ता**—पाठा०,······प्रविधूतसिक्ता' । मरुच्च नवाम्भश्च मरुन्नवाम्भसी ताभ्यां (क्रमेण) प्रविधूता (परिधूता) सिक्ता च । (४) **कदम्बयष्टिः स्फुटकोरकेव**—स्फुटाः कोरकाः यस्याः सा स्फुटकोरका । "कलिका कोरकः पुमान्' इत्यमरः । कदम्बस्य यष्टिः कदम्बयष्टिः । इस पद्य में मनोभिराम उपमा है; सीता को कदम्बयष्टि कहना बहुत ही हृदयहारी है । (५) **भगवान् विप्रलम्भः**—यहाँ व्यङ्ग्य करके विप्रलम्भ को 'भगवान्' कहा है । अथवा इसका अर्थ 'अत्यन्त बलवान्' है ।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, धर्मस्य यशसः श्रियः ।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य, षण्णां भग इतीरणा ।।" (क्षीरस्वामी)

वीरराघव 'भगवान्' के प्रयोग पर टिप्पणी करते हैं—"भगवानित्यनतिलङ्घनीयत्वप्रयुक्तपूज्यताख्यापनार्थम् ।

वासन्ती—देव ! पश्य पश्य ।

पौलस्त्यस्य जटायुषा विघटितः कार्ष्णायसोऽयं रथ-
स्ते चैते पुरतः पिशाचवदनाः कङ्कालशेषाः खराः ।
खड्गच्छिन्नजटायुपक्षतिरितः सीतां चलन्तीं वह-
न्नन्तर्व्यापृतविद्युदम्बुद इव द्यामभ्युदस्थादरिः ।।४३।।

[**अन्वयः**—अयं, जटायुषा, विघटित, पौलस्त्यस्य, कार्ष्णायसो, रथः एते, ते पुरत. कङ्कालशेषाः, पिशाचवदनाः खराः, इतः खड्गच्छिन्नजटायुपक्षतिः अरिः, चलन्तीं सीतां, वहन्, अन्तर्व्यापृतविद्युत, अम्बुद, इव द्याम्, अभ्युदस्थात् ।।४३।।]

सीता—(ससम्भ्रमम्) अज्जउत्त ! तादो वावादीअदि । ता परित्ताहि परित्ताहि । अहं वि अवहरिज्जामि [आर्यपुत्र ! तातो व्यापाद्यते । तस्मात्परित्रायस्व परित्रायस्व । अहमप्यपह्रिये ।]

रामः—(सवेगमुत्थाय) आः पाप ! तातप्राणसीतापहारिन् लङ्कापते ! क्वयास्यसि ?

वासन्ती—अयि देव राक्षसकुलप्रलयधूमकेतो ! किमद्यापि ते मन्युविषयः ?

सीता—अह्महे ! उब्भत्तह्मि । [अहो ! उद्भ्रान्तास्मि ।]

रामः—अन्य एवायमधुना विपर्ययो वर्तते ।

उपायानां भावादविरलविनोदव्यतिकरै-
विमर्दैर्वीराणां जगति जनितात्यद्भुतरसः ।
वियोगो मुग्धाक्ष्याः स खलु रिपुघातावधिरभू-
त्कटुस्तूष्णीं सह्यो निरवधिरयं तु प्रविलयः ॥४४॥

[अन्वयः—उपायानां भावात्, अविरल, विनोदव्यतिकरैः वीराणां, विमर्दैः, जगति जनितात्यद्भुतरसः, मुग्धाक्ष्याः सः, वियोगः रिपुघातावधिः अभूत् खलु । कटुः, तूष्णीं सह्यः अयं तु प्रविलयः, निरवधिः ॥४४॥]

सीता—बहुमाणिदाह्मि पुव्वविरहे । णिरवधित्ति हा हदह्मि [बहुमानितास्मि पूर्वविरहे । निरवधिरिति हतास्मि ।]

रामः—कष्टं भोः !

व्यर्थं यत्र कपीन्द्रसख्यमपि मे, वीर्यं हरीणां वृथा,
प्रज्ञा जाम्बवतो न यत्र, न गतिः पुत्रस्य वायोरपि ।
मार्गं यत्र न विश्वकर्मतनयः कर्तुं नलोऽपि क्षमः
सौमित्रेरपि पत्रिणामविषये तत्र प्रिये ! क्वासि मे ? ॥४५॥

[अन्वयः—प्रिये ! यत्र कपीन्द्रसख्यम्, अपि, व्यर्थम्, हरिणां वीर्यं, वृथा यत्र जाम्बवन्तः प्रज्ञा न, वायोः पुत्रस्य अपि गतिः न यत्र विश्वकर्मतनयः नलः, अपि, मार्गं कर्तुं न क्षमः, मे सौमित्रेः अपि, पत्रिणाम्, अविषये तत्र, क्व असि ? ॥४५॥]

सीता—बहुमाणिदह्मि पुव्वविरहें । [बहुमानितास्मि पूर्वविरहें ।]

हिन्दी—

वासन्ती—देव ! देखिये, देखिये ।

[श्लोक ४२]—यह जटायु के द्वारा तोड़ा गया, फौलाद का बना हुआ रावण का रथ हैं; और ये सामने पिशाचों के मुँह वाले कङ्काल-शेष (रथ के) गधे (मरे पड़े) हैं । खड्ग से जटायु के पङ्ख काटकर [illegible] सीता को शत्रु अन्दर ही अन्दर

बिजली चमकने वाले मेघ की भाँति, लेकर यहाँ से आकाश से उड़ गया था। (रावण के काले शरीर के साथ सुवर्ण जैसे रंग की सीता जी काले-काले मेघ में छिपी हुई बिजली-सी लग रही थीं)।

सीता—(सभय) आर्यपुत्र ! तात (जटायु) मारे जा रहे हैं, और मेरा हरण हो रहा है अतः रक्षा करो ! रक्षा करो !

राम—(वेग से उठकर) अरे, पापी ! तात (जटायु) के प्राण और सीता का अपहरण करने वाले लङ्कापति ! (ठहर !) कहाँ जायगा ?

वासन्ती—देव ! राक्षस वंश के संहार के लिए अग्नि तुल्य ! क्या अब भी आपका (कोई) क्रोध का पात्र है ? (राक्षसों के विनाश करने के अनन्तर आपका कोपपात्र और कोई नहीं बचा है।)

सीता—ओह, मैं तो भ्रान्त हो गई हूँ।

राम—अब तो यह (कुछ) दूसरा ही परिवर्तन हो गया है ! (यह वियोग तो दूसरे ही प्रकार का है।)

[श्लोक ४४]—(सेना, सेतुबन्धन आदि) साधन होने के कारण, निरन्तर (युद्ध आदि) विनोद-व्यापारों से वीरों में मार-काट मचवाकर संसार में अद्भुत रस उत्पन्न कर देने वाला मनोहरलोचना सीता का वह वियोग तो शत्रु (रावण) के वध तक ही सीमित था; परन्तु चुपचाप सह्य यह दारुण विरह (तो) असह्य है। (अर्थात्, उस वियोग की तो रावण-वध तक ही अवधि थी परन्तु इसकी कोई अवधि नहीं, यह अनन्त है।)

सीता—पहले विरह में मुझे बहुत सम्मानित किया (गया) था, परन्तु अब 'निरवधि' कहने से (तो) मृतप्राय हो गई हूँ। (पहली बार तो मेरे लिए समुद्र-बन्धनादि अनेक दुष्कर कार्य किये गये थे परन्तु वर्तमान विरह का कोई अन्त न होने से मेरी समस्त आशाएँ लीन हो गई हैं।)

राम—ओह ! कष्ट है !

[श्लोक ४५]—जहाँ सुग्रीव के साथ मेरी मित्रता और वानरों का पराक्रम भी व्यर्थ है ! जहाँ जामवन्त की बुद्धि और हनूमान् की भी गति नहीं है ! जहाँ का मार्ग बनाने में विश्वकर्मा का पुत्र नल भी समर्थ नहीं है ! और जहाँ मेरे (प्रिय) लक्ष्मण के बाण भी नहीं पहुँच सकते, प्रिये ! तुम ऐसे किस स्थान में हो ? ॥४५॥

सीता—पहले विरह में मैं बड़ी सम्मानित हुई हूँ।

संस्कृत-व्याख्या

वासन्ती स्थानान्तरं प्रदर्शयति—पौलस्त्यस्येति।

देव ! इतोऽपि पश्यतु महानुभावः। जटायुषा त्रोटितः रावणस्यायं कार्ष्णायसः =कृष्णलोह—("फौलाद' इति हिन्दी भाषायां प्रसिद्धः)-निर्मितो रथः, अत्र चैते राक्षसमुखाः कङ्कालमात्रावशेषा खराः सम्मुखे पतिताः सन्ति, इतश्च खड्गेन छिन्ना जटायुपक्षतिः=पक्षसमूहो येन सः, इतस्ततः परिस्खलन्तीं सीतां परिवहन्, अन्तः

व्यापारपरा चला विद्युद् यस्य तथाविधोऽम्बुद इव सोऽरिः, रावणः द्याम्=आकाशम्, अभ्युदस्थात्=आकाशे गतोऽभूदित्यर्थः।

अत्रोपमालङ्कृतिः। शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः। ओजोगुणः। गौडी रीतिः ॥४३॥

रावणेनापहतायाः सीताया वियोगः सावधिः, अयञ्च वियोगो निरवधिरिति परितापं विन्दन्नाह रामः—उपायानामिति।

अयं वियोगो विभिन्न एवेति प्रतिपादयति। तदानीं बहूनां साधनानां विद्यमानत्वात्। अविरलं यथा स्यात्तथा विनोदानां युद्धकौतुकानां, व्यतिकरैः=सम्पर्कैः, वीराणां=सैनिकानां, विमर्दैः=विनाशैः, कृत्वा जनितः=उत्पादितः, जगति=संसारे, अत्यद्भुतरसो येन सः मुग्धलोचनायाः सीताया वियोगो रिपुघातोऽवधियस्यैवंविध आसीत्। रिपूणां विनाशे वियोगः स्वयमेव शान्तः। परमयन्तु कटुः=तीक्ष्णः, तूष्णींसह्यः=अन्यस्याग्रे प्रकाशयितुमशक्यः, निरवधिः प्रविलयः=वियोगः सञ्जातः।

अत्र पूर्व-वियोगापेक्षयाऽस्य वियोगस्य वैचित्र्यप्रतिपादनाद् व्यतिरेकः। निरवधित्त्वस्य समर्थनाच्च काव्यलिंगञ्चेत्यनयोरलङ्कारयोः सांकर्यम्। शिखरिणी च्छन्दः ॥४४॥

राम मुखात् पूर्व-विरहस्य महात्म्यं श्रुत्वा सीता प्राह—बहु इति। पूर्वविरहे बहुमानं ममाभूत्। अनेकानि विचित्राणि सेतुबन्धादीनि कार्याणि मदर्थं सम्पन्नानि, परमधुना 'निरवधिः' इति कथनेन तु हा हतास्मि। मम तु मनोऽभिलाषः सर्वथा विलीनोऽनेन वचनेनेति भावः।

पुनः सीतां सम्बोध्य रामः प्राह—व्यर्थमिति।

प्रिये! त्वमिदानीं कुत्र वर्त्तसे! लङ्कायान्तु तव परिचयः प्राप्त.। अस्य तु स्थानस्य विषये सर्वथा अनभिज्ञ एवास्मि। अत्र तु सुग्रीवेण सह मुख्यम्=मैत्री, व्यर्थम्। सोऽपि किमपि कर्तुमसमर्थः। हरीणाम्=वानराणां वीर्यम् बलमपि वृथा। जाम्बवतो बुद्धिरपि सर्वथा व्यर्था। वायोः पुत्रो हनूमानपि किमपि कर्तुमक्षमः। विश्वकर्मपुत्रस्य नलस्यापि मार्गनिर्माण-सामर्थ्यमत्र नास्ति। लक्ष्मणस्य शरा अपि तत्राकिञ्चित्कराः हन्त! प्रिये! क्व तत्स्थानमस्ति? कथं परिज्ञानं भवेत् अत्रापि व्यतिरेकः। शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः ॥४५॥

टिप्पणी

(१) [श्लोक ४३]—

१. पाठान्तर—'ते चैते' के स्थान पर 'पश्यैते' 'चलन्तीं' के स्थान पर 'ज्वलन्तीम्'; 'अन्तर्व्यापृत···' के स्थान पर 'अन्तर्व्याकुल···'। २. पौलस्त्यस्य—'पुलस्त्य' सप्तर्षियों में अन्यतम थे। इनके तीन पुत्र हुये रावण, कुम्भकर्ण एवं विभीषण। 'पुलस्त्य' की सन्तान होने के कारण रावण को पौलस्त्य कहा गया है। पुलस्त्यस्य गोत्रापत्यं पुमान् पौलस्त्यः पुलस्त्य+अण्। कुछ लोग 'पुलस्त्य' को पुलस्ति कहते हैं। इस दशा में, पुलस्त्यस्य गोत्रापत्यं पुमानिति पुलस्ति+यञ् (गर्गादि)

पौलस्त्यः । ३. कार्ष्णायसः—कृष्णम् अयः इति कृष्ण + अयस् + टच् समसान्त कृष्णायसम् । एक लोह की जाति, फौलाद । कृष्णायसस्य विकारः इति कृष्णायस + अण् । ४. पिशाचवदनाः—पिशितमश्नातीति पिशित + √अश् + अण् कर्त्तरि पिशाचः । पृषोदरादित्वात्सिद्धम् । पिशाचस्य वदनं, पिशाचवदनं तदिव वदनं येषाम् ते । ५. कङ्कालशेषाः—कङ्कालः शेषः येषाम् ते । 'स्याच्छरीरास्थि कङ्कालः' इत्यमरः । ६. खड्गच्छिन्नजटायुपक्षतिः—खड्गेन छिन्ना जटायोः पक्षतिः । 'स्त्री पक्षतिः पक्षमूलम्-इत्यमरः । पक्ष + तिः = पक्षत्ति' (पा०, ५/२/२५) इति तिः । ७. अन्तर्व्यापृतविद्युदम्बुद इव—अन्तर्व्यापृता विद्युद् यस्य स चासौ अम्बुदश्च । वीरराघव ने इस पर टिप्पणी की है—'अनेन दृष्टान्तेन रावणस्पर्शदोषो नास्तीति सूचितम् । ८. इस वर्णन में भवभूति ने रामायण का अनुसरण किया है । तुलना कीजिये—

"काञ्चनोरश्छदान्दिव्यान्पिशाचवदनान् खरान् ।
तांश्चास्य जवसम्पन्नाञ्जघान समरे बली ॥
अथ त्रिवेणुसम्पन्नं कामगं पावकार्चिषम् ।
मणिसोपानचित्राङ्गं बभञ्च च महारथम् ॥
तस्य व्यायच्छमानस्य रामस्वार्थे स रावणः ।
पक्षौ पादौ च पार्श्वौ च खड्गमुद्धृत्य सोऽच्छिनत् ॥"
(अरण्य० ५१/१५, १६, ४२)

सीता के विषय में—

'स तु तां राम रामेति रुदतीं लक्ष्मणेति च ।
जगामादाय चाकाशं रावणो राक्षसेश्वरः ॥
तप्ताभरणवर्णाङ्गी पीतकौशेयवासिनी ।
रराज राजपुत्री तु विद्युत्सौदामिनी यथा ॥
सा पद्मपीता हेमाभा रावणं जनकात्मजा ।
विद्युद्घनमिवाविश्य शुशुभे तप्तभूषणा ॥
(अरण्य० ५२/१३, १४, २४)

(२) आर्यपुत्र ! ततो···—यहाँ सीता को ऐसा ज्ञात होता है मानो वह उसी काल में हो जिसमें सीता-हरण हुआ था ।

(३) [श्लोक ४४] पाठान्तर—

१. '···दविरल' के स्थान पर '···दविरत' । २. 'जनित'···'जगति' । ३. 'कटुस्तूष्णी'···'कथं तूष्णीम्' ४. 'तु प्रविलयः'—'त्वत्प्रतिविधिः' ।

(४) [श्लोक ४५] १. पाठान्तर—'पत्रिणामविषये'—'पत्रिणामविषयः' । 'मे'—'भोः' । २. कपीन्द्रसख्यम् = सुग्रीव की मित्रता । हरीणाम् = बन्दरों का । पुत्रस्य वायोरपि = हनुमान् की भी । (५) उपर्युक्त स्थल के गद्यभाग में भी कुछ पाठान्तर उपलब्ध होते हैं उनसे कोई विशेष अर्थ नहीं निकलता; इसलिये यहाँ उन्हें नहीं दिया गया है ।

रामः—सखि वासन्ति ! दुःखायैव सुहृदामिदानीं रामदर्शनम् । कियच्चिरं त्वां रोदयिष्यामि । तदनुजानीहि मां गमनाय ।

सीता—(सोद्वेगमोहं तमसामाश्लिष्य) हा भअवदि तमसे ! गच्छदि दाणिं अज्जउत्तो किं करिस्सम् ? (इति मूर्च्छति ।) [हा भगवति तमसे ! गच्छतीदानीमार्यपुत्रः । किं करोमि ?]

तमसा—वत्से जानकि ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि । विधिस्तवानुकूलो भविष्यति तदायुष्मतोः कुशलवयोर्वर्षर्द्धिमङ्गलानि संपादयितुं भागीरथीपदान्तिकमेव गच्छावः ।

सीता—भअवदि ! पसीद । खणमेत्तं वि दुल्लहदंसणं पेक्खामि [भगवति ! प्रसीद । क्षणमात्रमपि दुर्लभदर्शनं पश्यामि ।]

रामः—अस्ति चेदानीमश्वमेधसहधर्मचारिणी मे ।

सीता—(साक्षेपम्) अज्जउत्त ! का ? [आर्यपुत्र ! का ?]

वासन्ती—परिणीतमपि किम् ?

रामः—नहि नहि । हिरण्मयी सीताप्रतिकृतिः ।

सीता—(सोच्छ्वाससास्रम्) अज्जउत्त ! दाणिं सि तुमम् । अह्महे, उक्खाइदं दाणिं मे परिच्चाअसल्लं अज्जउत्तेण । [आर्यपुत्र ! इदानीमसि त्वम् । अहो, उत्खाततमिदानीं मे परित्यागशल्यमार्यपुत्रेण ।]

रामः—तत्रापि तावद्बाष्पदिग्धं चक्षुर्विनोदयामि ।

सीता—धण्णा खु सा, जा एव्वं अज्जउत्तेण बहुमण्णीअदि । जा एव्वं अज्जउत्तं विणोदयन्दी आसाबन्धनं खु जादा जीअलोअस्स । [धन्या खलु सा, यैवमार्यपुत्रेण बहुमन्यते यैवमार्यपुत्रं विनोदयन्त्याशाबन्धनं खलु जाता जीवलोकस्य ।]

तमसा—(सस्मितस्नेहार्द्रं परिष्वज्य) अयि वत्से ! एवमात्मा स्तूयते ।

सीता—(सलज्जम्) परिहसिदह्मि भअवदीए । [परिहसितास्मि भगवत्या ।]

वासन्ती—महानयं व्यतिकरोऽस्माकं प्रसादः । गमनं प्रति यथा कार्यहानिर्न भवति तथा कार्यम् !

रामः—तथाऽस्तु ।

सीता—पडिऊलला दाणिं मे वासन्ती संवुत्ता । [प्रतिकूलेदानीं मे वासन्ती संवृत्ता ।]

तमसा—वत्से ! एहि गच्छावः ।

सीता—एव्वं करम्ह। [एवं करिष्यावः।]

तमसा—कथं वा गम्यते। यस्यास्तव—

प्रत्युप्तस्येव दयिते, तृष्णादीर्घस्य चक्षुषः।
मर्मच्छेदोपमैर्यत्नैः, सन्निकर्षो निरुध्यते ॥४६॥

[अन्वयः—दयिते, प्रत्युप्तस्य इव, तृष्णादीर्घस्य (तव) चक्षुषः सन्निकर्षः, मर्मच्छेदोपमैः यत्नैः निरुध्यते ॥४६॥

सीता—णमो सुकिदपुण्णजणदंसणिज्जाणं अज्जउत्तचलणकमलाणम्। (इति मूर्च्छति) [नमः सुकृतपुण्यजनदर्शनीयाभ्यामार्यपुत्रचरणकमलाभ्याम्।]

तमसा—वत्से! समाश्वसिहि।

सीता—(आश्वस्य।) किअच्चरं वा मेहान्तरेण पुण्णचन्ददंसणम्? [कियच्चिरं वा मेघान्तरेण पूर्णचन्द्रदर्शनम्?]

हिन्दी—

राम—सखी वासन्ती! इस समय मित्रों को राम का दर्शन दुःख (देने) के लिए ही है। तुम्हें कितनी देर तक रुलाऊँगा? अतः (अब) मुझे जाने के लिये आज्ञा दो!

सीता—(उद्वेग और मोह से तमसा से लिपट कर) हा! भगवति, तमसे! अब आर्यपुत्र जा रहे हैं, मैं क्या करूँ? [मूर्च्छित हो जाती है।]

तमसा—वत्से! जानकि! धैर्य धारण करो! धैर्य धारण करो! दैव तुम्हारे अनुकूल होगा। अब हम चिरञ्जीव कुश और लव की वर्षगाँठ के उत्सव को सम्पन्न करने के लिए भागीरथी के पास ही चलें।

सीता—भगवति! अनुग्रह करो! (मुझ पर दया कर थोड़ी देर और रुक जाओ!) मैं क्षणभर दुर्लभ दर्शन आर्यपुत्र को देख लूँ।

राम—इस समय मेरी अश्वमेध-यज्ञ की सहधर्मिणी है।

सीता—(आक्षेप सहित) आर्यपुत्र कौन?

वासन्ती—क्या विवाह भी कर लिया?

राम—नहीं, नहीं सुवर्णमयी सीता की प्रतिमा।

सीता—(लम्बी श्वास खींचकर रोती हुई) आर्यपुत्र! इस समय तुम (सच्चे एकपत्नीव्रती) हो! ओह, अब आर्यपुत्र ने मेरे परित्याग शल्य को उखाड़ डाला है।

राम—उसमें ही (शब्दार्थ-अपि=भी। सीता-प्रतिमा में ही) अपने आँसू भरे नेत्रों को बहलाता हूँ।

सीता—सचमुच वह धन्य है, जिसे आर्यपुत्र इतना मानते हैं; और जो इस प्रकार आर्यपुत्र का मनोविनोद करती हुई संसार की आशा का आधार हो गई है। (भगवान् राम को स्वस्थ रखकर उन्हें लोक ही आशाओं को पूर्ण करने योग्य बना रही है।)

तमसा—(मुस्कराहट और स्नेह से आलिङ्गन कर) अरी बेटी! इस प्रकार अपनी प्रशंसा की जा रही है?

सीता—(लज्जित होकर) आप तो मेरा उपहास कर रही हैं।

वासन्ती—आपका यह शुभागमन हमारे ऊपर बड़ा अनुग्रह है। आपके जाने में, जैसे कोई हानि न हो, वैसा कीजिये।

राम—एवमस्तु (ऐसा ही हो!)

सीता—इस समय वासन्ती मेरे प्रतिकूल हो गई है। (अब तक तो यह मेरा ही पक्ष लेकर आर्यपुत्र को रुला रहीं थी परन्तु अब उन्हें भेजने के लिये कहकर, यह मेरे प्रतिकूल हो गई है।)

तमसा—बेटी? आओ, चलें!

सीता—ऐसा ही करें।

तमसा—अथवा, कैसे, चला जाय? जिस तुम्हारे—

[श्लोक ४६] प्रिय में गड़े हुए से लालसा-भरे नेत्रों का आकर्षण, मर्मच्छेद करने वाले (गमनादि, यत्नों से रोका जा रहा है।)

[भावार्थ—तुम्हारे नेत्र प्रियतम में लगे हुए हैं। वे बड़ी लालसा से उन्हें देख रहे हैं। इस समय तुम्हें उनका जाना बड़ा दुःखद लग रहा है। उनमें गड़ी हुई दृष्टि को उखाड़े—हटाये बिना तुम्हारा यहाँ से चलना सम्भव नहीं है; और दृष्टि को हटाना ही तो सबसे बड़ी मर्मान्तक व्यथा का कारण है। यहाँ से चलना राम के प्रति आकर्षण में सबसे बड़ा बाधक है।]

सीता—भली-भाँति पुण्य का आचरण करने वाले व्यक्तियों से दर्शनीय आर्यपुत्र के चरण-कमलों को नमस्कार है! [मूर्छित हो जाती हैं।]

तमसा—बेटी! धैर्य धारण करो!

सीता—(आश्वस्त होकर) मेघ से घिरे हुए पूर्ण चन्द्र का दर्शन कितने समय तक होता है? (जैसे मेघ से घिरे हुये चन्द्रमा का दर्शन अधिक समय तक नहीं होता, वैसे ही आर्यपुत्र का दर्शन भी थोड़े ही समय के लिये हो रहा है।)

संस्कृत-व्याख्या

'हिरण्मयी सीतायाः प्रतिकृतिः' इति रामवाक्यात् प्रीततरा सीता प्राह—अज्ज-उत्त! इति। आर्यपुत्र! वस्तुतस्तु, इदानीमसि यथार्थो मम प्राणनाथः। एकपत्नीव्रतस्त्वस्यादर्शः कुत्राप्येवंविधो नास्तीति मम परित्यागस्य शल्यं भवता समुत्खातितम्। परित्यक्ताया अपि प्रीतिर्भवतो हृन्मन्दिरे तथैव विद्यमानेति प्रसीदामि।

गमनानुमतिं प्रदर्शयितुमाह वासन्ती-महानयमिति । अयं व्यतिकरः = सम्मेलन-सम्बन्धस्तु अस्माकं कृते महान् प्रमादः । सौम्यदर्शनस्य भवतो दर्शनं सौभाग्येनैव भवतीति महती प्रसन्नता । किन्तु कार्यहानिर्यथा न भवति तथा गमनं प्रति विचारः क्रियताम् । कार्यहानिर्यदि न भवति, तदा तु स्थेयम्, नो चेद् गन्तव्यमिति भावः ।

वासन्त्या अनुमतिवचनं सर्वथेदानीं प्रतिकूलयित्याह सीता--पडिऊलेत्ति । प्रतिकूलता वासन्त्या अधुना प्रदर्शिता । किञ्चित्कालं दर्शनसुखमधिकं स्यात्तदा वरं भवेत् । गमनानुमत्या चानया व्याघातः कृतः, इति हृदयम् ।

सीताया गमने विघ्नं सम्भावयति तमसा—प्रत्युप्तस्येवेति ।

दयिते प्रत्युप्तस्य-निखातस्येव, तृष्णया दीर्घस्य चक्षुषो मर्मच्छेदसमैः यत्नैः यस्यास्तव सन्निकर्षो निरुध्यते । त्वमतिशय प्रेम्णा स्वप्रियतमं पश्यसि । मन्ये तत्रैव तृष्णादीर्घं नयनसमासक्तमिति कथमितोऽपकर्षो भविष्यतीति तव गमनं कठिनं मन्ये इति भावः । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । अनुष्टुप् च्छन्दः ।।४६।।

सीता कथञ्चिदाश्वस्य प्राह–कियच्चिरमिति । मेघानामन्तरेण = व्यवधानेन हेतुना पूर्णचन्द्रस्य दर्शनं कियच्चिरं भवितुमर्हति ? मेघानामवरोधात् पूर्णचन्द्रस्य दर्शनं यथा स्वल्पकालमेव यावद् भवति, तथैव ममापि मेघतुल्यायास्तमसाया व्यवधानेन किञ्चित्कालं यावदेवार्यपुत्रस्य दर्शनं सम्मतमिति । अथवा मम दुर्दैववशात् दीर्घकालं दर्शनं नैव सम्भवतीति भावः ।

टिप्पणी

(१) वर्षवृद्धिमङ्गलानि—'वीरराघव' इस प्रकार स्पष्ट करते हैं--

"द्वादशवर्षपूर्ति = मङ्गलानि देवतापूजादीनि शुभानि ।"

(२) 'अस्ति चेदानीमश्वमेधसह धर्मचारिणी मे—श्री रामचन्द्रजी का यह वाक्य बड़ा अप्रासङ्गिक-सा प्रतीत होता है, परन्तु इसे—"तत्रापि तावद्वाष्पदिग्धं चक्षुर्विनोदयामि" इस वाक्य का अंश मान लेने से यह दोष दूर हो जाता है । राम के 'अश्वमेध-सहधर्मचारिणी' कहने पर बीच में ही सीता और वासन्ती घबरा गयी थीं, और राम से वासन्ती ने प्रश्न कर ही दिया—"परिणीतमपि किम् ?" पर वे उसका उत्तर—"नहि, नहि, हिरण्मयी सीताप्रतिकृतिः" कहकर देते हैं । इसके अनन्तर उनके कथन का वह अंश आता है जो कि बीच ही में छूट गया था । रामचन्द्रजी को सीता के न मिलने की कोई आशा न रह गयी थी अतः वह यह कहना चाहते थे कि—"सीता नहीं हैं तो उसकी हिरण्मयी प्रतिमा तो है ही उसे देखकर ही मैं अपनी आँखों को ठण्डा कर लूँगा ।" राम को इस करुण-रस से निकालकर 'अश्वमेध यज्ञ' में भेजना कवि को कथा-निर्वाह के लिये अभीष्ट था । इसीलिये उसने राम के मुख से ऐसे वाक्य कहलाकर बड़े कौशल से बीच ही में टूटी हुई कथा का क्रम मिला दिया है । (३) [श्लोक ४६] सन्निकर्षो निरुध्यते—पाठान्तर, "आकर्षो न समाप्यते" सम् + नि + √कृष + घञ् । आ + √कृष + घञ् भावे । (४) सुकृत-

जनदर्शनीयाभ्याम्—पाठान्तर, अपूर्वपुण्यजनितदर्शनाभ्याम्' । अपूर्वपुण्येन जनितं दर्शनं ययोस्ताभ्याम् ।

"सुकृत···पाठ में सुकृतानि पुण्यानि यैस्ते सुकृतपुण्याः । सुकृतपुण्याश्च ते जनाश्चेति ताभ्याम् ।

घनश्याम ने 'सुकृत' और 'पुण्य' को एकार्थक मानकर पुनरुक्ति का परिहार करने के लिये 'पुण्यजन' का 'राक्षस' (विभीषण) अर्थ माना है—

'शोभनं कृत्यं कृत येन सः सुकृतः । स चासौ पुण्यजनः राक्षसः विभीषण इति यावत् । तेन दर्शनीयाभ्याम् । "यातुधानः पुण्यजनो नैर्ऋतो यातुरक्षसी" इत्यमरः ।'

"नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च" (पा० २/३/१६) इति 'नमः'-योगे चतुर्थी ।

तमसा—अहो संविधानकम् ।

एको रसः करुण एव निमित्तभेदा-
द्भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुदबुदतरङ्गमयान्विकारा-
नम्भो यथा, सलिलमेव हि तत्समस्तम् ॥४७॥

अन्वयः—एकः करुणः, रसः, एव, निमित्तभेदात्, भिन्नः (सन्) पृथक्-पृथक्, विवर्तान् आश्रयते, इव, यथा, अम्भः, आवर्त-बुद्बुद-तरङ्गमयान् विकारान् (आश्रयते), (वस्तुतस्तु) तत् समस्तं सलिलम् एव हि ॥४७॥

हिन्दी—

तमसा—ओह ! कैसा बानक बना ! (कैसी घटनायें घटी !)

(१) [श्लोक ४७] करुण रस ही एकमात्र मुख्य रस है । निमित्त-घटना (विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव की विलक्षणता से) यह भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेता है । जैसे जल भंवर, बुलबुले तथा तरङ्गों का रूप धारण कर लेता है परन्तु यथार्थतः वह होता एक ही है । [अतएव इस अङ्क में सीता जी तथा अन्य पात्रों के हृदय में जो लज्जा; विस्मय आदि भाव हैं वे भी करुण रस के ही रूपान्तर हैं । अथवा राम और सीता के जीवन से सम्बन्धित यद्यपि अन्य रसों—शृङ्गार और वीर के भी प्रसंग इस नाटक से आये हैं, परन्तु उनकी तह में करुण की ही धारा प्रवाहित हो रही है ।]

(२) अथवा—

(सामाजिकों के हृदय में रहने वाली विभिन्न भावनाओं के अनुसार ही) विभावादि के वैलक्षण्य से एक करुण रस ही (हर्ष आदि) अनेक भावों में (वैसे ही) बदल जाता है जैसे कि एक ही जल अनेक रूपों में ।

(३) अथवा—

एक करुण रस ही निमित्त-भेद से (सखित्व, पतित्व, पत्नीत्वादि के भेद से राम, सीता, वासन्ती में) पृथक्-पृथक् रूप में अभिव्यक्त हो रहा है, जैसे कि एक ही जल आवर्त-बुद्बुद-तरङ्गादि अनेक विकारों में [आशय यह है कि करुण रस एक ही है—उनमें नानात्व सम्भव नहीं, क्योंकि रस पूर्णघन और आनन्दस्वरूप होता है। परन्तु यहाँ राम, सीता, वासन्ती और तमसा—सभी में करुण रस का सञ्चार हो रहा है। सीता का करुण रस राम से पृथक् है, राम का सीता से और वासन्ती का इन दोनों से। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है मानो ये सब करुण के विभिन्न रूप हों; परन्तु यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो सिद्ध होगा कि इन सभी में एक ही करुण रस प्रवाहित हो रहा है—उसमें कोई भेद नहीं।]

(४) अथवा—

[वास्तव में तो घटना-क्रम को देखते हुए 'करुण' का अर्थ 'करुण-विप्रलम्भ' लिया जाना चाहिये। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों के इस—'एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा', नियम का विरोध नहीं होता। तब यह अर्थ होगा—]

(इस नाटक में) एकमात्र करुण (विप्रलम्भ) रस ही प्रधान है; (क्योंकि स्थल-स्थल पर उसका प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। निमित्त भेद से सीता रामादि के भेद से) वह अनेक रूप धारण कर लेता है। (उत्तरार्ध का अर्थ यथापूर्व है। नाटक यद्यपि सुखान्त है तथापि वह 'संयोग' वियोग' से ही उत्पन्न हुआ है। अतः 'करुण विप्रलम्भ' की ही यहाँ प्रधानता है। विशेष विस्तार के लिए टिप्पणी देखिये।

संस्कृत-व्याख्या

साहचर्यं तमसा प्राह—अहो ! इति। आश्चर्यम्। कीदृशं संविधानकं समजनि ? अपूर्वोऽयं समय-घटना-चक्र-व्यतिकरः। कवेरस्य रचना-चातुरी चापि, वस्तुतोऽपूर्वैवेति कथयति। सीतायाः, रामस्य, वासन्त्याश्च सर्वेऽपि वृत्तान्ताः सम्यगत्र प्रदर्शिताः प्रेक्षकाणां मनो रञ्जयन्ति।

एतदेव विशदयति—'एकः इति।'

अस्य श्लोकस्यार्थयोजने-मतभेदः तत्र केचित् करुण रसस्यैकस्येवान्ये रसा विवर्तरूपेण विद्यन्ते, इति स्वीकुर्वन्ति ! सीताया हृदये लज्जादिकाः शृङ्गारस्य भावा वस्तुतस्तु करुणस्येव प्रकारान्तरमिति दृष्टान्तमुखेन वर्णयति। यथा—एकमेव जलम् आवर्तः, (अम्भसां भ्रमः) बुद्बुदाः—जलस्फोटाः, तरङ्गाश्चेति नानारूपं धत्ते, परन्तु तात्त्विकदृष्ट्याऽभेद एव। एवमेव-करुणस्यैव सर्वो विस्तारोऽयं शृङ्गारादि-विविधोपाधीन् धारयति। एवञ्च-कवेरस्य मते विवर्तवादमङ्गीकृत्य नानात्वं रसेषु प्रतिच्छायिकं (कल्पनामात्रम्) एवास्ति।

अथवा—सामाजिकाना विभिन्न वासनासमाश्रयणात् तेषां वासनानुसारमेव विभावानुभाव-संचारिभावानां वैचित्र्यात् एक एव करुणो रसो हर्षादि विभिन्नभेदतां गत इव प्रतीयते। अत्रापि दृष्टान्तो जलस्यानेकप्रकार एव।

वयन्त्वत्रापि किञ्चिद्वदाम एव यद्यस्माकमर्थः सहृदयेभ्यो रोचते ।

करुणो रसस्तु एक एव । न तु तस्मिन् करुणे नानात्वं सम्भवति । रसस्य पूर्णघनानन्दस्वरूपतायाः सिद्धान्तितत्त्वात् । परमत्र सीता, रामः, वासन्ती, (तमसा चापि स्वयम्) करुणार्द्रचेतसो वर्तन्ते । सीतायाः कारुण्यं रामस्य करुणात् पृथगस्ति । सर्वेऽपि शोकाकुलाः सन्ति । परन्तु एक एवायमन्ततः करुणो रसः । एतेषु विभिन्न-पात्रेषु कलया भिन्नतया प्रतीयमान औपाधिक एव । दुःखस्य भावात्मकतया "इदं वा, तद्वा" इति प्रतिपात्रं निर्धारयितुं न शक्यते मया (तमसया) । यदाऽहं सीताम्पश्यामि, तदाऽन्य इव करुणरस प्रवाहो मयाऽनुभूते, यदा च रामं पश्यामि, तदाऽन्य इव । वास्तविको भेदस्तु नास्त्येव ।

अथवा—अस्मिन् नाटक करुणरसस्यैव प्राधान्यं, विशेषरूपेण तस्यैव दर्शनात् अन्ते च जायमानोऽपि संयोगे वियोग कारणम् इति संयोगेऽपि विवर्तवादसिद्धान्तात् कार्यकारणयोरभेदात् कवेरस्य शृङ्गारस्यापि करुणात्मकतैवेति तमसा-मुखेनाह कविः । युक्तायुक्तविचारे विज्ञशिरोमणयः प्रार्थ्यन्ते । एतेन—"एक एव भवेदङ्गी, शृङ्गारो वीर एव वा" इति नियमः कथं खण्डितः कविनेति शङ्कापि निराकृता ।

वस्तुतस्तु 'करुण' शब्देनात्र 'करुणविप्रलम्भो' गृह्यते । तल्लक्षणञ्च यथा—

यूनोरेकरतस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये ।
विमनायते यदैकस्ततो भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः ॥"

उपमालङ्कारः । वसन्ततिलका च्छन्दः ॥४७॥

टिप्पणी

(१) अहो ! संविधानकम्—तमसा इस सारे घटना-चक्र को देखकर कह रही है कि—"राम और सीता के जीवन की घटनायें कैसी विचित्र हैं ! दैव का विधान कैसा आश्चर्यजनक है !"

इसका दूसरा आशय यह भी है कि भवभूति अपने नाटक की प्रशंसा कर रहे हैं कि इसमें घटनाओं का ऐक्य, अन्तर्द्वन्द्व, करुण रस का अजस्र प्रवाह–आदि सभी कुछ बड़ी विचित्रता के साथ संजोया गया है ।

(२) निमित्तभेदात्—विभावादि के वैलक्षण्य से, अथवा इस अङ्क में वर्णित सीता, राम, वासन्ती आदि के भेद से । इस विषय में वीरराघव लिखते हैं—"करुणोऽनुकार्यरामागतेष्टजनवियोगजन्यदुःखातिशयः । एक एव सन्नपि निमित्तभेदात् सखित्व-पतित्व-पत्नीत्वाद्युपाधिभेदाद् भिन्नो विलक्षण इव पृथक्-पृथक् विवर्तान् श्रयते । वासन्ती-सीता-राम-प्रभृतिषु परस्परविलक्षणावस्थाविशेषान् भजति ।" (३) विवर्तान्—यहाँ विवर्त शब्द 'विकार' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, शुद्ध शास्त्रीय (विवर्त) अर्थ में नहीं । विशेष विस्तार के लिए दूसरे अङ्क के विष्कम्भक में "अथ स भगवान् प्राचेतसः प्रथमं मनुष्येषु शब्दब्रह्मणस्तादृशं विवर्तमितिहासं रामायणं प्रणिनाय" पर टिप्पणी देखिये । (४) आवर्त-बुद्बुद्तरङ्गमयान्—एक ही जल भँवर, बुलबुले और लहरों का रूप धारण कर लेता है । यहाँ कवि ने जल के तीन विकारों का उल्लेख करके

बड़ी चतुरता का परिचय दिया है। तमसा इस श्लोक को कह रही है। उसके अतिरिक्त तीन पात्र ही अवशिष्ट रहते हैं। उनमें से प्रत्येक के लिए एक-एक उपमान का प्रयोग किया जा सकता है। राम को 'आवर्त' सीता को 'बुद्बुद' तथा वासन्ती को 'तरङ्ग' माना जा सकता है। राम करुण रस में सर्वात्मना घूम रहे हैं। सीता के हृदय में अनेक भाव क्षण-प्रतिक्षण उठ रहे हैं और वासन्ती भी करुण की लहरों से अछूती नहीं है। अतएव इनके लिए क्रमशः 'आवर्त-बुद्बुद-तरङ्ग' का प्रयोग करके कवि ने अपनी विदग्धता का परिचय दिया है। (५) 'उत्तररामचरित' की रस-योजना के सम्बन्ध से प्रायः सभी ने 'करुण रस' को 'अङ्गी रस' के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु यहाँ एक विचारणीय प्रश्न उठता है कि इसमें 'करुण रस' है या 'करुण विप्रलम्भ'? करुण का स्थायीभाव 'शोक' है जिसका लक्षण है—"इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक्" इसमें पुनर्मिलन की आशा नहीं रहती, किन्तु करुण विप्रलम्भ में पुनर्मिलन की आशा बनी रहती है, जैसा कि उसके लक्षण से स्पष्ट है—

"यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः॥" (साहित्यदर्पण)

यहाँ राम और सीता का पुनर्मिलन होता है अतः 'करुणविप्रलम्भ' मानना ही अधिक युक्तिसंगत होगा। सीता को तो तमसा के—'अस्तु देवता प्रसादात्' 'पश्यन्ती प्रियं भूयाः!' 'विधिस्तवानुकूलो भविष्यति' आदि वाक्यों से राम की 'पुनर्लभ्यता में विश्वास है ही, तमसा और वासन्ती भी उनके कल्याण की कामना, मंगलाचरण में करती हैं—उन्हें भी उनके मिलन का विश्वास है। रही राम की बात; उन्हें भी सीता-विनाश की कोई पक्की सूचना नहीं है। उनका क्रव्याद्भिरंगलतिका नियतं 'विलुप्ता' आदि विलाप बहुत कुछ सीता के अत्यय की 'सम्भावना' पर आधारित हैं। इसके अतिरिक्त लव-कुश को देखने के अनन्तर उन्हें सीता के मिलन की आशा होती चली गई थी और नाटक का अन्त मिलन में ही हुआ। अतः यहाँ 'करुणविप्रलम्भ' ही मानना हमारे मत में उचित है।

रही करुण की बात; उसके विषय में उत्तर यह है कि 'शोक' 'शोक' तक ही रह जाता है, 'रस' तक नहीं पहुँचता। वह अनिर्भिन्न, अन्तर्गूढ, घनव्यथ तथा पुटपाकप्रतीकाश ही रह जाता है। कवि ने 'पुटपाक' का ही प्रयोग किया है। पुटपाक के अनन्तर ही 'रस-सिद्धि' होती है। अतः यह स्पष्ट है कि कवि भी अपने करुण को अभी पूर्ण परिपक्व नहीं मानते, राम के हृदय की व्याकुलता का ही वर्णन करना उन्हें अभीष्ट है। यदि करुण पर आग्रह भी किया जाये तो वह केवल राम की दृष्टि से ही सम्भव है—'रामस्य करुणो रसः'। शेष घटना-चक्र इस बात की पुष्टि नहीं करता। और फिर रस की विवेचना का कार्य तो सहृदय का है, वह जानता है कि सीता जीवित है, अतः उसकी दृष्टि में नाटक के 'करुण' में पर्यवसान होने का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, प्रारम्भ में करुण की अजस्रधारा दर्शक को आप्लावित अवश्य कर देती है, परन्तु अन्त संयोगात्मक ही होता है। इस व्याख्या से प्राचीन आचार्यों के इस नियम का भी उल्लंघन नहीं होता—एक एव भवेदङ्गी शृंगारो वीर एव वा।

अपनी इसी नाटय-कुशलता की ओर संकेत करते हुए कवि ने कहा है—'अहो ! संविधानकम् !' (६) कुछ लोगों का विचार है कि भवभूति एकमात्र 'करुण' के ही समर्थक थे; परन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि यदि उन्हें केवल करुण रस ही अभीष्ट होता तो वे 'रसः करुण एव' कहते। 'एकः' विशेषण उन्होंने अपने नाटक के लिये ही दिया है, जहाँ एक करुण भिन्न-भिन्न पात्रों में विभिन्न रूप से प्रतिबिम्बित हो रहा है। भवभूति अन्य रसों को स्वीकार न करते हों यह बात नहीं है। उत्तररामचरित में ही उन्होंने 'जनितात्यद्भुतरसः' 'वीरो रसः किमयम् ?' आदि रसान्तरों का स्पष्ट उल्लेख किया है। अतः भवभूति को केवल करुण रस का ही समर्थक मानना सत्य का अपलाप करना है। वे करुण के पक्षपाती हो सकते हैं, परन्तु रसान्तरों के विरोधी नहीं। (७) उत्तररामचरित का तृतीय अङ्क सर्वोत्कृष्ट अङ्क है। इसमें कवि की कल्पना-शक्ति तथा सहृदयता का चरम विकास हुआ है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का तो 'चतुर्थ अंक ही प्रसिद्ध हुआ, परन्तु लगता है कवि ने उसे चुनौती देकर उससे एक सीढ़ी पहिले ही, तीसरे अङ्क में ही, अपूर्व यश-लाभ कर लिया है। (८) रस के प्रयोग में यहाँ 'स्वशब्दोक्ति'—दोष नहीं मानना चाहिये। इस विषय में तृतीय अंक के पहले श्लोक की टिप्पणी देखनी चाहिए। (९) रस की परिभाषा संक्षेप में इस प्रकार दी जा सकती है—

"विभावेनानुभावेन, व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः, स्थायी भावः सचेतताम् ॥" (सा० दर्पण, ३/१)

विशेष विस्तार के लिये लक्षण-ग्रन्थ देखिये।

(१०) इस श्लोक में उपमा अलंकार तथा वसन्ततिलका छन्द है।

रामः—विमानराज ! इत इतः।

(सर्वे उत्तिष्ठन्ति।)

तमसावासन्त्यौ—(सीतारामौ प्रति)

अवनिरमरसिन्धुः सार्धमस्मद्विधाभिः,
स च कुलपतिराद्यश्छन्दसां यः प्रयोक्ता।
स च मुनिरनुयातारुन्धतीको वसिष्ठ-
स्तव वितरतु भद्रं भूयसे मङ्गलाय ॥४८॥

[अन्वयः—अवनिः, अस्मद्विधाभिः सार्धम्, अमरसिन्धुः, स च कुलपतिः, यः, छन्दसाम्, आद्यः, प्रयोक्ता, स च, अनुयातारुन्धतीकः, वसिष्ठः, मुनिः, तव भूयसे, मङ्गलाय भद्रं, वितरतु ॥४८॥]

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

इति महाकविभवभूतिविरचिते उत्तररामचरिते
'छाया' नाम तृतीयोऽङ्कः।

हिन्दी—

राम—विमानराज ! इधर, इधर ।

तमसा-वासन्ती—(सीता-राम के प्रति)—

[श्लोक ४८]—पृथ्वी, हम जैसी (नदियों) के साथ वह गङ्गाजी, वे कुलपति (वाल्मीकि) जो कि (लोक में) छन्दों का सर्वप्रथम प्रयोग करने वाले हैं, और अरुन्धती-सहित वे मुनि वसिष्ठ आपके प्रचुर कल्याण के लिए मङ्गल का वितरण करें। (आशीर्वाद प्रदान करें।)

[सभी चले जाते हैं।]

महाकवि श्री 'भवभूति' विरचित 'उत्तररामचरित' में

'छाया'—नामक तृतीय अङ्क समाप्त ।

संस्कृत-व्याख्या

सकलस्यापि तृतीयाङ्कस्य करुणरसमयसत्त्वात्प्रेक्षकाणां मनोरञ्जनार्थं सीता-रामयोः शीघ्रमेव समागमो भविष्यतीति सूचनार्थञ्चान्ते शुभाशीर्वादात्मक पद्यरत्न-मवतारयति कविः। एकमेव पद्यमिदं तमसया सीताम्प्रति वासन्त्या च रामं प्रति-कथितम्। अवनिप्रभृतीनां सीता-राम सम्मेलने परमोपयोगित्वमित्यपि मङ्गलाचरणेऽस्मिन् सूचितं महाकविनां 'अवनिः' इत्यादिना ।

अवनिः=पृथिवी, अमरसिन्धुः=भगवती जाह्नवी, अस्मद्विधाभिः=अस्मत्-तुल्याभिः सह—स च कुलपतिः, यश्छन्दसाम् आद्यः प्रयोक्ता (भगवान् वाल्मीकिः), अनुयाता=अनुगता अरुन्धती यं स च मुनिवसिष्ठः, तव=सीतायाः=रामस्य भूयसे अतिशयाय मङ्गलाय भद्रं=कल्याणं वितरतु - ददातु । इत्यस्माकमाशीर्वादागस्तु परिपूर्णा। तुल्ययोगिताऽलङ्कारः। मालिनी च्छन्दः ॥४८॥

सर्वे यथायथं स्वाभिनयं प्रदर्श्य निष्क्रान्ताः ।

अस्मिन् अङ्के यत्र-तत्र सीता रामेण छाया-रूपेण संगता, न तु प्रत्यक्षरूपेणेति अङ्कस्यास्य 'छाया' इति नाम कृतम् ।

अस्मिन्नङ्के कविना सर्वथा स्वचातुरी-चमत्कारस्तथा मनोमुग्धकारिण्या पद्धत्या कृतः यस्य दर्शनेन सहसाऽस्मन्मुखान्निर्गच्छति—

"उत्तरे तु तृतीयोऽङ्कः, कवेः प्राणायितो मतः ।
सीतारामप्रतापेन, यत्र कारुण्यभाक् कविः ॥"

इति 'उत्तररामचरित'—नाटके 'श्री प्रियम्वदा' व्यटीकायां

'छाया' नाम तृतीयोऽङ्को विरतः ।

टिप्पणी

(१) तमसावासन्त्यौ (सीतारामौ प्रति)—यहाँ तमसा ने सीता के प्रति यह आशीर्वाक्य कहा है और वासन्ती ने श्रीराम के प्रति। भवभूति ने ऐसे सहकथनों का अन्यत्र भी प्रयोग किया है। देखिये, पञ्चम अङ्क, १६, १८, १९ पद्य ।

"अभितः-परितः-समया-निकषा-हा-प्रतियोगेऽपि"—इति प्रतियोगे द्वितीया।

(२) अवनि···मङ्गलाय—यहाँ मध्य-मङ्गल है। ग्रन्थों में आदि, मध्य और अन्त में मङ्गल किया जाता है। इस नाटक में तीनों मङ्गल किये गये हैं। (३) इस श्लोक में आये हुए 'अवनि' आदि सभी सीता-राम-सम्मेलन में उपयोगी सिद्ध होंगे। यहाँ ऋषियों के द्वारा दिये जाने वाले श्रेय का प्रकाशन होने के कारण 'आक्षेप' नामक गर्भसन्ध्यङ्ग है जिसका लक्षण नाटचदर्पणकार ने यह किया है—

"आक्षेपो बीजप्रकाशनम्—

प्राप्त्याशावस्थानिवद्धस्य बीजस्य मुखकार्योपायस्य प्रकाशनं प्रकर्षणाविर्भावनमाक्षेपः।'

साहित्यदर्पणकार ने 'आक्षेप' को 'क्षिप्तिः' कहा है—

"रहस्यार्थस्य तद्भेदः क्षिप्तिः स्यात्।"

(४) इष्टजनों की आशंका होने के कारण यहाँ 'आशीः' नामक नाटचालङ्कार है जिसका साहित्यदर्पण में यह लक्षण दिया गया है—"आशीरिष्टजनाशंसा"

(५) सार्द्धमस्मद्विधाभिः—तमसा सदृश मुरला, गोदावरी आदि नदियों के साथ एवं वासन्ती सदृश अन्य वन देवताओं के साथ। 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (पा०, २/३/१९) से तृतीया। (६) स च कुलपतिराद्यश्छन्दसां यः प्रयोक्ता—और वह (प्रसिद्ध) कुलपति जो (अनुष्टुप् आदि) छन्दों का आद्य प्रयोक्ता है।

इसका वीरराघव ने 'सूर्य' अर्थ किया है—'यश्छन्दसां प्रयोक्ता वेदनां प्रवक्ता आद्यः कुलपतिः स च सूर्यश्च।'

किन्तु सूर्य का यहाँ प्रसङ्ग ठीक नहीं वैठता क्योंकि सीता-राम-मिलन में सूर्य कोई नाटक में सहायता नहीं देते हैं। अतः इसका अर्थ यह ठीक होगा—'जो (अनुष्टुप् आदि) छन्दों के (लोक में) आद्य प्रयोक्ता हैं वे कुलपति (वाल्मीकि)। वाल्मीकि की सीता-राम-मिलन में उपयोगिता नाटक में सिद्ध है ही। 'कुलपति' का लक्षण यह है— 'मुनीनां दशसहस्रं योऽन्नदानादिपोषणात्।
अध्यापयति विप्रर्षिः स वै कुलपतिः स्मृतः॥"

पं० शेषराज शास्त्री ने इस चरण को आगे के 'स च मुनिः' तक खींचकर इस प्रकार अर्थ किया है—'स च=श्रुतिस्मृतिपुराणादिप्रसिद्धः, कुलपति=कुलस्य=इक्ष्वाकुवंशस्य पतिः=प्रवर्त्तकत्वेन स्वामी, सूर्य इत्यर्थः। यथा च यः, छन्दसां=अनुष्टुबाद्यानाम्, आद्यः=प्रथमः, प्रयोक्ता=प्रयोगकर्त्ता, स च मुनिः=कुलपतिवाल्मीकिरित्यर्थः···।

हम इससे सहमत नहीं हैं। यद्यपि खींचातानी से अर्थ की कदाचित् सङ्गति बैठ सकती है तथापि उसमें चारुत्व नहीं आता क्योंकि—

१. सूर्य के रखने का कोई वैशिष्टय नहीं है। २. यदि 'कुलपति' का आशीर्वाद

परम्परा कार्य-साधक होगा—यह मान भी लिया जाय तो वाक्य विशृङ्खल हो जाता है।

भाव यह है—'स च कुलपतिः (सूर्यः), यश्छन्दसां आद्यः प्रयोक्ता स च मुनिः (वाल्मीकिः)' के अनन्तर 'अनुयातारुन्धतीको वसिष्ठः' को सङ्गति के लिये एक 'च'-कार की और आवश्यकता पड़ती है (जैसा कि पं० शेषराज जी ने भी यह लिखकर स्वीकार किया है—('अनुयातारुन्धतीको वसिष्ठश्च') किन्तु श्लोक में यह तीसरा 'च' है नहीं। इसलिये वह अपनी ओर से खींचकर लगाना पड़ता है। ३. तीसरे, छन्द के अनुरोध को भी देखने से प्रतीत होगा कि 'स च मुनि वसिष्ठः' के साथ जुड़ता है। 'आद्यश्छन्दसां यः प्रयोक्ता'—इस द्वितीय चरण की समाप्ति के अनन्तर 'स च मुनि' जोड़ना ठीक नहीं लगता। ४. और भी—यत्तदोर्नित्यः सम्बन्धः' नियम के अनुसार 'यत्' और 'तत्' का नित्य सम्बन्ध होता है। इस नियम का 'स च कुलपतिराद्यश्छन्दसां यः प्रयोक्ता' एवं 'स च मुनिरनुयातारुन्धतीको वसिष्ठः' को वाल्मीकि और वसिष्ठ की ओर ही लगने में पूर्ण पालन मिलता है, अन्यथा नहीं।

यदि यह कहा जाय कि 'स च कुलपतिः' (सूर्यः) में 'तत्' शब्द के प्रसिद्धार्थक होने के कारण 'यत्' शब्द की अर्थता है, एवं 'यश्छन्दसामाद्यः प्रयोक्ता स च मुनिः' (वाल्मीकि) में 'तत्' और 'यत्' का स्पष्ट सम्बन्ध है—इस प्रकार 'यत्तदोर्नित्यः सम्बन्धः' का पूर्ण पालन है और 'अनुयातारुन्धतीको वसिष्ठः' को विना 'यत्-तत्' का पद मानकर अर्थ किया जायगा—तव और भी शङ्का सामने आती है। वह यह है कि कवि ने जब पहले से यत्-तत् दोनों को (उक्त अर्थानुसार) 'कुलपति' (सूर्य) और 'मुनि' (वाल्मीकि) के साथ जोड़ा है तब फिर 'अनुयातारुन्धतीको वसिष्ठः' के साथ उन्हें न जोड़कर भग्नप्रक्रमता क्यों की? सहृदयों को स्पष्ट आभास होगा कि चकार-रहित केवल 'अनुयातारुन्धतीको वसिष्ठः' में कितनी श्थलता और अपूर्णता है।

अतएव, 'स च कुलपतिराद्यश्छन्दसां य प्रयोक्ता' एक पद और 'स च मुनिरनुयातारुन्धतीको वसिष्ठः' एक पद मानना चाहिए। पहले पद में 'यत्' और 'तत्' दोनों शब्दोपात्त हैं और दूसरे में 'तत्' शब्द की प्रसिद्धार्थकता के कारण 'यत्' शब्द की आर्थता है, क्योंकि—'तच्छब्दस्य प्रकान्तप्रसिद्धानुभूतार्थत्वे यच्छब्दस्यार्थत्वम्।' (सा० द०, ७/४ के अनन्तर) इस प्रकार हमारे समस्त अर्थ में यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः' का पूर्ण पालन और अधिक विच्छित्ति है। सहृदय विचार करें।

(७) अनुयातारुन्धतीकः—अनुयाता (अनुगता) अरुन्धती (एतन्नाम्नी तत्पत्नी यं सः) समासान्तः कप्। (८) तव वितरतु भद्रं भूयसे मङ्गलाय—पाठा०, 'त्वयि वितरतु…' वितरण के योग में सप्तमी का भी प्रयोग मिलता है, यथा—'वितर वारिद! वारिदवातुरे।'

भद्रम् — कल्याण । 'श्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम्' इत्यमरः ।

(६) छाया नाम तृतीयोऽङ्कः—तृतीय अङ्क में सीता अदृश्य रूप में उपस्थित हुई है । इसलिये उनके छायारूप में उपस्थित होने के कारण इस अङ्क को छाया कहा गया । विद्यासागर लिखते हैं—'अस्मिन्नङ्के सीताया अदृश्यरूपेण प्रवेशेऽपि कदाचित् अङ्गस्पर्शादिना रामानुभवविषयत्वात् छायारूपेण आभासमानतया अस्य अङ्कस्य नाम कविना छायेति कथितम् ।

अथवा इस अङ्क में सीता श्रीराम के पीछे-पीछे छाया के समान चली हैं अतः इसका नाम 'छाया' है जैसा कि प्रो० काणे ने लिखा है—In some edition this Act is called छाया The reason is that in this Act सीता was throughout present as it she were the shadow of Rama."

विशेष तृतीय अङ्क के 'नाटकीय महत्त्व' शीर्षक में देखिये ।

श्री प्रियम्वदा—टीकालङ्कृत 'उत्तररामचरित'—नाटक के "छाया"
नामक तृतीय अङ्क का सटिप्पणी हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

चतुर्थ अंक

(कौसल्या-जनक-योग)

"आविर्भूतज्योतिषा ब्राह्मणानां,
ये व्याहारास्तेषु मा संशयो भूत् ॥
भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता,
नैते वाचं विप्लुतार्थां वदन्ति ॥"

चतुर्थ अङ्क की कथावस्तु का विश्लेषण—

नाटक के चतुर्थ अङ्क को निम्न चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(क) दण्डायन एवं सौधातकि; (ख) जनक, अरुन्धती, कौसल्या और गृष्टि; (स) लव, जनक, अरुन्धती एवं कौसल्या; तथा (ध) ब्राह्मणकुमार, लव तथा चन्द्रकेतु के सैनिक।

(क) दण्डायन एवं सौधातकि

[स्थान—वालमीकि का आश्रम]

आरम्भ में दण्डायन एवं सौधातकि नामक दो तपस्वियों का प्रवेश होता है। उनके वार्तालाप से यह सूचना मिलती है कि—

आश्रम, में कुछ वसिष्ठ, जनक कौसल्या अरुन्धती आदि अतिथि आए हुए हैं। जनक सीता जी के दुःख से दुःखी होकर वैखानस हो गए हैं। उन्होंने मांस आदि का परित्याग कर दिया है तथा अब वालमीकि जी को देखने के लिये आये हुए हैं। अभी सम्बन्धिनी कौसल्या आदि के साथ इनका साक्षात्कार नहीं हुआ है। वसिष्ठ जी की आज्ञा है कि कौसल्या स्वयं ही जनक से मिले।

(ख) जनक, अरुन्धती, कौसल्या और गृष्टि

[स्थान—वालमीकि-आश्रम के बाहर वृक्ष के नीचे का भाग]

सीता का विचार कर जनक का मृत्यु कोप शान्त नहीं हो रहा है। वे आत्म-हत्या भी नहीं कर सकते, बड़े चिन्तित हैं। इसी बीच भगवती अरुन्धती और कौसल्या प्रविष्ट होती है। कौसल्या का दर्शन उनके लिये घाव पर नमक के समान है। वे भी जनक को अपना मुँह नहीं दिखाना चाहतीं। अरुन्धती को प्रणाम करके जनक गृष्टि से उपालम्भ के साथ कौसल्या का कुशलवृत्तान्त पूछते हैं। गृष्टि उन्हें निम्न-लिखित सूचनाएँ देता है :—

(१) कौसल्या ने क्रुद्ध होकर रामचन्द्रजी का परित्याग कर दिया है।

(२) सीता-परित्याग में, राम नहीं, उनका दुर्भाग्य ही दोषी है; क्योंकि लोक उनकी अग्निशुद्धि में विश्वास नहीं रखता है।

इस पर जनक तथा अरुन्धती को रोष तथा निःश्वासों के साथ सीता की पवित्रता में कोई सन्देह नहीं है। कौसल्या मूर्छित हो जाती हैं, जनक अपने कमण्डलु के जल के छींटों से उनको आश्वस्त कर देते हैं। इस समय अरुन्धती उनको यह सूचित करती हैं :—

"महारानी ! आप धैर्य धारण करें। क्या आपको स्मरण नहीं कि आपके कुलगुरु (वसिष्ठ) ने ऋष्यश्रृङ्ग के आश्रम में कहा था कि जो होना था वह तो हो ही चुका, परन्तु परिणाम में कल्याण ही होगा।"

(घ) लव, जनक, अरुन्धती कौसल्या

[स्थान—आश्रम का वही बाह्य प्रदेश]

इसी समय नेपथ्य में अनध्याय के कारण बालकों का कोलाहल सुनाई पड़ता है। एक बालक को देखकर अतिथि प्रसन्न हो उठते हैं। जनक गृष्टि को उसका परिचय प्राप्त करने के लिए वाल्मीकि के समीप भेज देते हैं। बालक प्रवेश करके अपना नाम 'लव' बलताकर सबको प्रणाम करता है। कौसल्या एवं जनक उसमें राम तथा सीता की आकृति की झाँकी प्राप्त करते हैं। उनकी जब लव से बात-चीत होती है तभी नेपथ्य में चन्द्रकेतु की "कोई आश्रम के निकटवर्ती प्रदेशों में आक्रमण न करे" यह आज्ञा सुनाई देती है। लव जनक से चन्द्रकेतु का परिचय पूछते हैं, जनक उनको उसका परिचय दे देते हैं। लव के रामायण सम्बन्धी ज्ञान से प्रसन्न होकर जनक अनेक प्रश्न करते हैं। पुनः अरुन्धती लव को कौसल्या एवं जनक का परिचय देती हैं। लव द्वारा पुनः सीता-परित्याग की चर्चा सुनकर राजर्षि जनक अत्यन्त कुपित होते हैं, जिनको अरुन्धती प्रसन्न कर लेती हैं।

जनक तथा लव की वार्ता से निम्नलिखित सूचनाएँ मिलती हैं :—

(१) रामचन्द्र जी ने अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा छोड़ दिया है, जिसका रक्षक चन्द्रकेतु है।

(२) लव, राम तथा लक्ष्मण के विषय में पूर्ण परिचित हैं। वे दोनों रामायण के मुख्य पुरुष पात्र हैं। जनक से चन्द्रकेतु के विषय में सुनकर वह निश्चय कर लेता है कि चन्द्रकेतु उर्मिला का पुत्र और जनक का दौहित्र है।

(३) अभी "दशरथ के पुत्रों के कितने पुत्र किन-किन पत्नियों में हुए"— रामायण के इस भाग को किसी ने नहीं सुना है।

(४) उक्त भाग कवि ने लिख तो दिया है, किन्तु प्रकाशित नहीं किया है। उसका एक भाग लिखकर "तौर्यत्रिक सूत्रधार" भरतजी के पास अप्सराओं द्वारा अभिनय कराने के लिये भेज दिया गया है।

(५) वाल्मीकि जी की उस अंश में बड़ी श्रद्धा है। उन्होंने उसको कई विद्यार्थियों के साथ भेजा है, जिनमें लव के बड़े भाई कुश धनुष लेकर गए हैं। ये दोनों यम (जुड़वाँ) भाई हैं।

(६) श्रुत कथाभाग की अवधि नागरिकों के मिथ्या अपवाद से डरे हुए राजा राम द्वारा परित्यक्त प्रसववेदना से दुःखित सीताजी को लक्ष्मण द्वारा वाल्मीकि आश्रम के समीप छोड़ दिए जाने तक है।

(घ) ब्राह्मण कुमार, लव तथा चन्द्रकेतु के सैनिक

[स्थान—वाल्मीकि आश्रम के प्रदेशों का बाह्य भाग]

जनक एवं लव की बात-चीत के बीच ही एक बालक आता है। वह यज्ञ के अश्व को देखने को अत्यन्त उत्सुक है। घोड़े का वर्णन सुनकर लव दौड़ते हुए अतिथियों के पास चले जाते हैं। तदनन्तर गृष्टि (कञ्चुकी) वाल्मीकि जी का संदेश कहता है कि जनक आदि लव का वृत्तान्त यथावसर जान लेंगे। उधर घोड़े को देखकर लव समझ लेते हैं कि यज्ञ का अश्व है। वे इसमें क्षत्रियों का अपमान समझकर ब्राह्मण कुमारों से घोड़े को ले जाने के लिये कहकर युद्ध के लिए सज्जित हो जाते हैं।

चतुर्थ अङ्क का नाटकीय महत्त्व

(१) चतुर्थ अङ्क की आवश्यकता

(क) विश्रान्ति—

उत्तररामचरित में प्रथम अङ्क में, चित्र-दर्शन के समय, जब सीताजी लक्ष्मण जी से "वच्छ, इयं वि अवरा का ? (वत्स, इयमप्यपरा का ?)" पूछती है और लक्ष्मण लज्जा और मन्दहास्य के साथ स्वगत कहते हैं 'अये, उर्मिलां पृच्छत्यार्या···।' उसी समय एक शिष्ट हास्य की झलक मात्र दिखाई देती है। इसके उपरान्त तृतीय अङ्क के अन्त तक करुणा ही करुणा (Pathos) विद्यमान है। कारुण्यमय वातावरण में विश्रान्ति के लिये कुछ हास्य की आवश्यकता स्वाभाविक होती है। अतः भवभूति ने चतुर्थ अङ्क में औत्सुक्य, हास्य तथा प्रसन्नता के क्षणों (Amusing Pictures) का अवसर देकर अपनी नाटकीय चतुरता तथा दर्शक (एवं पाठक) के मनोभावों को समझने की कुशलता का परिचय दिया है। इस प्रकार के दृश्य सौधातकि एवं दण्डायन की वार्ता, अश्व के वर्णन तथा वटु एवं लव के कथनोपकथनों में मिलते हैं। कौसल्या एवं लव की वार्ता में औत्सुक्य तथा अङ्क के अन्त में क्रोध के भी दर्शन होते हैं। इस प्रकार दर्शक (या पाठक) कारुण्य की गहराई से निकलकर कुछ विश्रान्ति का अनुभव करता है।

(ख) जनक तथा कौसल्या की दशा—

तृतीय अङ्क में सीता जी, वासन्ती, तमसा आदि राम की व्याकुलता एवं पश्चात्ताप से कुछ सन्तोष प्राप्त कर लेती हैं। रामचन्द्रजी की माता एवं सीताजी के पिता जनक के मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिये स्थान की आवश्यकता है। उस आवश्यकता की पूर्ति चतुर्थ अङ्क में कर दी गई है। जनक वैखानस हो गए हैं; उन्हें अपनी पुत्री के अपमान पर क्रोध है, वे लोक तथा राम को नष्ट कर देना चाहते हैं

किन्तु अरुन्धती के समझाने पर शान्त हो जाते हैं। उधर वधू के अपमान से कौसल्या उसके पिता से मिलने में सर्वसाधारण के समान ग्लानियुक्त हैं। इन दोनों के मिलने की आवश्यकता को कवि ने गम्भीरता के साथ सोचा है इसलिये उन्होंने इस अङ्क का नाम ही "कौशल्या-जनक-योग" रख दिया है।

(ग) लव—

कवि ने औत्सुक्यवर्धन के लिये इसी अङ्क में लव की उपस्थिति प्रदर्शित की है। उनमें बच्चे की सी स्वाभाविकता, स्वाभिमान, आत्मविश्वास तथा सौन्दर्य का अपूर्व सम्मिश्रण है। उसकी आकृति राम तथा सीता से मिलती-जुलती है, जिसको देखकर जनक एवं कौसल्या में उत्सुकता जाग्रत होती है और उसका परिचय प्राप्त करने में पूर्ण सतर्क हैं किन्तु वह अपने विषय में बहुत ही थोड़ा ज्ञान रखता है। इस प्रकार लव का चरित्र एक रहस्य (Mystery) की सृष्टि करता है। लव एवं कुश की चर्चा द्वितीय तथा तृतीय अङ्क में आ चुकी है, अतः उसकी उपस्थिति की भी यहाँ आवश्यकता ही है।

(२) चतुर्थ अङ्क की घटना

चतुर्थ अङ्क की घटना का द्वितीय अङ्क की घटना से सम्बन्ध है। वहाँ आत्रेयी और वासन्ती के वार्त्तालाप से अरुन्धती, कौसल्या और वसिष्ठ जी का वाल्मीकि के आश्रम में गमन, लव-कुश, राम का अश्वमेध यज्ञ, यज्ञ के अश्व की रक्षा में संलग्न चन्द्रकेतु, वाल्मीकि की काव्य-रचना आदि की चर्चा हुई थी। यहाँ उन तथ्यों का विस्तार दृष्टिगत होता है।

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशतस्तापसौ)

एकः—सौधातके ! दृश्यतामद्य भूयिष्ठसन्निधापितातिथिजनस्य समधिकारम्भरमणीयता भगवतो वाल्मीकेराश्रमपदस्य । तथाहि—

नीवारौदनमण्डमुष्णमधुरं सद्यः प्रसूतप्रिया-
पीतादभ्यधिकं तपोवनमृगः पर्याप्तमाचामति ।
गन्धेन स्फुरता मनागनुसृतो भक्तस्य सर्पिष्मतः,
कर्कन्धूफलमिश्रशाकपचनामोदः परिस्तीर्यते ॥१॥

[अन्वयः—तपोवनमृगः, सद्यःप्रसूतप्रियापीतात्, अभ्यधिकम्, उष्णमधुरम्, नीवारौदनमण्डं, पर्याप्तम्, आचामति । सर्पिष्मतः भक्तस्य स्फुरता गन्धेन, मनाक् अनुसृतः कर्कन्धूफलमिश्रशाकपचनामोदः परिस्तीर्यते ॥१॥

सौधातकिः—साअदं अणेअपिआराणं जिण्णकुच्छाणं अणज्झाअकालणाणं तपोधणाणम् । [स्वागतमनेकप्रकाराणां जीर्णकूर्चानामनध्यायकारणानां तपोधनानाम् ।]

प्रथमः—(विहस्य) अपूर्वः खलु बहुमानहेतुर्गुरुषु सौधातके !

सौधातकिः—भो दण्डाअण ! किंणामहेओ दाणिं एसो महत्तस्स इत्थिआसत्थस्स धुरंधरो अज्ज अदिही आआदो ? [भो दण्डायन ! किंनामधेय इदानीमेष महतः स्त्रीसार्थस्य धुरंधरोऽद्यातिथिरागतः ?]

दण्डायनः—धिक्प्रहसनम् ! नन्वयमृष्यश्रृङ्गाश्रमादरुन्धतीं पुरस्कृत्य महाराजदशरथस्य दारानधिष्ठाय भगवान् वसिष्ठः प्राप्तः । तत्किमेवं प्रलपसि ?

सौधातकिः—हुं वसिट्ठो ? [हुं वसिष्ठः ?]

दण्डायनः—अथ किम् ?

सौधातकिः—मए उण जाणिदं कोवि वग्घो विअ एसीत्ति । [मया पुनर्ज्ञातं कोऽपि व्याघ्र इव एष इति ।]

दण्डायनः—आः, किमुक्तं भवति ?

सौधातकिः—जेण पराबडिदेण एव्व सा वराई कविला कल्लाणी बालामोडिअ मडमडाइआ । [येन परापतितेननैव सा वराकी कपिला कल्याणी बलात्कृत्य मडमडायिता ।

x दण्डायनः—"समांसो मधुपर्कः" इत्याम्नायं बहुमन्यमानाः श्रोत्रियाभ्यागताय वत्सतरीं महोक्षं वा पचन्ति गृहमेधिनः । तं हि धर्मं धर्मसूत्रकाराः सामामनन्ति ।

सौधातकिः—भो, णिगिहोदोसि । [भोः निगृहीतोऽसि] ।

दण्डायनः—कथमिव ?

सौधातकिः—जेण आअदेसु वसिट्ठमिस्सेसु वच्छदरी विससिदा । अज्ज एव्व पञ्चाअदस्स राएसिणो जणअस्स भअवदा वम्मीइणा दहिमहूहिं एव णिव्वत्तिदो महुवक्को । वच्छतरी उण विसज्जिदा । [येनागतेषु वसिष्ठमिश्रेषु वत्सतरी विशसिता । अद्यैव प्रत्यागतस्य राजर्षेर्जनकस्य भगवता वाल्मीकिना दधिमधुभ्यामेव निर्वर्तितो मधुपर्कः । वत्सतरी पुनर्विसर्जिता ।]

दण्डायनः—अनिवृत्तमांसानामेवं कल्पं व्याहरन्ति केचित । निवृत्तमांसस्तु तत्रभवान् जनकः ।

सौधातकिः—किं णिमित्तम् ? [किन्निमित्तम् ?]

दण्डायनः—यद्देव्याः सीतायास्तादृशं दैवदुर्विपाकमुपश्रुत्य वैखानसः संवृत्तः तस्य, कतिपयसंवत्सरश्चन्द्रद्वीपतपोवने तपस्तप्यमानस्य !

सौधातकिः—तदो किंति आअदो ? [ततः किमित्यागतः ?]

दण्डायनः—संप्रति च प्रियसुहृदं भगवन्तं प्राचेतसं द्रष्टुम् ।

सौधातकिः—अवि अज्ज सम्बन्धिणीहिं सम णिउत्तं दंसणंसे णवेत्ति ? [अप्यद्य सम्बन्धिनीभिः समं निर्वृत्तं दर्शनमस्य न वेति ।]

दण्डायनः—संप्रत्येव भगवता वसिष्ठेन देव्याः कौसल्यायाः सकाशं भगवत्यरुन्धती प्रहिता । यथा "स्वयमुपेत्य स्नेहादयं द्रष्टव्यः" इति ।

सौधातकिः—जह एदे ठ्ठविरा परप्परं एव्व मिलिदा, तह अह्मे वि वडुहिं सह मिलअ, अणज्झाअमूहस्सवं खेलन्तो म्णेम्ह । अह कुत्थ सो जणव [यथैते स्थविराः परस्परमेव मिलिताः, तथावामपि वटुभिः सह मिलित्वानध्यया-महोत्सवं खेलन्तो मानयावः । अथ कुत्र स जनकः ?]

दण्डायन—तथायं प्राचेतसवसिष्ठावुपास्य संप्रत्याश्रमस्य बहिर्वृक्षमूलमधितिष्ठति । य एषः—

हृदि नित्यानुषक्तेन, सीताशोकेन तप्यते ।
अन्तःप्रसृप्तदहनो, जरन्निव वनस्पतिः ॥२॥

[अन्वयः—हृदि, नित्यानुषक्तेन, सीताशोकेन, (य एषः) अन्तःप्रसृप्तदहनः, जरन् वनस्पति, इव, तप्यते ॥२॥

(इति निष्क्रान्तौ)

(इति मिश्रविष्कम्भः)

हिन्दी—

[तदनन्तर दो तपस्वी (दण्डायन और सौधातकि) प्रवेश करते हैं।]

एक—सौधातके ! आज (आदरपूर्वक ठहराये गये) अनेक अतिथियों से सुशोभित भगवान् वाल्मीकि के पवित्र आश्रम की (स्वागत-सत्कार के लिये किये जाते हुए] बहुत से कार्यों की बढ़ी हुई शोभा को तो देखो। जैसा कि—

[श्लोक १] (यह) तपोवन का मृग (अपनी) सद्य.प्रसूता (नई ब्यायी हुई) प्रिया (हरिणी) के पीने से बचे हुए 'नीवार' से निर्मित भात के गरम-गरम एव (कुछ-कुछ) मधुर माँड को पर्याप्त मात्रा में पी रहा है और (दूसरी ओर) घी पड़े भात के उड़ते हुए गन्ध के साथ मिलकर (यह) बेरों से मिश्रित शाकों के पकाने (छौंकने) का गन्ध चारों ओर फैल रहा है।

सौधातकि—सफेद दाढ़ी-मूँछों वाले, अनध्याय (अवकाश) के हेतु इन भाँति-भाँति के तपस्वियों का स्वागत हैं।

पहिला – (हँसकर) सौधातकि ! गुरु-जनों के प्रति आदरसूचक तुम्हारा यह एकदम नया प्रकार है !

सौधातकि—अरे, दण्डायन ! आज इतने बड़े महिला-मण्डल का अध्यक्ष होकर आने वाले इस अतिथि का क्या नाम है ?

दण्डायन—इस (अनुचित) परिहास को धिक्कार है ! (क्या अनुचित परिहास कर रहे हो ?) अरे, ऋष्यश्रृंग के आश्रम से अरुन्धती को आगे कर महाराज दशरथ की धर्मपत्नियों के साथ भगवान् वसिष्ठ जी पधारे हैं। इसलिए (बिना कुछ समझे-बूझे ही) यह क्या (बेहूदी) बकवास कर रहे हो ?

सौधातकि—ऐं ! क्या वसिष्ठ हैं ?

दण्डायन—हाँ !

सौधातकि—(अरे,) मैंने तो समझा था कि कोई व्याघ्र है।

दण्डायन—अरे, क्या कहते हो ?

सौधातकि—(यह कि—) जिसने आते ही बेचारी उस दो वर्ष की कपिला बछिया को मड़-मड़ा डाला। जिस प्रकार व्याघ्र एकदम झपटकर किसी हरिण आदि को तोड़-मरोड़ डालता है। उसी प्रकार वसिष्ठ ने भी बछिया को मड़मड़ा डाला।

दण्डायन—"अतिथि को मांससहित मधुपर्क देना चाहिए" ("समांसो मधुपर्क.") इस वेद-वाक्य को प्रमाण मानते हुए गृहस्थ (आतिथेय) वेदज्ञ अतिथि के लिए बछिया अथवा बूढ़ा बैल पकाते हैं। धर्म-सूत्रकार इस धर्म का आदेश देते हैं।

सौधातकि—मित्र ! पकड़े गये ! (परास्त हो गये !)

दण्डायन—कैसे ?

सौधातकि—इसलिये पूज्य वसिष्ठ जी के आने पर (तो) बछिया मारी गई परन्तु अब ही आए हुऐ राजर्षि जनक का 'मधुपर्क' भगवान् वाल्मीकि ने दही एवं शहद से सम्पन्न किया और बछिया छोड़ दी। (इसलिए 'समासो मधुपर्कः' का प्रमाण देकर तुम पराजित हो गये हो !)

दण्डायन—कुछ धर्मशास्त्रकार मांस न छोड़ने वालों (माँसाहारियों) के लिए ही यह विधि बतलाते हैं, परन्तु श्रद्धेय जनकजी ने तो माँस छोड़ रखा है (अतः उनके लिए बछिया नहीं मारी गई।)

सौधातकि—किसलिए ?

दण्डायन—इसलिए कि (जनक) सीता देवी के उस (निर्वासन-रूप) विधि विलसित को सुनकर वानप्रस्थ हो गये हैं; और उन्हें 'चन्द्रद्वीप' तपोवन में तप करते हुए कई वर्ष हो गये हैं।

सौधातकि—तब वे यहाँ क्यों आये हैं ?

दण्डायन—इस समय अपने प्रिय मित्र भगवान् वाल्मीकि से मिलने के लिए।

सौधातकि—आज समधिनों (कौशल्या आदि) के साथ इनका (जनक का) साक्षात्कार हुआ है कि नहीं ?

दण्डायन—अभी-अभी भगवान् वसिष्ठ जी ने महारानी कौशल्या के पास भगवती अरुन्धती को (यह संदेश देकर) भेजा है कि "वे स्वयं आकर स्नेहपूर्वक इनसे (जनक से) मिलें।"

सौधातकि—जैसे ये वृद्ध परस्पर मिल गये हैं, वैसे ही हम दोनों भी (समःवयस्क) ब्रह्मचारियों के साथ मिलकर खेलते हुए 'अनध्याय-महोत्सव' (छुट्टी) मनाते हैं। हाँ, तो अब वे जनक कहाँ हैं ?

दण्डायन—ये (जनक) भगवान् वाल्मीकि और वसिष्ठ जी की पूजा कर अब आश्रम के बाहर वृक्ष के नीचे जाते हैं। जो ये—

[श्लोक २] हृदय में निरन्तर (दिन-रात) लगे हुए सीता के शोक से अन्दर ही अन्दर आग फैले हुए जर्जर वृक्ष की भाँति सुलगते रहते हैं।

[दोनों चले जाते हैं।]

(मिश्र विष्कम्भकः)

संस्कृत-व्याख्या

"अथ महर्षेर्वाल्मीकस्याश्रमे 'सीतासमाचार प्राप्ति-निमित्तं" कविश्चतुर्थाङ्कं प्रारभते। तत्रादौ द्वौ छात्रगत्याश्रमे समागतानामतिथिजनानां सम्बन्धे वार्तालापं कुरुतः। तत्रैकः (दण्डायनः) प्राह—सौधातके ! इति। 'सौधातकिः' इत्यपरस्य

नामास्ति । सुधातुरपत्यं पुमान् सौधातकिस्तत्सम्बुद्धौ, 'सौधातके' ! इति पदम् । भूयिष्ठमधिकं यथा स्यात्तथा सन्निधापिताः = निमन्त्रणपूर्णकमाहूय संस्थापिता अतिथिजना यस्मिन् तस्य । भगवतो वाल्मीकेराश्रमपदस्य = 'पद' शब्दः प्रतिष्ठासूचकः । उत्तमाश्रमस्याद्य समधिकस्यारम्भस्य = कार्यकलापस्य रमणीयता दृश्यताम् । समागतानां मान्यानामतिथिजनानां स्वागतार्थं बहुविधं कार्यमाश्रमे क्रियते, तेन यस्याद्य विशिष्टा शोभा प्रेक्षणीया जातेति भावः ।

कीदृशी शोभा ? इति वर्णयितुमाह = नीवारेति ।

तपोवनस्थो मृगः सद्यः प्रसूतायाः = समुत्पादितसन्तानायाः प्रियायाः पीताद् अभ्यधिकम् = अवशिष्टम् । पूर्वं हरिण्या पीतम्, अनन्तरञ्च हरिणो नीवारौदनस्योष्णं मधुरञ्च मण्डं, पर्याप्तं = यथेष्टं, आचामति = पिबति । किञ्च सर्पिष्मतः = घृतहितस्य भक्तस्य ओदनस्य, प्रस्फुरता = विस्तीर्णेन, गन्धेन, मनाक्-किञ्चत्, अनुसृतः = अनुगतस्तत्सम्बद्ध इत्यर्थः । कर्कन्धूफलैः = बदरीफलैः, मिश्रा ये शाकास्तेषां पचनस्य = पाकस्य, आमोदः सौगन्ध्यम्, परिस्तीर्यते = सर्वस्मिन्नाश्रमे व्याप्नोति । अतिथीनां कृते नीवारौदनम्, सघृतम्, कर्कन्धूफलमिश्रिताश्च शाकाः, इत्येवाश्रमस्यातिथ्यम् । एतेन तदानीन्तनेष्वाश्रमेषु नाधिकः कृत्रिमः आतिथ्यसत्कार आसीदिति व्यज्यते ।

अत्र स्वभावोक्तिः, उदात्तश्चालङ्कारौ । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः । प्रसादो गुणः । लाटी तिः॥री१॥

सहर्षं क्रीडनोत्सुकः सौधातकिः प्राह—साअदमिति । जीर्णकूर्चानां = जीर्णभ्रूमध्यभागानाम्, अथवा जीर्णश्मश्रूणाम् । ("कूर्कमस्त्री भ्रुवोर्मध्यम्" इत्यमरः, "कूर्चमस्त्री भ्रुवोर्मध्ये कठिनश्मश्रुकैतवे" (इति मेदिनी) अनध्यायस्य = अवकाशस्य यं कारणानाम्, 'शिष्टागमनेऽनध्यायः" सम्प्रदाय-विदो वदन्ति । अतः एतेषां शुभागमनेऽप्यनध्यायो भविष्यतीति प्रसन्नताऽस्माकम् । अनेकप्रकाराणामेषां माहनुभावानां स्वागतमभिनन्द्यते ।

परिहास-वचनमाकर्ण्य स्वयमपि विहस्य प्रथमः (दण्डायनः) प्राह—अपूर्वं इति । सौधातके ! बहु सम्मानमद्य तु भवता क्रियते समागतानां गुरुजनाम् ! किमत्र कारणम् ?

अनेक-स्त्री-जनरक्षकः कोऽयमागतः ? इति श्रुत्वा दण्डायनः कथयति—धिगिति । प्रहसनम् = उपहासः, गुरुजनानामुपहासः क्रियते, इति धिक् । सर्वथानुचितमिति भावः । अये ! दशरथ-कुलगुरु कौशल्यादिस्त्रीजनामधिष्ठाता भूत्वा स्वधर्मपत्न्याऽरुन्धत्या सहितो भगवान् वसिष्ठः समागतः, ततः किमेवं परिहासं करोषि ? इति भावः ।

पुनः सौधातकिः पृच्छति—हुमिति । 'हुं', इत्यव्ययपदं प्रश्नवाचकम् । किंस्विद् वसिष्ठः समागतः ? दण्डायनः उत्तरयति = अथेति । अथ किम् इति पदद्वयं नाटकीयभाषायां स्वीकारार्थे प्रयुज्यते । ('जी हाँ इति हिन्दी) ततश्च-वसिष्ठ एवेति तत्त्वतो जानीहीति भावः ।

मया पुनर्ज्ञातं कोऽपि व्याघ्रः, इति परिहासपेशलस्य तस्याशयं ज्ञातुमिच्छु-र्दण्डायनः पृच्छति—आ इति। अये! किमुक्तं भवति? तव कथनस्य को भावः? इति स्पष्टं वद। 'व्याघ्रः' इति कथनस्याभिप्रायो मया न परिज्ञातः, इति स्पष्टीकरण-मावश्यकमिति भावः।

'व्याघ्र' शब्दस्याशयं प्रतिपादयितुमाह—सौधातकिः—जेण इति। येन हेतुना परापतितेन = समागतेनैव सा कपिलवर्णा कल्याणी वत्सतरी वर्षद्वयावस्था, बलपूर्वकं 'मड-मड' ध्वनि कुर्वता तेन भक्षिता। व्याघ्रोऽपि मृगादिकं सहसा व्यापाद्य तस्यास्थीनि 'मड-मड'-ध्वनिपुरस्सपरं भक्षयति, तथैवायमपि कृतवान्, 'इति मया ज्ञातं कोऽपि 'व्याघ्रः,' इति।

दण्डायनः शास्त्रपद्धत्या समाधानं करोति—समांस इति। केचित् धर्मसूत्रकाराः सगांसं मधुपर्कमङ्गीकुर्वन्ति, अतः शास्त्राज्ञानुसारं वेदविदेऽतिथये गृहागताय वत्सतरीं, महोक्षं = महान्तं बलीवर्दं वा गृहस्थाः परिपचन्ति, स एवायं धर्मः, इति धर्मसूत्रकाराः समामनन्ति = वेदवाक्यत्वेनोपदिशन्ति? इति भावः।

क्वचित् शास्त्रेषु 'समांसो मधुपर्कः' इति सिद्धान्तमनुसृत्यैवमुच्यते।

जनकस्य स्वागतार्थं किमिति दधि-मध्वादिभिरेव शास्त्रनियमः परिपालितः वत्सतरी किमिति नार्पितेति प्रश्नं समाधत्ते दण्डायनः—अनिवृतेति। केचिद् धर्मशास्त्र-कारा अपरित्यक्तमांसानां कृते एव तथोक्तवन्तः, जनकेन तु मांस-भक्षणं परित्यक्तम्, अतो दध्यादिभिस्तस्य 'मधुपर्क' उचित एवेति भावः।

किमिति जनको मांसं परित्यक्तवानिति प्रश्नस्योत्तरं ददाति यद्देव्या इति। देव्याः = सीतायाःतथाविधं भाग्यविपर्ययं विदित्वा जनक वैखानसः वानप्रस्थः सञ्जातः, अतो मांसादि बुद्धि-विनाशकरान् पदार्थान् परितत्याज। चन्द्रद्वीपतपोवने च तपस्तप्यमानस्य कतिचिद्वर्षाणि व्यतीतानि। अत्र च प्रियमित्रं प्राचेतसं = वाल्मीकिं द्रष्टुमागतः।

सम्बन्धिनीभिः = कौशल्यादिभिः सह दर्शनादिप्रसङ्गः समायातो न वेति प्रश्नस्योत्तरे कथयति सम्प्रत्येवेति। अधुनैव भगवता वशिष्ठेन कौशल्या-सविधे "स्वयं गत्वा जनकोऽवलोकनीयः इति कथयितुं स्वधर्मपत्नी अरुन्धती प्रेषिता। पुनः सर्व-मपि वृत्तान्तं ज्ञात्वा सौधातकिः क्रीडितुमाह—जइ-इति। यथा एते वृद्धाः परस्परं मिलित्वाऽऽनन्दमनुभवन्ति, तथैव वयमपि स्वसमान वयोभिर्ब्रह्मचारिभिः स मिलित्वा अनध्याय-महोत्सवमिह मानयामः? जनकः पुनरधुना कुत्रास्ते?

दण्डायनः कथयति—तथायमिति। प्राचेतसं = वाल्मीकिं, वशिष्ठं चोपास्या-श्रमाद् बहिर्वृक्षस्य मूले तिष्ठति जनकः।

कीदृशः प्रतिभाति तत्रस्थितो जनकः? इति प्रतिपादयति—हृदि इति।

अत्र गद्यस्थो 'य एषः' इत्यनुबध्यते। य एष जनकः हृदये नित्य सम्बद्धेन सीतायाः शोकेन परितप्तो भवति। अन्तः = अभ्यन्तरे प्रसृप्तः = परितो व्याप्तः दहनः = अग्निर्यस्य तादृशः जरन् = वृद्धः प्राचीनः इति यावत्, वनस्पतिरिव = वनस्थः =

पुष्प-पत्र-रहितः पादप इव विभातीति भावः। अन्तर्विद्यमानज्वालो वनवृक्ष-इवायं जनको विभातीत्याशयः। एतेन सर्वथा चिन्ताग्नि-सन्दह्यमान इव प्रतिक्षणं तापमनुभवन्नास्ते, इति द्योत्यते। अत्रोपमाऽलङ्कारः। अनुष्टुप् च्छन्दः ॥२॥

इति मिश्रेति। प्राकृत संस्कृतोभयभाषाभाषिणोः पात्रयोर्वर्तमानत्वादेष विष्कम्भकः "मिश्रविष्कम्भकः" इत्युच्यते सङ्कीर्णो वा, इति। विष्कम्भकलक्षणन्तु साहित्यदर्पणसम्मतं पूर्वमुक्तमेव। शुद्ध-संकीर्णयोस्तयोरयमेव निश्चयो मन्तव्यः यत् संस्कृत भाषा-भाषि मध्यम पात्रम्=दण्डायनः। प्राकृत-भाषी च नीचपात्रम्=सौधातकिः। अतः उभयविधभाषा-भाषिणोस्तयोरेकत्रवार्तालापे सीता-प्रसंगस्य भविष्यतः सूचनाद् विष्कम्भकलक्षणं सार्थकमिति भावः। अथवा—योग्यताऽध्ययनादिकमाश्रित्य दण्डायनो मध्यमः, न्यूनयोग्यता-सम्पन्नश्च सौधातकिर्नीचः इति मिश्र-विष्कम्भकः।

टिप्पणी

(१) [श्लोक १]

१. **सद्यःप्रसूतप्रियापीतात्**—सद्यः प्रसूता चासौ प्रिया च तया पीतात्। २. **मण्डम्**—माँड को। "भिस्सटा दग्धिका सर्वरसाग्रे मण्डमस्त्रियाम्' इत्यमरः। ३. **उष्णमधुरम्**—इस पद की विशेषता वीरराघव ने इस प्रकार स्पष्ट की है:—अत्र सद्यः प्रसूतत्त्वमुष्णत्वे हेतुः। उष्णत्वं हि प्रसवविह्वलशरीरत्तोदपरिहारकम्। प्रियात्वं च मधुरत्वे हेतुः अत एव मधुरत्वोक्तिः प्रयोजनवती। ४. **कर्कन्धूफलमिश्रशाकपचनामोदः**—कर्कन्धूफलैः (बदरैः) मिश्रः शाकस्तस्य पचनं (पाकः) तस्य आमोदः। "विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे। आमोदः सोऽतिनिर्हारी"—इत्यमरः ५. **स्वभावोक्ति अलङ्कार।**

(२) **जीर्णकूर्चानामनध्यायकारणानाम्**—जीर्णं कूर्चं येषां तेषां जीर्णकूर्चानाम् अनध्यायस्य कारणानाम्। सौधातकि को अध्ययन से अवकाश मिलने की बड़ी प्रसन्नता है; इसलिए इस अवकाश के हेतुभूत बूढ़े मुनियों का स्वागत करता है। प्राचीन काल में अनध्याय के अनेक कारणों में 'अतिथिआगमन' भी अन्यतम था—

"धावतः पूतिगन्धे च शिष्टे च गृहमागते (अनध्यायः)।"

(याज्ञवल्क्यस्मृति, १/१५७)

(३) **दण्डायनः**—कुछ संस्करणों में इनका नाम 'भाण्डायनः' भी मिलता है। यह सौधातकि से बड़ा और गम्भीर स्वभाव का है। (४) **समांसो मधुपर्कः**··· **गृहमेधिनः**—धर्मसूत्रकारों के मत में—किसी सामान्य व्यक्ति के घर आने पर गृहस्थी को चाहिये कि वह "मधुपर्क" से उसका स्वागत करे। 'मधुपर्क' के साथ ही 'माँस' का भी विधान है। इसके लिये 'गवालम्भ' का आदेश है। इस विधि को पूरा करने के लिए गृहस्थ को चाहिये कि वह शस्त्र अतिथि के सामने रखें। यदि वह मांसाहारी हो तो आज्ञा दे अन्यथा निषेध कर दे।

इसी के अनुसार, जब वाल्मीकि आश्रम में स्वागत हुआ, तब वसिष्ठजी का आतिथ्य 'समांसो मधुपर्कः' की विधि से सम्पन्न किया गया परन्तु निरामिष होने के

कारण जनक का मधुपर्क-मात्र से ही। 'मधुपर्कः'—एक काँसी के पात्र में शुद्ध दही, शहद, तथा घी रखकर उसे दूसरे काँसी के पात्र से ढककर देने की विधि को 'मधुपर्क कहते हैं। जैसाकि—

"संशोधितं दधि, मधु, कांस्य-पात्रस्थितं घृतम्।
कांस्येनान्येन सञ्छन्नं 'मधुपर्क' इतीर्यते।"

अथवा–दही, घृत, जल, मधु एवं शर्करा का मिश्रण 'मधुपर्क' कहा जाता है—

'दधि सर्पिर्जलं क्षौद्रं सिता चैतैश्च पञ्चभिः
प्रोच्यते मधुपर्कः।"

जिन्हें 'मधुपर्क' समर्पित किया जाता था उन व्यक्तियों का मनुस्मृति में इस प्रकार उल्लेख किया है।

'राजर्त्विक्स्नातकगुरून् प्रियश्वसुरमातुलान्।
अर्हयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरात्पुनः।" (मनु, ३/११९)

दण्डायन के उपर्युक्त कथन के समर्थन के लिये 'वसिष्ठस्मृति (४/५–८) देखनी चाहिये जिसमें लिखा है—

'पितृदेवातिथिपूजायामेव पशुं हिंस्यादिति मानवम्। मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि। अत्रैव च पशुं हिंस्यान्नान्यथेत्यब्रवीन्मनुः॥ नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्। न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्माद्यागे वधोऽवधः॥ अथापि ब्राह्मणाय वा राजन्याय वाभ्यागताय महोक्षाणं वा महाजं वा पचेदेवमस्मा आतिथ्यं कुर्वन्तीति।"

श्रोत्रियाय—

"जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः, संस्कारैर्द्विज उच्यते
विद्यया याति विप्रत्वं, त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते॥"

(५) महोक्षम्—महांश्चासौ उक्षा महोक्षः। महत्+उक्षन्। "अचतुर..." (पा०, ५/४/७७) इत्यादिना निपातः। 'वृषो महान् महोक्षः स्यात्' इत्यमरः।

(६) धर्मसूत्रकाराः—धर्मसूत्रं कुर्वन्तीती। सूत्र का लक्षण है—

"स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदु।"

(७) समांसो...समामनन्ति—डॉ० सुधीर कुमार गुप्त का मत है कि मांस का अर्थ 'उत्कृष्ट खाद्य पदार्थ (घी, खोया आदि) है। विशेष विवरण के लिए देखिये मेघदूत सम्पादक-श्री सुधीरकुमार गुप्त, जून १९५३ का संस्करण, टिप्पणियाँ, श्लोक ४७, पृष्ठ ८५–८६। (८) भोः निगृहीतोऽसि—"मित्र! पकड़े गये!" (परास्त हो गये)। यह न्यायशास्त्र का एक पारिभाषिक प्रयोग (Technical term) है। निग्रहस्थान षोड्श पदार्थों में अन्यतम है—'प्रमाणप्रमेय संशयप्रयोजनदृष्टान्त-

सिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ।' (न्यायदर्शन १ सूत्र) निग्रहस्थान की परिभाषा 'पराजयहेतुः' की गयी है । (९) निवृत्तमांसस्तु तत्रभवान् जनकः—निवृत्तो मांसात् निवृत्तमांसः । जनक वैखानस होने के कारण मांस ग्रहण नहीं करते थे, क्योंकि—

"स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च ।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यान्स्नेहांश्च फलसम्भवान् ॥
वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवनानि च ।" (मनु०, ६/१३–१४)

भवभूति यदि यह प्रसंग न भी रखते तो नाटकीय घटना-चक्र में कोई बाधा न आती प्रकारान्तर नाटक से भी जनक आदि के आगमन की सूचना दी जा सकती थी । और इस विवादास्पद विषय को वचाया जा सकता था ।

(११) मिश्रविष्कम्भकः—विष्कम्भक के लिये विस्तृत टिप्पणी देखिये द्वितीय अङ्क के आदि में ।

यहाँ मिश्रविष्कम्भक है क्योंकि सौधातकि 'प्राकृत' का व्यवहार करता है और दण्डायन 'संस्कृत' का ।

(ततः प्रतिशति जनकः)

जनकः—

अपत्ये यत्तादृग्दुरितमभवत्तेन महता,
विषक्तस्तीव्रेण व्रणितहृदयेन व्यथयता ।
पटुर्धारावाही नव इव चिरेणापि हि न मे,
निकृन्तन्मर्माणि क्रकच इव मन्युर्विरमति ॥३॥

[अन्वयः—अपत्ये यत् तादृक् दुरितम् अभवत्; महता तीव्रेण व्रणितहृदयेन, व्यथयता तेन विषक्तः पटुः धारावाही चिरेण अपि नव इव मे मन्युः क्रकच इव मर्माणि निकृन्तम् न विरमति ॥३॥]

हिन्दी—

(तदनन्तर जनक प्रवेश करते हैं ।)

जनक—

[श्लोक ३] सन्तान (सीता) में जो वैसा (लोकापवाद-रूप) पाप (कलङ्क) लग गया था, उस अत्यन्त प्रबल, तीक्ष्ण तथा हृदय को घायल कर अतिशय व्यथित करने वाले कलङ्क से युक्त, अजस्र गति से बहने वाला, बहुत समय बीतने पर भी (आज भी) नया-सा मेरा शोक (अथवा क्रोध) मर्मस्थलों को आरे की भाँति चीरता हुआ शान्त नहीं हो रहा है । [अर्थात् सीता की विपत्ति का स्मरण कर मैं दुःख से व्यथित हो रहा हूँ । रात-दिन घुन की भाँति लगा रहने वाला शोक मुझे आरे की भाँति चीरे डाल रहा है ।] ॥३॥

ततो जनकः प्रविश्य सीताशोकसन्तापमभिनयति अपत्ये इति ।

ममापत्ये = सीतायां यत् तादृगनिर्वचनीय दुरितं = पापं, समभूत् अतिप्रबलेन

हृदये व्रणमिव समुत्पादयताऽतिपीडाकारिणा तेन दुरितेन, विपक्तः=विषरूपेण समासक्तः, अतितीक्ष्णः, धारावाही=निरन्तरप्रवहणशीलः क्रकचः=करपत्रमिव 'आरा' इति ख्यातः मम मन्युः कोपः शोको वा अद्यापि सुचिरादपि विरामं न प्राप्नोति। यथा-यथा सीता-दुखं स्मरामि, तथा-तथा परितप्यते चेतः। मर्माणि न छिद्यन्ते इवेति किं कथयामि ?

अत्र, उपमा, उत्प्रेक्षा चालङ्कारौ। शिखरिणी च्छन्दः। तल्लक्षणञ्च—
'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमन सभलागः शिखरिणी' इति ॥३॥

टिप्पणी

(१) जनक की मनोदशा का अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण है। (२) विरमति—वि+√रम्। लट् तिप्। 'व्याङ्परिभ्यो रमः' (पा०, १/३/८२) इति परस्मैपदत्वम्। (३) क्रकचः—आरा। क्र इति कचतीति। जो 'क्र' की ध्वनि करे।

'कष्टम्? एवं नाम जरयो दुःखेन च दुरासदेन, भूयः पराकसांतपन-प्रभृतिभिस्तपोभिरात्तरसधातुरनवष्टम्भो नाद्यापि मम दग्धदेहः पतति। अन्धतामिश्रा ह्यसूर्या नाम ते लोकास्तेभ्यः प्रतिविधीयन्ते य आत्मघातिन इत्येवमृषयो मन्यन्ते। अनेकसंवत्सरातिक्रमेऽपि प्रतिक्षणपरिभावनास्पष्टनिर्भासः प्रत्यग्र इव न मे दारुणो दुःखसंवेगः प्रशाम्यति। अयि मातर्देवयजनसंभवे सीते, ईदृशस्ते निर्माणभागः परिणतो येन लज्जया स्वच्छन्दमाक्रन्दितुमपि न शक्यते।

हिन्दी—

दुःख है! इस प्रकार वृद्धावस्था, (सीता-विषयक) असह्य शोक तथा इतने पर भी 'पराक' सान्तपन आदि व्रतों के पालन करने से शरीर की धातुओं के सूख जाने पर भी प्राण रुके (अटके) हुए हैं। मेरा यह महापातकी शरीर अब भी नष्ट नहीं होता! (मेरी मौत भी नहीं आती!) (मैं आत्म-हत्या भी नहीं कर सकता, क्योंकि) "जो लोग आत्म-हत्या करते हैं, उनके लिये मरने पर वे 'असूर्य' (सूर्य-रहित) नामक निबिड़ अन्धकारमय लोक (पापों का फल भोगने के लिए) निश्चित रहते हैं" ऐसा ऋषिगण मानते हैं। अनेक वर्ष बीत जाने पर भी प्रतिक्षण चिन्ता के कारण स्पष्ट दिखलाई देने वाला मेरा यह दारुण दुःख का वेग नया-सा (ताजा-सा) होकर शान्त नहीं होता! हा! यज्ञभूमि से उत्पन्न माँ सीते! तुम्हारे जीवन का ऐसा दुःखद परिणाम हुआ, जिससे कि मैं लज्जा के कारण (दूसरों के सामने) स्वतन्त्रतापूर्वक रो भी नहीं सकता!

संस्कृत-व्याख्या

पुनः स्व विचारं प्रकटयति—कष्टमिति। आश्चर्यस्यायं विषयः—पूर्वन्तु जरावस्था, तत्रापि दुःसहं सीताविषयं दुःखम्, ततोऽपि 'पराक' 'सान्तपन' प्रमु-

खानि विविधानि व्रतानि कृत्वा शरीरान्तर्वर्तिनः सर्वेऽपि रक्तमांसादिधातवः परिशुष्काः सञ्जाताः, तथापि न जाने कथमिव मम जीवन-यात्रा प्रचलति, एतेनापि शरीरस्यायष्टम्भ एव=प्राणानां समवलम्बनमेव ममास्ति। अयं दग्धः=परमनिन्दितो मम देहो न पतति, मम मृत्युर्नायातीति यावत्। आत्मघातोऽपि सर्वथा निन्दनीयः। यतोऽसूर्याः=सूर्यप्रकाशरहिता लोका आत्मघातिभ्यः प्रतिविधियन्ते = सुनिश्चिता भवन्ति, अन्धकारो हि सदा तेषु लोकेषु विद्यते। बहुषु दर्षेषु व्यतिक्रान्तेष्वपि प्रतिक्षण-कल्पना सीता विषयिणी भवति। अतो दुःसह-दुःखसंवेगः शान्ति नाप्नोति। हा मातः! पृथिव्याः पुत्रि-सीते! तवेदृशः निर्माणपरिमाणः संवृत्तः। येन लज्जातिभारात् स्वतन्त्रतया समाक्रन्दनमपि कर्तुं न शक्यते। हा पुत्रि! अतः परं किन्नाम दुःखं स्यात्? नरकादपि कन्यानिन्दात्मकं वृत्तं दुःखदं भवतीति भावः।

[अत्र 'पराकव्रतम्' द्वादशदिनैः परिपालनीयम् 'सान्तपनव्रत'ञ्च दिनद्वय-पालनीयम्। तथाचोक्तं भगवता मनुना—

"यतात्मनोऽप्रमत्तस्य, द्वादशाहमभोजनम्।
पराको नाम कृच्छ्रोऽयं, सर्वपापापनोदनः॥" इति।

वृहस्पतिरपि चाह—

"जप-होमरतः कुर्याद् द्वादशाहमभोजनम्।
'पराक' एष विख्यातः, सर्वपाप-प्रणाशनः॥" इति।

सान्तपन-स्वरूपञ्च भगवान्मनुराह—

"गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
एकरात्रोपवासश्च, कृच्छ्रं, 'सान्तपनं' स्मृतम्॥" इति।

भगवान् याज्ञवल्क्यश्चापि प्राह—

"गोमूत्रं गोमयं क्षीरं, दधि सर्पिः कुशोदकम्।
जग्ध्वा परेऽह्न्युपवसेत्, कृच्छ्रं, सान्तपनं चरन्॥
पृथक् सान्तपनद्रव्यैः षडहः सोपवासकः।
सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽयं, महासान्तपनः' स्मृतः॥" इति।

'प्रभृति—शब्देन च 'चान्द्रायण' व्रतादीनां संग्रहः। तस्मिन् व्रते कृष्णपक्षे प्रतिदिनमेकैकं ग्रासं न्यूनयन्ति शुक्लपक्षे च क्रमशोऽभिवर्द्धयन्तीत्येकमासपरिपालनीयमिदं व्रतमस्ति। तथाचोक्तं भगवता मनुना—

"एकैकं ह्रासयेत् पिण्डं, कृष्णे, शुक्ले च वर्द्धयेत्।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायण स्मृतम्॥ इति।

'असूर्याः'—इत्यत्र वेदवाक्यमेव प्रमाणम् तथाहि—

"असूर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति, येकेचात्महनो जनाः॥'
इति वाजसनेयि संहिता-मन्त्र एव प्रमाणम्।

परमत्र ह्रस्वोकारः पठितः 'असूर्याः' इति। अर्थचास्य—'असुराणामिमे इत्यसुर्याः' द्वित्वोपासकाः सुरा अपि 'असुराः' भवन्तीति आत्मघातिनां कृते ते लोकाः। व्याख्याकारैश्चास्य मन्त्रस्य काम्यकर्मपरा एव 'आत्मघातिनः' 'असूर्याः' इति चाभिमताः। कविनानेन च दीर्घोकारपाठः परिकल्पित मन्ये लेखकप्रमादादेवायं पाठः प्रचलितः। कवेर्वेदज्ञत्वं सूचयितुमेवास्यप्रतीकस्योपादानमिति विशेषविज्ञा एवात्र प्रमाणम्।

'अयि मातः!' इति सीतायाः स्वसुतायाः सम्बोधन-पदं राजर्षेर्जनकस्य वन्दनीयायाः मातृ स्थानीयायाः पृथिव्याः पुत्रीत्वात्तथा सम्बोधनं-कथनं नैव दुष्यति। सांसारिकत्वे 'हा पुत्रि!' इत्युक्तिरुचितैवेति भावः।]

टिप्पणी

[१] पराकसान्तपन प्रभृतिभिः—पराक और सान्तपन व्रतविशेष हैं।

(१) पराक—बारह दिन में पूर्ण होता है। इसमें बारह दिन उपवास करना पड़ता है जैसा कि—

'द्वादशाहोपवासेन पराकः परिकीर्तितः।' (याज्ञवल्क्य०, ३/२१)
'यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम्।
'पराको' नाम कृच्छ्रोयं सर्वपापापोदनः॥' (मनु०, ११/२१५)

(२) सान्तपन—दो दिन में पूर्ण होता है। इसमें एक दिन 'पञ्चामृत' तथा 'कुशोदक' से ही निर्वाह करना पड़ता है तथा दूसरे दिन सर्वथा उपवास ही जैसा कि कहा है—

'गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम्॥ (मनु०, ११/२१२)
'गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
जग्ध्वा परेन्ह्युपवसेत् कृच्छ्रं, सान्तपनं परम्॥' (याज्ञवल्क्य०, ३/२२५)

(३) 'अन्धतामिस्रा···आत्मघातिनः'—भवभूति ने ईशावास्योपनिषद् के इन शब्दों से यहाँ प्रेरणा पाई है—

"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥"

हा पुत्रि!

अनियतरुदितस्मितं विराजत्कतिपयकोमलदन्तकुड्मलाग्रम्।
वदनकमलकं शिशोः स्मरामि, स्खलदसमञ्जमञ्जुजल्पितं ते॥४॥

[अन्वयः—अनियत-रुदितस्मितं विराजत्कतिपयकोमलदन्तकुड्मलाग्रं, स्खलदसमञ्जसमञ्जुजल्पितं, शिशोः, ते वदन-कमलकं स्मरामि॥४॥]

हिन्दी—

[श्लोक ४]—अकारण ही हँसने-रोने वाले, कोमल कलिकाओं के अग्र-भाग के समान (छोटे-छोटे) विरल दाँतों से सुशोभित तथा तुतलाये हुए बिना किसी क्रम के मनोहर वचन बोलने वाले तुम्हारे शैशव-कालीन मुख का मैं स्मरण करता हूँ। (परन्तु कहाँ वह भोला-भाला मुख ? और कहाँ यह आपत्ति ?)

संस्कृत-व्याख्या

पुनरपि सीतायाः शैशवं स्मरन्नाह—अनियत इति ।

पुत्रि ! यदा त्वं शिशुरासीस्तदा तव मुखं कीदृशमभूत् ? इति यदाहं स्मरामि, वर्तमाना च तव निन्दाम् तदाऽस्य संसारस्य नैर्घृण्यमनुशोचामि । एवंविधाकृतिसम्पन्नायाः सर्वात्मना परिशुद्धाया अपि तवोपरि पौरजनेनैवं वज्रपातः कृतः, हा हन्त ! शैशवे तव मुखमनियते=अनिश्चिते रुदितस्मिते यस्मिंस्तथाविधम्, बालः कदा केन हेतुना रोदिति, हसति वेति निश्चयो न भवतीति । अपि च—विराजन्ति=शोभमानानि कतिपयानि = विरलानि कानिचिदेव कोमलानि दन्ताः, कुड्मलानां=कलिकानाम् अग्राणीव यस्य तत् । किञ्च-स्खलत्—निर्गच्छत् असमञ्जसं=अयथावत्, मञ्जु= मनोहरं जल्पितं=कथनं यस्य तत्, शिशोस्तव, वदनं कमलमिव इति मुखकमलकं (अनुकम्पायां कन् प्रत्ययः) स्मरामि ।

अत्र जनकस्य वात्सल्यातिशयः सीतादेव्यश्च माधुर्यातिशयञ्च व्यज्यते । कमले कलिकाः, मुखे च दन्ता, कमलस्य दिवा विकासः, रात्रौ च ह्रासः, इति विशेषणद्वयप्रतिपादनेन वदनस्य कमल-साम्य प्रतिपादने कवेरलङ्कारसम्पादनं-कर्मणि कुशलता प्रतीयते । अतएव 'वदनकमलकं' मित्यस्यायनन्तरमेव 'स्खलदि'त्यादि विशेषणे उपमाया अभावं द्योतयितुमेवालङ्कारशून्यत्वमिति सूक्ष्ममतयः सहृदया गार्मिका मनाङ्मनसि विवेचयन्तु कवेरस्य वैशिष्ट्यम् ।

अत्रोपमा स्वभावोक्तिः, इत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन साङ्कर्यम् । पुष्पिताग्रा च्छन्दः । तल्लक्षणञ्च—

'अयुजिनयुगरेफतोयकारो ।
युजि न नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ।।' इति ।।

एवंविधं पद्यरत्नं शकुन्तलानाटकेऽपि कवि-कुल-गुरोः प्रसादमाधुरीप्रकर्षमुपस्थापयति—

'आलक्ष्य-दन्त-मुकुलाननिमित्तहासै-
रव्यक्त-वर्ण-रमणीय-वचः-प्रवृत्तीन् ।
अङ्काश्रय-प्रणयिनस्तनयान् वहन्तो,
धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ।।' इति ।।

अस्मिन् पद्ये पदानां माधुरी, भावानां कोमलता, स्वभावोक्तिः, भाषाया धारावाहिकगतिः, छन्दसो लालित्यञ्चेति कविमूर्धन्यस्य कीदृशीं विच्छित्ति प्रदर्शयन्तीति 'तदङ्गरजसा मलिना धन्या एव' परिशीलितुं क्षमन्ते। कविकुल गुरो ! नमस्ते ॥४॥

टिप्पणी

(१) अनियतरुदितस्मितम्—अनियते रुदितस्मिते (रुदितं च स्मितं च) यस्मिन्। (२) विराजत्कतिपयकोमलदन्तकुड्मलाग्रम्— विराजन्ति कतिपयानि कोमलानि दन्तकुड्मलाग्राणि दन्ता एव कुड्मलाः तेषाम् अग्राणि यस्मिन् तथाविधम्। (३) स्खलदसमञ्जसमञ्जुजल्पितम्—पाठा०, 'स्खलदसमञ्जसमुग्धजल्पितम्' स्खलत् असमञ्जसं मञ्जु (सुन्दरं) जल्पितं यस्मिन् तथाविधम्। (४) तुलना कीजिए—

"आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै रव्यक्तवर्णरमणीयवचः" प्रवृत्तीन्।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहतो, धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनी भवन्ति ॥"

(अभिज्ञान० ७/१७)

(५) अलङ्कार—१. 'वदन-कमलक' में केवल कमल के ही प्रकृत्त-क्रियान्वयी होने के कारण परिणाम अलङ्कार है—

"परिणामः क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मना।"

२. 'दन्तकुड्मलाग्रम्' में रूपक अथवा परिणाम। ३. स्वभावोक्ति।

(६) यह पद्य मालतीमाधव में भी—१० वे अङ्क में २ संख्या पर आया है।

भगवति वसुन्धरे ! सत्यमतिदृढासि।

त्वं वह्निर्मुनयो वसिष्ठगृहिणी गङ्गा च यस्या विदु-
र्माहात्म्य यदि वा रघोः कुलगुरुर्देवः स्वयं भास्करः।
विद्यां वागिव यामसूत भवती शुद्धिं गतायाः पुन-
स्तस्यास्त्वद्दुहितुस्तथा विशसनं किं दारुणेऽमृष्यथाः ? ॥१५॥

[अन्वयः—दारुणे ! यस्याः, माहात्म्यं, त्वं, वह्निः, मुनयः, वसिष्ठगृहिणी, गंगा रघोः कुलगुरुः, यदि वा, देवः, भास्करः स्वयं, विदुः। वाक्, विद्याम् इव, भवती, याम्, असूत। शुद्धिं, गतायाः, तस्याः, त्वद्दुहितुः पुनः, तथा, विशसनं किं, अमृष्यथाः ? ॥५॥]

हिन्दी—

भगवती वसुन्धरे ! सचमुच तुम अत्यन्त कठोर हो ?

[श्लोक ५] जिसके प्रभाव को तुम, अग्नि, महर्षि-गण, अरुन्धती, गङ्गा, रघुकुल-गुरु वसिष्ठ तथा भगवान् भास्कर जानते हैं। और जैसे सरस्वती विद्या को उत्पन्न करती है वैसे ही तुमने उत्पन्न किया है, उस अग्नि-परीक्षा से शुद्ध अपनी पुत्री की (निर्वासन-रूप) हिंसा को (अन्याय को) कठोर-हृदय वाली पृथ्वी ! तुमने कैसे सह लिया ?

संस्कृत-व्याख्या

जनको धरित्रिं सम्बोध्य कथयति—त्वमिति

भगवति पृथिवि ! सत्यमेव त्वमतीवदृढासि, यतः—यस्याः पावनचरित्रायाः सीतादेव्याश्चरित्रस्य साक्षिभूताः—धरित्री, अग्निः, मुनयोः—वसिष्ठवाल्मीकिप्रभृतयः, अरुन्धती, भगवती गङ्गा, स्वयं रघुकुलगुरु, श्री सूर्यः–एते सन्ति, चान्च विद्यां वागिव भवती समुत्पादितवती, यस्याश्च सर्वजन-समक्षे वह्नौ विशुद्धिः सञ्जाता, एवं सर्वगुण-सम्पन्नायाः सच्चरित्राया अपि स्वसुतायाः सीतायाः विशसनम् = अपघातम्, परित्याग-रूपं दारुणे धरित्रि ! किमिति अध्यथाः ? = किमिति त्वया सुस्थिरया स्थितम् ? एवंविधे घृणितव्यापारे तु तव विस्फोटनमेवोचितमासीत् । भग्नायां त्वयि एवंविधानां दुष्टजीवानां विलय एव भवितुं युक्त आसीत्, कथन्न भग्नासीति साश्चर्यं कथयामीति भावः ।

अत्र प्रस्तुताया धरित्र्याः अप्रस्तुतानाञ्च वह्न्यादीनामेकत्रान्वयाद् दीपका-लङ्कारः । विधायाः = सीतया, नाचश्च धरित्र्या औपम्यात् उपमा अलङ्कार । "च"-कारोपादानात्समुच्चयश्चेत्येषां संसृष्टिः । प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः । शार्दूल-विक्रीडितं च्छन्दः ॥५॥

टिप्पणी

(१) **भगवति वसुन्धरे !**—वीरराघव ने इस प्रकार टिप्पणी की है—**'अत्र' यो वा विभर्ति काठिन्यं तस्मै भूम्यात्मने नमः'** इति वचनं द्रष्टव्यम् । तव वसुन्धरात्व-प्रत्युक्तधैर्येण पुत्रीनाशोऽप्यकिञ्चित्कर एवेत्युपालम्भो व्यज्यते ।"

(२) **शुद्धिं गताथा पुनः**—पाठा०, "भवति तद्वत्तुया दैवतम् ।" **दैवतम्**—देवता एव इति देवता + अण् । 'क्वचित्स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्त्तन्ते" इति क्लीबत्वम् ।

(नेपथ्ये)

इत इतो भगवतीमहोदव्यौ ।

जनकः—अये ? गृष्टिनोपदिश्यमानमार्गा भगवत्यरुधन्ती ? (उत्थाय ।) कां पुनर्महादेवीत्याह ? (निरूप्य ।) हा हा, कथमियं महाराजस्य दशरथस्य धर्म-दाराः प्रियसखी मे कौसल्या ? क एतां प्रत्येति सैवेयमिति नाम ?

आसीदियं दशरथस्य गृहे यथा श्रीः,
श्रीरेव वा किमुपमानपदेन सैषा ।
कष्टं बतान्यदिव दैववशेन जाता,
दुःखात्मकं किमपि भूतमहो विकारः ॥६॥

[अन्वयः—इयं, दशरथस्य, गृहे, श्रीर्यथा, आसीत्, वा, श्रीः, एव उपमानपदेन किम् । कष्टं बत ! दैववशेन, अन्यत् किमपि, दुःखात्मकं, भूतम्, इव, जाता अहो, विकारः ॥६॥]

य एव मे जनः पूर्वमासीन्मूर्तो महोत्सवः ।
क्षते क्षारमिवासह्यं जातं तस्यैव दर्शनम् ॥७॥

[अन्वयः—य, एव, जनः, पूर्वं, मे मूर्तो, महोत्सवः, आसीत्, (अद्य) तस्यैव दर्शनं, क्षते, क्षारम्, इव असह्यं, जातम् ॥७॥]

(नेपथ्य में)

हिन्दी—

इधर से, भगवती और महारानी ! इधर से !

जनक—अरे, गृष्टि (नामक 'कञ्चुकी') से मार्ग दिखलाई जाती हुई भगवती "अरुन्धती" हैं ! (उठकर) तो 'महादेवी, किसे कहा गया ? (देखकर) हा ! हा ! क्या यह महाराज दशरथ की धर्मपत्नी और मेरी प्रियसखी कौसल्या हैं ! "यह वही हैं" इस पर कौन विश्वास करेगा ? (तब की और अब की "कौसल्या" में बड़ा अन्तर है ! इस समय इनकी अवस्था देखकर किसी को यह विश्वास न होगा कि यह वही महारानी हैं ।)

[श्लोक ६] (कभी) यह दशरथ के भवन में लक्ष्मी के समान थीं अथवा उपमानपद ('यथा') देने से क्या प्रयोजन ? साक्षात् लक्ष्मी ही थीं (परन्तु) हा ! खेद है ! आज दुर्भाग्य-वश ये वही दुःख-ग्रस्त प्राणी के समान कुछ और ही (अलक्ष्मी' ही) हो गई हैं ! आश्चर्य है ? यह बड़ा भारी परिवर्तन दिखलाई पड़ रहा है ।

[श्लोक ७] जो (कौसल्या) पहिले मेरे लिए मूर्तिमान् महोत्सव (आनन्द दायिनी) थीं आज उन्हीं का दर्शन कटे पर नमक के समान असह्य हो रहा है ।

संस्कृत-व्याख्या

नेपथ्ये गृष्टिनाम्ना कञ्चुकिनोपदिश्यमानमार्गामरुधन्तीं, दशरथस्य धर्मपत्नीं कौशल्यां द्रष्ट्वा "कौसल्यैवेयमिति" तस्याः शरीरावस्थाविपर्ययं निरीक्ष्याह जनकः— "आसीदियमिति" ।

अहो ! संसारस्य परिवर्तनशीलता ! पूर्वं कदाचिदियं दशरथस्य गृहेयाथश्रीः=श्रीरिवासीत् । (अद्य च कीदृशी दारिद्रचोपहतेव सञ्जातेति भावः ।) पुनर्विचारान्तरं प्रकटयति—वा=अथवा, उपमानपदेन किम् ? साक्षादियं श्रीरेवासीत् । परमकष्टस्येयं वार्ता—दैवदुर्विपाकवशादियं दुःखस्वरूपं किमपि अनिर्वचनीयं भूतम्=प्राणिविशेषः, सञ्जाता । अहो महानयं विकारः प्रत्यक्षतो दृश्यते ।

अत्र "इयम्" इत्युक्त्वा, कौसल्यायां "दुःखात्मकभूतस्य" आरोपात् रूपकम्, उत्प्रेक्षा, उपमा, अक्षेपश्चेत्येषां संसर्गः । वसन्ततिलका च्छन्दः ॥६॥

पुनरपि विचारन्तरमाह—य एवेति ।

य एव कौसल्यालक्षणो जनः पूर्वं मम मूर्तिमान् महोत्सव इवासीन्, अधुना तस्य दर्शनं क्षते=व्रणे, क्षारम्=लवणादिकमिवं सञ्जातम् । यामिममवलोक्य पूर्वं मम हृदयेऽतितमानन्दः प्रतीयते स्म, सैव दुःखस्य कारणं सञ्जातेति भावः ।

अत्र कौसल्यायां 'महोत्सवस्या' रोपात् रूपकम् । "क्षते क्षारमिव" इत्यत्रोपमा अनयोः संसृष्टिः । अनुष्टुप् च्छन्दः ।।७।।

टिप्पणी

(१) गृष्टिना—'गृष्टि' दशरथ के कञ्चुकी का नाम है। (२) [श्लोक ६] पाठान्तर, 'विकार' के स्थान पर 'विपाकः'। (३) [श्लोक ७] १. मूर्तो महोत्सव— भवभूति ने अत्यन्त मनोभिराम वस्तु के लिए अन्यत्र भी इस उपमा को दिया है—

"तव मूर्तिमानिव महोत्सवः करः।" (१/१८)

क्षते क्षारमिव—कटे पर नमक सा। लोकोक्ति।

(ततः प्रविशत्यरुन्धती कौसल्याकञ्चुकी च।)

अरुन्धती—ननु ब्रवीमि "द्रष्टव्यः स्वयमुपेत्यैव वैदेह" इत्येवं वः कुलगुरोरादेशः। अतएव चाहं प्रेषिता। तत्कोऽयं पदे पदे महाऽनध्यवसायः?

कञ्चुकी—देवि! संस्तभ्यात्मानमनुरुध्यस्व भगवतो वसिष्ठस्यादेशमिति विज्ञापयामि।

कौसल्या—ईरिसे काले मिहिलाहिवो मए दिट्ठव्वो त्ति समं एव्व सव्वदुःखाई आदरन्ति। ताण सक्कणोमि अव्वट्टमाणमूलबन्धणं हिअअं पज्जवत्थावेदुम् [ईदृशे काले मिथिलाधिपो मया द्रष्टव्य इति सममेव सर्वदुःखान्यवतरन्ति। तस्मान्न शक्नोम्युद्धर्तमानमूलबन्धनं हृदयं पर्यवस्थापयितुम्।]

अरुन्धती—अत्र कः संदेहः?

सन्तानवाहीन्यपि मानुषाणां, दुःखानि सम्बन्धिवियोगजानि।
दृष्टे जने प्रेयसि दुःसहानि, स्रोतः सहस्रैरिव संप्लवन्ते ।।८।।

[अन्वयः—मानुषाणां, सन्तानवाहीन्यपि, सम्बन्धिवियोगजानि, दुःखानि, प्रेयसि, जने दृष्टे, दुःसहानि (सन्ति) स्रोतः सहस्रैः, संप्लवन्ते इव ।।८।।]

हिन्दी—

(तदनन्तर 'अरुन्धती' 'कौसल्या' और 'कञ्चुकी' प्रवेश करते हैं।)

अरुन्धती—('अरे' मैं कहती हूँ न कि—"स्वयं समीप जाकर ही महाराज जनक का दर्शन करना चाहिये" यह तुम्हारे कुल-गुरु (वसिष्ठ जी) का आदेश है। और इसीलिए (उन्होंने) मुझे भेजा (भी) है। तब पग-पग पर तुम्हारा (जनक दर्शन के प्रति) यह कैसा अनुत्साह है?

कञ्चुकी—देवि! मैं निवेदन करता हूँ कि—धैर्य धारण कर भगवान् वसिष्ठ जी के आदेश का पालन कीजिये।

कौसल्या—ऐसे समय में (जबकि राम ने सीता का परित्याग कर दिया है) मुझे बिदेहराज 'जनक' का दर्शन करना पड़ेगा? (इससे मैं समझती हूँ कि) सारे

दुःख एक साथ ही टूटते है । इसीलिए में डाँवाडोल (बन्धन वाले) हृदय पर नियन्त्रण नहीं रख सकती ।

अरुन्धती—

[श्लोक ८] मनुष्यों के अजस्र गति से बहने वाले सम्बन्धी जनों के वियोग से उत्पन्न दुःख प्रियजन के देखने (मिलने) पर, असह्य होकर, हजारों प्रवाहों में (बड़े वेग से) बहने लगते हैं । [आशय यह है कि सम्बन्धियों के वियोग से उत्पन्न दुःख निरन्तर रो-रोकर बहने पर भी समाप्त नहीं होते अपितु अपने किसी हितैषी को देखते ही वे दुगने वेग से अनन्त प्रवाहों में बहने लगते हैं । अतः सीता के वियोग से दुःखी कौसल्या का जनक के सामने अधिक विकल हो उठना स्वाभाविक ही है ।]

संस्कृत-व्याख्या

वैदेह—दर्शनार्थं कौसल्यां प्रवर्तयन्ती भगवत्यरुन्धती प्राह—ननु इति । "ननु" इति सम्बोधन पदम् । भोः कौसल्ये ! भवत्याः कुलगुरोरयमादेशः, यत्स्वयमेव गत्वा जनकस्य दर्शनं विधेयम् पुनरपि पदे-पदे कोऽयमनध्यवसायः=तत्र गन्तुमनुत्साह-विचारः कीदृशः ? निशङ्कमादेशपालनं कर्तव्यमिति भावः । 'महानध्यवसायः' इत्येकस्मिन् पदपाठे जनकस्य दर्शने सर्वथा निश्चयाभावः इत्यर्थः ।

तथैवः कतु॑ कञ्चुकी प्रेरयति—देवि ! इति ! देवि कौसल्ये ! आत्मानं संस्तभ्य=धैर्यं, सन्धार्य [आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्ष्म च" इत्यमरः] कुलगुरोराज्ञा परिपालनीयेति विज्ञापयामि । कौसल्या-स्वहृदयमाह—ईरिसे इति । यस्य सुता मम सुतेन परित्यक्ता, तस्य दर्शनम् कर्तुमेवंविधे समये ममानुचितं प्रति-भाति, परस्पर-दर्शनेनावयोः कीदृशी दशा भविष्यतीति विचिन्त्य दुःखातिशयेन घूर्णिताऽपि लज्जे । सर्वाणि दुःखानि सहैव समागच्छति । अयः उद्वर्तमानम्= शिथिलीभवत् मूलबन्धनम्=संस्तम्भनं यस्य तत् हृदयं प्रत्यवस्थापतितुं=यथार्थ-रुपेणावस्थापयितुं नैव शक्नोमि । मयि जीवन्त्यामेव सीताया अयं परिणामः अहं (वृद्धा) जीवामि, सा च (किशोरी) मृतेति विचिन्त्य मम दुःखाधिक्यमिति हृदयम् । मम हृदयस्य मूल-बन्धनं=सीतैवासीत् । साचाधुना नास्सीति मम हृदयस्य खेदः ।

भगवत्यरुन्धती कौसल्या-वचनं समर्थयमाना प्राह—सन्तानेति ।

कौसल्ये ! यद्भवत्योक्तं तत्सर्वथा सत्यमेव । मानुषाणां सम्बन्धिबन्धूनां वियोगोत्पन्नानि, सततगत्या प्रवहण-शीलानि दुःखानि प्रीतिस्निग्धे प्रिये जने (अतिशय प्रेमयुक्ते) दृष्टे सति भूयसा वेगेन प्रवहन्ति सन्ति स्रोतः सहस्रै रिव=अनेक प्रवाहैरिव सम्प्लवन्ते, सर्वथा सोढुमशक्यानि भवन्ति । अतः सीतावियोगविधुराया भवत्या राजर्षेर्जनकस्य दर्शने दुःखातिभारः समुचित एव । अत्र कः सन्देहः ? सन्देह-स्यावसरस्तु सन्दिग्धे वस्तुन्येव भवति, सर्वजन सिद्धान्त सिद्धे वस्तुनि सन्देहस्य काऽऽवश्यकता ? इति भावः ।

अत्र उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । इन्द्रवज्रा च्छन्दः । तल्लक्षणञ्च यथा—

"स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौगः ।" इति ।

प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः ।

अत्र भगवत्या ऋषिपत्न्याः सत्या अपि अरुन्धत्याः सर्वप्राणि-सम्बद्ध-सुख-दुःख-समवेदनाशालित्वं वस्तु ध्वन्यते ॥८॥

टिप्पणी

(१) इसमें मनोवैज्ञानिक तथ्य का बड़ा सुन्दर विश्लेषण हुआ है । (२) **महानध्यवसाय**—पाठा० 'महाननध्वसायः' । (३) **उद्वर्त्तमानमूलबन्धनम्**—उद्वर्तमानं मूलबन्धनं यस्य तत् ।

(४) [श्लोक ८]

१. **'सन्तानवाहीनि'** सम् + √तन् + घञ् भावे सन्तानः । सन्तानेन वोढुं शीलमेषामिति सन्तान + √वह् + णिनि कर्त्तरि ताच्छील्ये । २. **सम्बन्धिवियोग-जानि**—पाठा०, 'सद्बन्धुवियोगजानि' वि + √युज् + घञ् भावे वियोगः । सम्बन्धीनाम् (सद्बन्धुनां) वियोगात् जातानि । ३. **प्रेयसि**—अतिशयेन प्रियः इति प्रिय ईयसुन् प्रेयान् । तस्मिन् । ४. **'दुःसहानि'**—दूर् + √सह + खल् कर्म्मणि । ५. भावसाम्य के लिए—

> 'तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशं, स्तनसम्बाधमुरोजघान च ।'
> स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो, विवृतद्वारमिवोपजायते ॥९॥
>
> (कुमारसम्भव, ४/२६)

कौशल्या—कहं णु खु वच्चाए मे वहूए वनगदाए तस्सा पिदुणो राएसिणो मुहं दंसम्ह ? [कथं नु खलु वत्साया मे वध्वा वनगतायास्तस्याः पितू राजर्षेर्मुखं दर्शयामः ?]

अरुन्धती—

> एष वः श्लाघ्यसंबन्धी, जनकानां कुलोद्वहः ।
> याज्ञवल्क्यो मुनिर्यस्मै ब्रह्मपारायणं जगौ ॥९॥

[**अन्वयः**—एष वः शलाघ्यसम्बन्धीं, जनकानां, कुलोद्वहः (अस्ति), यस्मै, याज्ञवल्क्यो मुनिः, ब्रह्मपारायणं जगौ ॥९॥]

कौसल्या—एसो सो महाराअस्स हिअअणिव्विसेसो वच्चाए मे वहूए पिदा विदेहराओ सीरद्धओ । सुमरिदह्मि अणिव्वेदरमणीए दिवहे हा देव्व ? सव्वं तं णत्थि । [एष स महाराजस्य हृदयनिर्विशेषो वत्साया मे वध्वाः पिता विदेहराजः सीरध्वजः । स्मारितास्मि अनिर्वेदरमणीयान्दिवसान् । हा दैव ! सर्वं तन्नास्ति ।]

हिन्दी—

कौसल्या—अपनी प्यारी बहू (सीता) के वन में चले जाने पर (निर्वासित कर दिये जाने पर) मैं उसके पिता राजर्षि जनक को कैसे मुख दिखाऊँ ?

अरुन्धती—

[श्लोक ९] ये तुम्हारे श्लाघनीय सम्बन्धी जनक-वंश-श्रेष्ठ (विदेह) हैं, जनको याज्ञवल्क्य ने (प्रसन्न होकर) वेद और उपनिषदों का उपदेश किया था।

कौसल्या—महाराज (दशरथ) के अभिन्नहृदय तथा मेरी प्यारी वधू (सीता) के पिता विदेहराज 'सीरध्वज' हैं। (इन्हें देखकर) मुझे आत्म-ग्लानि-रहित परम रमणीया (उन सुखमय) दिवसों का स्मरण हो आया है। हा, दैव ! अब वह सब कुछ नहीं रहा ?

संस्कृत-व्याख्या

जनकमुद्दिश्य भगवत्यरुन्धती कथयति—एष इति।

अयं युष्माकं श्रेष्ठः सम्बन्धी वर्तते, जनकानां कुलधुरन्धरोऽयम्। एतस्य प्रतिष्ठा तु एतेनैव ज्ञेया, यन्महामुनिर्याज्ञवल्क्योऽस्मै ब्रह्मपारायणं=वेदोपनिषदं, जगौ =गीतवान्। विधो महामुनिर्ब्रह्मतत्व-पारदर्शी यस्य ब्रह्म-विद्यागुरुरस्ति, तस्य सम्बन्धित्वे भवद्वंशस्यापि प्रतिष्ठेति भावः ।।९।।

कौसल्या पूर्ववृत्तं स्मरन्ती प्राह—एषो इति। अहो? मम प्राणनाथस्य हृदय-निर्विशेषः=अभिन्नः, सीतायाः पिता सोऽयं सीरध्वजः=सीरस्य=हलस्य चिह्नाङ्कितो ध्वजो यस्य सः, विदेहानां राजा अस्ति ! हन्त ! अनेन वृत्तान्तेन, अनिर्वेदरमणीयान्= नास्ति निर्वेदः=आत्मग्लानिर्येषु तान्=सुखप्रधानान् दिवसान् स्मारिताऽस्मि सुखमयान् दिवसानिदानीं स्मरामि। हा दैव ! सर्वं तदिदानीं न जाने कुत्र गतम् ?

टिप्पणी

(१) याज्ञवल्क्यो···जगौ—याज्ञवल्क्य शुक्ल यजुर्वेद के प्रधान ऋषि हैं। 'याज्ञवल्क्य-संहिता' नामक धर्म-ग्रन्थ इन्होंने ही बनाया—ऐसा कहा जाता है। ये जनक के गुरु थे। बृहदारण्यकोपनिषद् में इनकी चर्चा कई बार हुई है—

'जनकोह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानु मा शाधीति स होवाच···आढ्यः सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसीति नाहं तद्भगवन्वेद यत्र गमिष्यामीत्यथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसि।'

(बृहदारण्यकोपनिषद्, ४/२/१)

(२) यस्मै—'क्रियार्थोपपदस्य 'च स्थानिनः' (पा० २/३/१४) इति चतुर्थी।

जनकः—(उपसृत्य) भगवत्यरुन्धति ! वैदेहः सीरध्वजोऽभिवादयते !

यया पूतम्मन्यो निधिरपि पवित्रस्य महसः,
पतिस्ते पूर्वेषामपि खलु गुरूणां गुरुतमः।
त्रिलोकीमङ्गल्यामवनितललीनेन शिरसा,
जगद्वन्द्यां देवीमुषसमिव वन्दे भगवतीम् ॥१०॥

[अन्वयः—पवित्रस्य, महसः, निधिरपि, पूर्वेषां, गुरुणां, गुरुतमः (अपि), ते, पतिः, यया, पूतम्मन्यः, खलु, त्रिलोकीमङ्गल्यां, जगद्वन्द्यां, देवीम्, उषसम्, इव, भगवतीम्, अवनितललीनेन, शिरसा वन्दे ॥१०॥]

अरुन्धती—अक्षरं ते ज्योतिः प्रकाशताम्। स त्वां पुनातु देवः परो रजसां, य एष तपति।

हिन्दी—

जनक—(पास में जाकर) भगवती अरुन्धति! विदेहवंशीय 'सीरध्वज' आपको प्रणाम करता है।

[श्लोक १०] पावन तेज के विधान, सभी प्राचीन गुरुओं के भी गुरु आपके पति (वसिष्ठ जी) जिनसे अपने को पवित्र मानते हैं (उन) तीनों लोकों की कल्याण-कारिणी, जगद्वन्दनीया, देवी उषा की भाँति (महामहिमाशालिनी) आपको (मैं) पृथ्वी पर सिर टिकाकर प्रणाम करता हूँ।

अरुन्धती—तुममें शाश्वत (ब्रह्मात्मक) ज्योतिः प्रकाशित हो? वे भगवान् सविता जो कि 'रज' आदि दोषों से दूर रहकर प्रकाशित होते हैं, आपको पवित्र करें।

संस्कृत-व्याख्या

भगवतीमरुन्धतीमुपेत्य सीरध्वजो जनकः श्रद्धयाः प्रणमति—ययेति।

भगवति! सर्वेषां पूजनीयानां गुरूणामति श्रेष्ठो गुरुः परमपवित्रस्य तेजसो विधानम्, महामुनिर्वसिष्ठोऽपि भवत्या आत्मानं पवित्रं मन्यते, त्रिलोक्यामङ्गलं कर्तुं समवतीर्णां, जगद्वन्दनीयां देवीमुषसम् = प्रातःकालमिव भगवतीं पृथिव्यां-शिरो विनमय्य वन्दे = प्रणमामि। जगत्पूज्यायास्तव प्रणमने एवास्माकं सर्वात्मनाऽभ्युदयो भविष्यति, इति भावः। सूर्यश्च तेजसो निधिरस्त्येव।

अत्र 'उषसमिव त्वाम्' इति कथनेनोपमालङ्कारः। शिखरिणी च्छन्दः। प्रसादो माधुर्यं वा गुणः। लाटी वैदर्भी वा रीतिः ॥१०॥

प्रणामानन्तरमाशीर्वादं वितरन्ती भगवती प्राह—अक्षरमिति। अरक्षम् = शाश्वतम्, सदातनं ज्योतिः, ब्रह्मात्मकं ज्योतिः, ते प्रकाशताम्। संसारे समागमनस्य (जीवस्य कृते) अयमेव परमो लाभः, यत्परमात्मसाक्षात्कारः। अतो ज्ञानिनस्तव हृदये तदेव ब्रह्म प्रकाशितं भवत्विति ममाशीर्वादः। परमेतज्ज्योतिः = प्रकाशः पाप-पङ्क-सम्पर्काभावे, अन्धकारबहुलतमोगुणविनाशे सात्त्विकोदये एव सम्भवति, यावज्ज-न्मार्जितपापकणिकापि विद्यते, तावत्तदनुभूतिः सुलभा नेत्याशयेन पाप-प्रणोदाय-परमाशीर्वादः ददाति—स देवस्त्वां पुनातु यः किल रजोगुणतः परतरः सन् तपति। परमात्मनः प्रतीकत्वाद्भगवान् भास्करस्तव पापं दूरीकरोतु। [एतेन भगवत्या

अरुन्धत्या ब्रह्मतत्त्व-निष्णातता, परमपवित्रभावश्च सूचितः। जनकस्य च ब्रह्मणोऽधिकारित्त्वेऽपि शोक-मोह-क्रोधादीनामभावं विना तत्त्वज्ञानभावः सूच्यते। एतावद्वर्षपर्यन्तं तपस्यतोऽपि सीताविषयकौ शोक-मोहौ प्रत्यक्षावेव। क्रोधश्च—"एतद्वशसवज्रघोरपतनम्" चतुर्थाङ्कस्य २५ संख्यके श्लोके प्रकटीभविष्यति।

टिप्पणी

(१) सीरध्वजः—हल के चिह्न वाला जनक। जनक के हल चलाने पर सीताजी उत्पन्न हुई थीं। अतः ये सीरध्वज कहलाते हैं। कुछ लोगों के अनुसार सीर (हल) जनक के वंश के राजाओं का चिह्न था। उनके झण्डे सीर के चिह्न से युक्त होते थे। (२) [श्लोक, १०]—१. पूतंमन्यः—पूतमात्मानं मन्यते इति पूतम्मन्यः। 'आत्ममाने खश्च' (पा,० ३/२/८३) इति खश्। खित्यनव्ययस्य' (पा०, ६/३/६६) इति मुमागमः। २. त्रिलोकीमङ्गल्याम्—पाठा०, 'माङ्गल्याम' त्रयाणां लोकानां, समाहारास्त्रिलोकी (द्विगुः)। मङ्गले साधुः मङ्गल्या, मङ्गल + यत्। त्रिलोक्या मङ्गल्या ताम्। ३. अवनितललीनेन—पाठा०, 'अवनितललोलेन।'

(३) अक्षरं ते ज्योतिः प्रकाशताम्—पाठा०, 'पुरंते···।' अरुन्धती के द्वारा जनक को दिया गया यह आशीर्वाद बड़ा उपयुक्त है। जनक 'ब्रह्मविद्' थे। ब्रह्म को 'अक्षर' ज्योति कहा गया है।

'द्वे विद्ये वेदितव्ये···परा चैवापरा च।···अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते।' (मुण्डकोप०, १/१/४ ५)

'हिरण्मये परे कोशे, विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥' (मुण्डकोप०, २/२/२९)

(४) परोरजसाम्—पाठा०, परोरजाः'। रजसः परः परोराः।

(५) अरुन्धती के वाक्य से उनके चरित्र पर भी प्रकाश पडता है। विशेष देखिये संस्कृत टीका।

जनकः—आर्य गृष्टे ! अप्यनामयमस्या प्रजापालकस्य मातुः ?

कञ्चुकी—(स्वगतम्)। निरवशेषमतिनिष्ठुरमुपालब्धाः स्मः। (प्रकाशम्) राजर्षे ! अनेनैव मन्युना चिरपरित्यक्तरामभद्रदर्शनां नार्हसि दुःखयितुमतिदुःखितां देवीम्। रामभद्रस्यापि दैवदुर्योगः कोऽपि। यत्किल समन्ततः प्रवृत्तबीभत्सकिंवदन्तीकाः पौरा न चाग्निशुद्धिमनल्पकाः प्रतियन्तीति दारुणमनुष्ठितं देवेन।

जनकः—(सरोषम्) आः, कोऽयमग्निर्नामास्मत्प्रसूतिपरिशोधने ? कष्टम्, एवंवादिना जनेन रामभद्रपरिभूता अपि पुनः परिभूयामहे।

अरुन्धती—(निःश्वस्य) एवमेतत्। अग्निरिति वत्सां प्रति लघून्यक्षराणि। सीतेत्येव पर्याप्तम्। हा वत्से !

शिशुर्वा शिष्या वा यदसि मम तत्तिष्ठतु तथा,
विशुद्धेरुत्कर्षस्त्वयि तु मम भक्तिं द्रढयति।
शिशुत्वं स्त्रैणं वा भवतु ननु वन्द्यासि जगतां,
गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ॥११॥

[अन्वयः]—(त्वं) मम, शिशुः, वा शिष्या, वा, यत् असि तत् तथा तिष्ठतु, त्वयि, विशुद्धेः उत्कर्षस्तु मम भक्तिं द्रढयति। ननु शिशुत्वं, स्त्रैणं वा, भवतु, जगतां वन्द्या असि। गुणिषु, गुणाः, पूजास्थानं, न च लिङ्गम्, न, च, वयः ॥११॥]

कौसल्या—अहो! समुम्मूलअन्ति विअ वेअणाओ। (इति मूर्च्छति) [अहो, समुन्मूलयन्तीव वेदनाः।]

हिन्दी—

जनक—आर्य गृष्टि! इन 'प्रजापालक' की माता का कुशल तो है? (ये सकुशल तो हैं?)

कञ्चुकी—(अपने मन में) सर्वात्मना अत्यन्त निष्ठुरता से हमें ताना दिया गया है। (प्रकाश में) राजर्षे! इसी (सीता-परित्याग करने के) क्रोध से रामभद्र का दर्शन छोड़ देने वाली स्वयं दुःखित महारानी को और अधिक दुखी करना आप को उचित नहीं है (स्वयं सीता-शोक में सन्तप्त महारानी को अधिक आक्षेप-युक्त वचन कहकर अतिशय पीड़ित न कीजिए।) और (इस विषय में) रामभद्र का भी यह कोई दुर्भाग्य ही उदित हो गया था, जिससे कि चारों ओर से क्षुद्र नागरिक इस निन्दित किंवदन्ती (के प्रचार) में प्रवृत्त होकर (लङ्का में सम्पन्न) 'अग्नि-शुद्धि' का भी विश्वास नहीं करते थे। इसलिए (लोकाराधन की भावना से) महाराज ने ऐसा कठोर कर्म कर डाला। (अब आप ही विचारिये, इसमें राम का क्या दोष है?)

जनक—(क्रोध से)! अरे हमारी सन्तान को शुद्ध करने में यह अग्नि कौन है? (क्या चीज है? जो मनसा, वाचा, कर्मणा सर्वथा शुद्ध है, उसको शुद्ध करने वाला यह अग्नि होता कौन है?) खेद! ऐसा कहने वाले व्यक्तियों के द्वारा तो हम रामभद्र से तिरस्कृत होकर भी पुनः-पुनः (अत्यधिक) अपमानित किये जा रहे हैं। (अर्थात् आज तक तो मैं केवल सीता-परित्याग करने वाले राम से ही अपने को तिरस्कृत मानता था परन्तु अब ऐसा निन्दित प्रचार करने वाले प्रजाजनों के द्वारा किया गया यह अपमान तो सर्वथा असह्य है।

अरुन्धती—(लम्बा श्वास खींचकर) ऐसा ही है। वत्सा (सीता) के प्रति 'अग्नि' ये अक्षर (बड़े) तुच्छ हैं। 'सीता' इतना ही पर्याप्त है। हा पुत्रि!

[श्लोक ११] तुम मेरी शिशु (बच्ची) हो अथवा शिष्या इस बात को छोड़ो (वात्सल्य अथवा शिष्यत्व के कारण ही मैं तुमसे स्नेह नहीं करती प्रत्युत) तुम्हारी चरित्र-शुद्धि का उत्कर्ष ही तुममें मेरी श्रद्धा को दृढ़ करता है (तुम्हारा उज्ज्वल चरित्र

देखकर ही मेरी तुममें बड़ी श्रद्धा है।) तुममें शिशुत्व हो अथवा स्त्रीत्व तुम जगद्वन्दनीया हो (तुम 'शिशु' हो या स्त्री' इससे क्या प्रयोजन ?) "गुण ही पूजा के स्थान होते हैं। गुणियों में (स्त्रीत्व, पुंस्त्व आदि) चिह्न और अवस्था की (पूजनीय होने के लिये) अपेक्षा नहीं होती।

कौशल्या—अहो ? वेदनाएँ (क्लेशप्रद होकर हृदय को) उखाड़-सा रही हैं!

[मूर्छित हो जाती हैं।]

संस्कृत-व्याख्या

कौशल्या विषयेऽनामयप्रश्नं कर्तुं जनको गृष्टिम्प्रत्याह—आर्यं! इति। आर्यगृष्टे प्रजापालकस्य रामस्य मातुः अनामयन्तु=रोगराहित्यन्तु, अस्ति ? ['ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्, क्षत्रं पृच्छेदनामयम्।' इति स्मृत्यनुसार अनामय'—प्रश्नः समुचितः। 'प्रजापालकस्य' इति कथनेन च प्रजायाः पालनमेव तस्य परमव्रतं नतु सीतापालनम्, इति व्यङ्ग्यमपक्षिप्यते।

'मातुः' इति पदेन चैवंविधस्याविवेकिनः पुत्रस्य जन्मदात्र्या एतस्या अपि निन्दा द्योत्यते। इति भावः।

कञ्चुकी जनकोक्तिं साधिक्षेपामवधार्य प्राह—(स्वगतम्) निरवशेषमिति। निरतिशयरूपेणोपालम्भो दत्तः। अतः परमुपालम्भदानमेव न सम्भाव्यते। एतेन मातृनिन्दा, पुत्रस्याविवेकित्त्वम्, प्रजाया विश्वासघातश्च सूचितः। इति मनसा विचिन्त्य, सावधानतया प्रकाशमाह—राजर्षे! महादेवी-स्वयमेव कोपेनाधिक्षिप्ता सती रामस्य दर्शनमपि नैवाकरोत्। रामभद्रस्यापि कोऽपि जन्मान्तर-दैवदुर्विपाकः प्रादुर्भूतः। अन्यथा तस्य महानुभावस्य विवेकित्त्वे न कापि क्षतिः। यतः प्रजाजनाः परितो वीभत्सां किंवदन्तीं कर्तुं प्रारब्धाः। ते च क्षुद्राः वह्निविशुद्धिमपि तत्र भवत्याः सीतादेव्या न विश्वसन्ति स्मेति महाराजेनायं दारुणो व्यवहारः स्वीकृतः तत्र तस्य को दोषः ? विवेकवता भवतैव विचार्यताम्।

['अनल्पकाः' इत्यस्यापेक्षया अल्पकाः' इत्येव पाठः साधीयान् प्रतीयते। अर्थस्य चोभयत्र समानत्वमेव। पूर्वपाठे-नास्ति (अन्यः) अल्पोऽपि येभ्यस्तेऽनल्पकाः, इति समासे 'बहवः' इत्यर्थस्यापि सम्भवाद् भ्रम एवास्तीति।]

कञ्चुकिमुखादग्नि-शुद्धि-समाचारं श्रुत्वा भृशं परिकुपितो महाराजजनकः प्राह आः इति। खेदस्येयं वार्ता!· अस्माकं सन्तत्या परिशोधनेऽपि। कोऽयमग्निर्नाम ? जन्मतः कर्मत, चरित्रतश्च शुद्धाया अपि सीतादेव्याः परिशोधने वह्नेः किं सामर्थ्यमिति भावः। कष्टम्। अद्यावधि तु रामभद्र-विषयक एव क्षोभ आसीत् मम मनसि, अधुना चैवं वादिना प्रजाजनेन तु नितान्तं परिभूताः स्मः अयं तिरस्कारः सोढुमशक्य एवेति भावः।

दीर्घं निश्वस्य परितापमनुभवन्ती भगवत्यरुन्धती जनकोक्तिं समर्थयति एवमिति। एवमेतत्। यथा भवतोक्तं तदेवमेव। वत्सां सीताम्प्रति 'अग्निः' इति वस्तुतो

लघून्यक्षराणि । क्व सीता ! क्व चाग्निः ? अन्यजनान् परिशोधयतु अग्निदेवः, स्वयं शुद्धां जगत्पावनीं जगदम्बां 'सीतां' का नाम चर्चा परिशोधयितुम् ? 'सीता' इत्येव पर्याप्तम् ।

[अत्रेदं परमगुप्तं रहस्यम्—'अग्निः' इत्यत्र 'सीता इत्यत्र च मात्राक्षरकृतो विशेषो नास्त्येव, उभयत्रापि मात्रा-चतुष्टयम् अक्षरद्वयञ्च । तथापि कर्मणा सीताम्प्रति वह्निर्लघुः । तुलना—त्वनयोः सम्भवत्येव न सीता तु नाममात्रेण स्वयं परमपवित्रा, सर्वस्य जगतो नामसंकीर्तनमाणत्रे पावने च सामर्थ्यशालिनी, न तु अग्निः क्वचिदपि किमपि नाम-मात्रेण पवित्रीकरोति, अपितु दाहादिना एव । ततश्च तुलना नैवोभयोः सम्भवति, अतः 'सीता' इत्येव पर्याप्तमिति रहस्यम् ।]

सीतां सम्बोध्य स्नेह-पराधीना भगवत्यरुन्धती तद्विषये स्वविचारानाविर्भावयति—शिशुर्वेति ।

अत्र 'हा ! वत्से !' इति समन्वेति । हा वत्से ! त्वं शिशुरसि मम शिष्या वाऽसि, भवतु तत्सर्वं तथैव, शिशुत्व-शिष्यत्वयोरत्रावश्यकता नास्ति । विशुद्धेश्चरित्रशुद्धेरुत्कर्षमवलोक्यैवाहन्तु त्वयि विशेषां भक्तिं करोमि । शिशौ स्त्रीजने च भगवत्या एवं वचनं नोचितमित्याशङ्कां दूरीकरोति-शिशुत्वं स्त्रैण=स्त्रीत्त्वं वा भवतु, तस्याधुनाऽपेक्षा नास्ति] अहन्तु सत्यं वदामि सीते ! देवि ! त्वन्तु सर्वेषां जगतां वन्दनीयासि । शिशुत्वस्त्रैणयोः किम् ! गुणा एव पूजायाः स्थानं भवन्ति, गुणिषु विषये न च किमपि विशिष्टं लिङ्गम् चिह्न-विशेषः, वयः=वृद्धत्त्वादि अवस्था वा पूजास्थानं न भवितुमर्हत्येव । उदारचरितानां कृते गुणानामेव माहात्म्यं भवति, त्वादृशी पावन-चरित्रा सतीशिरोभूषणभूता, पातिव्रतादि गुणगणैरभिभूषिताऽन्या काचिद्धन्या नास्ति, अतस्त्वयि मम भक्तिरस्ति दृढेतिभावः ।

[अत्र भगवत्या अरुन्धत्या उक्तिः परमप्रसादमुपसंगृह्णाति । उदाराशयत्त्वञ्चातः परं किं स्यात् ?] अत्र अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । परिसंख्या च । शिखरिणी च्छन्दः ॥११॥]

कौसल्या सीता वृत्तान्तजनकोक्त्यादिस्मरणेन च विकला सति कथयति—अहो ! इति । आश्चर्यम् । वेदनाः क्लेशप्रदाः सत्यः समुन्मूलन्ति=मूलमुत्पाट्योर्ध्वं गच्छन्तीत्यर्थः । वर्धन्ते इति यावत् । इत्युक्त्वा मूर्च्छिताऽभूत् ।

टिप्पणी

(१) अप्यनामयमस्याः—अनामयम्=आरोग्यं । 'अनामयं स्यादारोग्यम्' इत्यमरः । आमयस्य रोगस्य अभावः अनामयम् । क्षत्रिय से 'आरोग्यं' के विषय में ही (कुशल) प्रश्न किया जाता है, ऐसा विधान है:—

'ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम् ।'—(मनु०, २९६) यहाँ जनक के कहने में अत्यन्त तीखा व्यङ्ग्य है।

(२) 'चिरपरित्यक्तरामभद्रदर्शनाम—पाठ०, 'चिरपरित्यक्तरामभद्रमुखचन्द्रदर्शनाम्' । चिरं परित्यक्तं रामभद्रमुखचन्द्रस्य दर्शनं यया ताम् । (३) प्रवृत्तबीभत्स-

किंवदन्तीकाः—प्रवृत्ता वीभत्सा किंवदन्ती येषु ते । (४) अग्निरिति वत्सां प्रतिलघून्यक्षराणि—जगद्वन्दनीया अरुन्धती के इस कथन में यह रहस्य है—यद्यपि 'अग्नि' और 'सीता' वर्णिक और मात्रिक कोई भी भेद नहीं है (दोनों में दो-दो अक्षर तथा चार-चार मात्रायें हैं) तथापि इनके कार्य में वहुत भेद है। 'सीता' स्वयं पवित्र हैं। उनका नाम लेने से ही संसार पवित्र हो जाता है। परन्तु 'अग्नि' में केवल नाममात्र पवित्र करने का सामर्थ्य नहीं है। वह तो (दाहादिजन्य) सम्पर्क से ही शुद्ध कर सकती है। इन वातों को देखते हुए मानना पड़ता है कि सीता और अग्नि की तुलना सम्भव नहीं। कहाँ सीता ? और कहाँ अग्नि ? जगज्जननी जनक-नन्दिनी के लिये तो बस 'सीतेत्येव' पर्याप्तम्।

(५) [श्लोक ११]

१. पाठान्तर—'द्रढयति' और 'जगतां' के स्थान पर 'जनयति' और 'जगतः'।

२. स्त्रैणम्—स्त्रिया भावः इति स्त्री + नञ् = स्त्रैणम्। 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्' (पा०, ४,१/८७)। इति नञ्। गुणाः पूजास्थानं वयः—तुलना कीजियेः—

"तामगोरवभेदेन, मुनींश्चापश्यदीश्वरः।
स्त्रीपुमानित्यतास्थैषा, वृत्तं हि महितं सताम ॥"

(कुमारसम्भव, ६/१२)

"पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते।" (रघु०, ३/६२)
न धर्मवृद्धेषुः वयः समीक्ष्यते ॥ (कुमारसम्भव ५/१६)
कमिवेशते रमयितुं न गुणाः ॥" (किरात०, ६/२४)

जनकः—हन्त, किमेतत् ?

अरुन्धती—राजर्षे ! किमन्यत् ?

स राजा तत्सौख्यं स च शिशुजनस्ते च दिवसाः,
स्मृतावाविर्भूतं त्वयि सुहृदि दृष्टे तदखिलम्।
विपाके घोरेऽस्मिन्न खलु न विमूढा तव सखी,
पुरन्ध्रीणां चित्तं कुसुमसुकुमारं हि भवति ॥१२॥

[अन्वयः—स राजा, तत् सौख्यं, स च शिशुजनः ते दिवसाः, सुहृदि त्वयि दृष्टे तत् अखिलं स्मृतौ, आविर्भूतम्। अथ, अस्मिन् घोरे विपाके, तव सखी, न विमूढा (इति) न खलु हि पुरन्ध्रीणां चित्तं कुसुमसुकुमारं भवति ॥१२॥]

हिन्दी—

जनक—हा ! यह क्या ?

अरुन्धती—राजर्षे ! और क्या होता ?

[श्लोक १२]—आपको देखकर इन्हें (कौसल्या को) वे महाराज (दशरथ) वह (अनुभूत) सुख, वे (सीता-राम आदि) शिशुजन और वे दिन स्मरण हो आये ! जिससे कि घोर परिणाम में आपकी प्रिय सखी क्या मूर्छित नहीं हुई ? (अपितु—सर्वथा मूर्छित हो गई ।) क्योंकि कुल-ललनाओं का चित्त कुसुम के समान (अथवा कुसुम से भी अधिक) सुकुमार होता है ।

संस्कृत-व्याख्या

मूर्छितां कौसल्यामवलोक्य—हन्त ! किमेतदिति साश्चर्यं पृच्छति जनकस्तस्य समाधानार्थमाहारुन्धती भगवती—'स राजा' इति ।

राजर्षे ! अन्यत् किं भविष्यति ? केवलमत्र दुःखभाराभिभूताया अस्याः सहसा परमप्रतापी विश्वविश्रुतः स राजा दशरथः तत् पूर्वानुभूत च सुखम् । स च शिशुजनः=सीतारामादिबालसमुदायः, ते सर्वसुखमया दिवसाः = इत्येवं त्वयि सुहृदि=मित्रभूते सम्बन्धिनि दृष्टे सति तत् सर्वं वृत्तं स्मृति-पथमुपगतम् । अस्मिन् घोरे सीता-परित्याग-रूपे परिणामे किमु तवेयं सखी कौसल्या न विमूढा खलु ! इति न, अपितु सत्यमेव विमूढा सञ्जाता । यतः पुरन्ध्रीणां=महिलानामुत्तमवंशालङ्काराणां सतीनां चेतः कुसुमवत् (कुसुमादपि वा) सुकुमारं भवति । स्वल्पेनैव दुःखाघातेनैतासां चित्तं विमुग्धं भवतीति भावः ।

अत्र भगवत्या अरुन्धत्या परिचित-विज्ञाने परमपाण्डित्यमाविर्भवति । तद् पदेन स्वानुभूतास्ते ते भावा अभिव्यज्यन्ते ।

अत्र उपमा अलङ्कारः । अर्थान्तरन्यासश्चेत्युभयोः संसृष्टिः । शिखरिणी च्छन्दः ॥१२॥

टिप्पणी

(१) विपाके घोरेऽस्मिन्न खलु न—पाठा०, १. घोरेऽस्मिन्नथ खलु' तथा २. 'घोरेऽस्मिन्नतु खलु' । वि + √पच् + घञ् भावे = विपाकः ।

(२) पुरन्ध्रीणां···भवति—तुलना कीजिये—

'आशावन्धः, कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां ।
सद्यःपाति प्रणाय हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥,' (पूर्वमेघ, १०)

जनकः—हन्त, सर्वथा नृशंसोऽस्मि । यच्चिरस्य दृष्टान्प्रियसुहृदः प्रिय-दारानस्निग्ध इव पश्यामि ।

स सम्बन्धी श्लाघ्यः प्रियसुहृदसौ तच्च हृदयं,
स चानन्दः साक्षादपि न निखिलं जीवितफलम् ।
शरीरं जीवो वा यदधिकमतोऽन्यत्प्रियतरं,
महाराजः श्रीमान् किमिव मम नासीद्दशरथः ॥१३॥

[अन्वयः—स श्लाघ्यः सम्बन्धी, असौ प्रिय सुहृत्, तच्च हृदयं स च साक्षात् आनन्दः, अपि च निखिलं जीवितफलम्, शरीरं जीवो वा, अतः अधिकं अन्यत् प्रियतरं श्रीमान् महाराजः दशरथः मम किमिव न आसीत् ? ॥१३॥]

कष्टमियमव सा कौसल्या ।

यदस्याः पत्युर्वा रहसि परमन्त्रायितमभू-
दभूवं दम्पत्योः पृथगहमुपालम्भविषयः ।
प्रसादे कोपे वा तदनु मदधीनो विधिरभू-
दलं वा तत्स्कृत्वा दहति यदवस्कन्द्य हृदयम् ॥१४॥

[अन्वयः—अस्या पत्युर्वा रहसि यत् परमन्त्रायितम् अभूत; (तत्र) अहं दम्पत्योः पृथक् उपालम्भविषय; अभूवम् । तदनु तत् स्मृत्वा अलम् यत् हृदयम् अवस्कन्द्य दहति ॥१४॥]

अरुन्धती—हा कष्टम् । अतिचिरनिरुद्धनिःश्वासनिष्पन्दहृदयमस्याः ।

जनकः—हा प्रियसखि ! (इति कमण्डलूदकेन सिञ्चति ।)

हिन्दी—

जनक—हाय, मैं सर्वथा नृशंस (हो गया) हूँ जो कि बहुत समय के अनन्तर मिलने वाली प्रिय मित्र (दशरथ) की प्रिय पत्नी को स्नेहहीन-सा होकर देख रहा हूँ ।

[श्लोक १३] वे (दशरथ) मेरे श्लाघनीय सम्बन्धी, प्रिय मित्र तथा (दूसरे) हृदय ही थे । वे साक्षात् आनन्द, जीवन के सर्वस्व, शरीर, प्राण अथवा संसार में जो भी इससे अधिक प्रिय वस्तु है, वह सब कुछ थे । (संक्षेप में) परम ऐश्वर्यशाली महाराज दशरथ मेरे क्या नहीं थे ? (अपने सर्वस्व उन्हीं महाराज की पत्नी को मैं स्नेहरहित होकर देख रहा हूँ ! मुझे धिक्कार है ।)

दुःख है ! यह वही कौशल्या हैं—

[श्लोक १४] (पहिले) इनका और (इनके) पति (दशरथ) का जो एकान्त में गुप्त विचार (अथवा प्रणय-कलह) होता था, उसमें मैं इन पति-पत्नी के उपालम्भ का पृथक्-पृथक् पात्र बनता था । तदनन्तर इन्हें प्रसन्न अथवा कुपित करने का काम मेरे आधीन रहता था । अथवा, उसे स्मरण करने से क्या लाभ ? जो कि (स्मरण-मात्र से ही) एकदम आघात कर मेरे हृदय को जलाये डालता है ।

अरुन्धती—हाय ! खेद है ! बहुत समय तक श्वास रुकने के कारण इनका हृदय स्पन्दनहीन हो गया है !

जनक—हा ! प्रियसखि ! [कमण्डलु का जल छिड़कते हैं ।]

संस्कृत-व्याख्या

मूर्च्छितां कौसल्यामालोक्य जनकः पश्चात्तापं कुर्वन्नाह—हन्तेति । महान् खेद, वस्तुतोऽपि नृशंसः=घातुकः क्रूर इति यावत् अस्मि । यच्चिरकालानन्तरदृष्टामपि प्रियदशरथस्य पत्नीं कौसल्याः अस्निग्धः इव=स्नेहरहितः, शत्रुरिव पश्यामीत्यर्थः । इयता चिरेण दृष्टाया अस्याः स्नेहातिशय उचितः, स च मया क्रूरेण नाचर्यते, इति खेद, इति भावः ।

पुनरपि दशरथस्य प्रीतिभाव स्मरति जनकः—स सम्बन्धीति ।

महाराजदशरथो मम सर्वस्वमासीत् । संसारे जीवानां यावन्तः सम्बन्धाः सन्ति, तेषु, सर्वेष्वपि दशरथं सन्नद्धमिव पश्यामि । स मम कन्यायाः श्वसुरः, अतो मम प्रशंसनीयः सम्बन्धी, मम प्रियसुहृदभूत, अये, स तु मम सर्वदा विश्वस्तं हृदयम्, यश्च लोकातिशायी, अनिर्वचनीय आनन्दः, जीवनस्य यत् किमपि सुफलं भवितुमर्हति शरीरं, जीवः, अथवा एभ्यः, उक्तेभ्यः पदार्थेभ्यः परतरं किमपि वस्तु लोके सुखप्रदं यद्यस्ति, तस्य सर्वस्यापि पूरको मम प्रियः दशरथ आसीत् । अथवा संक्षेपतो यदि कथ्यते तर्हि दशरथो मम किमिव नासीत् ? सर्वमेवासीत् । इति एवंविधस्य सुहृदो धर्मपत्नीमपि स्नेहरहितेन चक्षुषा पश्यामि, धिङ् मामधन्यम् ।

अत्रातिशयोक्ति काव्यलिङ्ग-अर्थापत्ति-रूपकाणां सङ्करः । शिखरिणी च्छन्दः ।

अत्र 'किमपि' इति पाठस्तु सर्वथाऽनर्थकरः, इति विज्ञैर्विज्ञेयम् ॥१३॥

कौसल्यामपि निरीक्ष्य कथयति जनकः, 'यदस्या' इति ।

अये, परं कष्टमिदम् ? इयमेव सा कौसल्या ? पूर्वसमये अस्याः दशरथस्य च प्रीतिस्निग्धं यदि कदाचित् किमप्युचितमनुचितं वा मन्त्रवद्गुप्तभाषणं भवति स्म, तदा उभयोरप्यनयोः पृथक्-पृथक् उपालम्भभाजनमहमेवाभवम् । तव सख्या एवं कृतम्, तव प्रिय सखा एवं कृतवानिति द्वावपि ममाग्रे कथयतः स्म इति भावः । अनन्तरञ्च प्रसादं कोपं वा कर्तुं सर्वोऽपि विधिर्ममाधीनो भवति, मम संकेतमात्रेणैवोभावपि परस्परं प्रसन्नौ कुपितावेव वा भवतः स्म ! अथवा—तस्य समाचारस्य स्मरणमपि सन्तापकरं सम्पद्यते, अतस्तस्य स्मरणमपि मयेदानीं नैव कार्यम् । मन्ये तत्स्मरणं बलान्मम हृदयमवस्कन्द्य=समाक्रम्य दहति ।

अत्र असंगतिरलङ्कारः । शिखरिणी च्छन्दः ॥१४॥

कौसल्याया अद्यापि मूर्च्छापरित्यागो न भवति, इति विलोक्य भगवत्यरुन्धती सखेदमाह—हा, इति ।

हा कष्टम् । अतिचिरम्=बहुकालं, निरुद्धाः=सञ्चारशून्याः निश्वासाः=प्राणा यस्मिंस्तत्, अतएव निस्पन्दम्=स्पन्दनरहितम्, चेष्टाहीनमिति यावत् अस्याः कौसल्यायाः, हृदयमस्ति । इयता दीर्घकालेनापि चेतना नायातीति भावः ।

टिप्पणी

(१) [श्लोक १३]—

१. जीवितफलम्—पाठान्तर, 'जीवितपदम्'।

२. शरीरं जीवो वा यदधिकमतोऽन्यत्प्रियतरम्—पाठा०—यदधिकमतो वा प्रियतरम। प्रियतमः।' शरीरं जीवो वा...' आदि पर वीरराघव ने लिखा है:—"शरीरमभूद्दुर्लभो मानुषो देह इत्युक्ततरं चाभूत्। सकलधर्मसाधनत्वाज्जीवो वाभूत् ? जीव चाभूत्तस्य हि ज्ञानानन्दमयत्वाप्रेमास्पदत्वमतो जीवादधिकं समस्त-कल्याणगुणामृतोदधित्वेनानन्दमयत्वेन च प्रकृष्टं प्रियतरं प्रियो जीवः प्रियतर ब्रह्म तथाविधं तत्परं ब्रह्म तद्भूत् ?"

३. किमिव—पाठान्तर, 'किमपि'।

२. [श्लोक १४]

परमन्त्रायितमभूत्—पाठा०, 'परमं दूषितमभूत्'। परमन्त्र + णिच् + क्त।

(३) अतिचिरनिरुद्धनिःश्वासनिष्पन्दहृदयम्—पाठा०, चिरनिरुद्धनिःश्वास-निष्ठुरम्'। अतिचिरं निरुद्ध निश्वासनिष्पन्दः यस्य तच्च हृदयम्।

कञ्चुकी—

सुहृदिव प्रकटय्य सुखप्रदां, प्रथममेकरसामनुकूलताम्।
पुनरकाण्डविवर्तनदारुणः परिशिनष्टि विधिर्मनसो रुजम् ॥१५॥

[अन्वयः—विधिः प्रथमम् सुहृत् इव सुखप्रदाम् एकरसाम् अनुकूलतां प्रकटय्यः पुनः अकाण्डविवर्तनदारुणः (सन्) मनसः रुजं परिशिनष्टि ॥१५॥]

हिन्दी—

कञ्चुकी—[श्लोक १५]—जैसे मित्र पहले (प्रथम मिलन में) प्रेमपूर्ण, सुखदायिनी अनुकूलता प्रदर्शित कर तत्पश्चात् (वियोग से) मन में दारुण वेदना उत्पन्न कर देता है वैसे ही भाग्य भी पहले अनुकूल रहकर, पुनः असमय में ही परिवर्तन करने से कठोर होकर (एकदम सुख को दुःख में परिवर्तित कर) परिशेष रूप से मन में असह्य सन्ताप उत्पन्न कर देता है। (महारानी के आनन्दमय दिन बीत गये, अब विधि इनके जीवन के साथ खिलवाड़ कर रहा है।)

संस्कृत-व्याख्या

सर्वामपीमां लीलां विलोक्य जातवैराग्य इवानुभूत-भूरिभावः कञ्चुकी विधि-विलसितं निन्दति—सुहृदिवेति।

यथा मिव प्रथमप्रसंगे, एकरसां=प्रेमपूर्णां, सुखदायिनीमनुकूलतां प्रकटयति, अनन्तरञ्च वियोगहेतुना, अकाण्डे=असमये विवर्तनेन=परिवर्तनेन दारुणां=कठोराम्, मनसः=चेतसः, रुजं=पीडामर्पयति, तथैव विधिरपि प्रथमं प्रिय-पदार्थ-सम्प्रदानेन सर्वथा सुखमयं जीवनं ददाति, सहसैव च सुखं दुःखे परिणमय्य दुःसहां पीडां मनसि परिशिष्टां करोति। परिशेषभागतया ददाति। विधातू रचना चातुरी-चमत्कारो विचित्र एवेति, कौसल्यादीनामिदानीं सुखमयः समयोऽतिक्रान्तः ईदृशी च दीनदीना-दशा सञ्जाता। सर्वदा स समयो न तिष्ठति कस्यापि, इति भावः।

[अत्र कवेः 'परिशिनष्टि' इति पदप्रयोगे परमचातुर्यमभिव्यज्यते। परिशेषो हि पूर्वं दत्तस्य द्रव्यस्यावशिष्टांशदाने प्रयुज्यते। लेखकानां सम्प्रदाये चापि लिखितस्य ग्रन्थस्यावशिष्टोंऽशः 'परिशिष्ट' रूपेणान्ते दीयते। ततश्च-प्रकृते विधाता जनेभ्यः सर्वसुखसम्पत्तिं वितरति अन्ते च 'परिशेष' भागतया मनसो रुजमर्पयति। संयोगो वियोगे, सुखञ्च दुःखे परिणमतीति संसारस्य स्वभावः। इति कवेराकूतम्।]

अत्र सम-विषम—समयोपन्यासाद् 'विषमः'; सुहृदिवेत्यत्रोपमाचेति तयोः साङ्कर्यम्। द्रुतविलम्बितं च्छन्दः ॥१५॥

टिप्पणी

(१) सुखप्रदाम्—पाठा०, 'सुखप्रदः'। (२) एकरसम्—एक रसः यस्यां ताम्। (३) अकाण्डविवर्तनदारुणः—अकाण्डे (अकाण्डात्) विवर्त्तनं तेन दारुणः। (४) परिशिनष्टि विधिर्मनसो रुजम्—पाठा०, १. प्रविशिनष्टि विधि……।" २. 'विधिरहो विशिनष्टि मनोरुजम्।'

(५) यह पद्य मालतीमाधव (४/७) में भी आया है।

कौसल्या—(आश्वस्य।) हा वच्छे जाणइ! कहिं सि? सुमरामि दे णवविवाहलच्छीपरिग्गहेक्कमङ्गलं संफुल्लमुद्धमुहपुण्डरीअ आरुहन्तकौमुदीचन्दसुन्दरम्। एहि मे पुणो वि जादे उज्जोएहि उच्छङ्गम्। सव्वहा महाराअ एव्वं भणदि—'एसा रहुउलमहत्तराणं बहु, अह्माणं दु जणअसुदा दुहिदेव्व।' [हा वत्से जानकि! कुत्रासि? स्मरामि ते नवविवाहलक्ष्मीपरिग्रहैकमङ्गलं, सफुल्लमुग्धमुखपुण्डरीकमारोहत्कौमुदीचन्द्रसुन्दरम्। एहि मे पुनरपि जाते! उद्द्योतयोत्सङ्गम्! सर्वदा महाराज एवं भणति—'एषा रघुकुलमहत्तराणां वधूः अस्माकं तु जनकसुता दुहितैव।']

कञ्चुकी—यथाह देवी।

पञ्चप्रसूतेरपि तस्य राज्ञः, प्रियो विशेषेण सुबाहुशत्रुः।
वधूचतुष्केऽपि तथैव नान्या, प्रिया तनूजास्य यथैव सीता ॥१६॥

[अन्वयः—पञ्चप्रसूतेः अपि तस्य राज्ञः, सुबाहुशत्रुः, विशेषेण प्रियः तथैव अस्य वधूचतुष्के, अपि सीता एव तनूजा यथा प्रिया, (तथा) अन्या न ॥१६॥]

जनकः—हा प्रियसखे महाराज दशरथ! एवमसि सर्वप्रकारहृदयङ्गमः। कथं विस्मर्यसे?

कन्यायाः किल पूजयन्ति पितरो जामातुराप्तं जनं,
सम्बन्धे विपरीतमेव तदभूदाराधनं मे मयि।
त्वं कालेन तथाविधोऽप्यपहृतः सम्बन्धबीजं च त-
द्घोरेऽस्मिन्मम जीवलोकनरके पापस्य धिग्जीवितम् ॥१७॥

[अन्वयः—कन्यायाः पितरः जामातुः आप्तं जनं पूजयन्ति किल, सम्बन्धे मयि ते तत् आराधनम् विपरीतम् एव अभूत्। तथाविधः अपि त्वं कालेन अपहृतः, तत् सम्बन्धबीजं च (अपहृतम्), घोरे अस्मिन् जीवलोकनरके पापस्य मम जीवितं धिक्!॥१७॥]

हिन्दी—

कौसल्या—(प्रकृतिस्थ होकर) हा! पुत्रि! जानकि! तुम कहाँ हो? मैं तुम्हारे नव-विवाह-कालीन शोभा के धारण करने से अनुपम मङ्गल-युक्त, (आकाश) (में) फैलती हुई चन्द्रिका से सुशोभित चन्द्र के तुल्य तथा विकसित कमल के समान भोले-भाले मुख का स्मरण करती हूँ! (तुम्हारा यह विवाह-कालिक चाँद-सा प्यारा मुखड़ा मुझे आज भी याद आ रहा है!) वत्से! पुनः आओ और मेरी गोद को अलंकृत करो। महाराज (दशरथ) सदा यह कहा करते थे कि—"यह सीता" रघुकुल के पूर्वजों की पुत्रवधु है, हमारी तो (जनक के साथ सम्बन्ध होने के कारण) पुत्री ही है।"

कञ्चुकी—आप ठीक कहती हैं।

[श्लोक १६]—पाँच सन्तानों में महाराज को सुबाहु-शत्रु (राम) ही अधिक प्रिय थे और ऐसे ही चार पुत्र-वधुओं में भी पुत्री ('शान्ता') के समान सीता-जैसी उन्हें और कोई प्रिय नहीं थी।

जनक—हा! प्रिय सुहृद महाराज दशरथ! आप इस प्रकार सर्वात्मना मेरे हृदय में बस गये हैं? आपको कैसे भुलाया जा सकता है?

[श्लोक १७]—(साधारणतया लोक की यह रीति है कि–) कन्या के पिता-(चाचा आदि जामाता के सम्बन्धियों का स्वागत-सत्कार करते हैं परन्तु हमारे सम्बन्ध में आपका मेरे प्रति सम्मान करना (इस लोक-व्यवहार के सर्वथा) विपरीत था। अर्थात्—हमारे सम्बन्ध में दूसरी ही बात थी। मैं आपकी पूजा करूँ इसके स्थान में आप ही मेरा अभिनन्दन करते थे?) (परन्तु) कराल काल ने आप जैसे (अनुपम नवरत्न) का तथा सम्बन्ध की मूलकारण (सीता) का भी अपहरण कर लिया अब इस भयङ्कर संसार-रूपी नरक में मुझ पापी का जीवन धिक्कार है! (ऐसे अनुपम सम्बन्धी तथा पुत्री को खोकर संसार में मेरा जीवन व्यर्थ है। यह जीवन नही नरकवास है।)

संस्कृत-व्याख्या

(आश्वस्य) कौसल्य वदति हा वच्छे! इति! हा पुत्रि! सीते! कुत्रासि त्वम्? अहमिदानीमपि तव विवाहकालिकं परिवर्धमानशोभं, विकसित-कमलतुल्यं, आरोहन्ती=नभो विभागे ससमारोहं समुदयं भजमाना या कौमुदी, तयोपेतो यश्चन्द्रस्तादृशं परमसुन्दरं मुखं स्मरामि। अर्थात् विवाह-समयेऽस्माकं गृहे समागता-यास्तव मुखकमलमधुनापि मम स्मृतिपथान्नावरोहति। वत्से! पुनरप्यागच्छ। ममांके समुपविश। तव तत्र स्थित्या ममाङ्कशोभा भविष्यति. मनोरथसम्पूर्तिश्चेति।

सर्वथा महाराजः (श्री दशरथः) कथयति स्म—"इयं सीताऽस्माकं पूर्वजानां रघुकुल-पूर्वजानां महापुरुषाणां पुत्रवधूः, अस्माकन्तु जनकेन सह सम्बन्धात् पुत्री एव वर्तते।" इति।

कौसल्या-वचनमनुमोदते कञ्चुकी देव्या यदुक्तं तत् सत्यमेव। तथाहि—पञ्चेति।

महाराजदशरथस्य पञ्चसन्ततयः (रामः, भरतः, लक्ष्मणः, शत्रुघ्नः, शान्ता च ज्येष्ठा कन्या) आसन्, परन्तु महाराजस्य प्रीतिर्विशेषरूपेण—सुबाहु शत्रौ—रामे एवासीत् एवमेव सर्वास्वपि वधूषु सीतायामेव विशिष्टा प्रीतिरासीत्। सा तु तस्य तनूजैव मतेति सत्यमाह महादेवी। सीताराममयं महाराजस्य जीवनभूदिति तत्त्वम्।

अत्र उपमा अलङ्कारः। इन्द्रवज्रोपेन्द्रयोः सम्मेलनादुपजातिश्छन्दः ॥१६॥

महाराजं दशरथ स्मरन् जनकः प्राह—इति।

"कन्यायाः' किल—यत् कन्यायाः पितरः जामातुः आप्तं जनं सम्मानयन्ति, परं मम सम्बन्धे तु विपरीता वार्ता आसीत्। महाराज! दशरथ! त्वदीयं प्रेम मयि विचित्रमभूत्। त्वमेव सर्वदा मम पूजा—सम्मानकमरोः, हन्त! विधेर्विलासः स तादृशोऽपि त्वं कालेनापहृतः। आवयोः सम्बन्धस्य तत् कारणं (सीता) तदपि दैवेनापहृतम्, सम्प्रति, अस्मिन् घोर नरके पापस्य मम जीवनं विद्यते। एवंविधे सुहृदि सुता—रत्ने च गते किं फलं मम जीवनस्येति न जानामि? एवंविधं जीवनं न जीवनम्, प्रत्युत गर्हितं जीवनमेवेति।

अत्र उपमा अलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः। प्रसादो गुणः। लाटी रीतिः ॥१७॥

टिप्पणी

(१) नवविवाहलक्ष्मीपरिग्रहैकमङ्गलम्—पाठा०, 'विवाहलक्ष्मीपरिग्रहैक-मण्डनम्।' नवविवाहः तस्य लक्ष्मीः (शोभा) तस्याः परिग्रहः एकं (मुख्यं केवलं वा) मण्डनं यस्य तथाविधम्। (२) सम्फुल्लमुग्धमुखपुण्डरीकम्—पाठा०, 'प्रस्फुरच्छुद्ध-विहसितम्' तथा 'उत्फुल्लशुद्धहसितम्।' (३) आरोहत्कौमुदीचन्द्रसुन्दरम् एहि मे—पाठा०, 'आस्फुरच्चन्द्रचन्द्रिकासुन्दरैरङ्गैः पुनरपि मे।'

(४) [श्लोक १६]—

१. तस्य राज्ञः—पाठा० 'राज्ञ आसीत्।' २. वधूचतुष्केऽपि—पाठा०, 'वधूचतुष्ट्येऽपि।' ३. तथैव नान्या सीता—सीता०,

'यथैव शान्ता प्रिया तनूजास्य तथैव सीता।'

४. वीरराघव ने 'वधूचतुष्केऽपि। आदि की व्याख्या की है—'वधूचतुष्के-ऽपि सीतादिस्नुषाचतुष्टयेऽपि अस्य जनकस्य तनूजा सीता यथा तस्य राज्ञो दशरथस्य प्रिया तथा अन्या ऊर्मिलाप्रभृति राज्ञः न प्रिया न। अस्य तनूजा सीतेत्यनेन सीताया

एव जनकाभिसन्धिना तनूजात्वं नान्यासामिति व्यज्यते। वधूचतुष्केऽपीति निर्धारणे सप्तमीदर्शनात्'।

(५) [श्लोक १७] तथाविधोऽप्यहृतः—पाठा०, 'विधोऽस्य...।'

कौसल्या—जादे जाणइ ! किं करोमि ? दिढवज्जलेवपडिवद्धणिच्चलं हदजीविदं म मन्दभाइणीं ण पडिच्चअदि। [जाते जानकि। किं करोमि ? दृढ-वज्रलेपप्रतिबन्धनिश्चलं हतजीवितं मां मन्दभागिनीं न परित्यजति।]

अरुन्धती—आश्वसिहि राज्ञि ! बाष्पविश्रामोऽप्यन्तरेषु कर्त्तव्य एव। अन्यच्च किं न स्मरसि ? यदवोचदृष्यशृङ्गाश्रमे युष्माकं कुलगुरुः—"भवितव्यं तथेत्युपजातमेव। किन्तु कल्याणोदर्कं भविष्यतीति।"

कौसल्या—कुदो अदिक्कमन्दमणोरहाए मह एदम् ? [कुतोऽति क्रान्त-मनोरथाया ममैतत्।]

अरुन्धती—तत्किं मन्यसे राजपत्नि ! मृषोद्यं तदिति न हीदं क्षत्रिये ! मन्तव्यम्।

आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां, ये व्याहारास्तेषु मा संशयो भूत्।
भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता, नैते वाचं विप्लुतार्थां वदन्ति ॥१८॥

[अन्वयः—आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां ये व्याहाराः तेषु संशयो, मा भूत् हि एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीः निषक्ता एते विप्लुतार्थां वाचं न वदन्ति ॥१८॥]

हिन्दी—

कौसल्या—पुत्री जानकि ! क्या करूँ ? अत्यन्त दृढ़ वज्र (सीमेण्ट) के लेप से बँधे हुए से ये निन्दित प्राण मुझ मन्दभागिनी को नहीं छोड़ते ! (मुझे मौत भी नहीं आती !)

अरुन्धती—महारानी ! धैर्य धारण करो ! बीच-बीच में आँसुओं को रोकना भी चाहिये। और भी; क्या तुम्हें याद नहीं है जो कि ऋष्यशृङ्ग के आश्रम में तुम्हारे कुलगुरु (वसिष्ठ जी) ने कहा था, कि—'जो होना था, वह तो हो ही चुका परन्तु इसका परिणाम शुभ होगा।'

कौसल्या—(सीता-रूपी) मनोरथ के चले जाने पर मेरे लिए यह कैसे सम्भव है ?

अरुन्धती—तो क्या राजपत्नी ! तुम उसे (गुरु-वचन को) मिथ्या समझती हो ? सुक्षत्रिये ! ऐसा नहीं मानना चाहिये।

[श्लोक १८]—ब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाले ब्राह्मणों के जो कथन हैं, उसमें सन्देह नहीं करना चाहिये, क्योंकि इनकी वाणी में (सम्पूर्ण जगत् का) कल्याण करने वाली लक्ष्मी का वास होता है और ये (कभी भी) मिथ्या वाणी मुख से नहीं निकालते हैं।

संस्कृत-व्याख्या

कौसल्या पुनः सीतां स्मरन्ति कथयति—जाते ! इति । पुत्रि ! सीते ! दृढवज्रलेपनिबद्धनमिव ममेदं जीवितं मां मन्दभाग्यां न जहाति । मम मृत्युर्नैवायातीति यावत् । किं करोमि ? उपाय एव न दृश्यते ।

अतिशयदुःखितां कौसल्यामाश्वासयितुं भगवती अरुन्धती कथयति **आश्वसिहि इति** । राज्ञि । आश्वासनं कृत्वा क्षणं मध्ये वाष्पविश्रान्तिस्तु कार्या एव अपि च ऋष्यशृङ्गस्याश्रमे भवत्कुलगुरुणा यदुक्तम्—'यद् भवितव्यं तत् सञ्जातमेव, किन्तु कल्याणोदर्कं = कल्याणमुदर्कं = परिणामो यस्य, तथा भविष्यति' इति तत् किन्न स्मरसि ? गुरुवचसि श्रद्धा विधेया । परमेतस्य शोभनं भविष्यतीति निश्चितं मन्यताम् ।

कौसल्या गुरु वाक्येऽपि सन्दिहाना सतीव कथयति—**कुदो इति** । मनोरथे = सीतारूपे गते सति मम मन्दभाग्यायाः कथमेवं सम्भाव्यते ।

गुरुवाक्ये संशयं विदित्वा विक्षुब्धेव प्राह भगवत्यरुन्धती—**तत्किमिति** । ततः किं तद् वचनं मृषोद्यम् = मिथ्याभूतं, मन्यसे ? अयि सुक्षत्रिये ! कदापि नैवं सम्भाव्यम् । सावधानतया मम वचनं शृणु ।

ब्राह्मणानां विशेषतस्तत्त्वदर्शिनां वचने सन्देहो नैव कर्त्तव्यः—इत्याशयेनाह—**आविर्भूतेति** ।

यैः ब्राह्मणैर्ब्रह्मज्योतिः-साक्षात्कारः कृतः, तेषां ये व्यवहाराः = उक्तयः सन्ति, तेषु संशयस्त्वया न कार्यः । एषां ब्राह्मणानां वाचि = वचने भद्रा = सर्वजगत्कल्याण-कारिणी लक्ष्मीर्विद्यते । एते ब्राह्मणाः कदाचिदपि मिथ्याभाषिणो न भवन्ति । अतश्च स्वकुलगुरोर्वाक्ये भवत्याः संशयः सर्वथाः नोचित इति भावः ।

अत्र चार्थे—"सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरावाचमक्रत । अत्र सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधिवाचि । इति श्रुतिमूलभूतास्ते । **अर्थान्तर-न्यासोऽलङ्कारः** । शालिनी च्छन्दः । तल्लक्षणञ्च यथा—

'शालिन्युक्तास्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः' इति ॥२८॥

[यथार्थवादिन्या ऋषिपत्न्याः पवित्रविचारः स्वात्माभिमानित्वञ्चात्र प्रशंस-नीयम् एवंविधानां ब्राह्मणानां महिमा सहस्रफणिनाऽपि कतुं न पार्यते । हन्त ! कलिकाल ! तवानुमते तेऽपि क्वचिद् विलीनाः ।]

टिप्पणी

(१) **दृढवज्रलेपप्रतिबन्धनिश्चलम्**—पाठा०, '**दृढवज्रलेपघटितबन्धनिश्चलम्**' । दृढः वज्रलेपस्तेन प्रतिबन्धः यस्य तत् (अत एव) निश्चलं च । दृढवज्र-लेपेन घटितः बन्धः यस्य तत् अतएव निश्चलं च । (२) **मृषोद्यम्**—मृषा उद्यते इति । मृषोपपदात् वदेः कर्मणि नित्यं क्यप् "राजसूय-सूर्य-मृषोद्य-रुच्य-कुप्य कृष्टपच्याव्यथ्याः" (पा०, ३/१/११४) । मृषा + √वद् + क्यप् । (३) श्लोक (१८)--

१. व्यवहाराः—वि+आ+√हृ+घञ्, प्रथमा बहुवचन।

२. भद्रा—पाठा०, 'भव्या' ३. त्रिप्लुतार्थां वदन्ति पाठान्तर, 'विप्लुतां व्याहरन्ति।'

तुलना कीजिये—

'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखाय सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि॥'

(ऋग्वे० १०/७१/२)

(नेपथ्ये कलकलः। सर्वे आकर्णयन्ति)

जनकः—अये, शिष्टानध्याय इत्यस्खलितं खेलतां वटूनां कोलाहलः।

कौसल्या—सुलहसोक्खं दाणिं बालत्तणं होदि। (निरूप्य) अह्महे एदाणं मज्झे को एसो रामभद्दस्स कोमारलच्छीसावट्ठम्भेहिं मुद्धललिदेहिं अङ्गेहिं दारओ अह्माणं लोअणे शीअलावदि? [सुलभसौख्यमिदानीं बालत्वं भवति। अहो, एतेषां मध्ये क एष रामभद्रस्य कौमारलक्ष्मीसावष्टम्भैर्मुग्धललितैरङ्गै-र्दारकोऽस्माकं लोचने शीतलयति?]

अरुन्धती—(स्वगतम् सहर्षोत्कण्ठम्) इदं नाम भागीरथीनिवेदितं रहस्य-कर्णामृतम् न त्वेवं विद्मः कतरोऽयमायुष्मतोः कुशलवयारिति। (प्रकाशम्)

कुवलतदलस्निग्धश्यामः शिखण्डकमण्डनो
वटुपरिषदं पुण्यश्रीकः श्रियेव सभाजयन्।
पुनरपि शिशुर्भूतो वत्सः स मे रघुनन्दनो,
झटिति कुरुते दृष्टः कोऽयं दृशोरमृताञ्जनम्? ॥१९॥

[अन्वयः—कुवलयदलस्निग्धश्यामः, शिखण्डकमण्डनः, पुण्यश्रीकः, श्रिया, वटु-परिषदं, सभाजयन्, एव, पुनः, शिशुः, भूत्वा मे, वत्सः, रघुनन्दनः, इव, कोऽयम्, दृष्टः झटिति, दृशोः, अमृताञ्जनं कुरुते? ॥१९॥]

हिन्दी—

(नेपथ्य में कोलाहल होता है। सब सुनते हैं)

जनक—अरे, शिष्टजनों के आगमन से अवकाश होने के कारण बेरोक-टोक खेलते हुए बटुओं का यह कोलाहल है।

कौसल्या—बाल्यावस्था में सुख सुलभ होता है। (इस अवस्था में खिलौने आदि थोड़े से ही साधनों से सुख मिल जाता है। (देखकर) ओह! इनके (बालकों के) बीच में कौन बालक रामभद्र की शैशव-कालीन शोभा से सम्पन्न सुन्दर और

सुकुमार अङ्गों से हमारे नेत्रों को ठण्डा कर रहा है ? (जैसे बचपन में रामचन्द्रजी थे वैसा ही यह कौन बालक हमारे नयनों को शीतल कर रहा ?)

अरुन्धती—(स्वयं ही हर्ष और उत्कण्ठा सहित) यह गङ्गा जी के द्वारा बतलाया हुआ कानों के लिये अमृत के समान (श्रवण-सुख-कारी) रहस्य है। परन्तु मैं यह नहीं जानती कि यह चिरायु 'लव' और 'कुश' में से कौन है ?

[श्लोक १९] (प्रकाश में) नील-कमल-दल के समान मसृण और श्याम काकपक्षों से सुशोभित अलौकिक शोभा से सम्पन्न शरीर की कान्ति से ही ब्रह्मचारियों की मण्डली को अलङ्कृत करने वाला यह कौन है ? जो कि देखने पर फिर से शिशु-रूप धारी राम की भाँति मेरी आँखों में अमृत-मय अञ्जन का लेप-सा कर रहा है ? [अर्थात्—इसको देखते ही मुझे राम की बाल्यावस्था की मन-मोहिनी मूर्ति याद आ जाती है। ऐसा लगता है कि मानो फिर से राम ने वही शिशु रूप धारण कर लिया हो।]

संस्कृत-व्याख्या

(नेपथ्य क्रीडाकारिणां ब्रह्मचारिणां कलकलं सर्वे आकर्णयन्ति)। जनकः कथयति—अये इति। अये, शिष्टजन समागमे सति आश्रमेऽनध्यायो जातः, इति हेतोः सर्वे बालकाः अस्खलितं=अनियन्त्रितं यथास्यात्तथा खेलां कुर्वन्ति, इति तेषामयं कलकलः।

कौसल्या वालकानां क्रीडाभिरतिं निरीक्ष्य प्रसन्ना सती प्राह—सुलह इति। बालत्वं शैशवकालः, सुलभं सौख्यं यस्मिन्नेवंविधं भवति। बाल्यावस्थायामन्यैरेव साधनैः क्रीडा कौतुकादिभिः सुखं सम्प्राप्यते। (निरूप्य=दृष्ट्वा) कौमारस्य कुमारवस्थायाः लक्ष्म्याः=शोभायाः सावष्टम्भैः=अवलम्बनसहितैः, मुग्धैः=सुमनोहरैः, ललितैः=सुकुमारैः, दारकः=बालकः। शीतलयति=शीतलतां प्रापयति। यादृशो बाल्यावस्थायां रामभद्रः सुकुमार-शरीरावयव आसीत्तथाकृतिरयं को बालकः अस्माकं लोचनयोः शैत्यं प्रत्यर्पयतीवेति भावः।

लवं दृष्ट्वा भगवत्यरुन्धती सहर्षं स्व मनसि त्वाह—इदमिति। भागीरथ्या श्री गंगादेव्या निवेदितं, कर्णयोरमृततुल्यं रहस्यमिदमस्ति। परं लवः कुशोवाऽयमिति न ज्ञायते।

पुनः प्रकाशं=सर्वश्राव्यमाह—कुवलयेति।

कुवलयम्=नीलकमलम् शिखण्डकः=बालानां शिखा, सभाजयन्=सत्कुर्वन्। झटिति=शीघ्रम्, दृशोः=नेत्रयोः! अमृताञ्जनम्=अमृतरूपं नेत्रयोरञ्जनम्।

नीलकमलवत् स्निग्धः, श्यामवर्णः, शिखण्डकशोभितः, पुण्यश्रीसम्पन्नः स्व-शरीरकान्त्यैव ब्रह्मचारिणां सभां (समूहम्) सत्कुर्वन्, कोऽयं बालः ? मन्ये पुनरपि स एव रघुनन्दनोरामो बालरूपमङ्गीकृत्य सपदि मम लोचनयोरमृताञ्जनमिवार्पयति ? एतस्य दर्शनेऽहं प्रियवत्सं राममेव पुनर्बालरूपे पश्यामीत्याशयः।

अत्रोत्प्रेक्षा, उपमा च सङ्कीर्णे। परिणीच्छन्दः ॥१९॥

टिप्पणी

(१) (श्लोक १९)

१. "कुवलयदलस्निग्धश्यामः" पाठा०—कुवलयदलमिव स्निग्धश्यामः। २. "शिखण्डकमण्डनः"—पाठा०, 'शिखण्डपण्डलः' । ३. पुण्यश्रीकः'—पुण्या श्रीः यस्य । ४. 'श्रियेव'—पाठा०, 'श्रियेव' । ५. शिशुभूतो वत्सः' पाठा०, 'शिशुर्भूत्वा वत्सः" ।

कञ्चुकी—नूनं क्षत्रियब्रह्मचारी दारकोऽयमिति मन्ये ।

जनकः—एवमेतत् । अस्य हि—

चूडाचुम्बितकङ्कपत्रमभितस्तूणीद्वयं पृष्ठतो;
भस्मस्तोकपवित्रलाञ्छनमुरो धत्ते त्वचं रौरवीम् ।
मौर्व्या मेखलया नियन्त्रितमधो वासश्च माञ्जिष्ठकं,
पाणौ कार्मुकमक्षसूत्रवलयं दण्डोऽपरः पैप्पलः ॥२०॥

[अन्वयः—पृष्ठतः, अभितः, चूडाचुम्बितकङ्कपत्रं, तूणीद्वयं, भस्मस्तोकपवित्रलाञ्छनम्, उरः रौरवीं, त्वचं, धत्ते, अधः, मौर्व्या, मेखलया, नियन्त्रितं, माञ्जिष्ठकम्, वासः पाणो, कार्मुकम्, अक्षसूत्रवलयम्, अपरः, पैप्पलो दण्डो (अस्ति) ॥२०॥]

भगवत्यरुन्धति ! किमित्युत्प्रेक्षसे कुतस्त्योऽयम् ? इति ।

अरुन्धती—अद्यैव वयमागताः ।

जनकः—आर्य गृष्टे ! अतिकौतुकं वर्तते । तद्भगवन्तं वाल्मीकिमेव गत्वा पृच्छ । इमं च दारकं ब्रूहि "वत्स ! केऽप्येते प्रवयसस्त्वां दिदृक्षवः" इति ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । [इति निष्क्रान्ताः ।]

कौसल्या—किं मण्णेध ? एव्वं भणिदो आअमिस्सदि वा ण वेत्ति ? [किं मन्यध्वे ? एवं भणित आगमिष्यति वा नवेति ?]

जनकः—भिद्यते वा सद्वृत्तमीदृशस्य निर्माणस्य ?

कौसल्या—(निरूप्य ।) कहं सविणअणिसमिदगिट्ठिवअणो विसज्जिदासेससरिसदारओ इतोमुहं अवसरिदो एव्व स वच्छो । [कथं सविनयनिशमितगृष्टिवचनो विसर्जिताशेषसदृशदारक इतोमुखमपसरित एव स वत्सः ?]

हिन्दी—

कञ्चुकी—मैं ऐसा समझता हूँ कि यह क्षत्रिय बालक है ।

जनक—ऐसा ही है इसकी—

[श्लोक २०]—पीठ पर दोनों ओर शिखाओं को छूने वाले कङ्कपत्र-युक्त

तरकस लटके हुए हैं। थोड़ी-सी भस्म लगाने से इसका वक्षःस्थल पवित्र है। यह मृग-चर्म धारण कर रहा है। इसके अधोभाग में मंजीठ रङ्ग का (लाल-लाल-सा) वस्त्र मूंज की तगड़ी से बँधा हुआ है। और इसके हाथों में धनुष, रुद्राक्ष-माला तथा पीपल का डण्डा भी सुशोभित हो रहा है। (इन सब चिह्नों से स्पष्ट है कि यह क्षत्रिय ब्रह्मचारी है।)

भगवती, अरुन्धती ! "यह कहाँ से आया है ?" (इसके माता-पिता कौन हैं ?) इस सम्बन्ध में आपका क्या अनुमान है !

अरुन्धती—हम लोग आज ही आए हैं। (जैसे आप इसे नही जानते, वैसे ही मैं भी इससे अपरिचित हूँ।)

जनक—आर्य गृष्टि ! मुझे अत्यन्त कौतूहल हो रहा है। इसलिए भगवान् वाल्मीकि के ही पास जाकर पूछो ; और इस बालक से भी कहो कि 'वत्स ! ये कुछ बूढ़े लोग तुमको देखना चाहते हैं।"

कञ्चुकी—जो महाराज की आज्ञा। [चला जाता है]

कौसल्या—ऐसा कहने पर वह आ जायगा या नहीं, इस सम्बन्ध में आप क्या सोचते हैं ?

जनक—ऐसी (अलौकिक) रचना का भी क्या शिष्टाचार छूट सकता है ? (नहीं, सुन्दराकृति व्यक्ति अशिष्ट नहीं होते। अतः मेरा दृढ़ विश्वास है कि वह अवश्य आयेगा।)

कौसल्या—(देखकर) क्या नम्रतापूर्वक 'गृष्टि' का वचन सुनकर तथा अपने समस्त सहचर बालकों को छोड़कर वह बालक इधर को मुखकर चल ही पड़ा ?

संस्कृत-व्याख्या

लवं निरीक्ष्य क्षत्रिय ब्रह्मचारी अयमिति कञ्चुकी-सम्भावनां 'प्रमाणयति जनकः—चूडेति।

कङ्कपत्रम् = पक्षिविशेषस्य पक्षाः । तूणी-द्वयम् = इषुधी द्वयम् । स्तोकम् = अल्पम् । त्वचम् = चर्म । रौरवीम् = रुरुः = मृगः, तत्सम्बन्धिनीम् । मौर्व्या = मूर्वाख्यालतया । माञ्जिष्ठकम् = मञ्जिष्ठारागरञ्जितम् । कार्मुकम् । धनुः = अक्षसूत्ररुद्राक्षमाला । पैप्पलः = पिप्पलवृक्षसम्बन्धी । इत्येवं कठिन पदानि पदर्शितानि।

क्षत्रियबालकत्वमेव प्रसाधयति—पृष्ठभागे अभितः = उभयभागे चूडाभिः = परिचुम्बितानि स्पृष्टानि कङ्कपत्राणि यस्मिस्तत् तूणीद्वयम्, भस्मस्तोकेनाल्पेनांशेन पवित्रं लाञ्छनं = चिह्नं यस्मितत् एवंविधवक्षःस्थलं रौरवं चर्म = कृष्णमृगचर्म, धत्ते = धारयति । मञ्जिष्ठारागरञ्जितं अधोवस्त्रं = कटिवस्त्रम्, मूर्वाख्यलतया निर्मितया मेखलया नियन्त्रितमस्ति। हस्ते च कार्मुकम्, रुद्राक्षमाला, अथ च पैप्पलो दण्डो धार्यते । एतानि क्षत्रिय-ब्रह्मचारिणश्चिह्नानि सन्ति। अतो निश्चितमेवाय क्षत्रियः, इति भावः।

अत्र तुल्ययोगिताऽलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितम् च्छन्दः ॥२०॥

उत्प्रेक्षसे=सम्भावयसि । कुतस्त्यः=काभ्यां मातापितृभ्यामुत्पन्नः । प्रवयसः=वृद्धाः । दिदृक्षवः,=द्रष्टुमिच्छन्ति ।

एवं श्रुत्वा समागमिष्यति नवेति कौसल्याया आशङ्का समाधत्ते जनकः—भिद्यते इति । एवंविधस्यालौकिकस्य निर्माणस्य=रचनायाः । सद्वृत्तं=सदाचारः, भिद्यते वा ?=भिन्नं भवितुमर्हसि किम् ? नहि कदापि शोभनाकृतयो जनाः सदाचारविरहिता भवन्ति । 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्तीति' कथनमत्र प्रमाणम्, अतोऽवश्यमागमिष्यतीति भावः ।

आगच्छन्तं वालकं दृष्ट्वा कौसल्या वदति कहमिति । कथं सविनय गृष्टेर्वचनं निशम्य समानावस्थान् वालकान् विसर्ज्य इतोमुखं यस्य सः अस्माकं समीपे-इत्यर्थः । आगच्छतीति भावः ।

टिप्पणी

(१) "क्षत्रियब्रह्मचारी"—क्षत्रियश्चासौ ब्रह्मचारी ।

(२) (श्लोक २०)

१. "चूडाचुम्बितकङ्कपत्रम्"—चूडया चुम्बितानि कङ्कपत्राणि यस्मिन् ।

२. "भस्मस्तोकपवित्रलाञ्छनम्"—स्तोकं च तत् भस्म च भस्मस्तोकं (कर्मधारय) तदेव पवित्रं लाञ्छनं चिह्नं यस्मिन् । पाठा० "भस्मस्तोम०" । पोटा-युवति-स्तोक-कतिपय-गृष्टि धेन-वशावेहद्वष्कयणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकधूर्तैर्जातिः' (पा० २/१/६५) नियमानुसार 'स्तोक, 'भस्म' के वाद रखा गया है ।

३. "माञ्जिष्ठकम्"—मंजिष्ठया रक्तं माञ्जिष्ठम् । "तेन रक्तं रागात्" (पा० ४/२/१) । माञ्जिष्ठमेव माञ्जिष्ठकम् । पाठा०, माञ्जिष्ठिकम्, मञ्जिष्ठा+ठक् ।

४. रौरवीम्—रुरो इयम् । रुरु+अण्+ङीप् ।

५. "कार्मुकम्"—कर्म+उकञ्" । "कर्मण उकञ्" (पा० ५/१/१०३) ।

(३) यह पद्य 'महावीरचरित' (१/१८) में भी आया है । (४) ब्रह्मचारी के वेष के विषय में मनुस्मृति में लिखा है—

"कार्ष्णं रौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः ।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥
क्षत्रियस्य तु मौर्वीज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥
ब्राह्मणो वैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥" (मनु०, २/४०–४५)

जनकः—(चिरं निर्वर्ण्य ।) भोः किमप्येतत् !

महिम्नामेतस्मिन्विनयशिशिरो मौग्ध्यमसृणो,
विदग्धैर्निर्ग्राह्यो न पुनरविदग्धैरतिशयः ।
मनो मे संमोहस्थिरमपि हरत्येष बलवा—
नयोधातुं यद्वत्परिलघुरयस्कान्तशकलः ॥२१॥

[**अन्वयः**—एतस्मिन्, विनयशिशिरः मौग्ध्यमसृणः, महिम्नाम्, अतिशयः, विदग्धैः, निर्ग्राह्यः, अविदग्धैः, न, पुनः (निर्ग्राह्यः) । बलवान्, एष, सम्मोहस्थिरम् अपि मे मनः हरति, यद्वत्, परिलघुः, अयस्कान्तशकलः अयोधतुं (हरतिः) ॥२१॥]

हिन्दी—

जनक—(बहुत देर तक देखकर) ओह ! यह क्या (अपूर्वता) है ?

[श्लोक २०]—इस बालक में विद्यमान विनय से शीतल तथा कोमल स्वभाव होने के कारण (कोमल गुणों का आधिक्य सूक्ष्ममति मनुष्यों द्वारा ही ग्राह्य है, (स्थलमिति) अविवेकियों के नहीं । यह बलिष्ठ बालक जैसे 'चुम्बक' का छोटा-सा टुकड़ा लोहे को अपनी ओर खींच लेता है, वैसे ही मेरे सम्मोह (शोकाघात) से स्थिर हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है ।

संस्कृत-व्याख्या

बालकं सुचिरमवलोक्य साश्चर्यमाह जनकः— महिम्नामिति ।

भोः ! एतत् किमस्ति ? अस्मिन् बालके विद्यमानो महिम्नां = सामर्थ्यानामतिशयः सम्मोहेन स्थिरमपि मम मनः यथा स्वल्पोऽपि अयस्कान्तधातोः (चुम्बकस्य) शकलो लौहं बलात्ववशे-करोति, तथैवायमपि मम मनः स्ववशे करोति । अस्य चायं महिम्नामतिशयः विनयेन शिशिरः—अयं विनीतोऽस्ति न च गर्वं करोति, अतएव शिशिरत्त्वं महिमनि युज्यते, इति भावः । मौग्ध्येन—मधुरस्वभावतया च ससृणः = कोमल, = सर्व-भावुक-जनस्पृहणीयः, इति यावत् । विदग्धाः = सूक्ष्ममतिशालिन एव निःशेषरूपेण ग्रहीतुं = परिचेतुं शक्नुवन्ति, न पुनरविदग्धाः = स्थूलमतयः । ततश्च कोऽयं महाप्रभाव इति भावः ।

अत्रोपमालङ्कारः । शिखरिणी च्छन्दः ॥२१॥

टिप्पणी

(१) 'विनयशिशिरो मौग्ध्यमसृणः"—पाठा०, विनयशिशुतामौग्ध्यमसृणः । वीरराघव ने इस पर लिखा है—"अत्र विनयशिशिरो मौग्ध्यमसृण इत्याभ्यां सलिलहिमोपष्टम्भेन ज्योत्स्नीभवतां सूर्यतेजसा सादृश्यं व्यज्यते ।" (२) "सम्मोहस्थिरमपि' —पाठा०, "सम्मोहः सम्मोदस्थिरमपि' (३) "हरत्येष०" पाठा०, हरत्येव" ।

लवः—(प्रविश्य, स्वगतम्) अविज्ञातवयः क्रमौचित्यात्पूज्यानपि सतः कथमभिवादयिष्ये ? (विचिन्त्य) अयं पुनरविरुद्धप्रकार इत वृद्धेभ्यः श्रूयते । (सविनयमुपसृत्य ।) एष वो लवस्य शिरसा प्रणामपर्यायः ।

अरुन्धतीजनकौ—कल्याणिन् ! आयुष्मान् भूयाः ।

कौसल्या—जाद ! चिरं जीव । (जात ! चिरं जीव ।)

अरुन्धती—एहि वत्स ! (लवमुत्सङ्गे गृहीत्वा आत्मगतम् ।) दिष्ट्या न केवलमुत्सङ्गश्चिरान्मनोरथोऽपि मे पूरितः ।

कौसल्या—जाद ! इदो वि दाव एहि । (उत्सङ्गे गृहीत्वा ।) अह्महे, ण केवलं दरविप्पट्टकन्दोट्टमंसलुज्जलेण देहबन्धणेण, कवलिदारविन्दकेसरकसाअकण्ठकलहंसघोसघग्घराणुणादिणा सरेण अ रामभद्दं अणुसरेदि । णं कठोरकमलगब्भप्पम्भलसरीरप्पस्सो वि तारिसो एव्व । जाद ! पेक्खामि दे मुहपुण्डरीअम् । (चिवुकमुन्नमय्य, निरूप्य, सवाष्पाकूतम्) राएसि ! किं ण पेक्खसि ? णिउणं णिरूवज्जन्तो वच्छाए मे वहूए मुहचन्देणविसंवददि एव्व ! [जात ! इतोऽपि तावदेहि । अहा, न केवलं दरविस्पष्टकुवलयमांसलोज्ज्वलेन देहबन्धनेन, कवलितारविन्दकेसरकषायकण्ठकलहंसघोषघर्घरानुनादिना स्वरेण च रामभद्रमनुसरति । ननु कठोरकमलगर्भपक्ष्मलशरीरस्पर्शोऽपि तादृशः एव । जात ! पश्यामि ते मुखपुण्डरीकम् । राजर्षे ! किं न पश्यसि ? निपुणं निरूप्यमाणो वत्साया मे वध्वा मुखचन्द्रेणापि संवदत्येव ।]

जनकः—पश्यामि सखि ! पश्यामि ।

कौसल्या—अह्महे, उन्मत्तीभूद विअ मे हिअअं कुदो मुलं विलवदि । [अहो, उन्मत्तीभूतमिव मे हृदयं कुतोमुख विलपति ।]

जनकः—(निरूप्य)

वत्सायाश्च रघूद्वहस्य च शिशावस्मिन्नभिव्यज्यते,
संवृत्तिः प्रतिबिम्बितेव निखिला सैवाकृतिः सा द्युतिः ।
सा वाणी विनयः स एव सहजः पुण्यानुभावोऽप्यसौ,
हा हा देवि किमुत्पथैर्मम मनः पारिप्लव धावति ? ॥२२॥

[**अन्वयः**—अस्मिन्, शिशौ, वत्सायाः, रघूद्वहस्य, च संवृत्तिः, प्रतिबिम्बिता, इव, अभिव्यज्यते, सा, एव, निखिला, आकृतिः, सा, द्युतिः सा वाणी, स एव, सहजः, विनयः (स एव) असौ पुण्यानुभावः अपि, हा हा देवि ! मम, मनः, पारिप्लवं (सत्), उत्पथैः, किं धावति ? ॥२२॥]

कौसल्या—जाद ! अत्थ दे मादा ? सुमरसि वा तादम् ? [जात ! अस्ति ते माता ? स्मरसि वा तातम् ?]

लवः—नहि ।

कौसल्या—तदो कस्स तुमम् ? [ततः कस्य त्वम् ?]

लवः—भगवतः सुगृहीतनामधेयस्य वाल्मीकेः ।

कौसल्या—अयि जाद ! कहिदव्वं कहेहि। [अयि जात ! कथितव्यं कथय।]

लवः—एतावदेव जानामि।

हिन्दी—

लव—(प्रवेश कर स्वयं ही) अवस्था, क्रम और औचित्य न जानने के कारण इन पूजनीयों को कैसे प्रणाम करूँ ? (इनमें कौन वयोवृद्ध है ? और किसे प्रथम प्रणाम करना चाहिये ? मैं यह नहीं जानता (तो इन्हें कैसे प्रणाम करूँ ?) (सोच-कर) ''यह प्रणाम की विरोध-हीन पद्धति है'' ऐसा गुरुजनों से सुना जाता है। (विनयपूर्वक पास जाकर) यह आपको 'लव' की (क्रमानुसार) प्रणाम परम्परा है।

अरुन्धती और जनक—कल्याण-सम्पन्न ! चिरञ्जीव हो ?

कौसल्या—वत्स ! चिरञ्जीव !

अरुन्धती—आओ बेटा ! (लव को गोदी में लेकर स्वयं ही) सौभाग्य से केवल मेरी गोदी ही नहीं अपितु मेरी बहुत दिनों की अभिलाषा पूर्ण हो गई।

कौसल्या—बेटा ! इधर (मेरी गोद में) भी आओ ! (गोदी में लेकर) ओह ! यह केवल अर्धविकसित नील-कमल के समान बलिष्ठ तथा तेजस्वी शरीर की गठन से ही नहीं अपितु कमल की केसर के खाने के कारण मधुर कण्ठ वाले हंस के स्वर का अनुकरण करने वाले स्वर से भी 'रामभद्र' का अनुसरण कर रहा है ! ओह ! विकसित कमल के भीतरी भाग के समान सुकुमार इसके शरीर का स्पर्श भी वैसा ही (रामभद्र के शरीर जैसा ही) है। बेटा ! (जरा) तुम्हारा मुख-कमल (तो) देखूँ ! (ठोड़ी को ऊँचाकर आँसू-भरी आँखों से अभिप्राय-पूर्वक देखकर राजर्षे।) क्या आप नहीं देखते ? कि ध्यान से देखने पर इस बालक का मुख मेरी प्रिय वधु सीता के मुख-चन्द्र से मिल रहा है। अर्थात् राजन् ! क्या आप नहीं पहिचानते कि यह शरीर की गठन से, स्पर्श और स्वर से राम जैसा है तथा मुख से सीता के समान है ?

जनक—देख रहा हूँ सखि देख रहा हूँ।

कौसल्या—अहो ! मेरा हृदय तो उन्मत्त-सा होकर न जाने किस असम्भाव-नीय विषय में आशङ्का कर रहा है ? (मेरा मन तो यह कह रहा है कि यह सीता राम का ही तनय है।)

जनक—(देखकर)

[श्लोक २२]—इस बालक में बेटी सीता एवं रघुकुल-श्रेष्ठ राम का (पावन सम्बन्ध प्रतिबिम्बित हो रहा है और आकृति, कान्ति, वाणी, स्वाभाविक विनय तथा पवित्र प्रभाव भी ठीक वैसा ही है। हा ! हा ! देवि ! (इसको देखकर मेरा मन चञ्चल होकर उन्मार्गों से क्यों दौड़ रहा है ? सीता के पुत्र की कल्पना क्यों कर रहा है ?)

कौसल्या—वत्स ! तुम्हारी माता है ? या तुम अपने पिता को याद करते हो !

लव—नहीं।

कौसल्या—तब तुम किसके हो ?

लव—स्वनामधन्य भगवान् वाल्मीकि के।

कौसल्या—प्यारे बेटे ! कहने योग्य बात कह ! (अपने माता-पिता का परिचय दे। कहीं वाल्मीकि भी किसी के माता-पिता हो सकते हैं ?)

लव—मैं तो इतना ही जानता हूँ।

संस्कृत-व्याख्या

एतेषु कोऽतिवृद्धः ? कश्च प्रथमं प्रणम्यः ? इति किञ्चिद् विचिन्त्य सर्वानपि एकसूत्रेणैव=एकक्रमेणैव प्रणमति लवः, सर्वे च यथायोग्येनाशीर्वचसा तं समभिवर्धयन्ति। तत्र कौशल्या कथयति—जादेति। पुत्रः ममाप्युत्सङ्गमलंकुरु। अये ! किंचित् विकसितनीलोत्पलवत् मांसलेन=परिपुष्टेन वलवता उज्वलेनं प्रकाशयुक्तेन देहस्य बन्धेन=रचनया, एवायं रामभद्रं नानुकरोति, अपितु कवलिता भक्षिताः, अरविन्दानां=कमलानां, ये केसराः=किञ्जल्काः, तैः कषायः=मधुरः कण्ठो यस्य तस्य हंसस्य घोषः=शब्दः, तस्य अनुनादिना=अनुकारिणा स्वरेणापि रामभद्रमनुकरोति। यत् सत्यं, कठोरस्य=परिपुष्टस्य, कमलस्य यो गर्भः=मध्यभागः, स इव पक्ष्मलः=कोमला, शरीरस्य स्पर्शोऽपि तादृश एव=रामतुल्य एव। निपुणतयाऽवलोकनेन सीताया मुखतुल्यमेवास्य मुखमप्यस्ति, राजर्षे ! किं परिचीयते भवता ? शरीरघटनया, स्पर्शेण, स्वरेण च रामसदृशः, मुखेन सीतामुखमनुकरोति, ततश्चायं वालस्तु सीतारामयोरेवास्ति, इति हृदयम्।

पुनरप्याह कौसल्या—अह्महे इति। अहो मदीयं हृदयन्तु उन्मत्तीभूतमिवं न जाने कुत्र धावति ? मम मनः कथयति-निःसंशयं तयोरात्मज एवायमिति।

जनकोऽपि बालके सीतारामयोराकृत्यादिकं दृष्ट्वा चञ्चलचित्त इव कथयति—वत्साया इति।

अस्मिन् वत्से पुत्र्याः सीताया रामभद्रस्य च संवृत्तिः=सम्पर्कः प्रतिम्बिवितेव प्रतीयते, किञ्च-आकृतिः, कान्तिः वाणी, विनयः, स्वाभाविकाः पुण्यानुभावः—माहात्म्यम् एतानि सर्वाण्यपि वस्तूनि तान्येव सन्त्यतः प्रतीयते तयोरात्मज एवायमिति। हा हा देवि ! उत्पथैः=उन्मार्गैः, पारिप्लवं चञ्चलं मम मनः कथं धावति ? ("चञ्चलं तरल चैव पारिप्लवे"—इत्यमरः।) सीतायाश्चिह्नसद्भावेऽपि सीताया अत्राभावात् कथं मनश्चाञ्चल्यमनुधावति ? इति भावः।

अत्र बहूनामाकृत्यादीनामेकत्रान्वयात् तुल्ययोगिताऽलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः ॥२६॥

टिप्पणी

(१) अविज्ञातवयः क्रमौचित्यात्,—पाठा०, अज्ञातनामक्रमाभिजान्। 'अविज्ञातं वयः क्रमस्यौचित्यं तस्मात् (हेतोः) अज्ञातानि नामानि क्रमः अभिजनश्च येषाम् तान्।

क्रमः=सत्काराद्यानुपूर्व्यम्। अभिजनः=वंशः+"कुलान्यभिजनान्वयः" इत्यमरः। मनु ने युवा छात्र को अभ्यागतों को प्रणाम करने का नियम इस प्रकार बताया है—

"शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् ।
शय्यासनस्थश्चैवेनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ।।"

(२) कौसल्या-जात इतो'—कौसल्या के इस कथन में बालक का स्वाभाविक सौन्दर्य फूट पड़ता है और वात्सल्य की धारा प्रवाहित हो रही है ।

(३) [श्लोक २२]—

१. 'संवृत्तिः प्रतिबिम्बितेव'—पाठा०, (१) संवृत्ति प्रतिबिम्बिकेव, (२) सम्पूर्ण प्रतिबिम्बितेव ।

२. 'पुण्यानुभाव:'—पुण्यश्चासौ अनुभावश्च । 'अनुभाव: प्रभावे च सतां च मतिनिश्चये' इत्यमरः ।

३. 'हा हा देवि' !—पाठा०, 'हा हा दैव !' 'धावति'—'वर्तते ।

(नेपथ्ये)

भोः भोः सैनिकाः ! एष खलु कुमारश्चन्द्रकेतुराज्ञापयति—"न केनचिदाश्रमाभ्यर्ण-भूमय आक्रमितव्या" इति ।

अरुन्धतीजनकौ—अये, मेध्याश्वरक्षाप्रसङ्गादुपागतो वत्सश्चन्द्रकेतुर्द्रष्टव्य इत्यसौ सुदिवसः ।

कौसल्या—वच्छलक्खणस्स पुतओ आणवेदिति अमिदबिन्दुसुन्दराइंअक्खराइं सुणीअन्दि । [वत्सलक्ष्मणस्य पुत्रकः आज्ञापयतीत्यमृतबिन्दुसुन्दराण्यक्षराणि श्रूयन्ते ।]

लवः—आर्य ! क एष चन्द्रकेतुर्नाम ?

जनकः—जानासि रामलक्ष्मणौ दाशरथी ?

लवः—एतावेव रामायणकथापुरुषौ ?

जनकः—अथ किम् ?

लवः—तत्कथं न जानामि ?

जनकः—तस्य लक्ष्मणस्यायमात्मजश्चन्द्रकेतुः ।

लवः—उर्मिलार्यायाः पुत्रस्तर्हि मैथिलस्य राजर्षेर्दौहित्रः ।

अरुन्धती—आविष्कृतं कथाप्रावीण्यं वत्सेन ।

जनकः—(विचिन्त्य) यदि त्वमीदृशः कथायामभिज्ञस्तद् ब्रूहि तावत्पश्यामस्तेषां दशरथस्य पुत्राणां कियन्ति किंनामधेयान्यपत्यानि केषु दारेषु प्रसूतानि ?

लवः—नायं कथाविभागोऽस्माभिरन्येन वा श्रुतपूर्वः ।

जनकः—किं न प्रणीतः कविना ?

लवः—प्रणीतः, न तु प्रकाशितः । तस्यैव कोऽप्येकदेशः प्रबन्धान्तरेण

रसवानभिनेयार्थः कृतः। तं च स्वहस्तलिखितं मुनिर्भगवान् व्यसृजद्भगवतो भरतस्य तौर्यत्रिकसूत्रधारस्य।

जनकः—किमर्थम् ?

लवः—स किल भगवान् भरतस्तमत्सरोभिः प्रयोजयिष्यतीति।

जनकः—सर्वमिदमाकूतकरस्माकम्।

लवः—महतीपुनस्तस्मिन् भगवतो वाल्मीकेरास्था। यतः केषाञ्चिदन्तेवासिनां हस्तेन तत्पुस्तक भरताश्रमं प्रति प्रेषितम्। तेषामनुयात्रिकश्चापपाणिः प्रमादच्छेदनार्थमस्मद्भ्राता प्रेषितः।

कौसल्या—भादावि दे अत्थि ? [भ्रातापि तेऽस्ति ?]

लवः—अस्त्यार्यः कुशो नाम।

कौसल्या—जेट्ठेत्ति भणिदं होदि। [ज्येष्ठ इति भणितं भवति।]

लवः—एवमेतत् ! प्रसवानुक्रमेण स किल ज्यायान्।

जनकः—किं यमावायुष्मन्तौ ?

लवः—अथ किम् ?

जनकः—वत्स ! कथय कथाप्रपञ्चय कियान्पर्यन्तः ?

लवः—अलीकपौरापवादोद्विग्नेन राज्ञा निर्वासितां देवीं देवयजनवसंभवां सीतामासन्नप्रसववेदनामेकाकिनीमरण्ये लक्ष्मणः परित्यज्य प्रतिनिवृत्त इति।

कौसल्याः—हा वच्छे मुद्ध-हि ! को दाणिं दे सरीरकुसुमस्स झत्ति देव्वदुब्बिलासपरिणामो एवकाइणीए निवडिदो ? [हा वत्से मुग्धमुखि ! क इदानीं ते शरीरकुसुमस्य झटिति देवदुर्विलासपरिणाम एकाकिन्या निपतितः ?]

जनकः—हा वत्से !

नूनं त्वया परिभवं च वनं च घोरं,
तां च व्यथां प्रसवकालकृतामवाप्य।
क्रव्याद्गणेषु परितः परिवारयत्सु,
संत्रस्तया शरणमित्यसकृत्मृतोऽहम् ॥२३॥

[अन्वयः—परितः, क्रव्याद्गणेषु, परिवारयत्सु, संत्रस्तया, त्वया, परिभवं, घोरं वनं प्रसवकालकृतां, तां व्यथां च, अवाप्य, अहं, 'शरणम्', इति असकृत्, नूनं, स्मृतः ॥२३॥]

हिन्दी—

(नेपथ्य में)

अरे ! सैनिकों ! यह कुमार चन्द्रकेतु आज्ञा देते हैं कि "कोई भी तपोवन के समीपवर्ती प्रदेशों में आक्रमण न करे।"

अरुन्धती और जनक—अरे, (अश्वमेध) यज्ञ के घोड़े की रक्षा के सम्बन्ध में आए हुए 'चन्द्रकेतु' से मिलन होगा, इसलिए आज का दिन बड़ा शुभ है।

कौसल्या—"वत्स लक्ष्मण का पुत्र आज्ञा देता है" ये सुधा बिन्दु-सदृश सुन्दर वचन सुनाई पड़ रहे हैं।

लव—आर्य ! ये चन्द्रकेतु कौन हैं ?

जनक—दशरथनन्दन राम-लक्ष्मण को जानते हो ?

लव—क्या यही रामायण-कथा के चरितनायक ?

जनक—हाँ !

लव—तब क्यों न जानूँगा ? (अवश्य जानता हूँ।)

जनक—यह "चन्द्रकेतु" उन्हीं 'लक्ष्मण' का पुत्र है ?

लव—तब तो ये "उर्मिला" के पुत्र और विदेहराज जनक के दौहित्र (धेवते) हैं !

अरुन्धती—कुमार ने कथा में प्रवीणता प्रदर्शित की है।

जनक—(सोचकर) यदि तुम (रामायण) कथा में इतने प्रवीण हो तो हम भी (तुम्हारे पाण्डित्य को) देखें ? बताओ 'दशरथ' के पुत्रों के कितने और किस-किस नाम वाले पुत्र किन-किन पत्नियों से हुए हैं ?

लव—यह कथा-भाग हमने या और किसी ने अभी तक नहीं सुना है।

जनक—क्या कविजी ने उसकी रचना नहीं की है !

लव—रचना की है, परन्तु प्रकाशित नहीं किया। उसका एक भाग (उन्होंने) दूसरे 'प्रबन्ध' के रूप में सरस और अभिनय के योग्य बनाया है और उस (कथा भाग) को स्वयं अपने हाथ से लिखकर भगवान् वाल्मीकि ने नृत्य-गान और वाद्य के आचार्य 'भरत' मुनि के पास भेजा है।

जनक—किस लिए ?

लव—(क्योंकि) वे भगवान् 'भरत' अप्सराओं से उसका अभिनय करायेंगे।

जनक—हमारे लिए तो यह सब-कुछ गूढ रहस्य है।

लव—और उस कथा-भाग में महर्षि 'वाल्मीकि' जी की बड़ी श्रद्धा है। इसीलिए उन्होंने कुछ विद्यार्थियों के हाथ उस पुस्तक को 'भरताश्रम' में भेजा है। और मार्ग से प्रमाद दूर करने के लिये (सावधान रहने के लिए) उनके पीछे हाथ में धनुष लेकर हमारे भाई को भेजा है।

कौसल्या—तुम्हारा भाई भी है ?

लव—(हाँ) आर्य 'कुश' नामक हैं।

कौसल्या—वह तुमसे बड़े हैं (ऐसा प्रतीत होता है।)

लव—ऐसा ही है।

जनक—क्या तुम दोनों जुड़वाँ हो ?

लव—जी हाँ।

जनक—वत्स ! बतलाओ तो कथा की समाप्ति कहाँ तक है ?

लव—'प्रजाजनों के मिथ्या अपवाद से उद्विग्न महाराज (राम) के द्वारा निर्वासित यज्ञभूमि से प्रादुर्भूत' प्रसव-पीड़ा से दुःखित महारानी सीता को लक्ष्मण जी (भयङ्कर) वन में अकेली छोड़ गये" (यहीं तक कथा की समाप्ति है।)

कौसल्या—हा ! सुमुखी, वत्से ! तुम्हारे अकेले कुसुम-सुकुमार शरीर पर यह एकदम भाग्य का कैसा दारुण वज्र टूट पड़ा ?

जनक—हा पुत्रि !

[श्लोक २३]—तुमने उस (निर्वासन-रूप) अपमान, भयङ्कर वन तथा प्रसवकालीन वेदना को पाकर चारों ओर से (व्याघ्र आदि) मांसाहारी जीवों के द्वारा घिरने पर डरकर मुझको रक्षक के रूप में अवश्य ही बार-बार याद किया होगा ! (परन्तु हाय ! मुझ पिता के रहने पर तुम्हारा कोई रक्षक न हुआ। इससे अधिक और क्या दुःख होगा ?

संस्कृत-व्याख्या

(नेपथ्ये सैनिकाः कथयन्ति—भो-इति । भोः । सैनिकाः ! अस्माकं सेनाधिपतिस्तत्रभवान् चन्द्रकेतुरादिशति—'केनापि सैनिकेनाश्रमस्य अभ्यर्णभूमयः=समीपभूभागाः नाक्रमितव्याः, आश्रमस्थाः केनापि कथमपि न परिपीडनीयाः, इति भावः ।

रामायणस्यायं कथाभागः किमु न प्रणीतः ? इति प्रश्नं समाधत्ते लवः—प्रणीतः-इति । निर्मितस्तु स भागः, किन्तु प्रकाशं नायातः । तस्यैव च कथाभागस्य कोऽपि भागः, सरसः स्वहस्तेननैव विलिख्य (अन्यस्यांशस्य शिष्यान्तरैरपि लेखनं सम्भाव्यते ।) तौर्यत्रिकसूत्रधारस्य=नृत्यवादित्रादिकलानामाचार्यस्य तत्र भवतो भरतस्य मुनेरन्तिके प्रेषितः, इति ।

अन्यदप्याह लवः—महति-इति । तस्मिन् कथाभागे भगवतो वाल्मीकेर्महती श्रद्धा वर्तते । अतएव चापहस्तो मदीयो भ्राता छात्राणामधिष्ठातृत्त्वेन परिकल्प्य प्रमादमेते मा कुर्वन्तु, इति सावधानतां सम्पादयितुं प्रेपितः । छात्राः कदाचित्पुस्तकमवलोक्येततस्त्रः प्रकुर्युरिति भावः । [एतेन तदानीन्तनाश्छात्राः अपि एतस्मिन् धूर्तताकर्मणि कुशला आसन्, पुनराधुनिकानामेव कोऽपराधः ?]

"भगवतीं पृथिव्याः पुत्रीं सीतां लोकापवादेन प्रकुपितेन भर्त्रा निर्वासितां लक्ष्मणः परित्यज्य विपिने" इति कथावृत्तान्तं निशम्य कौसल्याजनकौ नितान्तं दुःखितौ । तत्रजनकः 'प्राह—नूनमिति ।

हा वत्से सीते ! तस्मिन् समये नवेन तिरस्कारेण, भयङ्करेण च वनस्य दर्शनेन चैतादृशीमनिर्वचनीयां व्यथामुपलभ्य, परितः क्रव्यं=मांसमदन्ति खादन्ति ये तेषां गणेषु=मांसादनव्यापारप्रवणेषु व्याघ्रादिषु त्वां परिवारयत्सु सत्सु भयविचलितया त्वया शरणत्वेन=रक्षकत्वेनाहं भूयोभूयः स्मृतोऽस्मीति मन्ये । हा ! पितरि मयि विद्यमानेऽपि तव त्राणकर्ता कोऽपि नासीदिति महान् खेदः ।

अत्र तुल्ययोगिताऽलङ्कारः । वसन्ततिलका च्छन्दः ॥२३॥

टिप्पणी

(१) उपर्युक्त प्रसंग में बालप्रकृति का चारु-चित्रण, संवादों की गतिशीलता एवं स्वभाविकता दर्शनीय है। (२) 'तौर्यत्रिकसूत्रधारस्य'—'तौर्यत्रिक नृत्यगीतवाद्यं नाटचमिद त्रयम्' इत्यमरः। तुर्ये भवं 'तौर्य' शब्दः, त्रयोंदशाः अस्य इति त्रिकम्। 'संख्याया अतिशचदन्तायाकन्" (पा० ५/१/२२२) इति कन्।

लवः—आर्ये ? कावेतौ ?

अरुन्धती—इयं कौसल्या । अयं जनकः। (लवः सबहुमानखेदकौतुकं पश्यति।)

जनकः—अहो निर्दयता दुरात्मनां पौराणाम् अहो ! रामभद्रस्य क्षिप्रकारिता।

एतद्वैशसवज्रघोरपतनं शश्वन्ममोत्पश्यतः,
क्रोधस्य ज्वलितुं झटित्यवसरश्चापेन वा।

कौसल्या—(सभयकम्पम्) भअवदि ! परित्ताअदु। पसादेहि कुविदं राएसिम। [भगवति ! परित्रायताम्, प्रमादय कुपितं राजर्षिम्।]

लवः—एतद्धि परिभूतानां प्रायश्चित्तं मनस्विनाम्।

अरुन्धती—

राजन्नपत्यं रामस्ते पाल्याश्च कृपणा प्रजाः ॥२४॥

[**अन्वयः**—एतत्, वैशसवज्रघोरपततं, शश्वत्, उत्पश्यतः, मम, क्रोधस्य, चापेन शापेन वा, झटिति, ज्वलितुम्, अवसरः (सम्प्राप्तः) [परिभूतानां मनस्विनां हि एतत् प्रायश्चितम्।]

जनकः—

शान्तं वा रघुनन्दने तदुभयं यत्पुत्रभाण्डं हि मे,
भूयिष्ठद्विजबालवृद्धविकलस्त्रैणश्च पौरो जनः ॥२५॥

[**अन्वयः**—वा, हि, यत्, मे, पुत्रभाण्डं, पौरो जनश्च, भूयिष्ठद्विजबालवृद्धविकलस्त्रैणः, (अतः) तस्मिन्, रघुनन्दने, तत्, उभयं (चापशापरूपं) शान्तं (भवतु) [इति श्लोकोत्तरार्धस्यान्वयः।]

हिन्दी—

लव—आर्ये ये दोनों कौन हैं ?

अरुन्धती—ये 'कौसल्या' और ये 'जनक' हैं।

[लव बहुत आदर, विषाद और कौतूहल से देखता है।]

जनक--ओह ! दुरात्मा नागरिकों की निर्दयता ! ओह ! रामभद्र की क्षिप्रकारिता ! (जल्दबाजी !)

[श्लोक २४]—(सीता पर ढाये गये) हिंसा-रूपी इस अनर्थ के घोर वज्र-पात को निरन्तर देखते हुए अब मेरे क्रोध का चाप (धनुष) अथवा शाप से भड़क उठने का समय है।

कौसल्या—(भय से काँप कर) भगवति ! रक्षा कीजिये ! कुपित राजर्षि को प्रसन्न कीजिये।

लव—"अपमानित मानियों के कोप का यही प्रतीकार है।" (यशस्वियों को अपने अपमान का प्रतीकार करने के लिए ऐसा ही क्रोध करना चाहिए।)

अरुन्धती—"राजन् ! राम तो आपके पुत्र हैं और दीन प्रजाजन रक्षणीय होते हैं। (अतः दोनों पर ही आपका क्रोध करना व्यर्थ है !)

जनक—अथवा, वे दोनों (चाप और शाप) राम में (राम के प्रति) शान्त हो जायें क्योंकि वे मेरे पुत्र-रूप धन हैं और प्रजाजनों में बहुत-से ब्राह्मण, बालक, वृद्ध, अङ्गहीन तथा स्त्री-समूह हैं (जो कि सर्वथा दया के पात्र है। अतः मुझे इन पर धनुष-सन्धान कर अथवा शाप देकर किसी भी प्रकार क्रोध नहीं करना चाहिए)।

संस्कृत-व्याख्या

पुनः प्रकुपितः प्राह जनकः—एतदिति।

अहो ! एतद् वैशसं=सीताप्रतिघातरूपं, वज्रस्य घोरं भयङ्करं पतनमुत्पश्यतः =समवलोकयतो ममेदानीं क्रोधस्य-चापेन शापेन वा ज्वलितुं प्रवृत्तस्यावसर सम्प्राप्तः। अद्यावधिर्मया सीता-विनाश-वज्रपातो यथा कथञ्चित् सोढः परमधुना चापेन शापेन वा विनाशं करिष्यामि (मध्ये एव परित्राणार्थं कौसल्या अरुन्धतीं प्रार्थयते लवस्य तथाविधं कौपं निरीक्ष्य सम्यगनुमोदते—एतद्धि-इति।

परिभूतानां=तिरस्कृतानाम्, मनस्विनाम्=मानवताम्; एतदेव प्रायश्चित्तं भवति। मनस्विनः प्रकुपिताः सन्तः स्वपरिभवप्रतीकारं कुर्वन्तीति भावः। अरुन्धती कथयति—राजन् इति : राजन् ! भवतोऽधुना कोपास्तु कथमपि नोचितः, यतो रामस्तु तव पुत्र एव दीनाः प्रजाश्च पालनीया भवन्ति। अतः उभयोरुपरि कोपः सर्वथाऽना-वश्यकः, इति भावः ॥२४॥

पुनस्तयोः कथनान्तरं जनकः प्राह—शान्तमिति।

अथवा—नाधुना मया परिकुप्यते। यतस्तदुभयं=चाप-शापरूपं वस्तु रघुनन्दने शान्तं भवतु। यतोऽसौ मम पुत्रभाण्डम्=पुत्ररूपं रत्नमस्ति प्रजा-जनेषु च बहवो ब्राह्मणाः बाला, वृद्धाः, विकलाः, स्त्रीजनाश्च सन्ति, सर्वेप्येतेऽनुकम्पनीयाः, नतु मादृशेनैवंविधेषु कोपः कार्यः।

अत्र काव्यलिङ्गम् अलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः ॥२५॥

टिप्पणी

(१) **वैशसवज्रघोरपतनम्**=वैशसमेव वज्रस्य घोरं पतनम्। विशसति हिनस्ति इति। वि+√शस्+अच् कर्त्तरि विशसः। तस्य कर्म्म इति विशस+अण्=वैशसम्। (२) **धिगत्यवसरः**—पाठा०, 'झटित्यवसरः'। (३) **शान्तं वा रघुनन्दने**—पाठा०, 'शान्तं वा न रुषं दधे।' √शम्+णिच् क्त कर्मणि=शान्तम्। (४) **पुत्र-भाण्डम्**=पुत्र एव भाण्डम्। **भूयिष्ठद्विजबालवृद्धविकलस्त्रैणः**—भूयिष्ठानि द्विज··· स्त्रैणानि (द्विजाः, बालाः, वृद्धाः, विकलाः स्त्रैणं च) यस्मिन्। स्त्रीणां समूहः स्त्रैणम्। स्त्री+नञ्+'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्' (पाठा०, ४/१/८७)।

(६) श्री विद्यासागर ने अपने संस्करण में २५वें श्लोक के पूर्वार्द्ध में पृथक्-पृथक् संख्या डालकर चतुर्थ अंक के श्लोकों की संख्या ३० मानी है जो कि उचित नहीं है।

(प्रविश्य सम्भ्रान्ताः)

बटवः—कुमार! कुमार! 'अश्वोऽश्व' इति कोऽपि भूतविशेषो जनपदेष्वनुश्रूयते, सोऽयमधुनाऽस्माभिः स्वयं प्रत्यक्षीकृतः।

लवः—'अश्वोऽश्व' इति नाम पशुसमाम्नाये सांग्रामिके च पठ्यते, तद् ब्रूत-कीदृशः।

बटवः—अये, श्रूयताम्—

पश्चात्पुच्छं वहति विपुलं, तच्च धूनोत्यजस्रं,
दीर्घग्रीवः स भवति, खुरास्तस्य चत्वार एव।
शष्पाण्यत्ति, प्रकिरति शकृत्पिण्डकानाम्रमात्रान्,
किं व्याख्यानैर्व्रजति स पुनर्दूरमेह्येहि यामः ॥२६॥

(इत्यजिने हस्तयोश्चाकर्षन्ति)

लवः—(सकौतुकोपरोधविनयम्।) आर्याः! पश्यत। एभिर्नीतोऽस्मि। (इति त्वरितं परिक्रामति।)

अरुन्धतीजनकौ—महत्कौतुकं वत्सस्य।

कौसल्या—अरण्णगब्भरूवालावेहिं तुह्ये तोसिदा अह्ये अ। भअवदि! जाणामि तं पेक्खन्त वञ्चिदा विअ। ता इदो अण्णदो भविअ पेक्खम्ह दाव पलायन्तं दीहाउम्। [अरण्यगर्भरूपालापैर्यूयं तोषिता वयं च। भगवति! जानामि तं पश्यन्ती वञ्चितेव। तस्मादितोऽन्यतो भूत्वा प्रेक्षामहे तावत् पलायमानं दीर्घायुषम्।]

अरुन्धती—अतिजवेन दूरमतिक्रान्तः सः चपलः कथं दृश्यते?

कञ्चुकी—(प्रविश्य) भगवान् वाल्मीकिराह—'ज्ञातव्यमेतदवसरे भवद्भिरिति।

जनकः—अतिगम्भीरमेतत्किमपि। भगवत्यरुन्धति! सखि कौसल्ये! आर्यं गृष्टे! स्वयमेव गत्वा भगवन्तं प्राचेतसं पश्यामः।

(इति निष्क्रान्तो वृद्धवर्गः।)

हिन्दी—

(प्रवेश कर घबराये हुए)

बटुगण—कुमार! कुमार! जनपदों में जो 'घोड़ा-घोड़ा' नामक कोई प्राणी विशेष सुना जाता है, अब हमने उसे स्वयं प्रत्यक्ष कर लिया है।

लव—'घोड़ा-घोड़ा' यह पशु-शास्त्र तथा संग्राम-शास्त्र में पढ़ा जाता है। तो बतलाओ—वह कैसा है?

बटुगण—अजी सुनिये!

[श्लोक २६]—उसकी पिछली ओर बहुत लम्बी पूँछ लटकती है और वह उसे निरन्तर हिलाता रहता है। उसकी गर्दन लम्बी और खुर भी चार ही होते हैं। वह घास खाता है और आम्र-फलों जैसा मल-त्याग (लीद) करता है। अब अधिक वर्णन करने की आवश्यकता नहीं—वह घोड़ा दूर निकला जा रहा है। आओ! आओ! चलें!

[ऐसा कहकर उसके हाथ और मृगचर्म पकड़कर खींचते हैं।]

लव—कौतूहल, (बटुकों के) आग्रह और (विनय के साथ) आर्यगण! देखिये! इसके द्वारा ले जाया जा रहा हूँ। (ये मुझे बलपूर्वक खींचकर ले जा रहे हैं।) [ऐसा कहकर शीघ्रता से घूमता है]

अरुन्धती और जनक—बालक को (घोड़ा देखने का) बड़ा कौतूहल है।

कौसल्या—वनवासी बालकों के रूप और बातचीत से आप और हम लोग बड़े सन्तुष्ट हुए हैं। भगवति! मुझे तो ऐसा लगता है कि मानो मैं उसे देखती हुई ठगी-सी रह गई हूँ। इसलिये दूसरी ओर इस दीर्घायु को भागते हुए देखें।

अरुन्धती—अत्यन्त वेग से दूर निकलने वाला वह चंचल (बालक) कैसे देखा जा सकता है?

कञ्चुकी—(प्रवेशकर) भगवान् वाल्मीकि जी ने कहा है कि—"(उचित) समय पर आपको यह (वृत्तान्त) ज्ञात हो जायगा।"

जनक—यह तो कोई गूढ रहस्य है। भगवति अरुन्धती! सखि कौसल्ये! आर्य गृष्टि! स्वयं चलकर भगवान् वाल्मीकि का दर्शन करें।

[वृद्ध-वर्ग चला जाता है।]

संस्कृत-व्याख्या

जनपदेषु श्रूयमाणः कोऽपि भूतविशेषः 'अश्वः' अस्माभिः प्रत्यक्षीकृतः, इति बटूनां वचनमाकर्ण्य लवः स्वकीयं विज्ञान-वैभवं प्रदर्शयति—'अश्व' इति। 'अश्व' नामकः पशुसमाम्नाये=पशु प्रतिपादक शब्दकोषे, युद्धादौ च पठ्यते। कीदृशोऽश्वः? इति कथयन्तु भवन्तः।

बटवोऽश्वं वर्णयन्ति—पश्चादिति ।

श्रूयतामस्माभिरश्वो वर्ण्यते । तथाहि—स पश्चात् विपुलवालं पुच्छं धारयति, निरन्तरञ्च तत् कम्पयति, दीर्घा तस्य ग्रीवा वर्तते, खुरास्तु, चत्वार, एव, ग्रासं खादति, आम्रमयान् = आम्रफल-तुल्यान्, शकृतः = पुरीषस्य पिण्डान् = समूहान्, प्रकिरति = निक्षिपति । अये ! अधिकव्याख्यानानायावश्यकता नास्ति, दूरं प्रयात्यसौ, एहि, वयमपि शीघ्रं प्रयामः ।

अत्र स्वभावोक्तिः अलङ्कार । मन्दाक्रान्ता च्छन्दः ॥२६॥

इत्युक्त्वाऽजिने = मृगचर्मणि हस्तयोश्चाकर्षद्भिस्तैः सह निष्क्रान्ते तस्मिन्, महत् कौतुकं वत्सस्येति श्रुत्वा प्राह—कौसल्या-अरण्ण-इति । अरण्यगर्भाणां = वननिवासिबालकानां रूपैः आलापैश्च वयं सर्वेऽपि परितोषिताः । भगवति ! अहन्तु तं प्रेक्षमाणा वञ्चिता इव सञ्जाता, तदितः एकान्ते भूत्वा पलायमानं दीर्घायुष्मन्तमवलोकयामः ।

टिप्पणी

भवभूति का गम्भीर व्यक्तित्व हास्य की सफल योजना करने में भी समर्थ था, अश्व का वर्णन इस बात का प्रमाण है ।

(प्रविश्य)

बटवः—पश्यतु कुमारस्तावदाश्चर्यम् ।

लवः—दृष्टमवगतं च । नूनमाश्वमेधिकोऽयमश्वः ।

बटवः—कथं ज्ञायते ?

लवः—ननु मूर्खाः ! पठितमेव हि युष्माभिरपि तत्काण्डम् । किं न पश्यथ ? प्रत्येकं शतसंख्याः कवचिनो दण्डिनो निषङ्गिणश्च रक्षितारः । तत्प्रायमेवान्यदपि दृश्यते । यदि च विप्रत्ययस्तत्पृच्छत ।

बटवः—भो भोः, किंप्रयोजनोऽयमश्वः परिवृतः पर्यटति ?

लवः—(सस्पृहमात्मगमम्) 'अश्वमेध' इति नाम विश्वविजयिनां क्षत्रियाणामूर्जस्वलः सर्वक्षत्रपरिभावी महानुत्कर्षनिकषः ।

(नेपथ्ये)

योऽयमश्वः—पताकेयमथवा वीरघोषणा ।
सप्तलोकैकवीरस्य, दशकण्ठकुलद्विषः ॥२७॥

लवः—(सगर्वम् ।)—अहो संदीपनान्यक्षराणि ।

बटवः—किमुच्यते ? प्राज्ञः खलु कुमारः ।

लवः—भो भोः, तत्किमक्षत्रिया पृथिवी ? यदेवमुद्घोष्यते ।

(नेपथ्ये)

रे रे, महाराजं प्रति कुतः क्षत्रियः ?

लवः—धिग्जालमान् ।

यदि नो सन्ति सन्त्येव, केयमद्य बिभीषिका ।
किमुक्तैरेभिरधुना, तां पताकां हरामि वः ॥२८॥

हे बटवः ! परिवृत्य लोष्ठैरभिघ्नन्त उपनयतैनमश्वम् । एष रोहितानां मध्येचरो भवतु ।

(प्रविष्य सक्रोधः)

पुरुषः—धिक्चपल ! किमुक्तवानसि ? तीक्ष्णतरा ह्यायुधश्रेणयः शिशोरपि दृप्तां वाचं न सहन्ते । राजपुत्रश्चन्द्रकेतुर्दुर्दान्तः, सोऽप्यपूर्वारण्यदर्शनाक्षिप्तहृदयो न यावदायाति, तावत्त्वरितमनेन तरुगहनेनापसर्पत ।

बटवः—कुमार ! कृतं कृतमश्वेन । तर्जयन्ति विस्फारितशरासनाः कुमारमायुधीयश्रेणयः दूरे । चाश्रमपदम् । इतस्तदेहि । हरिणप्लुतैः पलायामहे ।

हिन्दी—

(प्रवेशकर)

बटुगण—कुमार इस आश्चर्य को देखें ।

लव—देख लिया और समझ भी लिया ! निश्चय ही यह 'अश्वमेध' यज्ञ का घोड़ा है ।

बटुगण—कैसे जानते हो ?

लव—अरे मूर्खों ! तुम लोगों ने भी वह 'काण्ड' (अश्वमेध-प्रतिपादक वेद का अध्याय) पढ़ा ही है । फिर क्या तुम सैकड़ों की संख्या में कवच-दण्ड तथा तूणीरधारियों को नहीं देखते ? इसी प्रकार (सेना का) दूसरा भाग भी (सुसज्जित) दिखाई दे रहा है (अतः यह निश्चय ही 'मेध्याश्व' है ।) और यदि तुम्हें विश्वास नहीं होता तो (इन अनुयायी रक्षकों से पूछ लो ।)

बटुगण—अरे ! रक्षकों से घिरा हुआ यह घोड़ा क्यों घूम रहा है ?

लव—(अभिलाषापूर्वक, स्वयं ही) अश्वमेध' यह विश्व-विजयी क्षत्रियों की समस्त (शत्रु) राजाओं को पराजित करने वाली अत्यन्त शक्तिशालिनी बड़ी भारी 'कसौटी' है ।

(नेपथ्य में)

[श्लोक २७]—यह जो घोड़ा (दिखाई दे रहा है) वह सातों लोकों में एकमात्र वीर, रावण कुल के शत्रु (भगवान् राम) की विजय-पताका अथवा वीरघोषणा है ।

लव—(सगर्व) ओह ! ये अक्षर बड़े क्रोधोत्पादक हैं ।

बटुगण—क्या कहते हो ? (कि यह 'अश्वमेध-यज्ञ' का घोड़ा है ? तब तो 'कुमार' बड़े विज्ञ हैं (क्योंकि बिना पूछे ही समझ लिया था कि यह 'मेध्याश्व' है ।)

लव—अरे सैनिकों! तो क्या पृथ्वी क्षत्रिय-शून्य है! जो इस प्रकार घोषणा कर रहे हो!

(नेपथ्य में)

अरे! रे! (महारज के सामने) कौन क्षत्रिय हैं? (ऐसा कौन-सा क्षत्रिय है जो कि भगवान् राम की तुलना में आ सकता हो?)

लव—[श्लोक २८] मनमाना बकने वालो! यह क्या (व्यर्थ) भय दिखला रहे हो? ऐसी डींग मारने से क्या लाभ? (देखो!) मैं (तुम्हारे देखते ही देखते) तुम्हारी 'पताका' का हरण करता हूँ। (यदि सच्चे वीर हो तो रोको!) [कुछ विद्वान् 'यदि नो सन्ति सन्त्येव'—का अर्थ करते हैं—'यदि तुम कहते हो' कि उनके अतिरिक्त और कोई वीर क्षत्रिय नहीं हैं, तो मैं कहता हूँ—और भी है। ऐसा कहने से वय ालाभ? मैं तुम्हारे सामने ही इस पताका का हरण करता हूँ।]

अरे! बटुको! इस घोड़े को घेर कर ढेलों से मारते हुए (आश्रम में) ले जाओ! यह भी मृगों के बीच विचरण करे! (मृगों के साथ ही यह भी घास खाया करे!)

(प्रवेशकर क्रोध से)

पुरुष—चुप! चपल! क्या कर रहा है? 'तीखे शस्त्र बच्चे की भी गर्वीली वाणी नहीं सहते!' (शस्त्रधारी बालक की भी गर्व भरी वाणी नहीं सहन करते।) राजकुमार 'चन्द्रकेतु' बड़े दुर्दमनीय है। अपूर्व (परम रमणीय) वन की शोभा देखने में उत्सुक जब तक वे नहीं आते हैं तब तक तुम इन सघन वृक्षों में छिपकर भाग जाओ।

बटुगण—कुमार! घोड़े को रहने दो! धनुष ताने हुए शस्त्रधारियों के समूह तुम्हें धमका रहे हैं; और आश्रम यहाँ से दूर है। अतः आओ! हरिणों की भाँति कूद-कूद कर भाग चले।

संस्कृत-व्याख्या

वृद्धवर्गे निष्क्रान्ते बालाः समागत्याश्वविषये चर्चां कुर्वन्ति, लवेन चोक्तं 'आश्वमेधिकोऽयमश्वः, यतो वेदस्यासौ भागो विलोकितोऽस्माभिः। तद्यदि च विप्रत्ययः =विश्वासो न, तदा पृच्छ्यन्तामेते एवानुयात्रिकाः।

बटवः तद्विषये यावदेव पृच्छन्ति, तावदेव लवः स्वमनसि कथयति—अश्व इति। 'अश्वमेधः' इति यज्ञो विश्वविजयशालिनां क्षत्रियाणां बलवान् निःशेषक्षत्रियाणां तिरस्कारकरणं महानुत्कर्षस्य निकषः=निकषोपल इवास्ति।

नेपथ्ये सैनिकाः पठन्ति—योऽयमिति। योऽयमश्वः, स विश्वविजयस्य पताका, अथवा वीरघोषणास्ति, महापुरुषस्य रावणकुलद्वेषिणी भगवतो रामस्य विजयघोषणा, इति भावः।

अत्र अतिशयोक्ति अलङ्कारः। अनुष्टुप् च्छन्दः ॥२७॥

इदं वाक्यमाकर्ण्य लवः सगर्वं प्राह—अहो! इति। अहो एतान्यक्षराणि सन्दीपनानि=मम कोपसमुत्तेजकानि सन्ति। एतेषामक्षराणां श्रवणेन मम कोपः समुज्जृम्भते, इत्याशयः।

क्षत्रिया महाराजं प्रति कुत्र सन्तीति श्रुत्वा प्राह लवः—यदि–इति। धिक्! जाल्मान्=असमीक्ष्यकारिणः। किमिदमसमीक्ष्य वदन्ति एते? भो! यदि क्षत्रियाः सन्ति, नो वा सन्ति? इयमद्य विभीषिका का? एवं कथनैरधुना किं फलम्? कार्यस्यावसरे वचनानि निरर्थकानि भवन्तीति भावः, तां युष्माकं पताकामेव हरामि ॥२८॥

इत्युक्त्वा बटूनाज्ञापयति—हे इति। हे बटवः! परिवृत्य=आवृत्य, लोष्ठैः=मृत्तिकाखण्डैः, अभिघ्नन्तः=ताडयन्तः, एनमश्वयुपनयत। एषोऽपि (आश्रमस्थानां) रोहितानां=मृगाणां मध्येचरो भवतु। अयमपि तेषां मध्ये ग्रासं चरतु।

सक्रोधः पुरुषः कथयति—धिगिति। अरे! चपल बालक! किमुक्तं त्वया? बालकस्यापि तव कटुवचनं शस्त्राणां श्रेणयो नैव सहन्ते। राजपुत्रश्चन्द्रकेतुरतिदुःसहः। अपूर्ववनशोभादर्शनोत्सुको यावन्नायाति, तावत्, शीघ्रमनेन, वृक्षैः कृत्वा, गहनेन वनेनापसर्पत=धावत।

बटवो भयकम्पिताः कुमारं प्रति कथयन्ति—कुमारेति। कुमार! अश्वेन कृतम्=अलम्। अश्वस्यावश्यकता नास्ति। आयुध-धारिणां शस्त्रश्रेणयो भवन्तं तर्जयन्ति। आश्रमश्चातो दूरे वर्तते। तदित आगच्छ। हरिणवत् प्लुतैः=उत्प्लुत्य पलायामहे=धावनं कुर्मः।

टिप्पणी

भवभूति जटिल से जटिल और सरल से सरल भाषा का अवसरानुकूल प्रयोग कर सकते थे—इसका ऊपर स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है।

लवः—किं नाम विस्फुरन्ति शस्त्राणि? (इति धनुरारोपयन्।)

ज्याजिह्वयावलयितोत्कटकोटिदंष्ट्र-
मुद्भूरिघोरघनघर्घरघोषमेतत्।
ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्र-
जृम्भाविडम्बि विकटोदरमस्तु चापम् ॥२९॥

[अन्वयः—ज्याजिह्वया, वलयितोत्कटकोटिददंष्ट्रम्, उद्भूरिघोरघनघर्घरघोषम्, एतत्, चापं, ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्रजृम्भाविडम्बि, विकटोदरमस्तु ॥२९॥]

(इति यथोचितं परिक्रम्य निष्क्रान्ताः सर्वे।)

इति महाकविभवभूतिविरचित उत्तररामचरिते 'कौशल्याजनकयोगो' नाम चतुर्थोऽङ्कः।

लव—क्या शस्त्र चमक रहे है? (धनुष सन्धान करता हुआ।)

[श्लोक २९]—मेरा यह धनुष जिनकी प्रत्यञ्चा ही जिह्वा है, खींचने से गोलाकार होने के कारण दोनों किनारे जिसकी विकट दाढें हैं और जो कि बड़ी भयङ्कर हुङ्कार कर रहा है खाने में तत्पर तथा हँसते हुए 'यमराज' के मुख की जम्भाई का अनुकरण करने वाला होकर बड़ा विकराल बन जाय! [आशय यह है कि–मेरा धनुष 'यमराज' के मुख के समान हो जाय! इसकी प्रत्यञ्चा ही लपलपाती हुई जीभ है

तथा दोनों किनारे विकराल दाढें हैं, और यह भयङ्कर शब्द कर रहा है। अतः इन समानताओं के कारण यह भगवान् 'अन्तक' के मुख का अनुकरण कर अनवरत खर तर-शर-वर्षा से वीरों को समाप्त कर डाले !]

[सब यथायोग्य घूमकर चले जाते हैं।]

संस्कृत-व्याख्या

लवो बालानां, 'शस्त्राणि स्फुरन्ति' इत्युक्तिमाकर्ण्य धनुरारोपयन्नाह—**ज्याजिह्वयेति।**

ज्या–इति। मदीयमिदं धनुः ज्या=प्रत्यञ्चैव जिह्वा, तया, बलयिते=संवेष्टिते, उत्कटकोटि=उन्नताग्रभागावेव दंष्ट्रा यस्य तत्, उद्‌भूरयः=बहवः, घोराः घनाः=सघनाः, घर्घरघोषाः=एवं ध्वनियुक्ताः शब्दाः, यस्य तत्, एवंविधं चापम्=धनुः, ग्रासे=भक्षणे प्रसवतं=उद्यतम्, हसत्=हासं प्रकुर्वत्, अन्तकस्य यमस्य वक्त्रम् एव यन्त्रम्, तस्य जृम्भायाः=मुखव्यादानस्य विडम्बं करोति, इति तथाविधं धनुः विकटोदरं=विकटमुदरं यस्य तथाऽस्तु।

अयमाशयः—ममेदं धनुः यमस्य मुखमिव भवतु। अस्य ज्यैव जिह्वा। उभयकोटी च दंष्ट्राः। भयङ्करघोषस्तूभयत्र समान एव। यथा ग्रासभक्षणे यमः स्वमुखं विस्तारयति। तथैवेदं मम धनुरस्त्विति। सर्वातिशायिपराक्रमप्रदर्शनस्यायमद्यावसरः समायातः, इति वीरविक्रमोचितं व्यवहर्तव्यमिति तत्त्वम्।

अत्र रूपकोपमयोः सांकर्यम्। वसन्ततिलका च्छन्दः। तल्लक्षणञ्च—

"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौगः" इति।

ओजो गुणः। गौडी रीतिः ॥२६॥

चतुर्थाङ्कस्यास्य कौसल्याजनकयो, सम्मेलनादेतन्नाम कृतं कविना।

इति 'उत्तररामचरितस्य' 'श्री प्रियम्वदाख्य'—टीकायां

'कौसल्या जनकयोगो' नाम चतुर्थोऽङ्कः परिपूर्णः।

टिप्पणी

(१) यह श्लोक वीर रस का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है। इसमें गौडी रीति, ध्वन्यात्मकता, चित्रात्मकता आदि सभी वीर रसोचित गुण एक साथ मुखरित हो उठे हैं। यह पद्य 'महावीरचरित' के 'तृतीय अङ्क' में भी आया है। (२) रूपक-उपमा की संसृष्टि। वसन्ततिलका छन्द। (३) चापम्—चाप शब्द का नपुंसकत्व चिन्तनीय है। अथवा सामान्य में नपुंसकत्व माना जा सकता है :—

"एतत् चापम्। क्लीवत्वं विचारयितव्यम्। सामान्ये नपुंसकत्वं वा। अथवा 'भयामृतसकृद्वस्त्र चापाभरणलाञ्छन' मिति नपुंसकशेषोक्तेः क्लीवत्त्वम्।" (वीरराघव)

(४) इस अङ्क का नाम 'कौसल्याजनकयोग' है। इस पर टिप्पणी इस अङ्क के प्रारम्भ में दिये गये—'चतुर्थ अङ्क का नाटकीय महत्त्व' शीर्षक में देखिये।

श्री 'प्रियम्वदा'—टीकालङ्कृत 'उत्तररामचरितं-नाटक के "कौसल्याजनकयोग" नामक चतुर्थ अङ्क का सटिप्पणी हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

पञ्चम अंक
(कुमार-विक्रम)

"अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया ।
सहि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्भूतानि सीव्यति ।।"

पञ्चम अङ्क की विश्लेषणात्मक कथावस्तु—

पञ्चम अङ्क की कथावस्तु को निम्नलिखित दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) चन्द्रकेतु और सुमन्त्र, (ख) लव और चन्द्रकेतु ।

(क) चन्द्रकेतु और सुमन्त्र

[स्थान—वाल्मीकि आश्रम का पार्श्व]

पञ्चम अङ्क के आरम्भ में सुमन्त्र-सारथी के साथ हाथ में धनुष लिए हुए रथारूढ़ होकर चन्द्रकेतु प्रविष्ट होता है । सुमन्त्र और चन्द्रकेतु लव के युद्ध-कौशल से प्रभावित दिखाई देते हैं । उन दोनों की उक्तियों से निम्नलिखित सूचनाएँ मिलती हैं—

(१) लव एकाकी ही युद्ध कर रहे हैं ।

(२) एकत्रित सेना भी उनका प्रतिरोध करने से समर्थ नहीं है ।

(३) चन्द्रकेतु की सेना चारों ओर भाग खड़ी हुई है ।

(ख) लव और चन्द्रकेतु

[स्थान—वाल्मीकि आश्रम का पार्श्व]

चन्द्रकेतु को देखकर उसके सैनिक लव पर पुनः आक्रमण करते हैं, जिनका चन्द्रकेतु निषेध कर देता है । इसी मध्य लव जृम्भकास्त्र के प्रयोग से सैनिकों को स्तब्ध कर देते हैं । इस अस्त्र के प्रयोग को देखकर सुमन्त्र उसका (जृम्भकास्त्र का) इतिहास प्रस्तुत करता है । लव का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली है । लव को पदाति देखकर चन्द्रकेतु रथ से नीचे उतर जाता है । वह रथ पर तभी आरूढ़ हो सकता है जबकि लव भी युद्ध के लिए रथ ग्रहण कर लें । चन्द्रकेतु लव को अपना मित्र मान चुका है । किन्तु यह युद्ध-सिद्धान्तों पर आधारित है अतः उन दोनों में सम्वाद होने लगता है । इस बीच लव रामचन्द्र जी के सैनिकों के औद्धत्य का उद्घाटन करता हुआ रामचन्द्र जी के चरित्र पर भी कुछ प्रसङ्गों को लेकर आक्षेप करता है । इस पर लव तथा सुमन्त्र में उत्तर-प्रत्युत्तर होने लगता है, जिसको चन्द्रकेतु निषेधकर लव

पर साक्षेप व्यङ्ग्य करता है। दोनों क्षुब्ध हो उठते हैं, लव चन्द्रकेतु को युद्ध की चुनौती दे देता है।

पञ्चम अङ्क का नाटकीय महत्त्व

(क) युद्ध-दृश्य—

चतुर्थ अङ्क के अन्तिम श्लोक में युद्ध का पूर्ण संकेत मिलता है तथा पञ्चम एवं षष्ठ अङ्क में युद्ध का वर्णन भी किया गया है। किन्तु यह युद्ध रङ्गमञ्च पर नहीं दिखाया गया है। पञ्चम अङ्क में चन्द्रकेतु और सुमन्त्र की उक्तियों से इसका अनुमान किया गया है तथा अग्रिम अङ्क (षष्ठ अङ्क) में विद्याधर एवं विद्याधरी की उक्तियों से इनकी सूचना मिलती है।

युद्ध-वर्णन प्रसङ्ग में भवभूति ने कुछ शास्त्रीय नियमों (Technical Rules) का अवलम्बन किया है। भरतमुनि ने इस प्रकार के दृश्यों के विषय में अपने 'नाटच-शास्त्र में लिखा है—

"युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोधनं चैव।
प्रत्यक्षाणि तु नाङ्के प्रवेशकैः संविधेयानि॥"

इसी प्रकार साहित्यदर्पणकार ने—

"दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः।
विवाहो भोजन शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा,
..................एभिर्वर्जितः॥"

कहकर युद्ध-दृश्यों का स्पष्ट निषेध किया है। अतः इसकी प्रतीति कराने के लिए कवि ने पञ्चम अङ्क में कथन तथा उपकथनों एवं नेपथ्य आदि की सहायता ली है। इस अङ्क की तथा अग्रिम अङ्क की उक्तियाँ युद्ध का साक्षात्कार कराने की पूर्ण क्षमता रखती हैं।

नाटक में युद्ध का भी अपना विशेष महत्त्व है। इनके बिना लव के जृम्भ-कास्त्र के प्रयोग का अवसर नहीं मिल सकता था। षष्ठ अङ्क में रामचन्द्रजी की उपस्थिति भी सम्भव नहीं हो सकती थी। इसके अभाव में नाटक का विधान ऐसा नहीं हो सकता था। यह युद्ध की घटना ही राम, लव, कुश, अरुन्धती, राम की माता, वशिष्ठ, जनक, वाल्मीकि आदि सभी को आगे चलकर मिला देती है। अतः यह वर्णन नाटकीय दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(ख) कथनोपकथन—

उत्तररामचरित के द्वितीय-अङ्क के कथनोपकथन के समान पञ्चम अङ्क के कथनोपकथनों (Dialogues) में भी प्राकृत का प्रयोग नहीं हुआ है। इस अङ्क के कथन तथा उपकथन वीरोचित भावनाओं (Heroic Sentiments) से ओत-प्रोत, पात्रों के चरित्र का यथोचित उद्घाटन करने में सशक्त तथा स्वाभाविकता एवं

नाटकीयता से पगे हुए हैं। उनमें उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करने की पूर्ण क्षमता है।

(ग) चरित्र—

पञ्चम अङ्क में लव तथा चन्द्रकेतु के वीर क्षत्रिय बालोचित चरित्र-चित्रण के साथ-साथ रामचन्द्रजी के चरित्र का भी विशेष उद्घाटन हुआ है। लव तथा चन्द्रकेतु के संवादों तथा अत्र तक की विभिन्न घटनाओं से स्पष्ट अवगत होता है कि रामचन्द्रजी के चरित्र के विषय में साधारणतया दो विचारधारायें हैं; जिनमें राजा रूप में (As a king) वे भले हि सफल उतरते हों किन्तु पति के रूप में (As a husband) उनके चरित्र की यत्र-तत्र आलोचना की गई है। द्वितीय अङ्क में वासन्ती रामचन्द्रजी को सीता देवी के परित्याग के कारण उपेक्षा की दृष्टि से देख सकती थी, किन्तु कवि ने आत्रेयी द्वारा उक्त भाव के निराकरण कराने का सफल प्रयोग किया है। तृतीय अङ्क में राम विशुद्धतया पति-रूप में चित्रित होकर सीता-परित्याग-जन्य उन्मत्तता की दशा में प्रस्तुत कर दिये जाने पर सहृदयों की सहानुभूति प्राप्त कर लेते हैं और चतुर्थ अङ्क में पुनः कौशल्या द्वारा राम का त्याग तथा जनक का राम के प्रति क्रोध, राम के अन्तर्द्वन्द्व की पूरी झाँकी देता है। फिर भी साधारणतया रामचन्द्रजी का सीता-परित्याग समाज, राज्य तथा आश्रमों में प्रसिद्ध है। अतएव लव की शुद्ध बुद्धि उनके चरित्र में कुछ स्खलितों का प्रकारान्तर से उद्घाटन कर ही देती है, जिसका उत्तर यद्यपि चन्द्रकेतु के क्रोध से दे दिया जाता है तथापि उसकी चढ़ी हुईं भृकुटियाँ तथ्य को तिरोहित नहीं कर सकती।

परम्परावादी नाटक के नायक रामचन्द्रजी के चरित्र में लव द्वारा प्रस्तुत की गईं भूलों से भवभूति पर नायक चित्रण सम्बन्धी दोषारोपण कर सकते हैं, फिर भी इतना तो अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि यहाँ कवि का नायक अलौकिक नहीं, वह लौकिक है अतएव उसमें गुण एवं दोष दोनों का समन्वय है। लक्षणग्रन्थकारों की चढ़ी हुई भृकुटियाँ भवभूति की स्वाभाविक चरित्र-चित्रण-चातुरी को तिरोहित नहीं कर सकतीं। उनका यह चित्रण निर्णय के लिए परम्परावादियों को 'विमर्दक्षम भूमि' में उतरने की चुनौती देता प्रतीत होता है।

(घ) जृम्भकास्त्र—

नाटक के पञ्चम अङ्क तक जृम्भकास्त्र का तीन वार वर्णन आता है। प्रथम अङ्क में चित्रदर्शन के समय, इनका इतिहास प्राप्त होता है। ये कृशाश्व से कौशिक ऋषि को, उनसे रामचन्द्रजी को प्राप्त हुए थे। तथा रामचन्द्रजी के आशीर्वाद से 'सर्वथा सीता जी की प्रसूति को प्राप्त होंगे' यह सूचना वहीं पर मिलती है। द्वितीय अङ्क में लव और कुश के पास इनकी स्थिति की सूचना मिलती है। यह सूचना आत्रेयी वनदेवता (वासन्ती) को देती है। पञ्चम अङ्क में इनका प्रयोग सुमन्त्र

को आश्चर्यचकित कर देता है तथा षष्ठ अङ्क में रामचन्द्रजी को भी लव तथा कुश के विषय में जिज्ञासु बना देता है। वे प्रायः इनको सीता का पुत्र मान लेते हैं।

(ङ) पञ्चम अङ्क की आवश्यकता—

जिस प्रकार तृतीय अङ्क को करुणभावना (Pathos) की गहन-भूमिका में प्रविष्ट सहृदय की भाव-विश्रान्ति (Emotional relief) के लिये चतुर्थ अङ्क की मनोविनोदमयी सृष्टि की गई है, उसी प्रकार षष्ठ अङ्क में पुनः उद्‌बुद्ध होने वाली करुणा की यथोचित चर्वणा के लिये कवि ने पञ्चम अङ्क के युद्ध-वर्णन द्वारा छठे अङ्क की उस भावना की गम्भीर अनुभूति की रक्षा की है। अतः पञ्चम अङ्क की युद्ध-चर्चा छठे अङ्क के कारुण्य को नवीन रूप देने की भूमिका का कार्य करती हैं। किञ्च आगे होने वाले 'सम्मेलन' की भूमिका भी यहीं तीव्रता के साथ आगे बढ़ती है।

(च) अङ्क का नाम—

कवि ने पञ्चम अङ्क को 'कुमारविक्रम' नाम दिया है। टीकाकारों ने अधिकतर "कुमारयोविक्रमो यत्रेति कुमारविक्रमः" इस बहुव्रीहि समास द्वारा उक्त नामकरण की सार्थकता सिद्ध की है। किन्तु यदि अङ्क की घटनाओं को देखा जाय तो इसमें लव का ही विक्रम वर्णित है, चन्द्रकेतु का नहीं। यहाँ लव ही युद्ध करने वाला, जृम्भकास्त्र का प्रयोग करने वाला एवं रामचन्द्रजी की सेनाओं को त्रस्त कर देने वाला है। दूसरी ओर चन्द्रकेतु या तो सुमन्त्र के साथ उसके पराक्रम की प्रशंसा करता है या केवल संवाद, उसके विक्रम का यहाँ कोई वर्णन नहीं। इसके अतिरिक्त चतुर्थ अङ्क में लव ही युद्ध के लिये सज्जित होता है तथा पञ्चम अङ्क के अन्त में वह ही चन्द्रकेतु को चुनौती देता है। अतः घटना की दृष्टि से यहाँ "कुमारस्य (लवस्य) विक्रमो यत्र सः कुमारविक्रमो नामाङ्कः" यही समासयुक्त प्रतीत होता है। इस आधार पर ही नामकरण भी उपयुक्त प्रतीत होता है।

पञ्चमोऽङ्कः

(नेपथ्ये)

भो भोः ! सैनिकाः ! जातमवलम्बनमस्माकम् ।

नन्वेष त्वरितसुमन्त्रनुद्यमानप्रोद्वल्गत्प्रजवितवाजिना रथेन ।

उत्खातप्रचलितकोविदारकेतुः, श्रुत्वा वः प्रधनमुपैति चन्द्रकेतुः ॥१॥

[अन्वयः—ननु, त्वरितसुमन्त्रनुद्यमानप्रोद्वल्गत्प्रजवितवाजिना रथेन उत्खात-प्रचलित-कोविदारकेतुः, एष, चन्द्रकेतुः वः, प्रधनं, श्रुत्वा, उपैति ॥१॥]

हिन्दी—

(नेपथ्य में)

अरे सैनिको ! हमको सहारा मिल गया ।

[श्लोक १]—(देखो न) सुमन्त्र के द्वारा हाँके जाते हुए रथ से जिसमें कि तेज दौड़ने वाले घोड़े जुड़े हुए हैं, और उबड़-खाबड़ भूमि में चलने से जिसकी 'कोविदार'—निर्मित पताका हिल रही है, वे चन्द्रकेतु तुम लोगों का युद्ध सुनकर यहाँ आ रहे हैं ॥१॥

संस्कृत-व्याख्या

लवचन्द्रकेत्वोर्युद्धकौशलं प्रदर्शयितुं कविः पञ्चमाङ्कमारभते । तत्रादौ सैनिकानां कलः ।

नेपथ्ये सैनिका उच्चैः स्वरेण चन्द्रकेतोः समागमनं सूचियन्ति—भो-इति । भोः सैनिकाः ! अस्माकमवलम्बनम् = आश्रयः सञ्जातम् । इदानीमस्माकं भयं नास्ति ।

कथमिति चेत् ? आह—नन्वेष-इति ।

'ननु' इति सम्बोधन-पदम् । भोः ! एष अस्माकं सेनापतिश्चन्द्रकेतुः वः= युष्माकं, प्रधानं = युद्धं ("युद्धमायोधनं जन्यं प्रधनं प्रविदारणम्" इत्यमरः ।) श्रुत्वा, त्वरितं = शीघ्रं, सुमन्त्रद्वारानुद्यमानाः = सञ्चालिताः, प्रकर्षेण उद्वल्गतः = धावन्तः प्रजविताः = उत्कृष्टवेगयुक्ताः, वाजिनः = अश्वा यस्मिंस्तेन रथेन कृत्वा, उत्खातेषु = निम्नोन्नतेषु भूमिभागेषु प्रचलितः = कम्पमानः कोविदारस्य = वृक्षविशेषस्य केतुर्यस्य सः, ("कोविदारश्चमरिकः कुद्दालो युगपत्रकः" इत्यमरः) तथाभूतः सन् उपैति = समागच्छति । सुमन्त्रनामा सूतोऽश्वान् वेगेन चालयति, वेगवशाद्गर्तेषु पततो रथस्य कोविदारवृक्षस्य काष्ठेन निर्मितः केतुरितस्ततः प्रचलति, वने परिष्कृतमार्गस्याभावात् । लवेन साकं भोः ! सैनिकः ! युष्माकं युद्धवार्तां श्रुत्वा चन्द्रकेतुरायातीत्यर्थः ।

नेपथ्यस्थितैः पुरुषैरर्थस्य पात्राणां वा सूचना यत्र दीयते, तत्र अर्थोपक्षेपकेषु 'चूलिका' भवति । तथा चोक्तं साहित्यदर्पणे—

'अर्थोपक्षेपकाः पञ्च, विष्कम्भक-प्रवेशकौ ।
चूलिकाऽङ्कावतारोऽथ स्यादङ्कमुखमित्यपि ॥"

इति पञ्चार्थोपक्षेपकाः । 'चूलिका'-लक्षणञ्च—

"अन्तर्जवनिका-संस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका ।" इति ।

अत्र काव्यलिङ्गालङ्कारः, यमकालङ्कारश्च । प्रहर्षिणी च्छन्दः । एतेन गताङ्क लवः सर्वानपि सैनिकान् पराजितवानिति सूच्यते ॥१॥

टिप्पणी

यह अङ्क 'चूलिका' से प्रारम्भ होता है । जब कोई पात्र नेपथ्य से आने वाली घटना की सूचना देता है तो उसे चूलिका कहते हैं—"अन्तर्जवनिकासंस्थैः, सूचनार्थस्य चूलिका ।" (साहित्यदर्पण)

(ततः प्रविशति सुमन्त्रसारथिना रथेन धनुष्पाणिः साद्भुतहर्षसंभ्रमश्चन्द्रकेतुः ।)

चन्द्रकेतुः—आर्य सुमन्त्र ! पश्य पश्य—

किरति कलितकिञ्चित्कोपरज्यन्मुखश्री-
रविरतगुणगुञ्जत्कोटिना कार्मुकेण ।
स्मरशिरसि चञ्चत्पञ्चचूडश्चमूना-
मुपरि शरतुषारं कोऽप्ययं वीरपोतः ॥२॥

[अन्वयः—कलित-किञ्चित् कोपरज्यन्मुखश्रीः, चञ्चत्पञ्चचूडः कोऽपि, अयं, वीरपोतः समर-शिरसि, अविरत-गुण गुञ्जत्-कोटिना कार्मुकेण, चमूनाम् उपरि, शरतुषारं किरति ॥२॥]

हिन्दी—

[तदनन्तर सारथि सुमन्त्र से अधिष्ठित रथ पर बैठे तथा हाथ में धनुष लिए हुए विस्मय, हर्ष और घबराहट से युक्त चन्द्रकेतु का प्रवेश होता है ।]

चन्द्रकेतु—आर्य सुमन्त्र ! देखो ! देखो !

[श्लोक २]—यह कोई वीर बालक, जिसका मुख कुछ-कुछ क्रोध करने से लाल हो गया है तथा जिसकी पाँचों शिखाएँ हिल रही हैं, रणभूमि में खड़ी हुई (हमारी) सेनाओं के ऊपर अपने लगातार टङ्कार करते हुए धनुष से ओलों जैसे बाण बरसा रहा है ।

संस्कृत-व्याख्या

तत—इति । अनन्तरं चन्द्रकेतुः प्रविशति ।

प्रवेशे चन्द्रकेतोः कीदृशी विचारधाराचेष्टावाऽऽसीदिति निर्दिशन्नाह-धनुष्पाणिः =चापहस्तः एकाकिना मुनिजन-बालकेन सह युद्धमिति समाचारेणाद्भुतता, स्वतुल्य-वीरेण सह वार्तालापः, इति हर्षः, लवेन च सैनिका ध्वस्ता इति सम्भ्रमश्च तस्यासीत् । त्वरितं च सुमन्त्रो रथं चालयति, इति ।

लवः कियत्या त्वरया सैनिकानामुपरि बाणवृष्टिं करोतीति द्रष्टुं सुमन्त्रं प्रेरयति—किरति इति ।

कलितः=स्वीकृतः किञ्चितन्मात्रं यथास्यात्तथा कोपः, तेन रज्यन्ती=

कोपस्य रक्तवर्णत्वाद् रक्तवर्णा भवन्ती मुखस्य श्रीर्यस्य, क्रोधवशाद्रक्तमुखः, इत्यर्थः। चञ्चन्त्यः=प्रचलन्त्यः पञ्जचूडाः यस्य सः, तदानीं स्वकुलाचारात् शिखानां रक्षणं भवति स्म। भगवता वाल्मीकिना च रघुवंश-धर्मानुसारं पञ्चशिखा बालकस्यः शिरसि धृताः, ताश्चेदानीं वायुवशात् प्रचलिता भवन्तीति भावः। ("एकशिखस्त्रिशिखः पञ्च-शिखो वा,' इति बौधायनः।) कोऽप्ययं वीरपोतः=वीरबालकः। (पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः, पृथुकः शावकः शिशुः" इत्यमरः) समरस्य=संग्रामस्य शिरसि रणस्याग्रभागे स्थितः, (रणस्याग्रभागे स्थितानां वा चमूनां=सेनानां, उपरि। अविरतं=निरन्तर यथास्यात्तथा गुणे=प्रत्यञ्चायाम् गुञ्जन्त्यौ=शब्दायमाने कोटी धनुषोऽग्रभागौ यस्य तेन, कार्मुकेण=धनुषा चमूनां=सेनानामुपरि शराः=तुषारः=हिममिव, किरति=वर्षति। क्रोधावेशात् अयं कोऽपि वीरबालकः सैनिकानामुपरि बाणान्-त्वरया क्षिपति। निपतन्तो बाणा हिमोपमाः प्रतीयन्ते, इति भावः। धन्योऽयं बाल इति तत्त्वम्।

अत्र शरतुषारमित्युपमा। मालिनी च्छन्दः। ओजो गुणः। गौडी रीतिः॥२॥

टिप्पणी

(१) पञ्चचूडः—पञ्च चूडाः यस्य सः प्राचीन काल में अपनी कुल-परम्परा के अनुसार शिखाएँ रखने का विधान था। एक से लेकर पाँच शिखाएँ तक रखने का विधान था। ("एकशिखस्त्रिशिखः पञ्चशिखो वा" बोधायन) लौगाक्षि का मत है—"दक्षिणतः कम्बुजः वसिष्ठानाम्, उभयतोऽत्रिकश्यपानाम् मुण्डा भृगवः, पञ्चचूडा अंगिरसः, वाजसनेयिकामेका, मंगलार्थं शिखिनोऽन्ये"।" इस वर्णन में रामचन्द्र जी के कुल में पाँच शिखाएँ रखने की प्रथा थी; और लव नंगे सिर ही था ऐसा प्रतीत होता है।

(२) पाठान्तर—अविरतगुणगुञ्जत् के स्थान पर "अनवरतनिगुञ्जत्'।
(३) इसकी अलङ्कार-योजना के सम्बन्ध में वीरराघव लिखते हैं—"अत्र रज्यन्मुखश्रीः' कार्मुकेण', 'चञ्चत्पञ्चचूड' इत्येतैः शरतुषार'मित्यनेन च तडितत्वतः शक्रचापयुक्तस्य, चलिताग्रस्य मेघकिशोरस्य च साम्यं व्यज्यते।"

(साश्चर्यम्।)

मुनिजनशिशुरेकः सर्वतः संप्रकोपा-
न्नव इव रघुवंशस्याप्रसिद्धि प्ररोहः।
दलितकरिकपोलग्रन्थिटङ्कारघोर-
ज्वलितशरसहस्रः कौतुकं मे करोति॥३॥

[अन्वयः—रघुवंशस्य, नव, अप्रसिद्धिप्ररोहः, इव, एकः मुनिजनशिशुः, सम्प्रकोपात्, सर्वतः, दलितकरिकपोलग्रन्थिटङ्कारघोरज्वलितशरसहस्रः, सन् मे कौतुकं करोति॥३॥]

हिन्दी—

(आश्चर्य के साथ)—

[श्लोक ३]—रघुवंश की अप्रसिद्धि (अप्रतिष्ठा) का नया अङ्कुर यह मुनि-बालक अकेला ही अत्यन्त क्रोध में भरकर, हजारों जलते हुए बाणों से हाथियों के गण्डस्थल विदीर्ण करने से उत्पन्न घोर शब्दों से मेरे मन में कौतूहल उत्पन्न कर रहा है।

संस्कृत-व्याख्या

पुनरपि साश्चर्यमाह चन्द्रकेतुः—मुनिजन इति।

अयमेकाकी मुनि-शिशुः, रघुवंशस्य अप्रसिद्धेः कश्चिन्नवप्ररोहः=अङ्कुर इव, सम्प्रकोपात्, सर्वतः=सर्वदिक्षु, दलितानां=विदारितानाम्, करिणां कपोलग्रन्थीनां कपोलस्थित-ग्रन्थिनाम्, टङ्कारेण=टङ्कारेति ध्वनिविशेषेण घोरं ज्वलितं=देदीप्यमानं, शराणां सहस्रं यस्य स एवंविधः, मे कौतुकं तनोति=विस्तारयति। अयमेकोऽप्यनेकैः सह युद्ध कुर्वाणः सन् मम चेतसि अधुना रघुवंशस्याप्रसिद्धि कर्तुमयं कश्चिन्नवोऽङ्कुरः प्रादुर्भूतः" इत्याशङ्कां करोति। शर-प्रहारेण चास्य करिकपोलास्थीनि भज्यन्ते, तेषामाघातेन शराः प्रज्वलिताग्नयो भवन्ति एवं वीरोऽयमाश्चर्यकारीति भावः।

अत्रोपमालङ्कारः। मालिनी च्छन्दः। ओजो गुणः। गौडी रीतिः॥३॥

टिप्पणी

(१) पाठान्तर—अप्रसिद्धप्ररोहः के स्थान पर 'अप्रसिद्धः प्ररोहः'।

(२) उपमा अलङ्कार। मालिनी छन्द।

सुमन्त्रः—आयुष्मन्!

अतिशयितसुरासुरप्रभावं, शिशुमवलोक्य तथैव तुल्यरूपम्।

कुशिकसुतमखद्विषां प्रमाथे, धृतधनुषं रघुनन्दनं स्मरामि॥४॥

[अन्वयः—तथा, एव, तुल्यरूपम्, अतिशयितसुरासुरप्रभावं, शिशुम्, अवलोक्य, कुशिकसुतमखद्विषां प्रमाथे, धृतधनुषं, रघुनन्दनं स्मरामि॥४॥]

हिन्दी—

सुमन्त्र—आयुष्मन्!

[श्लोक ४]—सुर और असुरों में भी अधिक प्रभावशाली इस बालक को वैसे ही (रामचन्द्र के तुल्य ही) रूप में देखकर मैं विश्वामित्र-यज्ञ के शत्रुओं (राक्षसों) का विनाश करने के लिये धनुषधारी रामचन्द्रजी का स्मरण कर रहा हूँ।

संस्कृत-व्याख्या

लवस्य पराक्रममवलोक्य सुमन्त्रः साश्चर्यमाह—आयुष्मन्!=दीर्घजीविन्! रथिनं सूता एवमेव सम्बोधयन्ति। तथाचोक्तम्—"आयुष्मन्" ! रथिनं सूतः।" इति। अस्य च सम्बुद्धि-पदस्य वक्ष्यमाणेन श्लोकेनान्वयः।

श्लोकमेवाह सुमन्त्रः—'अति'—इति।

सुरेभ्योऽसुरेभ्यश्चाधिकसामर्थ्यशालिनं; वा तादृशरूपविशिष्टमेनं शिशुमवलोक्य विश्वामित्रयज्ञे राक्षसानां विनाशाय धनुर्धरं भगवन्तं राममहं स्मरामि। बाल्यावस्थायां श्रीरामोऽप्येवंविध एवासीत्। तत् कोऽयं महाप्रभावः? इति भावः।

अत्रातिशयोक्तिः, उपमा, स्मरणञ्चेत्येतेऽलङ्काराः। परस्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यन्ते। पुष्पिताग्राच्छन्दः। लक्षणमुक्तं प्राक्॥४॥

टिप्पणी

(१) 'अतिशयितसुरासुरप्रभावम्'—अतिशयितः सुरासुराणां प्रभावो येन तम्।

(२) तथैव तुल्यरूपम्—पाठा०, तथैव तुल्यरूपम्।

तथैव तुल्यरूपम् = श्रीराम के सदृश ही रूप वाले को। 'यथा' रामेण तुल्यप्रभावस्तथैव तुल्याकार इत्यर्थः।' तथैवतुल्यरूपम् = तुम्हारे सदृश ही। सच्छायमित्यपर्थः।

(३) 'प्रमाथे'—विनाशे। प्र + √मथ् + घञ् भावे प्रमाथः।

(४) 'धृतधनुषम्'—धृतं धनुः येन तम्। यद्यपि "धनुषश्च" (पा०, ४/४/१३२) नियमानुसार धनुरत्नवहुव्रीहि को अनङादेश होता है एवं 'धृतधन्वानम्' प्रयोग बनाना चाहिये तथापि समासान्त विधि के अनित्य होने से 'धृतधनुषम्' भी हो सकता है। ऐसे प्रयोग मिलते हैं। यथा "स्वलावण्याशंसा 'धृतधनुषम्' ह्लायतृणवत्" पुष्पदन्त।

(५) स्मरणालङ्कार।

चन्द्रकेतुः—मम त्वेकमुद्दिश्य भूयसामारम्भ इति हृदयमपत्रपते।

अयं हि शिशुरेकको मदभरेण भूरिस्फुर-
त्करालकरकन्दलीजटिलशस्त्रजालैर्बलैः।
क्वणत्कनककिङ्किणीझणझणायितस्यन्दनै-
रमन्दमददुर्दिनद्विरदडारमरैरावृतः॥५॥

[अन्वयः—हि, अयम्, एककः, शिशुः, मदभरेण, भूरिस्फुरत् करालकरकन्दलीजटिलशस्त्रजालैः क्वणत्-कनक-किङ्किणी-झणझणायित-स्यन्दनैः, अमन्दमद-दुर्दिन-द्विरदडारमरैः, बलैः, आवृतः।]

हिन्दी—

चन्द्रकेतु—"इस कथा को ही लक्ष्यकर (अकेले से ही हमारे) बहुत से सैनिक युद्ध कर रहे हैं" मेरा हृदय तो इस बात से लज्जित हो रहा है।

[श्लोक ५]—क्योंकि इस अकेले बालक को (इस युद्ध-भूमि में) मद की अधिकता से चम-चमाते हुए विकराल तथा पैने शस्त्र हाथ में धारण करने वाले सैनिकों ने, सोने के छोटे-छोटे घूंघुरुओं की झन-झनाहट से बजते हुए रथों ने तथा निरन्तर मद बरसाने से 'दुर्दिन'—(मेघाच्छन्न दिन)-सा बना देने वाले भयङ्कर हाथियों ने घेर लिया है।"

[अथवा—इन सब विशेषणों को "बलैः" के लिए प्रयुक्त मानकर संक्षेप में इस प्रकार अर्थ होगा—"विकराल शस्त्रों से युक्त, सुसज्जित रथों वाली तथा मद वाले हाथियों से भयङ्कर हमारी सेना ने इस अकेले बालक को घेर लिया है"। (इसको इस प्रकार घिरा हुआ देखकर मेरा हृदय लज्जित हो रहा है।)]

संस्कृत-व्याख्या

एकाकिनमेनमुद्दिश्य भूयसामस्माकं सैनिकानां युद्धकल्पनयैवाहन्तु लज्जे, इति चन्द्रकेतुः प्राह—'अयं हीति'।

हि = यतः ("हेताववधारणे" इति कोशः) अयम् एकाकी बालः मदस्य भरेण = अधिकतया, भूरि = अधिकं यथास्यात्तथा स्फुरन्ति देदीप्यमानानि = करालानि = भयंकराणि, कराः कन्दलयः = अङ्कुरा इव तासु जटिलानि = तीव्राणि, अस्त्राणां = शस्त्राणां जालानि समूहा येषान्तैः स्तथा क्वणन्त्यः = शब्दं कुर्वन्त्यः याः कनकनिर्मिताः = सुवर्णघटिताः किङ्किण्यः = रथेषु निबद्धाः = क्षुद्रघण्टिकाः, तासां "झण-झण" "इति ध्वनिविशेषैः युक्ताः स्यन्दनाः = रथा येषान्तैः अमन्दः = समधिकः यो मदः = मदजलम्, तदेव दुर्दिनं = वर्षाकालिकं दिनम्—"मेघाच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्" येषां ते च ते द्विरदाः = द्वौ रदौ = दन्तौ येषान्ते द्विरदाः = गजाः, तैः कृत्वा डामरैः = भयंकरैः, बलैः = सैनिकैः, आवृतः = समाकीर्णः। इत्येवमवलोक्य मामति लज्जा भवतीति। अस्माकं सैनिकानां हस्तेषु भयङ्कराणि शस्त्रजालानि दीप्यन्ते, रथाश्च सुवर्णनिर्मिताभिः किङ्किणीभिः शब्दयुक्ताः सन्ति, गजाश्च समधिक-मदजलवर्षिणः सन्ति, अयञ्च तपस्वी पदातिरेकाकी चेति लज्जाकरः सर्वोऽप्ययमाचार इति भावः।

अत्रोपमाऽलङ्कारः। 'पृथ्वी' नामकं च्छन्दः। तल्लक्षणञ्च यथा—

"जसौ जसयला वसु ग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः, इति। ओजो गुणः। गौडी रीतिः ॥५॥

टिप्पणी

(१) "एककः"—एक एव एक + कन् एककः। "एकादाकिनिच्चासहाये" (पा०, ५/३/५२) इति चात्कन्। "एकाकी त्वक एककः" इत्यमरः। (२) **मदभरेण भूरिस्फुरकरालकरकन्दली जटिलशास्त्रजालैः**—पाठा०, **समरभारभूरिस्फुरत्करालकन्दलीकलितशस्त्रजालैः**। मदभरेण। (वीरपातेन समुपजनितमदातिशयेन) भूरि स्फुरन्तिः करालानि करकन्दलीषु जटिलानि (निबिडानि) शस्त्रजालानि येषाम् तैः। समरभारे भूरिस्फुरन्तीषु करालासु कलितानि शस्त्रजालानि येषु तैः। अथवा—समरभारे भूरिस्फुरन्ति करालानि करकन्दलीकलितानि शस्त्रजालानि येषु तैः। "करालो दन्तुरे तुङ्गे" इति विश्वमेदिन्यौ। (३) "क्वणत्..."—क्वणन्तीभिः कनक-किङ्किणीभिः झणझणायिताः स्यन्दना येषाम् तैः। "अव्यक्तानुकरणाद् द्वयजवरा-द्धादनितौ डाच्" (पा० ५/४/५७) इति डाच्। "डाचिविवक्षितेद्वेबहुलम्" वा० इति द्वित्वम्। "लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्" (पा० ३/१/१३) इति क्यष्। झणझणाय + क्त कर्त्तरि। झणझणायित। (४) अमन्द...—पाठा०, "द्विरदडामरै" "द्विरदवारिदैः"।

सुमन्त्रः—वत्स ! एभिः समस्तैरपि नालमस्य, किं पुनर्व्यस्तैः ?

चन्द्रकेतुः—आर्य ! त्वर्यतां त्वर्यताम्। अनेन हि महानाश्रितजनप्रमाथोऽस्माकमारब्धः। तथा हि—

आगर्जद्गिरिकुञ्जकुञ्जरघटानिस्तीर्णकर्णज्वर-
ज्यानिर्घोषममन्ददुन्दुभिरवैराध्मातमुज्जृम्भयन् ।
वेल्लद्भैरवरुण्डखण्डनिकरैर्वीरो विधत्ते स्वयं,
तृष्यत्कालकरावलवक्त्रविघसव्याकीर्यमाणामिव ॥६॥

[अन्वयः—(अयम्) वीरः, आमन्द-दुन्दुभिरवैः आध्मातं आगर्जद्गिरि-कुञ्ज-कुञ्जर-घटा-निस्तीर्ण-कर्ण-ज्वर-ज्या-निर्घोषम्, उज्जृम्भयन्' वेल्लद्भैरव रुण्ड-खण्ड-निकरैः, भुवं तृष्यत्-काल-कराल-वक्त्र विघसव्याकीर्यमाणामिव, विधत्ते ॥६॥]

हिन्दी—

सुमन्त्र—वत्स ! ये संगठित होकर भी इसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते, फिर असंगठित होकर तो कहना ही क्या है ? (ये सब मिलकर भी इसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते फिर तितर-बितर होकर तो बात ही क्या है ? यह अकेला ही इन सबके छक्के छुड़ाने में समर्थ है । अतः लज्जित मत होओ ।)

चन्द्रकेतु—आर्य शीघ्रता कीजिये ! शीघ्रता कीजिये ! इसने हमारे आश्रितों का महान् विध्वंस कर दिया है । जैसा कि—

[श्लोक ६]—अमन्द दुन्दुभि-नाद से समृद्ध अपनी प्रत्यञ्चा के चिंघाड़ते हुए गिरि-कुञ्ज-निवासी हाथियों के झुण्ड के कानों को व्यथित करने वाले शब्द को बढ़ाता हुआ (रणभूमि में कट-कटकर) लौटते हुए रुण्ड-मुण्ड-समूह से यह वीर बालक पृथ्वी को, भूखे (शब्दार्थ-प्यासे) कराल काल के मुख से भोजन के बिखरे हुए कुछ कणों की भाँति, आच्छादित कर रहा है ।

[भावार्थ—इस वीर की प्रत्यञ्चा के शब्द को सुनकर पर्वत-कुञ्जों में रहने वाले हाथियों के कान भी बहरे हुए जाते हैं । इसने वीरों की लाशों से रणभूमि पाट दी है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मानों ये भूखे काल के कारण मुख से बाहर गिरे हुए कुछ भोजन के अंश पड़े हों ।

इसने हमारे अनेक सैनिक धराशायी कर डाले हैं, अतः शीघ्र ही मेरा रथ उसके पास ले चलिये ।

संस्कृत-व्याख्या

चन्द्रकेतोर्मनसः, शङ्कामपाकरोति सुमन्त्रः=वत्स ! इति । तात ! एते सर्वे मिलिता अपि सैनिका अस्य किमप्यपकर्तुं समर्था न, व्यस्तानाम्=पृथग् व्यवस्थितानान्तु कथैव का ? अतिशय-बलशाली बालोऽप्यबालपौरुषोऽयमिति लज्जाया अवसर एव नायातीति भावः ।

लवः सैनिकानां विध्वंसं करोत्यतः सत्वरं रथं चालयेति सुमन्त्रं प्रेरयितुं प्राह—आगर्जदिति ।

सरलार्थस्तु:—"अत्र सेनायां दुन्दुभिध्वानेन समृद्धम् स्वधनुषः प्रत्यञ्चायाः—आकर्षण-विकर्षणे सम्भूतं शब्दं, यस्याकर्षणेन पर्वतानां गुहासु चरतां गजानामपि कर्णकुहरयोर्ज्वरः (इव) उत्पद्यते, अर्थात् गजा अपि "कुतोऽयं शब्दः ?" इति भीता

भवन्ति, सम्बर्धयन्, सैनिकानां खण्डितैः शिरः-समूहैः पृथिवीमाच्छादयति, तैः शिरोभिरभिव्याप्ता च धरणी एवंविधा प्रतीयते-यथा तृषार्तेन कालेन सर्वे प्राणिनो भुक्ताः, भोजनानन्तरं च यदुच्छिष्टोंऽशो भूमौ निपतति, तद्रूपेण शिरांसि पतितानि, इति । बहवः सैनिका अनेन धराशायिनः कृताः, इति त्वरितं तत्र गत्वा, प्रतीकारप्रकारोऽस्माभिरप्यश्रयणीयः इति ।"

व्याख्याचास्य—अयं वीरः अमन्दैः = बहुलैः, दुन्दुभीनां = भेरीणां रवैः = शब्दैः, आध्मातम् = समृद्धम्, आगर्जन्तो ये गिरीणां = पर्वतानां, कुञ्जेषु = निकुञ्जेषु, ("निकुञ्ज कुञ्जो वा क्लीवे लतादि पिहितोदरे") इत्यमरः। (ये) कुञ्जरः = गजाः, तेषां घटायै समूहाय, निर्स्तीर्णः = प्रदत्तः, कर्णयोर्ज्वरः = पीडा येन तं, ज्यायाः = प्रत्यञ्चायाः निर्घोषम् = शब्दं, उज्जृम्भयन् सम्वर्धयन्, वेल्लन्तः = इतस्ततः परिचलन्तः ये, भैरवाणां = भयङ्कराणा, रुण्डखण्डानां = कबन्धानां शिरसां च निकरैः समूहैः, भुवं पृथिवीम् तृष्यन् = पिपासितः, यः कालः = मृत्युः, तस्य यत् करालम् = विकटम्, वक्त्रम् = मुखम्, तस्य विघसैः = भुक्तावशिष्टांशैः, व्याकीर्यमाणामिव = विस्तीर्यमाणामिव ("अमृतं विघसोयज्ञशेषयोः" इत्यमरः) विधत्ते करोति ।

अत्र कर्णज्वरप्रदानाऽसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्त रतिशयोक्तिः, इव शब्दोपादानाच्च तथा सम्भावनोक्तेरुत्प्रेक्षा चेत्यनयो संसृष्टिः । शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः । ओजो गुणः । गौड रीतिः ॥६॥

टिप्पणी

(१) समास-विग्रह के लिये संस्कृत-टीका देखिये ।

(२) पाठान्तर—१. आगर्जत्···"आगुञ्जत्" । २. निस्तीर्ण···—"विस्तीर्ण" । ३. कर्णज्वर···—"कर्णज्वरम्" । ४. वेल्लद्भैरवरुण्डखण्ड···—"···रुण्डमुण्ड···" तथा "भूरिरुण्ड···" । ५. वीरो विधत्ते भुवम्—"···भुवः" तथा "व्याकीर्णमाना इव" ।

(३) "वेल्लद्भैरवः—" आदि के भावसाम्य के लिए देखिये—

कश्चिद्द्विषत्खड्गहृतोत्तमाङ्गः, सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य ।
वामाङ्ग संसक्तसुराङ्गनः खं, नृयत्कबन्धं समरे ददर्श ॥" (रघुवंश, ७/५१)

(५) "विघसः"—वि + √अद् + अप् । "उपसर्गेऽपः" (पा०, ३/३/५६) से अप्, "घनपौश्च" (पा०, २/४/३८) से अद् की 'घस्' । "अमृतं विघसो यज्ञशेषभोजनशेषयोः" इत्यमरः ।

(६) व्याकीर्यमाणाम्—वि + श + क्त + शानच् द्वितीया एकवचन ।

सुमन्त्रः—(स्वगतम् ।) कथमीदृशेन सह वत्सस्य चन्द्रकेतोर्द्वन्द्वसंप्रहारमनुजानीमः । (विचिन्त्य ।) अथवा इक्ष्वाकुकुलवृद्धाः खलु वयम् । प्रत्युपस्थिते रणे का गतिः ?

चन्द्रकेतुः—(सविस्मयलज्जासम्भ्रमम् ।) हन्त धिक् । अपावृत्तान्येव सर्वतः सैन्यानि मम ।

सुमन्त्रः—(रथवेगं निरूप्य ।) आयुष्मन् । एष ते वाग्विषयीभूतः स वीरः ।

चन्द्रकेतुः—(विस्मृतिमभिनीय) आर्य, किं नामधेयमाख्यातमाह्वायकैः।

सुमन्त्रः—'लव' इति।

चन्द्रकेतुः—

भो भो लव ! महाबाहो ! किमेभिस्तव सैनिकैः।
एषोऽहमेहि मामेव तेजस्तेजसि शाम्यतु ॥७॥

सुमन्त्रः—कुमार ! पश्य पश्य—

विनिर्वर्तित एष वीरपोतः पृतनानिर्मथनात्त्वयोपहूतः।
स्तनयित्नुरवादिभावलीनामवमर्दादिव दृप्तसिंहशावः ॥८॥

[अन्वयः—एष वीरपोतः त्वया उपहूतः (सन्), दृप्तसिंहशावः, स्तनयित्नुरवात् इभावलीनाम्, अवमर्दात्, इव पृतनानिर्मथनात्, विनिर्वर्तितः ॥८॥]

हिन्दी—

सुमन्त्र—(स्वयं ही) ऐसे (अनुपम) वीर के साथ वत्स चन्द्रकेतु के युद्ध का कैसे अनुमोदन करें ? (सोचकर) अथवा, हम 'इक्ष्वाकु'-वंश के वृद्ध हैं। युद्ध उपस्थित हो जाने पर क्या उपाय हो सकता है ?

चन्द्रकेतु—(विस्मय, लज्जा और सम्भ्रम से) हा ! धिक्कार है ! मेरी सेनायें सब ओर से विमुख हो गई हैं ! (पीठ दिखाकर भाग रही हैं !)

सुमन्त्र—(रथ को तेज चलाने का अभिनय कर) आयुष्मन् ! अब यह वीर तुम्हारी वाणी का विषय हो गया है। (अब तुम इससे बात-चीत कर सकते हो।)

चन्द्रकेतु—(विस्मृति का अभिनय कर) आर्य ! (मुझको) बुलाने वाले सैनिकों ने इसका क्या नाम बतलाया था ?

सुमन्त्र—"लव"।

चन्द्रकेतु [श्लोक ७]—महाबाहु लव ! इन सैनिकों के साथ (लड़ने से) क्या लाभ ? (तुम्हारे लिये तो) मैं हूँ आओ ! मुझसे भिड़ो ! (जिससे) तेज तेज में शान्त हो जाय ! (इन सैनिकों से तुम्हें लड़ना अच्छा नहीं लगता। आओ ! मुझ से ही लड़ो !)

सुमन्त्र—कुमार ! देखो ! देखो !

[श्लोक ८]—जैसे उद्दीप्त-सिंह-शावक मेघ-गर्जन सुनकर हाथियों को विध्वंस करने से रुक जाता है, वैसे ही यह वीर बालक तुम्हारे आह्वान (ललकार) को सुनकर सेना-संहार से निवृत्त होकर तुम्हारी ओर आ रहा है।

संस्कृत-व्याख्या

लवस्येदृशीं युद्धकुशलतनां निरीक्ष्य सचिन्त इव सुमन्त्रः स्वगतं विचारयति—कथमिति।

ईदृशेन वीरेण साकं वत्सस्य चन्द्रकेतोर्द्वन्द्वसम्प्रहारम् = सङ्ग्राममनुजानीमः = युद्धार्थं कथमनुमोदनं कुर्याम् ? (विचिन्त्य) इक्ष्वाकुवंशस्य वृद्धा वयम्। समुपस्थिते

रणसमये किमन्यत् कार्यं स्यात् ? अधुना युद्धवैमुख्ये सर्वथा वंशस्य निन्दा भवेदिति युद्धार्थं ममानुमोदनमावश्यकमेवेति तत्त्वम् ।

सैनिकान् विमुखानवलोक्य विस्मितः (लव-पराक्रमतः) लज्जितः (सेनापलायनात्) सम्भ्रान्तः (सेनारक्षणार्थं त्वराया आवश्यकत्वात्) चन्द्रकेतुः कथयति—हन्त इति । हन्त ! धिक् एतान् सैनिकान् ! यत. सर्वतः = समन्तातमम सैन्यानि अपावृत्तानि = विमुखानि सञ्जातानि ! क्षत्रियाणां युद्धात् पलायनं मरणादपि विनिन्दितमिति भावः ।

रथवेगं निरूप्य = दर्शयित्वा सुमन्त्रः प्राह—आयुष्मन् ! चन्द्रकेतो ! अयं वीरस्तव वाचः = शब्दस्य विषयीभूतः । इदानीं सामीप्यादनेन सह वार्त्तालापं कर्तुं शक्यते त्वयेति भावः ।

विस्मरणमभिनीय = विस्मृतिमिव नामविषये कृत्वा चन्द्रकेतुः सुमन्त्रं पृच्छति—आर्य इति । आह्वायकैः = आह्वानं कुर्वद्भिः सैनिकैः किं नामधेयम् - नाम आख्यातम् = कथितमासीत् ? अहमिदानीमेतस्य नाम विस्मृतवानस्मि, भवता तु स्मृतमेव स्यात् ? "आख्यायकैः" इति पाठे तु सन्देशहारकैः अस्माकं दूतैरित्यर्थः ।

"लवः" इति सुमन्त्रतो नाम श्रुत्वा चन्द्रकेतुस्तं सम्बोध्य कथयति—भो इति । महाबाहो ! लव ! एभिः सैनिकैस्सह किमिति वीरेण भवता युद्धं क्रियते ? सैनिकानामेव सैनिकैः सह शोभते युद्धम् । न च भवान् सैनिकः । अतो मयैव सह भवतो युद्धमुचितम् । यतः तेजसः प्रशंसस्तेजस्येव भवितुं युक्तः । एतेनावयोरुभयोरपि तुल्यबलशालित्वमभिव्यज्यते । अत्र काव्यलिङ्गमलंकारः । अनुष्टुप् च्छन्दः ॥७॥

चन्द्रकेतोर्वचनं श्रुत्वा सहसैव परावर्तमानं लवमालोक्य सुमन्त्रः प्राह—विनिवर्तित इति ।

कुमार ! पश्य ! त्वयोपहूतः—आकारितः, एष वीरपोतः, पृतनायाः = सेनायाः, निर्मथनात् = विध्वंसकरणात् विनिवर्तितः = प्रत्यावृत्त एव । दृप्तः सदर्पः, सिंहस्य शावः = शावकः, स्तनयित्नो, = मेघस्य रवात् = शब्दं निशम्य, इभानाम् = गजानाम्, अवलीनाम् = समूहानाम्, अवमर्दात् = विनाशात् यथा निवृत्तो भवति तथैवायमपीत्यर्थः ।

यथा—सगर्वः सिंहशावकाः (सुतः गजानां विनाशे प्रवृत्तोऽपि सहसा मेघगर्जनमाकर्ण्य गजान् परित्यज्य कोऽप्ययमपि महागजो मामाकारयतीति मत्वा तदभिमुखो भवति, तथैवायमपि त्वदभिमुखः सञ्जात इति भावः ।

एतदनुरूपमेव पद्यं कविवरेण श्रीभारविणाप्युक्तम् ।

तथा हि—"किमपेक्ष्य बलं वयोधरान्, ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः ?
प्रकृतिः, खलु सा महीयसः, सहते नान्यसमुन्नतिं यया ॥ इति ॥

यथा वा—पण्डितराज-श्रीजगन्नाथस्याप्यनवद्यं पद्यमेतदनुरूपमेव । काचिद्गर्भिणी सिंहपत्नी मेघं सम्बोध्य कथयति—

"धीरध्वनिभिरलं ते, नीरद ! मे मासिको गर्भः ।
उन्मद-वारण-बुध्या, मध्येजठरं समुच्छलति ॥" इति ॥

अत्रोपमालङ्कारः । प्रसादो गुणः माधुर्यं वा । वैदर्भी रीतिः । मालभारिणी च्छन्दः । तल्लक्षणञ्ज—"विषमे ससजा यदा गुरु चेत्,
सभरा येन तु मालभारिणीयम् ॥" इति ॥८॥

टिप्पणी

(१) "प्रत्युपस्थिते रणे का गतिः"—सुमन्त्र का अभिप्राय है कि इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय होने के कारण युद्ध से मुख मोड़ना उचित नहीं है । क्योंकि—

"समात्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः ।
न निवर्तेत सङ्ग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥"

× × × ×

"शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥" (गीता, १८/४३)

(२) पाठान्तर—१. अनुजानीमः—"अनुजानीयाम्" । २. प्रत्युपस्थिते रणे—"स्थिते च का गतिः ?" ३. अपावृत्तानि—"अपचितानि" तथा "प्रतिनिवृत्तानि" । ४. आह्वायकैः—"आख्यायकैः (रणभूमौ उभयपक्षप्रधानपुरुषाणां नामकीर्त्तननिसक्तैः पुरुषैः) ।

(३) [श्लोक ८]

१. विनिर्वर्त्तितः—पाठा०, "व्यपवर्त्तत" तथा "विनिवर्तत" ।

२. भाव-साम्य देखिये—

(अ) "किमपेक्ष्य फलं पयोधरान्···" (दे०, सं० टीका) (किरात०, २/२१)

(आ) "धीरध्वनिभिरलं ते···" (दे०, सं० टीका)

(इ) "तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो, मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः ।
स्वभाव एवोन्नतचेतसामयं, महान् महत्स्वेव करोति विक्रमम् ॥"

(ततः प्रविशति धीरोद्धतपराक्रमो लवः ।)

लवः—साधु राजपुत्र ! साधु ! सत्यमैक्ष्वाकः खल्वसि । तदहं परागत एवास्मि ।

(नेपथ्ये महान् कलकलः ।)

लवः—(सावष्टम्भं परावृत्य) कथमिदानी भग्ना अपि पुनः प्रतिनिवृत्ताः पृष्ठानुसारिणः पर्यवष्टम्भयन्ति मां चमूपतयः । धिग्जाल्मान् ।

अयं शैलाघातक्षुभितवडवावक्त्रहुतभु-
क्प्रचण्डक्रोधार्चिर्निचयकवलत्वं व्रजतु मे ।
समन्तादुत्सर्पद्घनतुमुलसेनाकलकलः,
पयोराशेरोघः प्रलयपवनास्फालित इव ॥९॥

[अन्वयः—अयं, समन्तात्, उत्सर्पद्घनतुमुलसेनाकलकलः, प्रलयपवनास्फालितः,

पयोराशेः, ओघः, इव, मे शैलाघात-क्षुभित-वडवा-वक्त्र-हुतभुक्-प्रचण्डक्रोधार्चिर्निचय-कवलत्वं । व्रजतु ॥९॥

(सवेगं परिक्रामति ।)

हिन्दी—

(तदनन्तर धीरोद्धत "लव" का प्रवेश होता है ।)

लव—साधु ! राजपुत्र ! साधु ! सचमुच तुम 'इक्ष्वाकु' वंशीय हो ! अतः मैं भी तुम्हारे सम्मुख आ ही गया हूँ !

(नेपथ्य में महान् कल-कल होता है)

लव—(कुछ ठहर कर लौटते हुए) क्या तितर-बितर हो जाने पर भी पुनः लौटकर सेनापति मेरा पीछा करते हुए मुझको रोक रहे हैं ? इन शठों को धिक्कार है।

[श्लोक ९]—यह चारों ओर से फैलता हुआ सेना का प्रबल एवं भयङ्कर कोलाहल, प्रलय-कालीन पर्वत से सन्ताड़ित समुद्र के प्रवाह की भाँति, पर्वतों के आघात से क्षुब्ध बड़वानल के (ग्रास के) समान मेरी क्रोधाग्नि का ग्रास हो जाय !

सरलार्थ—

जैसे प्रलयकाल में समुद्र का जल, पर्वताघात से क्षुब्ध बड़वानल का ग्रास बन जाता है, वैसे ही यह चारों ओर से उठता हुआ तुमुल कोलाहल मेरी क्रोधाग्नि का ग्रास हो जाए । (वेग से घूमता है)

संस्कृत-व्याख्या

चन्द्रकेतोर्वाक्यानन्तरं लवस्तदभिमुख एवायाति । तस्यागमनप्रकारं स्फुटीकरोति कवि— ततः इति । धीरः=गम्भीरः, उद्धतः=विकटः, पराक्रमो यस्य स एवं विधो लवः प्रवेशं करोति । कथयति च सत्यमेव राजपुत्र ! इक्ष्वाकुकुलोत्पन्नोऽसि । वीर-वंशोत्पन्ना एवं विधाः पराक्रमिण एव भवन्ति, अहं भवद्दर्शनेनैव प्रसीदामि ।

लवं निवृत्तं विदित्वा सैनिकास्तमनुकलकलङ्कुर्वन्ति, इति लवः सावष्टम्भं (स्थित्वा) परावृत्तः सन् कथयति—कथमिति । कथमिदानीमेव पराजिता अपि पुनरपि मामनुबध्नन्ति एते सेनापतयः ? धिक् जाल्मान् = असमीक्ष्यकारिणः । एते मम बलं जानन्त्येव न । पर्यवष्टम्भयन्ति = मम समीपे समायान्ति । माम्परितः समाहन्तुं चेष्टन्ते, इति यावत् ।

कोलाहलोऽयं मम क्रोधस्य कवलत्वं=ग्रासत्वं व्रजत्वित्याह—अयमिति ।

सरलार्थस्तु—

यथा प्रलयकाले समुद्रस्य मध्ये स्थितानां पर्वतानामाघात-प्रत्याघातैः परिक्षुभितस्य बड़वाग्नेः ग्रासो भवति समुद्रस्य जलानां प्रवाहः, तथैवायमेतेषां सैनिकानां कलकलः, अधुना मम प्रचण्ड-क्रोधाग्नौ विनष्टो भवतु, इति ।

अयं समन्तात्=परितः उत्सर्पन्=प्रसर्पन् घनः=सघनः, तुमुलः=भयङ्करः, यः सेनायाः कलकलः=कोलाहलः, प्रलय-कालिक-पवनेनास्फालितः—सन्ताडितः

पयोराशेः=सागरस्य, ओघः = प्रवाह-समूह इव, मे=मम, शैलानाम्=समुद्रान्तर्वर्ति-पर्वतानाम्, आघातेन=सन्ताडनेन, क्षुभितः=विक्षुब्धः-इतस्ततः प्रचलितः, इत्यर्थः, यो बडवायाः=अश्वायाः, वक्त्रे=मुखे हुतं=कृतहवनं भुङ्क्ते=अश्नातीति हुतभुक्=अग्निः, स इव प्रचण्डः=तीव्रः, यो मम क्रोधः, स एवार्चिषां ज्वालानां निचयः=समुदायः, तस्य कवलत्त्वं=ग्रासत्त्वं, ("ग्रासस्तु कवलः पुमान्" इत्यमरः) व्रजतु=गच्छतु। मयि प्रकुपिते एते सर्वे कां दशां यास्यन्तीति मूर्खा नैव जानन्ति, इति भावः।

अत्रोपमा-रूपकयोः संकरः। शिखरिणीच्छन्दः ॥९॥

टिप्पणी

(१) "शैलाघातः"—शैलाघातेन क्षुभितः यः वडवावक्त्रहुतभूक् (वडवानलः) तद्वत् प्रचण्डः क्रोधः, तस्य अर्चिनिचयः ज्वालासमूहः तस्य कवलत्वम् ग्रासत्वम्।

(२) आस्फालित—आ+स्फलत्+णिच्+क्त।

(३) "बडवावक्त्रहुतभुक्"—कीर्तवीर्य के पुत्र ने 'भृगुवंश' को नष्ट करने की कामना से उस वंश के गर्भस्थ बालकों को भी नष्ट कर डाला। कथञ्चित् भृगुवंश की एक गर्भिणी स्त्री ने अपने गर्भ को ऊरु (जाँघ) में छिपाकर उसकी रक्षा की। जब वह बालक उत्पन्न हुआ तो उसका नाम "और्व" पड़ा एवं उसे देखते ही कार्त्तवीर्य के समस्त पुत्र अन्धे हो गये। और्व को प्रलयङ्कारी क्रोध आ गया था। किन्तु अपने पितरों द्वारा शान्त किये जाने पर उसने अपने प्रचण्ड क्रोध को समुद्र में फेंक दिया जहाँ कि वह घोड़ी का मुख धारण कर पड़ा रहा। इसलिये समुद्र की अग्नि को वड़वानल कहा जाता है।

"ततस्तं क्रोधजं तात और्वोऽग्निं वरुणालये।
उत्ससर्ज स चावाप उपर्युक्ते महोदधौ,
महद्धयशिरो भूत्वा यत्तद्वेदविदो विदुः॥"

चन्द्रकेतुः—भो भोः कुमार!

अत्यद्भुतादपि गुणातिशयात्प्रियो मे
तस्मात्सखा त्वमसि, यन्मम तत्तवैव।
तत्किं निज़े परिजने कदनं करोषि?
नन्वेष दर्पनिकषस्तव चन्द्रकेतुः॥१०॥

[अन्वयः—अत्यद्भुताद्, गुणातिशयात्, अपि, त्वं, मे, प्रियः सखा असि, तस्मात्, यत् मम, तत् तव एव। तत्, निजे परिजने, किं कदनं करोषि? ननु, एष, चन्द्रकेतुः, तव, दर्पनिकषः॥१०॥

लवः—(सहर्षसंभ्रमं परावृत्य।) अहो! महानुभावस्य प्रसन्नकर्कशा वीर-वचनप्रयुक्तिर्विकर्तनकुलकुमारस्य। तत्किमेभिः? एनमेव तावत्संभावयामि।

हिन्दी—

चन्द्रकेतु—कुमार!

[श्लोक १०]—तुम (अपने) अत्यन्त आश्चर्यजनक गुणातिरेक से मुझे (बड़े)

प्रिय हो। अतः तुम मेरे मित्र हो ! इसलिये जो वस्तु मेरी है, वह तुम्हारी ही है। तो फिर अपने ही लोगों (सैनिकों) का क्यों विनाश कर रहे हो ? अरे तुम्हारे गर्व की कसौटी तो यह चन्द्रकेतु है। (आओ, मुझसे ही युद्ध करो।)

लव—(हर्ष और शीघ्रता से लौटकर) ओह ! सूर्यवंशीय महाप्रभावशाली कुमार के प्रसन्न और कठोर वीर-वचनों का प्रयोग ! (वास्तव में स्वकुलोचित है) अतः इन (सैनिकों के साथ लड़ने) से क्या लाभ ? पहले इसी का स्वागत करता हूँ।

संस्कृत-व्याख्या

चन्द्रकेतुर्लवं सम्बोध्य कथयति—अत्यद्भुतादिति।

भोः कुमार ! अत्यद्भुताद् गुणातिशयाद् त्वम् मम प्रियः सखा मतोऽसि, गुणिनस्तव गुणातिशयेनाहं नितान्तं प्रीतः सखायं भवन्तं मन्ये, इति भावः। तस्मात्-यद् वस्तु ममास्ति, तवापि तदस्त्येव, अतो निज जनेषु सैनिकेषु किमर्थं कदनं = विनाशं करोषि ? ननु भोः तव दर्पस्य निकषभूतोऽयं चन्द्रकेतुरस्तीति मयैव सह वार्तालापं (युद्धञ्चापि, यद्यभीष्टम्) कुरु। "चकास्ति योग्येन हि योग्यसंगमः" इति न्यायान्मयैव साकं युद्धन्तव शोभते, इति तत्त्वम्।

अत्र चन्द्रकेतो निकषारोपाद्रूपकालङ्कारः। वसन्ततिलका च्छन्दः ॥१०॥

चन्द्रकेतोर्वचनं निशम्य सहर्षं युद्ध-व्यापार-त्वरया च ससम्भ्रमं प्राह लवः—अहो ! इति। अहो महानुभावस्याय विकर्तनः=सूर्यः, तस्य कुलम्=वंशः, सूर्यवंशस्येति यावत्, तस्य कुमारस्य प्रसन्ना कर्कशा=कठोरा, वीरवचनानां प्रयुक्तिः=प्रयोगः। अयं प्रशंसनीयो बालः स्वकुलोचितामेव प्रसाद-गुण-गुम्फितां, वीरजनोचिताञ्च वाचमुच्चारयतीति भावः। तत् एभिः=सैनिकैः किम् ? एन कुमारमेव तावत्सम्भावयामि=वार्तालापादि करणेनास्यैव सत्कारं करोमि, इत्याशयः।

टिप्पणी

(१) अत्यद्भुतादपि—पाठा०, "अत्यद्भुतादसि" (२) गुणातिशयात्—हेतौ पञ्चमी। अति + √शी + अच् भावे = अतिशयः। (३) विकर्तन···—विकर्तयति भक्तरोगानिति विकर्तनः। अथवा विशेषेण कर्त्तनमस्य सः विकर्त्तनः। सूर्यः विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा देवी सूर्य की पत्नी थी। एक बार अपने पति का तेज न सह सकने के कारण उसने अपने पिता से इस विषय में बात कही। उसने सूर्य को सान पर चढ़ाकर खराद कर दिया। अतः इस 'विकर्त्तन' के कारण सूर्य को 'विकर्त्तन' कहा जाता है। "विश्वकर्मा त्वनुजातः शाकद्वीपे विवस्वता। भ्रममारोप्य तत्तेजः शांतनायोपचक्रमे।"

(पुनर्नेपथ्ये कलकलः।)

लवः—(सक्रोधनिर्वेदम्।) आः कदर्थीकृतोऽहमेभिर्वीरसंवादविघ्नकारिभिः पापैः। (इति तदभिमुखं परिक्रामति।)

चन्द्रकेतुः—आर्य ! दृश्यतां द्रष्टव्यमेतत्।

दर्पेण कौतुकवता मयि बद्धलक्ष्यः, पश्चादबलैरनुसृतोऽयमुदीर्णधन्वा ।
द्वेधा समुद्धतमरुत्तरलस्य धत्ते, मेघस्य माघवतचापधरस्य लक्ष्मीम् ॥११॥

[अन्वयः—कौतुकवता, दर्पेण, मयि, बद्धलक्ष्यः, पश्चात्, बलैः, अनुसृतः, उद्गीर्णधन्वा, अयं, द्वेधा, समुद्धतमरुत्तरलस्य, माघवतचापरधरस्य, मेघस्य लक्ष्मीं, धत्ते ॥११॥]

सुमन्त्रः—कुमार एवैनं द्रष्टुमपि जानाति । वयं तु केवलं परवन्तो विस्मयेन ।

हिन्दी—

(नेपथ्य में पुनः कोलाहल होता है ।)

लव—(क्रोध और ग्लानि के साथ) ओह ! इस वीर से वार्तालाप करने में इन विघ्नकारियों ने मुझे खिन्न कर दिया है । [उनकी (सैनिकों की) ओर घूमता है ।]

चन्द्रकेतु—आर्य ! देखिये ! यह (तो अवश्य) देखने योग्य है ।

[श्लोक ११]—धनुष चढ़ाये हुए, कौतुकयुक्त दर्प से मुझ पर लक्ष्य बांधने वाला और पीछे से सेनाओं के द्वारा पीछा किया जाता हुआ यह (वीर बालक) दोनों ओर से चलने वाले प्रचण्ड पवन से चञ्चल तथा इन्द्रधनुष से युक्त मेघ की शोभा को धारण कर रहा है ।

[सरलार्थ—इसने सामने से मुझ पर लक्ष्य बाँध रखा है और पीछे से सेना इसका पीछा कर रही है । इस समय इसकी शोभा ऐसी हो रही है जैसी दुतरफा आँधी से चञ्चल तथा इन्द्रधनुष-युक्त मेघ की होती है ।]

सुमन्त्र—तुम ही इसको देखने में समर्थ हो, हम तो केवल विस्मयाधीन हो रहे हैं ।

संस्कृत-व्याख्या

नेपथ्ये पुनरपि सेनाकोलाहलं निशम्य भृश प्रकुपितः प्राह—आ ! इमि । वीरेण—चन्द्रकेतुना सह संवादे विघ्नकारिभिरेभिः पापैः कदर्थितः—खेदितोऽस्मि । अनेन वीरकुमारेण सह वार्ताप्रसङ्गे मुधैव विघ्न जनयन्त्येते इति भावः । इत्युक्त्वा तेषां सैनिकानामभिमुखं पुनः परिक्रामति ।

तथा परिक्रामन्तं तं लवं निरीक्ष्य चन्द्रकेतुः सुमन्त्रं तस्य शोभामवलोकयितुं प्रार्थयते—दर्पेण इति ।

आर्य ! अयं कौतुकवता = औत्सुक्यवता दर्पेण = गर्वेण मयि बद्धं = दत्तं लक्ष्यं येन सः, दर्पेण हेतुना सोत्सुकः सन् अनुधावितः सन् उदीर्णम् = उन्नामितं धनुर्येन सः । धनुरुन्नमय्येत्यर्थः, द्वेधा, समुद्धतेन = प्रबलेन, मरुता = वायुना, तरलस्य = चञ्चलस्य; मघवतः = इन्द्रस्यायमिति माघवतश्चासौ चापः, माघवतचापस्तं धरतीति तस्य मेघस्य लक्ष्मीं = शोभां धत्ते । अयन्तु वीरभावतया मामुपयाति, पश्चीच्च सैनिका एनमनुधावन्ति, ततश्चायमिन्द्रचापधारिणः पवनवेगात् प्रचलितस्य मेघस्य द्वेधाश्रियं धत्ते, तादृशः प्रतीयते, इति भावः । अत्र निदर्शनालङ्कारः । वसन्ततिलका च्छन्दः ॥११॥

सुमन्त्रः साश्चर्यमाह—कुमार इति। ननु चन्द्रकेतो! त्वमेवैनं बालकं द्रष्टुं समर्थः, अहन्तु विस्मयेन परवान्-पराधीनः विस्मितः इत्यर्थः, अस्मि। एतस्य पराक्रमं निरीक्ष्य विस्मितोऽस्मीति भावः।

टिप्पणी

(१) कदर्थीकृतः—पाठा०, "कदर्थितः" कुत्सितः अर्थः कदर्थः। "कोः कत्तत्पुरुषेऽचि" (पाठा०, ६/३/१०१) इति कोः कदादेशः। कदर्थ + च्वि + √कृ + क्त = कदर्थीकृतः। कदर्थ + इतच् = कदर्थितः। (२) उदीर्णधन्वा—उदीर्णं धनुर्येन सः। "धनुषश्च" (पाठा०, ५/४/१३२) से अनङ् प्रथमा एकवचन। (३) माघवतचापधरस्य—मघोनः अयं माघवतः चापः, तस्य धरस्य "मघवा बहुलम्" (पा०, ६/४/१२८) से "मघवन्" को 'मघवत्'। मघवत् + अण् = माघवत्।

चन्द्रकेतुः—भो भो राजानः!

संख्यातीतैर्द्विरदतुरगस्यन्दनस्थैः पदाता-
वत्रैकस्मिन् कवचनिचितैर्नद्धचर्मोत्तरीये।
कालज्येष्ठैरपरवयसि ख्यातिकामैर्भवद्भि-
र्योऽयं बद्धो युधि समभरस्तेन धिग्वो धिगस्मान् ॥१२॥

[अन्वयः—संख्यातीतैः, द्विरदतुरगस्यन्दनस्थैः, कवचनिचितैः, कालज्येष्ठैः अपरवयसि, ख्यातिकामैः, भवद्भिः, एकस्मिन्, पदातौ, नद्धचर्मोत्तरीये, अत्र, युधि, यः, अयं, समभरः, बद्धः, तेन, वो धिक्, अस्मान् (च) धिक् ॥१२॥]

हिन्दी—

चन्द्रकेतु—हे राजाओ!

[श्लोक १२]—असंख्य हाथी, घोड़ों और रथों पर सवार, कवच पहने हुए; अवस्था में बड़े, वृद्धावस्था में भी ख्याति पाने की अभिलाषा रखने वाले आप लोगों ने, इस अकेले पैदल मुनिकुमार की पराजय के लिए यह जो भार ग्रहण किया है (युद्ध की तैयारी) की है, इससे आप लोगों को धिक्कार है और (आपके साथ रहने से) हमको भी धिक्कार है।

संस्कृत-व्याख्या

चन्द्रकेतुः स्वसेनायां समवेतान् भूपतीन् निवर्त्तयितुं सम्बोधयति—संख्येति।

ननु भो! राजानः! भवद्भिस्सर्वैरपि मिलित्वा एकस्मिन्नस्मिन् मुनिकुमारके योऽयं समेषां = सर्वेषां वः = युष्माकं भरः = भारः बद्धः, एतेन कर्मणा युष्मानपि धिक्। अस्माकं सेनायां समवेतत्त्वेन चास्मानपि धिक्! भवन्तः सर्वेऽपि संख्यातीताः = असंख्याः, गजतुरग-रथस्थाः, निबद्धकवचाः, अवस्थायां ज्येष्ठाः, अन्तिमावस्थायाम् वृद्धावस्थायामपि प्रसिद्धि कामयमानाः, अयञ्च-एकाकी, पदातिः, मृगचर्मधारी बालः! तस्मादेकेनानेन सह युद्धं सर्वथाऽन्याय्यमिति विरम्यतामस्मादनुचिताद् युद्धादिति भावः।

अत्र विषमालङ्कारः। मन्दाक्रान्ता छन्दः ॥१२॥

टिप्पणी

(१) संख्यातीतैः—संख्यामतीतैः इति । 'द्वितीयाश्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः' (पा०, २/१/२४) इति समासः। (२) कवचनिचितैर्नद्ध···—पाठा०, मेक्ष्य···' । कवचनेन निचितैः । नि + √चि + क्त = निचित । (३) कालज्येष्ठैरपरवयसि व्यतिकामैः—पाठा०, '···कालज्येष्ठैरभिनववयः काम्यकाये' । अभिनवं वयः, तेन काम्यः (मनोहरः) कायः यस्य तस्मिन् । (४) समभरः—पाठा०, 'परिकरः' ।

(५) धिग्वो धिगस्मान्—'उभसर्वतसोः कार्याधिगुपर्यादिषु त्रिषु। द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥'—इति द्वितीया।

चन्द्रकेतु का यह धिक्कार इस नियम के अनुसार ठीक है—

"न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीवं न कृताञ्जलिम्" (मनु०, ७/९१)

कुल्लूक ने भी कहा है—

"स्वयं रथस्थो रथं त्यक्त्वा स्थलारूढं न हन्यात् ।";

महाभारत में भी—

"रथी च रथिना योध्यो गजेन गजधूर्गतः ।
अश्वेनाश्वी पदातिश्च पदातेनैव भारत ! ···
क्षीणशस्त्रो विवर्मा च न हन्तव्यः कदाचन ।" (महा०, १/२९, ३१)

लवः—(सोन्माथम्) आः, कथमनुकम्पते नाम ? (ससंभ्रमं विचिन्त्य) भवतु । कालहरणप्रतिषेधाय, जृम्भकास्त्रेण तावत्सैन्यानि संस्तम्भयामि । (इति ध्यानं नाटयति ।)

सुमन्त्रः—तत्किमकस्मादुल्लोलाः सैन्यघोषः प्रशाम्यन्ति ?

लवः—पश्याम्येनमधुना प्रगल्भम् ।

सुमन्त्रः—(ससंभ्रमम्) वत्स ! मन्ये कुमारकेणानेन जृम्भकास्त्रमामन्त्रितमिति ।

चन्द्रकेतुः—अत्र कः सन्देहः ?

व्यतिकर इव भीमस्तामसो वैद्युतश्च,
प्रणिहितमपि चक्षुर्ग्रस्तमुक्तं हिनस्ति ।
अथ लिखितमिवैतत्सैन्यमस्पन्दमास्ते,
नियतमजितवीर्यं जृम्भते जृम्भकास्त्रम् ॥१३॥

[अन्वयः—तामसो, वैद्युतश्च, भीमः, व्यतिकर, इव, प्रणिहितमपि, ग्रस्तमुक्तं, चक्षुः, हिनस्ति, अथ, एतत्, सैन्यं लिखितम्, इव, अस्पन्दम्, आस्ते, नियतम्, अजितवीर्यं, जृम्भकास्त्रम् जृम्भते ॥१३॥]

आश्चर्यमाश्चर्यम् ।

पातालोदरकुञ्जपुञ्जितमः श्यामैर्नभो जृम्भकै-
रुत्तप्तस्फुरदारकूटकपिलज्योतिर्ज्वलद्दीप्तिभिः ।
कल्पाक्षेपकठोरभैरवमरुद्व्यस्तैरभिस्तीर्यते
लीनाम्भोदतडित्कडारकुहरैर्विन्ध्याद्रिकूटैरिव ।।१४।।

[अन्वयः—पातालोदर-कुञ्ज-पुञ्जितम-तमः श्यामैः, उत्तप्त-स्फुरदार कूट-कपिल-ज्योतिर्ज्वलद्दीप्तिभिः, जृम्भकैः, कल्पाक्षेप-कठोर-भैरव-मरुद्व्यस्तैः, लीनाऽम्भोदतडित्-कडार-कुहरैः, विन्ध्याद्रिकूटैः, इव, नभः, अभिस्तीर्यते ।।१४।।]

हिन्दी—

लव—(व्यथित होकर) अरे, क्या यह मुझ पर दया कर रहा है ? (शीघ्रता से सोचकर) अस्तु समय व्यर्थ न करने के लिए तब तक मैं [इन सैनिकों को जृम्भ-कास्त्र' से स्तम्भित करता हूँ। [ध्यान का अभिनय करता है ।]

सुमन्त्र—तो क्या अकस्मात् सैनिकों के तुमुल नाद शान्त हो रहे है !

लव—अब मैं इस प्रगल्भ (ढीठ) को देखता हूँ ।

सुमन्त्र—(घबराहट से) वत्स ! मैं समझता हूँ कि इस कुमार ने 'जृम्भकास्त्र' का प्रयोग किया है ।

चन्द्रकेतु—इसमें क्या सन्देह है ?

[श्लोक १३]—यह अन्धकार और बिजली का भयङ्कर मिश्रण-सा है । यह पहले सावधानतापूर्वक लगी हुई तदनन्तर मुक्त दृष्टि को बाधित कर रहा हैं। (इस अस्त्र के छूटने से पहले तो भयङ्कर अन्धकार छा गया जिससे देखने वालों की आँखें देखने में असमर्थ हो गई, थोड़ी देर में इतना अधिक प्रकाश हुआ कि आँखें चौंधिया गईं, जिससे कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा है ! यह अन्धकार और बिजली का बड़ा भयानक मिश्रण है ।) और (दूसरी बात यह है कि) सारी सेना निस्पन्द होकर चित्रलिखित-सी खड़ी है । (इससे स्पष्ट है कि) निश्चय है अपरिणत शक्ति वाला, जृम्भकास्त्र' प्रकट हो रहा है ।

आश्चर्य ! आश्चर्य है ।

[श्लोक १४]—पाताल के अन्दर कुञ्जों में एकत्रित अन्धकार के समान काले और तपे हुए देदीप्यमान पीतल की प्रभा से युक्त, प्रज्वलित 'जृम्भकास्त्र' आकाश को व्याप्त कर रहे हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि मानो प्रलयकालीन प्रचण्ड तथा भयंकर पवन के द्वारा उड़ाये गये छिपे मेघों वाले तथा बिजली से पीली-पीली गुफाओं वाले विन्ध्याचल के शिखर (समस्त आकाश को) व्याप्त कर रहे हों ।

संस्कृत-व्याख्या

सोन्माथम्=सव्यथ स्यात्तथा लवश्चन्द्रकेतोरुक्तिं निशम्याह—आः इति । आः ! कथम्, अनुकम्पां मयि दयां करोति ? अस्तु, कालस्य=समयस्य हरणस्य प्रति-

षेधार्थम्, एवमेभिः सह निरर्थक-गतागतकरणेन बहुसमयो व्यत्येष्यति, स माभूदिति हेतोः तावत् 'जृम्भक'—संज्ञकेनास्त्रेण सैन्यानां संस्तम्भनम् = निरोधं करोमि।

सैन्यनिरोधं निरीक्ष्य साश्चर्यमाह सुमन्त्रः = तत् किमिति। तत् किमित्यकस्मादुल्लोलाः = अतिचञ्चलाः, सैन्यानाम् = सैनिकानाम् घोषाः = कोलाहलशब्दाः, प्रशाम्यन्ति = शान्ता भवन्ति ?

सुमन्त्रस्य 'मन्ये, अनेन जृम्भकास्त्रमामन्त्रितम् इति वचनं समर्थमानः प्राह चन्द्रकेतु—व्यतिकर इवेति।

अत्र भवतां वाक्ये सन्देहो नास्ति। निश्चितमेवायं जृम्भकस्यैव प्रभावः। प्रभावः तथाहि—तामसः = तमः सम्बन्धी, वैद्युतः = वैद्युतसम्बन्धी, भीमः = भयङ्करः, व्यतिकर इव = सम्बन्ध इव, प्रणिहितं = सावधानतया क्षिप्तमपि, पूर्वं ग्रस्तं पश्चात् मुक्तं चक्षुः हिनस्ति = बाधते, तमसां विद्युतश्च सम्पर्को यथा चक्षुषः समवलोकनः शक्तिमपहन्ति, चाकचक्यवशान्नेत्रे विलोकन-शक्ति-शून्ये भवतः, तथैवात्रापि नेत्रे विषयं कथंचिद् गृहीत्वाऽपि पुनस्तमस आधिक्यात् तं परित्यजतः, इत्यतः स्फुटं प्रतीयते जृम्भकास्त्रस्यैवायं प्रभावः, इति। अपि च—एतत् सैन्यमस्पन्दं = चेष्टारहितम्, लिखितमिव वर्तते, अतो निश्चीयते—अजितवीर्यम् = यस्य पराक्रमं कोऽपि जेतुं न क्षमते एवममितप्रभाव जृम्भकास्त्रमेव जृम्भते = वर्धते।

अत्र उपमा-अनुमानयोरलङ्कारयोः सांकर्यम्। मालिनी च्छन्दः ॥१३॥

पुनः साश्चर्यमाह—पातालोदर इति।

सरलार्थस्तु—

"पातालस्यकुञ्जेषु सञ्चितं तम इव श्यामवर्णैः, परितप्त-पित्तलवद्दीप्तकान्तिभिः जृम्भकैरकाशं व्याप्तमस्ति, तच्चैवं प्रतीयते यथा प्रलयकालिकपवन-द्वारा इतस्ततः परिक्षिप्ताः संविद्युतः मेघा इव एते विन्ध्यपर्वतस्य कूटाः आकाशमभिव्याप्नुवन्ति। इति।

पातालस्य = रसातलस्य, उदरेषु = मध्य भागेषु, ये कुञ्जाः तेषु पुञ्जितानि = एकत्रीभूतानि यानि तमांसि = अन्धकारास्तानीव श्यामवर्णानि तैः, उत्तप्तं, स्फुरत् = देदीप्यमानं यत् आरकूटम् = पित्तलम् (आरकूटन्तु पित्तलम्'), 'रीतिः स्त्रियामारकूटम्', इति कोषः।) तस्य कपिलवर्णं ज्योतिरिव ज्वलन्ती = देदीप्यमाना दीप्तिः = प्रकाशः = प्रभावो येषां तानि तैः, एवंविधैः 'जृम्भक'-संज्ञकैरस्त्रैः, कल्पस्य प्रलयस्य, आक्षेपे = अन्ते, कठोराः = दृढाः, भैरवा = भयङ्कराश्च, ये मरुतः = पावनाः, तैर्व्यस्तैः = पृथक्कृतैः, लीनाः = परस्परं मिलिता अम्भोदाः = मेघाः येषु तानि, अथ च—तडिद्भिः—विद्युद्भिः, कडाराणि = पिङ्गलवर्णानि कुहराणि = गुहाः, येषां तानि, तैः विन्ध्यपर्वतस्य कूटैः = शिखरैः ('कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इति कोषः) इव, नभः = आकाशं, अभिस्तीर्यते = समाच्छाद्यते। व्याप्यते इति यावत्।

अत्र उत्प्रेक्षा अलङ्कारः। ओजो गुणः। गौडी रीतिः। शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः ॥१४॥

टिप्पणी

(१) [श्लोक १३]—

१. व्यतिकर इव—पाठा०, 'व्यतिकार इह'। वि+अति+√कृ+अप् =व्यतिकरः। २. ग्रस्तमुक्तम्—पूर्वं ग्रस्तं पश्चान्मुक्तम्। 'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेलाः समानाधिकरणेन' (पा०, २/१/४९) से कर्मधारयसमासः। नियतमजितवीर्यम्—पाठा०, नियतममितवीर्यम्। अजितं (अमितं) वीर्यं यस्य तम्। √मा+क्त भावे=मित। न मितम् अमितम्। जितम् अजितम्। नञ्+√जि+क्त। (४) इस पद्य की प्रथम पंक्ति 'मालतीमाधव' के नवम् अङ्क के ५४ वें एवं दशम अङ्क के ८ वें श्लोक में भी आयी है।

(२) [श्लोक १४]—

१. समास के लिये संस्कृत टीका देखिए। २. पाठान्तर—(१) अभिस्तीर्यंते—अवकीर्यं', 'अवस्ती०,' (२) लीनाम्भोद—'मीलन्मेघ'।

३. विन्ध्याद्रिकूटैरिव—इस पर प्रो० काणे टिप्पणी करते हैं—

"The poet speaks of the विन्ध्य brobably because being a native of Berars, that mountain was familiar to him. The जृम्भक spreading darkness and lightning are poetically represented to be the peaks of the विन्ध्य blown away by the pralaya wind and covered by dark clouds and flashing lightning."

सुमन्त्रः—कुतः पुनरस्य जृम्भकाणामागमः स्यात्?

चन्द्रकेतुः—भगवतः प्राचेतसादिति मन्यामहे।

सुमन्त्रः—वत्स! नैतदेवमस्त्रेषु विशेषतो जृम्भकेषु। यतः—

> कृशाश्वतनया ह्येते, कृशाश्वात्कौशिकं गताः।
> अथ तत्सम्प्रदायेन, रामभद्रे स्थिता इति ॥१५॥

चन्द्रकेतुः—अपरेऽपि प्रचीयमानसत्त्वप्रकाशाः स्वयं सर्वं मन्त्रदृशः पश्यन्ति।

सुमन्त्रः—वत्स! सावधानो भव। परागतस्ते प्रतिवीरः।

कुमारौ—(अन्योन्यं प्रति।) अहो! प्रियदर्शनः कुमारः। (सस्नेहानुरागं निर्वर्ण्य।)

> यदृच्छासंवादः किमु? गुणगणानामतिशयः?
> पुराणो वा जन्मान्तरनिबिडबद्धः परिचयः।
> निजो वा सम्बन्धः किमु विधिवशात्कोऽप्यविदितो?
> ममैतस्मिन्दृष्टे हृदयमवधानं रचयति ॥१६॥

[अन्वयः—एतस्मिन्, दृष्टे, यदृच्छासंवादः, किमु गुणगणानाम्, अतिशयः, किमु, जन्मान्तरनिविद्धबद्ध, पुराणः, परिचयो वा, विधिवशात्, अविदितः, कोऽपि, निजः, सम्वन्धो वा, किमु, मम हृदयम्, अवधानम्, रचयति ॥१६॥]

हिन्दी—

सुमन्त्र—इस पर 'जृम्भकास्त्र' कहाँ से आये होंगे ?

चन्द्रकेतु—भगवान् वाल्मीकि जी से (प्राप्त हुए होंगे), ऐसा समझते हैं।

सुमन्त्र—वत्स ! अस्त्रों के विषय में ऐसा नहीं है, विशेषकर 'जृम्भकास्त्रों' के। इसे (जृम्भकास्त्रों की प्राप्ति वाल्मीकि जी से होना सम्भव नहीं है।) क्योंकि—

[श्लोक १५]—ये 'कृशाश्व' के पुत्र (तुल्य) है (अर्थात्, सर्वप्रथम कृशाश्व ने इसका आविष्कार किया) और कृशाश्व से ये 'विश्वामित्र)' पर पहुँचे। तदनन्तर गुरु-क्रम से अब ये 'राम भद्र' के पास हैं। इन गुरुओं में वाल्मीकि का नाम नहीं है, अतः उनसे इसे अस्त्र कैसे प्राप्त हो सकते हैं ?)

चन्द्रकेतु—सत्वगुण से जिनका अन्तःकरण प्रकाशित रहता है, ऐसे अन्य मन्त्रद्रष्टा-ऋषि (तो) स्वयं सब कुछ जान लेते हैं। (इसलिए कहीं सर्वज्ञ-कल्प वाल्मीकि जी को इन अस्त्रों का स्फुरण हो गया हो ?)

सुमन्त्र—वत्स ! सावधान हो जाओ ! तुम्हारा प्रतिद्वन्द्वी वीर आ गया है।

दोनों कुमार—(एक दूसरे के प्रति) ओह ! कुमार (कैसा) प्रियदर्शन है ! (स्नेह और अनुराग से देखकर)—

[श्लोक १६]—इसे देखने पर मेरा हृदय एकाग्र क्यों हो रहा है ? क्या यह दैववश मिलन हो गया है ? अथवा गुणों का उत्कर्ष (ही इसका कारण है ?) या कोई जन्म-जन्मान्तर का पुराना घनिष्ठ परिचय है ! अथवा, भाग्यवश कोई अपना अज्ञात सम्बन्ध ही है ? (क्या कारण है; मैं इसका निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ।)

संस्कृत-व्याख्या

एवं विधान्यस्त्राणि यस्य कस्यचित् समीपे नैवायान्ति, इति साधयितुमाह सुमन्त्रः— कृशाश्व इति।

एते जृम्भकाः अस्त्रविशेषाः, कृशाश्वस्य महर्षेस्तनया इव सन्ति=तेनैवाविष्कृता इति यावत्। तस्माच्च कौशिकम्=विश्वामित्रम्, समागताः=शिष्याय तस्मै दत्ताः। अथ तस्मात्सम्प्रदायानुसारं तत्र भवति रामभद्रे-स्थिता, इत्येष एव एतेषां क्रमः। अस्मिन् क्रमे, श्रीवाल्मीकेर्महर्षेस्तु नाम नायाति। इति कुतोऽस्य जृम्भकप्राप्तिरिति चिन्तनीयो विषयः, इति भावः।

अत्र जृम्भकाणां क्रमशोऽनेकत्र स्थित्या-पर्यायोऽलंकार। तल्लक्षणञ्च यथा—

"क्वचिदेकमनेकस्मिन् अनेकं चैकगं क्रमात्।
भवति, क्रियते, वा चेत्तदा पर्याय इष्यते॥" इति॥

अनुष्टुप् छन्दः ॥१५॥

सुमन्त्रस्योक्तिं स्वतर्क-कर्तव्याकर्तयन्नाह—विकर्तन-कुल-कुमारश्चन्द्रकेतुः—

अपरेऽपीति। ननु अपरेऽपि वहवः, प्रचीयमानः=वृद्धिं प्राप्तः सत्त्वगुणस्य प्रकाशो येषु ते, मंत्रदृशः मन्त्रद्रष्टारः ऋषयः स्व-बुद्धि-वैभवेन सर्वमपि जगज्जातं स्वयं पश्यन्ति, तत् कथन्नु महर्षेर्वाल्मीकेरस्त्राणामागमो न सम्भाव्यते ?

युक्ति-युक्तस्यास्य तर्कस्य समाधानमपश्यन्नाह प्रस्तुतमावस्यकम्—वत्सेति ! वत्स ! अयं ते प्रतिपक्षो वीरः परागतः अतः सावधानो भव। कदाचिदयमागत्य त्वामपि न पराभवेत्।

कुमाराविभौ परस्परदर्शनेन प्रसन्नो भूत्वा कथयतः—यदृच्छेति।

एतस्मिन् कुमारे दृष्टे सति न जाने मम हृदयम् अवधानम्=सावधानताम्=एकाग्रतामिति यावत् रचयति तत्र किं कारणमिति नावधारयामि ? यथा कमपि पूर्वसम्बन्धिनमवलोक्य चेतसि महती प्रीतिरुदेति तथैवास्य दर्शनेन ममापीति भावः। किमु यदृच्छासंवादः=दैवप्रेरितेच्छयैवायं कश्चित्स्वेष्टजनसमागमः ? अथवा—कोऽपि गुणगणानाम्—औदार्यानाम् सज्जनोचितानामतिशय एव ? सज्जना हि अपरिचितेनापि जनेन सह समागमेऽतितमां प्रसन्नतां प्रकटयन्तीति भावः। अथवा—कश्चिज्जन्मान्तरस्यैव निबिडम्=दृढं यथा स्यात्तथा निवद्धः परिचयोऽस्ति ? पूर्वपरिचितः कश्चित्सम्बन्धः किं वेति भावः।। अथवा—स्वकीय एव कोऽपि सम्बन्धः विधिवशादपरिचितः सञ्जातः ? किं कारणमिति मम निर्णयो न भवतीति भावः।

अत्र सन्देह काव्यलिङ्गञ्चालङ्कारौ। शिखरिणी च्छन्दः॥१६॥

टिप्पणी

(१) कुशाश्वतनयाः—पाठा०, 'भृशाश्वतनयाः'। (२) प्राचीयमानसत्त्वप्रकाशाः—पाठा०, 'परमोपचीयमानत्वप्रकाशाः'। प्रचीयमानः सत्वस्य प्रकाशः येषु ते। जिनमें सत्व का प्रकाश वढ़ा हुआ है। सांख्यदर्शन के अनुसार सत्व, रजस् और तमस्—तीन गुण हैं जिसमें 'सत्वगुण' प्रकाशक होता है—

"सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः। गुरुवरणकमेव तमः।

प्र+चि+कर्म० शानच प्रथमा वहुवचन। (सांख्यकारिका)

(३) [श्लोक १६]

१. किमु गुणगणानाम्—पाठा०, 'किमु किमु गुणानाम्'।

२. पुराणो वा परिचयः पाठा०, '…निबिडबन्धः…'।

तुलना कीजिये—

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमवोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि।" (अभिज्ञान० ५)

"मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम्" (रघुवंश, ७/१५)

सुमन्त्रः—भूयसां जीविनामेव धर्म एष, यत्र स्वरसमयी कस्यचित्क्वचित्प्रीतिः, यत्र लौकिकानामुपचारस्तारामैत्रकं चक्षूराग इति। तदप्रतिसङ्ख्येयमिबन्धनं प्रमाणमामनन्ति।

अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया ।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरर्भूतानि सीव्यति ॥१७॥

[अन्वयः—यः, अहेतुः, पक्षपातः, तस्य, प्रतिक्रिया, नास्ति । हि, सः स्नेहात्मकः तन्तुः, भूतानि, अन्तः, सीव्यति ॥१७॥]

हिन्दी—

बहुत से प्राणियों का ['भूयसा' पाठ में—प्रायः प्राणियों का] यह स्वभाव है कि किसी का किसी में आनन्दमय प्रेम होता है। इसी प्रेम का उद्देश्य कर लौकिक व्यक्तियों का कहना है—"आँखों की पुतलियों की मित्रता" या "आँखों का प्रेम" (होता है।) और उसको अतर्क्य प्रमाण मानते हैं। (अर्थात्, जहाँ जिसके बिना किसी कारण के प्रीति होती है उसे लोग दैव-प्रेरित ही मानते हैं; और उसे तर्क से परे की वस्तु समझते हैं।)

[श्लोक १७]—जो बिना किसी निमित्त के अनुराग (पक्षपात) होता है उसकी (कोई) रोक-थाम नहीं (हो सकती)। वह स्नेहात्मक सूत्र प्राणियों के हृदयों को सीं देता है—मिलाये रखता है। जैसे तन्तु से भिन्न-भिन्न वस्त्र सींकर मिला दिये जाते हैं वैसे ही यह संसार भी स्नेह से ही एक-दूसरे से मिला रहता है।

संस्कृत-व्याख्या

युक्तिसङ्गतामुक्तिमुपस्थापयति सुमन्त्रः—भूयसामिति । भूयसाम् = अनेकेषां, जीविनाम् = प्राणिनाम्, एष धर्मः = धर्म एवायम् । यतः = कस्मिंश्चिद् वस्तुनि कस्यचित् स्वरसमयी = आत्मानन्दरूपा प्रीतिर्भवति । सर्वस्य सर्वत्र प्रीतिर्न भवति, क्वचिदेव प्रीतिर्भवति । तामेव प्रीतिमुद्दिश्य लौकिका जनाः, 'तारामैत्रकम्' 'चक्षूरागः' इति वा उपचारं = प्रवादं समुपस्थापयन्ति । तारयोः = नेत्रकनीनिकयोः, मैत्रकम् = मित्रता, चक्षुषो रागः = प्रीतिः, इति कथयन्ति । तदेव चाप्रतिसंख्येयं = अप्रतिगणनीयम्, अविचारणीयमिति यावत्, प्रमाणं कथयन्ति । यत्र कारणं विनैव कस्यचित्प्रीतिर्भवति, तत्र किञ्चिद्दैवप्रेरितमेव कारणमस्तीति वक्तव्यम्भवतीति कदाचिदयमपि कश्चित्सम्बन्धी भवेदिति भावः ।

अत्रैवार्थे प्रमाणमुपन्यस्यति—अहेतुरिति ।

यः कारणमन्तरैव पक्षपातो भवति, तस्य प्रतिक्रिया नैव भवति, स हि स्नेहरूपस्तन्तुः प्राणिनः अन्तः = अभयन्तरे सीव्यति = नेहवशादेव सर्वेषां प्राणिनां पारस्परिकः सम्बन्धो भवति । यथा तन्तुभिरेव वस्त्राणि द्विधा भूतान्यपि एकीक्रियन्ते, तथैव भिन्ना अपि जीवाः स्नेहवशादेव परस्परं सम्मिलिता जायन्ते, इति नात्र सम्बन्धे शंका कार्येति भावः ।

अत्र अर्थान्तरन्यासो अलङ्कारः । रूपकञ्च ॥१७॥

टिप्पणी

(१) भूयसां···स्वरसमयी—पाठा० 'भूयसा जीविधर्म एष यत्रसमयी'।

(२) यत्र लौकिकानामुपचारस्तारामैत्रकं चक्षूराग इति। तदप्रति···—पाठा०,

'यत्र लौकिकानां व्याहारस्तारामैत्रकं वा चक्षूराग' इति । तमप्रति...' आमनन्ति = आ + √म्ना (अभ्यासे + लट्, झि (अन्ति) ।

'तारामैत्रकम्' और 'चक्षूरागः' शब्द की व्याख्या अपेक्षित है । ताराणां मैत्रकम् । नेत्र-कनीनिकाओं का प्रेम । चक्षूषां रागः । नेत्रों का प्रेम (बङ्गाली में इसे 'चखेर देखा' कहते हैं ।) भाव यह है—भवभूति के अनुसार, प्रथम दर्शन से ही हृदय में प्रेम का आविर्भाव होता है, जिसे अंग्रेजी में Love at first sight कहा जाता है । कभी-कभी दो व्यक्ति एक-दूसरे को देखते ही परस्पर आकृष्ट हो जाते हैं । उनके हृदय में परस्परावलोकन की इच्छा उत्पन्न होती है । यह प्रेम की पूर्वावस्था है । इसके बाद दोनों का हृदय परवश हो जाता है । 'पुरश्चक्षूरागस्तदनुमनसोऽनन्यपरता' (मालती-माधव ६/१५) । भवभूति ने 'तारामैत्रकं' और 'चक्षूरागः' शब्दों को प्रेम की पूर्वावस्था का बोध कराने से लिए प्रयुक्त किया है । वैसे परिपक्व प्रेम के अर्थ में भी इन शब्दों का औपचारिक प्रयोग किया जाता है । यहाँ चन्द्रकेतु और लव के बीच चक्षुराग उत्पन्न हुआ । परस्पर दर्शन के अनन्तर दोनों के हृदय में एक-दूसरे की ओर आदरपूर्वक देखने की इच्छा हुई ।

श्री विद्यासागर ने 'तारामैत्रकम्' का एक और अर्थ किया है—"यद्वाताराणाम्—उभयेषां द्रष्टृणां जन्मतारकादीनां, मैत्रमेव मैत्रकम् (आदरे कः प्रत्ययः) । परस्परेषां जन्मतारातो गणने यत्र मित्रामित्रतारकादिकं भवति, स एव प्रेमाप्रेमादि-हेतुरिति भावः । अर्थात् ग्रह नक्षत्रों की मैत्री से होने वाला चक्षुराग ।

कुमारौ—(अन्योन्यमुद्दिश्य ।)

एतस्मिन्मसृणितराजपट्टकान्ते, मोक्तव्याः कथमिव सायकाः शरीरे ।
यत्प्राप्तौ मम परिरम्भणाभिलाषादुन्मीलत्पुलककदम्बमङ्गमास्ते ॥१८॥

[अन्वयः—मसृणितराजपट्टकान्ते, एतस्मिन् शरीरे, सायकाः, कथमिव, मोक्तव्याः ? यत्प्राप्तौ, परिरम्भणाभिलाषात्, मम, अङ्गम्, उन्मीलत्पुलककदम्बम्, आस्ते ॥१८॥]

किं चाक्रान्तकठोरतेजसि गतिः का नाम शस्त्रं विना ?
शस्त्रेणापि हि तेन किं ? न विषयो जायेत यस्येदृशः ।
किं वक्ष्यत्ययमेव युद्धविमुखं मामुद्यतेऽप्यायुधे ?
वीराणां समयो हि दारुणरसः स्नेहक्रमं बाधते ॥१९॥

[अन्वयः—किञ्च, आक्रान्तकठोरतेजसि, शस्त्रं विना, का नाम, गतिः ? यस्य, ईदृशः, विषयः, न जायते तेन, शस्त्रेण, अपि किम् ? आयुधे, उद्यते, अपि, विमुखम्, माम् अयम्, एव, किं वक्ष्यति ? हि, दारुणरसः, वीराणां समयः, स्नेहक्रमं बाधते ॥१९॥]

हिन्दी—

दोनों कुमार—(एक दूसरे को लक्ष्य कर) ।

[श्लोक १८]—चिकने, उत्तम वस्त्र के समान सुन्दर इस (कोमल) शरीर पर मैं कैसे बाण छोड़ सकूँगा ? जिसके मिलने पर आलिङ्गन करने की अभिलाषा से मेरा अङ्ग (शरीर) रोमाञ्चित हो रहा है ।

[श्लोक १६]—परिपूर्ण तेजस्वी के प्रति बिना शस्त्र के क्या उपाय हो सकता है ? और जिसका ऐसा (वीर पुरुष लक्ष्य न हो, उस शस्त्र से ही क्या लाभ ? यदि मैं शस्त्र तानकर भी युद्ध-विमुख हो जाऊँ तो यही मुझे क्या कहेगा ? (यह क्षत्रियोचित धर्म नहीं है) क्योंकि, वीरों का वीर-रस-पूर्ण कठोर कर्त्तव्य (सांसारिक) स्नेह मर्यादा का उल्लङ्घन करने वाला होता है।

संस्कृत-व्याख्या

उभावपि कुमारौ पुनरप्यन्योन्यम्प्रति कथयतः—एतस्मिन्निति ।

मसृणितः—संस्कारद्वाराचिक्कणीकृतो यो राजपट्टः—श्रेष्ठ-वस्त्रम्, तादृशे कान्ते = कमनीये, मनोहरे, इति यावत्, एतस्मिन् कोमले शरीरे मया कथमिव सायकाः =शराः, मोक्तव्याः भविष्यन्ति ? नेदं शरीरं शर-निपातयोग्यमिति भावः। यस्य प्राप्तौ मदीयं शरीरं परिरम्भणस्य आलिङ्गनस्याभिलाषात्, उन्मीलत्=विकसत्, पुलकानां=रोमाञ्चानां, कदम्बं=समूहो, यस्मिन्नेवंविधमास्ते=विद्यते ।

यं निरीक्ष्यैवालिङ्गनस्याभिलाष उत्पद्यते, तत्र कथं शराः सन्निपातनीयाः ?

अत्र उपमा-काव्यलिंगयोरङ्गाङ्गिभावेन सांकर्यम् प्रहर्षिणीच्छन्दः ॥१८॥

पुनरपि कुमारौ परस्परमूचतुः किञ्चेति ।

किञ्च, आक्रान्तं=लब्धम्, कठोरं=परिपूर्णं तेजो येन तस्मिन् अस्मिन् वीर-कुमारे शस्त्रमन्तरा का गतिः स्यात् ? शस्त्र-प्रयोगस्तु कर्त्तव्य एव स्यात् ? अपि च—यस्येदृशो वीरः पुरुषो लक्ष्यभूतो न भवेत्, तेन शस्त्रेणापि को लाभः ? वीराणां मान-मर्दनार्थमेव वी[illegible]ः शस्त्रास्त्रधारणं कुर्वन्तीति भावः। अथ च—आयुधे समुद्यतेऽपि यद्यहं युद्ध-विमुखो भवामि, तदाऽयं मां किं वक्ष्यति ? नाऽयं क्षत्रियाणां धर्मः एवञ्च-पूर्वापरविलोकनेनेदमेव वक्तुं युज्यते—तत् सत्यमेव वीराणां समयः स्नेह-मर्यादाया उल्लङ्घनमेव करोति । स्नेहः वीरता चेति परस्परविरुद्धावुभावपि, अतोऽधुना शस्त्र-प्रयुक्तिरेव युक्तिमस्तीति भावः।

अत्र "अर्थान्तरन्यासः" अलङ्कारः, सामान्येन विशेषस्य समर्थनात् । प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः । शार्दूलविक्रीतच्छन्दः ॥१९॥

टिप्पणीं

(१) [श्लोक १८]

१. मसृणितराजपट्टकान्ते—मसृणितः राजपट्टः तद्वत् कान्तं (कान्तं) तस्मिन् । मसृण+णिच् (नामधातु)+क्त कर्मणि मसृणितः ।

"राजपट्ट" का अर्थ घनश्याम ने "साम्राज्य" किया है—"मसृणितं च तत् राजपट्टाय साम्राज्याय कान्तं मनोज्ञं तस्मिन् ।" वीरराघव ने इसका नीलरक्त 'पट्टवस्त्र अर्थ किया है—राजपट्ट नीलरक्तपट्टवस्त्रं तद्वत्कान्ते कमनीये"। शारदारञ्जन इसको सम्भवतः एक रत्न मानते हुए लिखते हैं—"राजपट्ट is some gem which is gem is not clear. But the boys were कुवलयदलस्निग्धश्याम इन्द्रनीलमणिमेचकच्छवि sc. Possibly राजपट्ट is an emerald."

(१) [श्लोक १९]

किं वक्ष्यत्ययमेव युद्धविमुखं पाठा०, "किं वक्ष्यत्ययमेवमद्य विमुखम्"।

(३) अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ।

सुमन्त्रः—(लवं निर्वर्ण्य सास्रमात्मगतम् ।) हृदय ! किमन्यथा परिप्लवसे ?

मनोरथस्य यद्बीजं, तद्दैवेनादितो हृतम् ।
लतायां पूर्वलूनायां, प्रसवस्योद्भवः कुतः ? ॥२०॥

[अन्वयः—मनोरथस्य यत् बीजं, तत् दैवेन आदितो हृतम् । लतायां पूर्वलूनायां प्रसवस्य कुतः उद्भवः ? ॥२०॥]

चन्द्रकेतुः—अवतराम्यार्य सुमन्त्र ! स्यन्दनात् ।

सुमन्त्रः—कस्य हेतोः ?

चन्द्रकेतुः—एकस्तावदयं वीरपुरुषः पूजितो भवति । अपि च खल्वार्य ! क्षात्रधर्मः परिपालितो भवति । "न रथिनः पादचारमभियुञ्जन्ती"ति शास्त्रविदः परिभाषन्ते ।

सुमन्त्रः—(स्वगतम्) आः, कष्टां दशामनुप्रपन्नोऽस्मि ।

कथं हीदमनुष्ठानं, मादृशः प्रतिषेधतु ?
कथं वाऽभ्यनुजानातु साहसैकरसां क्रियाम् ॥२१॥

[अन्वयः—हि, मादृशः, इदम्, अनुष्ठानं, कथं, प्रतिषेधतु, साहसैकरसां, क्रियां, कथं, वा, अभ्यनुजानातु ॥२१॥]

चन्द्रकेतुः—यदा तातमिश्रा अपि पितुः प्रियसखं त्वामर्थसंशयेषु पृच्छन्ति तत्किमार्यो विमृशते ?

सुमन्त्रः—आयुष्मन् ! एवं यथाधर्ममभिमन्यसे ।

एष सांग्रामिको न्याय एष धर्मः सनातनः ।
इयं हि रघुसिंहानां, वीरचारित्रपद्धतिः ॥२२॥

[अन्वयः—एष साङ्ग्रामिकः न्यायः, एष सनातनो धर्मः, हि इयं रघुसिंहानां वीरचारित्रपद्धतिः ॥२२॥]

चन्द्रकेतुः—अप्रतिरूपं वचनमार्यस्य ।

इतिहासं पुराणं च, धर्मप्रवचनानि च ।
भवन्त एव जानन्ति, रघूणां च कुलस्थितिम् ॥२३॥

सुमन्त्रः—सस्नेहास्रं (परिष्वज्य)

जातस्य ते पितुरपीन्द्रजितो निहन्तु-
र्वत्सस्य वत्स ! कति नाम दिनान्यमूनि ।
तस्याप्यपत्यमनुतिष्ठति वीरधर्मं,
दिष्टयागतं दशरथस्य कुलं प्रतिष्ठाम् ॥२४॥

[अन्वयः—हे वत्स !, इन्द्रजितः, निहन्तुः वत्सस्य, ते, पितुरपि, जातस्य, अमूनि, कति, नाम, दिनानि ?, तस्य, अपत्यमपि, वीरधर्मम्, अनुतिष्ठति, दिष्टया, दशरथस्य, कुलं, प्रतिष्ठाम् आगतम् ॥२४॥]

चन्द्रकेतुः—(सकष्टम्)

"अप्रतिष्ठे कुलज्येष्ठे, का प्रतिष्ठा कुलस्य नः" ?
इति दुःखेन तप्यन्ते, त्रयो नः पितरोऽपरे ॥२५॥

हिन्दी—

सुमन्त्र—लव को देखकर आँसू आँखों में भरकर, (स्वयं ही) हृदय ! तू क्यों (व्यर्थ ही) दूसरे विषय में सोच रहा है ?

(शब्दार्थ—चञ्चल हो रहा है ?) ["यह राम का पुत्र है" यह क्या व्यर्थ का विचार कर रहा है ?"]

[श्लोक २०]—(हमारे) मनोरथ का जो (सीता-रूपी) मूल कारण था, उसे (तो) दुर्दैव ने पहले ही हर लिया है। लता के पहले ही छिन्न-भिन्न कर दिये जाने पर उसमें पुष्पों का प्रादुर्भाव कैसे सम्भव है ? (सीता के न रहने पर उसका पुत्र कहाँ से हो सकता है ?)

चन्द्रकेतु—आर्य सुमन्त्र ! मैं रथ से उतरता हूँ।

सुमन्त्र—किस लिए ?

चन्द्रकेतु—पहला कारण तो यह है कि इस वीर पुरुष का स्वागत होगा। और दूसरी बात, आर्य ! यह है कि क्षत्रिय धर्म का पालन होगा। (क्योंकि) रथारूढ़ पैदल से नहीं लड़ा करते' यह शास्त्रज्ञों का सिद्धान्त है। (अतः मैं उतरता हूँ।)

सुमन्त्र—ओह ! बड़ी सन्देहात्मक परिस्थिति (धर्म-संकट) में पड़ गया हूँ।

[श्लोक २१]—मेरे जैसा (वीर धर्म का ज्ञाता) पुरुष कैसे (तो) इस उचित कार्य का निषेध कर दे ? अथवा, कैसे इस साहस-प्रधान कार्य की अनुमति दे दे ?

चन्द्रकेतु—आर्य ! जब कि कर्तव्याकर्तव्य का सन्देह होने पर हमारे पितृगण (राम आदि) भी अपने पिता दशरथ के प्रिय मित्र आपसे ही सम्मति लेते हैं तब (इस समय मेरे प्रश्न पर) आप क्या सोच रहे हैं ?

सुमन्त्र—चिरञ्जीव ! तुम धर्मानुकूल ही सोच रहे हो।

[श्लोक २२]—यह सांग्रामिक न्याय है, यह सनातन धर्म है और रघुवंशी वीर-सिंहों की यही वीरोचित आचार-परिपाटी है।

चन्द्रकेतु—आपका वचन अनुपम है।

[श्लोक २३]—इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र और रघुवंशियों की कुलपरम्पराओं को आप ही जानते हैं। (अतः आपका वचन ग्राह्य है।)

सुमन्त्र—(सजल नयन हो, आलिङ्गन कर)

[श्लोक २४]—वत्स ! मेघनाद के हन्ता तुम्हारे पिता 'वत्स' (लक्ष्मण) को भी उत्पन्न हुए कितने दिन हुए हैं ? (अभी कल-परसों की सी ही बात है।) परन्तु उसकी सन्तान भी वीर-धर्म का पालन कर रही है। (सच तो यह है कि) सौभाग्यवश दशरथ का कुल प्रतिष्ठा को प्राप्त हो गया है।

चन्द्रकेतु—दुःख से—

[श्लोक २५]—'कुल के ज्येष्ठ (श्री रामचन्द्र जी) से निस्सन्तान रहने पर हमारे वंश की क्या प्रतिष्ठा है ? इस दुःख से हमारे अन्य तीन पिता (भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न) नित्य सन्तप्त रहते हैं।

संस्कृत-व्याख्या

सुमन्त्रो राम-रूप-साम्यात् सीतायाः पुत्रोऽयमिति भ्रान्तं स्वहृदयं सम्बोधयति— हृदय ! इति । हृदय ! किमिति मुधा एवं परिप्लवसे=चाञ्चल्यं धारयसि ? अयं रामात्मजोऽस्तीति यथार्थपरिज्ञानं विना तव चञ्चलता नोचितेतिभावः ।

तदेव प्रतिपादयति—मनोरथस्येति ।

अस्य मनोरथस्य यन्मूलकारणमासीत् सीतारूपम्, तत्तु दैवेन (भाग्येन) प्रथममेव दूरीकृतम् । मातुरभावे पुत्रः कुतः ? यदि वने, उपवने वा प्रथममेव लताविच्छेदः क्रियेत्, तर्हि तत्र पुष्पाणां सम्भवः कुतः स्यात् ? आतो व्याघ्रादि-सङ्कुले वने परित्यक्तायाः सीतादेव्या जीवनं न सम्भावयते, तत्सुतस्य सम्भावना व्यतिर्थैवेति हृद्रयम् ।

अत्र दृष्टान्तालङ्कारः । तल्लक्षणञ्च यथा—

"दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् इति ॥२०॥

चन्द्रकेतुः स्यन्दनावतरणं समर्थयते—एक इति । मम रथोपरि स्थितिः सर्वथाऽनुचिता यतः वीरोऽयं महानुभावः पदातिरस्ति, रथिनश्च, पदातिभिस्सह न युध्यन्ते, इति शास्त्रकृतां सिद्धान्तः, अतोऽवतराम्येवेति भावः । तथा चोक्तं मनुना—

"न च हन्यात् स्थलारूढं, न क्लीवं न कृताञ्जलिम् ।" इति ॥

"चतुर्वर्गचिन्तामणि" रप्याह—

"रथी च रथिना सार्धं, पदातिश्च पदातिना ।
कुञ्जरस्थो गजस्थेन, योद्धव्यो भृगुनन्दन ॥" इति ॥

सुमन्त्रः शास्त्रसम्बद्धं चन्द्रकेतोर्वचनमाकर्ण्यं स्वमनसि विचारयति—कथमिति ।

मादृशः वीराचारनिष्णातो जनः एवंविधमनुष्ठानं कथमिव निषेधतु, कथं वा साहसप्रधानां क्रियामभ्यनुजानात्विति=स्वीकुर्यात् ? कर्त्तव्यं नैव चिनोमीति भावः अतः कष्टां दशामनुप्रपन्नोऽस्मीति युक्तमुक्तम् ॥२१॥

कृतमौनावलम्बनं सुमन्त्रम्प्रत्यवदच्चन्द्रकेतुः— यदेति । पितुः=दशरथस्य, प्रियसखं=प्रियमित्रं भवन्तमेवास्माकं पितरः श्रीरामादयोऽप्यर्थं (कर्त्तव्यं)-संशयेषु पृच्छन्ति, तदा मम प्रश्ने कथं मौनधनी भवानस्ति ?

चन्द्रकेतोर्वचनं धर्मानुसारमित्याह सुमन्त्रः—एष इति ।

वत्स ! यत्त्वयोक्तं, तद् सर्वथोचितमेव । सङ्ग्रामस्य न्यायस्त्वयमेवास्ते । एष एव च सनातनो धर्मः । रघुकुलोत्पन्नानाम् वीरसिंहानामियमेव वीरोचिता परिपाटी ॥२२॥

तथ्यं पथ्यञ्चाकर्ण्य वचनं प्रसन्नश्चन्द्रकेतुराह—इतिहासमिति ।

भवतो वचनमनुपममस्ति । इतिहासम्, पुराणानि, धर्मशास्त्र-व्याख्यानानि रघुवंशोत्पन्नानां नृपाणां वंश-परम्परास्थितिञ्च भवान् वेत्ति । अतो भवतो वचनं ग्राह्यमेव ।

अत्र तुल्ययोगिता अलंकारः । अनुष्टुप् छन्दः ॥२३॥

स्नेहाश्रुपरिप्लुतः सुमन्त्रश्चन्द्रकेतुमालिङ्गयन् जातस्येति ।

वत्स ! इन्द्रजितः=मेघनादस्यापि निहन्तुस्तव पितुरप्युत्पन्नस्य कियन्ति दिनानि व्यतीतानि ? तस्यात्मजोऽपि त्वं वीरधर्ममनुतिष्ठसि ? यत्सत्यं दशरथस्य कुलं प्रतिष्ठा गतम् । तद्वंशस्य साम्प्रतं महती प्रतिष्ठास्ति ।

अत्र काव्यलिङ्गमलङ्कारः । वसन्ततिलकाच्छन्दः ॥२४॥

वचनेनानेनोपारूढस्मृतिश्चन्द्रकेतुः कथयति—अप्रतिष्ठे इति ।

"अस्माकं कुलस्य ज्येष्ठे तत्रभगवति रामेऽप्रतिष्ठे=सन्तानरहिते अस्माकं कुलस्य प्रतिष्ठैव का ?"—इति दुःखेन अपरे भरतादयोऽस्माकं त्रयः पितरः सर्वदा परितप्ताः भवन्ति । ततो भवद्वचनस्य कीदृशं तत्वम् ? ॥२५॥

टिप्पणी

(१) [श्लोक २०]

१. हृतम्—पाठान्तर, हृतम् । √हृ+क्त=हृतम् । हन्+क्त=हतम् ।

२. प्रसवस्योद्भवः—पाठान्तर, प्रसूनस्यागमः' ।

(२) [श्लोक २१] १. कथं हीदमनुष्ठानम्—पाठान्तर, 'कथं न्याय्यमनुष्ठानम्' । न्यायादनपेतं न्याय्यम्, 'धर्मपथ्यर्थन्यायानपेते' (पा० ४/४/९२) से सिद्ध ।

२. कथं वाऽभ्यनुजानातु—पाठान्तर, 'कथ वाऽप्यनुजानातु' ।

(३) [श्लोक २२]

१. सनातनः—सना (सदा) भवः इति सना+ट्युल्=सनातनः ।

(४) [श्लोक २३] १. इतिहास पुराणञ्च—कुछ विद्वानों ने इस श्लोक में 'इतिहास' शब्द पर आपत्ति की है । उनका आधार यह है कि इतिहास के नाम पर 'रामायण' और 'महाभारत' ही प्रसिद्ध हैं । क्योंकि चन्द्रकेतु रामायण का पात्र हैं, अतः उसी के मुख से इसका नाम उचित प्रतीत नहीं होता । इसका एक समाधान सम्भव है—रामायण और महाभारत के पूर्व भी कुछ इतिहास ग्रन्थ रहे होंगे जो कि आज उपलब्ध नहीं है ।

अथवा—इतिहास शब्द की 'इति ह आसीद्यत्रेतीतिहासः'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस शब्द का सीधा अर्थ लेने पर उक्त शंका के लिए अवकाश नहीं रहता । चन्द्रकेतु का तात्पर्य पुराने वृत्तों से है । भाव यह है कि सुमन्त्र ने पहले भी अनेक युद्ध के किस्से देखे और सुने थे । उनके अनुभव के आधार पर उसे बताना चाहिए कि चन्द्रकेतु का अब क्या कर्त्तव्य है ?

इतिहास—"धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।
पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥"

पुराण— "सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥"

(५) [श्लोक २४] १. निहन्तु पाठा०, 'विजेतुः' २. वीरधर्मः—पाठा०, 'वीरवृत्तम्' । (६) [श्लोक २६] १. कुलज्येष्ठे—पाठा०, 'रघुज्येष्ठे' ।

सुमन्त्रः—हृदयमर्मदारणानि एतानि चन्द्रकेतोर्वचनानि ।

लवः—हन्त, मिश्रीकृतक्रमो रसो वर्तते—

यथैन्दावानन्दं व्रजति समुपोढे कुमुदिनी,
तथैवास्मिन्दृष्टिर्मम, कलहकामः पुनरयम् ।
रणत्कारक्रूरक्वणितगुणगुञ्जदगुरुधनु-
र्धृतप्रेमा बाहुर्विकचविकरालव्रणमुखः ॥२६॥

[अन्वयः—इन्दौ समुपोढे, कुमुदिनी, यथाः आनन्दं, व्रजति, तथा एव, अस्मिन्, मम दृष्टिः (आनन्दं व्रजति) रणत्कारक्रूरक्वणितगुणगुञ्जद्गुरुधनुर्धृतप्रेमा, विकचविकरालव्रणमुखः, अयं (मम) बाहुः, पुनः, कलहकामः ॥२६॥]

हिन्दी—

सुमन्त्र—चन्द्रकेतु के ये वचन हृदय को विदीर्ण करने वाले हैं ।

लव—अहा ! यह रस मिश्रित क्रम वाला हो रहा है ! (अर्थात्, वीर और करुण दोनों रसों का सम्मिश्रण हो रहा है ।)

[श्लोक २६]—जैसे चन्द्रमा के उदय होने पर कुमुदिनी आनन्दित होती है, वैसे ही मेरे नेत्र इसे देखकर आनन्दित हो रहे हैं । पर मेरी यह (दाहिनी) भुजा, जिसने भयङ्कर टंकार और गुञ्जार करती हुई प्रत्यञ्चा वाले धनुष को स्नेहपूर्वक धारण कर रखा है और जो अग्रभागों में बड़े भयंकर घावों से युक्त है, युद्ध करने के लिए उत्सुक हो रही है ।

संस्कृत-व्याख्या

लवो वीरकरुणयोः सम्मिश्रणं ज्ञात्वा प्राह—हन्त इति । मिश्रीकृतः=सम्मिश्रितः (वीरकरुणाभ्यामिति शेषः) क्रमो यस्मिन्नेवंविधो रसो वर्तते । एतदेव सम्प्रतिपादयति—यथेति ।

यथा चन्द्रमसः समुदये कुमुदिनी आनन्दं याति । तथैवास्मिन् चन्द्रकेतौ ममदृष्टिरानन्दमनुविन्दति । परं ममायं दक्षिणो बाहुः कलहं कर्तुं वाञ्छति । कीदृशोऽयं करः ? इत्याह—रणत् कारेण='रणत्' इति ध्वनिना क्रूरं यथास्यात्तथा क्वणितं=शब्दं कुर्वन्, गुरुः यत् धनुः, तस्मिन् धृतं प्रेम येन सः, तथा-विकचानि=विकसितानि, विकरालानि=भयंकराणि दीर्घाणि, व्रणानि—शराघात-क्षतानि, मुखे=अग्रभागे यस्य, एवं विधोऽयं बाहुः, इति ।

अत्र पूर्वार्धे रत्याख्यः स्थायिभावो विद्यते । शृङ्गारो रसः । प्रसादो गुणः । कैशिकी (कौशिकी) च नाटचमातृभूता शृङ्गार- प्रधाना वृत्तिः उत्तरार्धे च—उत्साहस्थायि वीरो रसः, ओजो गुणः, 'आरभटी' वीर-रस-प्रधाना वृत्तिः, इत्येवं मिश्रितौ वीर-शृङ्गारौ ज्ञेयौ । विषमोपमे चालंकारौ । शिखरिणीच्छन्दः ।

[वृत्तयश्चतुर्विधा भवन्ति । ताश्च नाटचस्य 'मातृकाः' इत्युच्यन्ते तथा चोक्तं दर्पणे—

शृङ्गारे कौशिकी, वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः ।
रसे रौद्रे च बीभत्से, वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥

चतस्रो वृत्तयो ह्येताः, सर्वनाट्यस्य मातृकाः ।
स्युर्नायकादि व्यापार-विशेषा नाटकादिषु ॥

कौशिकी (कैशिकी) च यथा—

या श्लक्ष्य-नेपथ्य-विशेषयुक्ता, स्त्री-सङ्कुला पुष्कलनृत्यगीता ।
कामोपभोग-प्रभवोपचारा, सा कौशिकी चारुविलासयुक्ता ॥

'सात्त्वती' च—

'सात्त्वती' वहुला सत्त्व-शौर्य-त्याग-दयार्जवैः ।
सहर्षा क्षुद्रशृङ्गारा, विशोका साद्भुता तथा ॥

अथारभटी—

'मायेन्द्र-जाल-संग्राम-क्रोधाद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।
संयुक्ता वंधवन्धाद्यैरुद्धताऽऽरभटी मता ॥'

'भारती' च—

'भारती' संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः ॥" इति ॥२६॥

टिप्पणी

(१) मिश्रीकृतक्रमो रसो वर्तते—पाठा०, 'मिश्रीकृतो' रसक्रमो'। (२) समुपोढे —सम् + उप + √वह् + क्त कर्मणि समुपोढस्तस्मिन्। (३) कलहकामः—कलहं कामयते इति कलह + √कामि + ण कर्त्तरि = कलहकामः। (४) रणत्कारः·· आदि— पाठा०, 'ठणत्कार···' तथा 'झणत्कार···'।

रणत्कारेण क्रूरं क्वणितं यस्य सः रणत्कारक्रूरक्वणितः गुणः (ज्या), तेन गुञ्जत् (अव्यक्तं शब्दं कुर्वत्) गुरु धनुः तस्मिन् धृतं प्रेम येन सः।

(५) विकच विकरालः···—पाठा०, 'विकटविकरालोल्बणरसः'।

चन्द्रकेतुः—(अवतरणं निरूपयन्।) आर्य ! अयमसावैक्ष्वाकश्चन्द्रकेतुरभिवादयते।

सुमन्त्रः—अहितस्यैव पुनः पराभवाय महानादिवराहः कल्पताम्।

अपि च—

देवस्त्वां सविता धिनोतु समरे गोत्रस्य यस्ते पति-
स्त्वां मैत्रावरुणोऽभिनन्दतु गुरुर्यते गुरूणामपि।
ऐन्द्रावैष्णवमाग्निमारुतमथो सौपर्णमोजोऽस्तु ते,
देयादेव च रामलक्ष्मणधनुर्ज्याघोषमन्त्रो जयम् ॥२७॥

[अन्वयः—देवः, सविता, समरे त्वां, धिनोतु, यः, ते गोत्रस्य, पतिः, मैत्रावरुणः त्वाम्, अभिनन्दतु, यः, ते गुरुणाम् अपि गुरुः अथो ऐन्द्रावैष्णवम्, अग्निमारुतं सौपर्णम्, ओजः, ते, अस्तु, रामलक्ष्मणधनुर्ज्याघोषमन्त्रः, जयं, देयात् एव ॥२७॥]

हिन्दी—

चन्द्रकेतु—(उतरने का अभिनय करते हुए) आर्य ! यह चन्द्रकेतु आपको प्रणाम करता है।

सुमन्त्र—तुम्हारे 'अहित' शत्रु की पराजय के लिए भगवान् आदि वराह सुसज्जित हों ! ('अहित' का पराजय के लिए ही भगवान् आदि वराह तुमको आशीर्वाद दें, हित का नाश करने के लिए नहीं। लव तुम्हारा प्रिय है, अतः उसका पराजय तुम्हारे द्वारा न हो !)

और भी—

[श्लोक २७]—वे भगवान् सूर्य जी तुम्हारे वंश के प्रवर्तक हैं, संग्राम में तुम्हें प्रसन्न रखें ! (तुम्हारे) गुरुजनों के भी गुरु महर्षि वशिष्ठ तुम्हें अभिनन्दित करें। इन्द्र, विष्णु अग्नि, पवन तथा गरुड़ का तेज तुम्हें प्राप्त हो ! और राम लक्ष्मण के धनुष की प्रत्यञ्चा का शब्द-रूपी मन्त्र तुम्हें (अवश्य ही) विजय प्रदान करे !

संस्कृत-व्याख्या

रथादवतरता चन्द्रकेतुना सविनयं प्रणतः सुमन्त्रस्तस्मै शुभाशीर्वादं वितरति —अहितस्येति ।

महान् = ऐश्वर्यशाली भगवान् आदिवराहः, तवाहितस्यैव पराभवं कर्त्तुं कल्पताम् = सुसज्जितो भवतु न तु हितस्य पराभवाय। एतेन परमहितस्य लवस्य पराभवो भवितुमेव नार्हति इति व्यज्यते ।

क्वचित्तु—

'अजितं पुण्यमूर्जस्वि, ककुत्स्थस्येव ते महः ।
श्रेयसे शाश्वतो देवो वराहः परिकल्पताम् ॥'

इति श्लोकोऽस्य स्थाने दृश्यते। अस्य भावस्तु—तव कल्याणायादिवराहो भगवान् 'ककुत्स्थस्य' तव पूर्वजस्येव, अजितं = सर्वातिशायि पुण्यम्, ऊर्जस्वि = बलयुक्तिम्, महः = तेजः परिकल्पताम् = सम्पादयतु इति ।

शुभाशीर्वादान्तरञ्च वितरति—देव इति ।

देवः सूर्यः, यस्तव वंशस्यादिपुरुषः, सङ्ग्रामभूमौ समवतीर्णस्य ते प्रीणयिता भवतु। यश्च तव गुरूणाम् कुलज्येष्ठानामपि गुरुः स भगवान् मैत्रावरुणः = मित्रवरुणयोः सन्ततिः, वसिष्ठस्त्वां प्रशंसतु। इन्द्रस्य, विष्णोः अग्नेः, मरुतः, सुपर्णस्य = गरुडस्य च ओजः = बलम् तेस्तु। रामलक्ष्मणयोः धनुर्ज्याघोषस्य मन्त्रस्तव जयं ददातु। सर्वदा तव विजयो, भवत्विति भावः ।

अत्र-अन्येषां तेजसः प्राप्तिः कथं सम्भवतीति तत्शदृशन्तेजो भवत्विति निदर्शनाऽलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडित छन्दः ॥२७॥

टिप्पणी

(१) पराभवाय महानादिवराहः कल्पताम्—"तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या" (पा०, १/४/४४, पर वार्तिक) के अनुसार पराभव में चतुर्थी ।

हिरण्याक्ष नामक दैत्य के पृथ्वी को समुद्र में खींच ले जाने पर भगवान् विष्णु ने वराह का अवतार धारण कर उसे परास्त किया और पृथ्वी का उद्धार किया। अत्युग्र शत्रु का संहारक होने के कारण भगवान् वराह का ध्यान किया गया है।

जयदेव ने 'गीतगोविन्द' में इस अवतार का इस प्रकार उल्लेख किया है—

'वसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना,
शशिनि कलङ्ककलेव निमग्ना ।
केशव, धृतशूकररूप जय जगदीश हरे ॥"

(२) [श्लोक २७]—१. यस्ते पतिः—पाठा० —"यस्ते पिता" ॥
२. ऐन्द्रावैष्णवम्—पाठा०, ऐन्द्रं वैष्णवम्', ।

इन्द्रश्च विष्णुश्च इन्द्राविष्णु 'देवताद्वन्द्वे च (पाठा० ६/३/२६) इति आनङ् । तयोरिदमैन्द्रावैष्णवम् । "तस्येदम्" इत्यण्, 'देवताद्वन्द्वे च". (पा० ७/३/२१) इति उभयदवृद्धिः ।

लवः—अतीव नाम शोभसे रथस्य एव । कृतं कृतमत्यादरेण ।

चन्द्रकेतुः—तर्हि महाभागोऽप्यन्यं रथमलङ्करोतु ।

लवः—आर्य ! प्रत्यारोपय रथोपरि राजपुत्रम् ।

सुमन्त्रः—त्वमप्यनुरुध्यस्व वत्सस्य चन्द्रकेतोर्वचनम् ।

लवः—को विचारः स्वेषूपकरणेषु ? किंत्वरण्यसदो वयमनभ्यस्तरथचर्याः ।

सुमन्त्रः—जानासि वत्स ! दर्पसौजन्ययोर्यदाचरितम् । यदि पुनस्त्वामीदशमैक्ष्वाकोराजा रामभद्रः पश्येत्तदा तस्य स्नेहेन हृदयमभिष्यन्देत् ।

लवः—अन्यच्च चन्द्रकेतो ! सुजनः स राजर्षिः श्रूयते । (सलज्जमिव)

वयमपि न खल्वेवंप्रायाः क्रतुप्रविघातिनः,
क इह च गुणैस्तं राजानं न वा बहु मन्यते ।
तदपि खलु मे स व्याहारस्तुरङ्गमरक्षिणां,
विकृतिमखिलक्षत्राक्षेपप्रचण्डतयाऽकरोत् ॥२८॥

[अन्वयः—वयम् अपि, न खलु, एवप्रायाः, क्रतुविघातिनः, कः, इह, जनः, गुणैः, तं, राजानं न बहु मन्यते ? तदपि, तुरङ्गमरक्षिणाम्, सः, व्यवहारः, अखिलक्षत्राक्षेपप्रचण्डतया, मे विकृतिम्, अकरोत् ॥२८॥]

हिन्दी—

लव—आप रथ पर बैठे हुए ही सुशोभित हो रहे हैं अधिक आदर (करने) की आवश्यकता नहीं है ।

चन्द्रकेतु—तब आप भी दूसरे रथ को अलङ्कृत करें ।

लव—आर्य ! राजकुमार को रथ पर चढ़ा दीजिये ।

सुमन्त्र—वत्स ! तुम भी चन्द्रकेतु का कहना मान लो ।

लव—अपनी (रथ आदि) वस्तुओं में क्या विचार ! वन में निवास करने वाले हम लोग रथ-चर्या में अभ्यस्त नहीं है ।

सुमन्त्र—वत्स ! तुम गर्व और विनय के उचित आचार को जानते हो । यदि तुम्हें इक्ष्वाकु-वंशावतंस महाराज श्रीरामचन्द्र जी देख लें तो स्नेह से उनका हृदय पिघल जाय ।

लव—और भी, चन्द्रकेतु ! वे राजर्षि (रामचन्द्र) 'सज्जन' हैं ऐसा सुना जाता है (लज्जित-सा होकर)—

[श्लोक २८] [—यद्यपि हम यज्ञ में विघ्न करने वाले नहीं हैं और उन महाराज का गुणों के कारण संसार में कौन आदर नहीं करता ? तथापि अश्वरक्षकों के उस कथन ने समस्त क्षत्रियों पर आक्षेप होने के कारण, प्रचण्डता से मुझको क्रोध दिला दिया। (मैंने किसी द्वेष-वश तुम्हारा अश्व नहीं पकड़ा, प्रत्युत सम्पूर्ण क्षत्रियों पर आक्षेप होने के कारण ही यह सब कुछ किया है।)

संस्कृत-व्याख्या

अन्य रथारोहणात्मकं चन्द्रकेतोर्वचनं परिपालयतुं कथयन्तं सुमन्त्रं प्रति कथयति लवः—को विचार इति। स्वकीयेषु उपकरणेषु रथादिषु कोऽपि विचारा-ऽन्यथा न क्रियते मया, किन्तु वयमरण्य निवासिनः रथारोहणेऽस्माकमभ्यासो नास्ती-त्यर्थः।

लववचनाकृष्टः सुमन्त्रः प्राह—जानासीति।

वत्स ! सत्यमेव दर्पस्य=गर्वस्य, सौजन्यस्य समुचितामाचरितं सम्यग् जानासि। यदि पुनरेवं विधं त्वां महाराजो रामः पश्येत्, तर्हि स्नेह-वशात्, तस्य हृदय-मभिष्यन्देत्=सर्वतो द्रवीभूतं भवेदिति भावः।

सुमन्त्र-मुखाद्राम-नाम-श्रुत्वा लवश्चन्द्रकेतुम्प्रत्याह। अन्यच्चेति। चन्द्रकेतो ! अस्माभिस्तस्य राजर्षेर्विषये श्रुतम्—"सुजनः सः" इति। पुनः (सलज्जमिव)=एवं विधस्यापि सुजनस्यापि तस्याश्वोऽस्माभिरवरुद्धः, इति लज्जामनुभवन्निवेतिभावः। प्राह-किं तदित्याह—वयमिति।

यद्यपि वयमपि यज्ञविघ्नाधायका न स्मः, न वाऽस्माकं भगवति रामे मनागपि द्वेषः, क एवं विधं महानुभावमनेकगुणयुक्तं समादर-दृशा न पश्यति ? तथापि अश्व-रक्षकाणां सैनिकानां मुखात् सर्वक्षत्रियाक्षेपरूपां प्रचण्डामुक्तिमाकर्ण्यास्माकं चित्ते विकृतिरुत्पन्न, इत्येव कारणं युक्तस्येति भावः।

अर्थापत्तिरत्रालङ्कारः। हरिणी च्छन्दः ॥२८॥

टिप्पणी

(१) अतीव नाम—पाठा०, "अतिहि नाम........."। (२) जानासि... चरितम्—पाठा, '...दर्पसौजन्ययोर्यथोचितमाचरितुम्'। (३)...राजा रामभद्रः पश्येत्तदा तस्य='पाठा०,.........रामः पश्येत्तदायमस्य......"।

(४) [श्लोक२९] १. वयमपि न ...पा०, 'यदि च वयमत्येवं प्रायाः क्रतु-द्विषतामरी'। क्रतुप्रतिघातिनः के स्थान पर 'क्रतुष्वपि मत्सराः' एवं 'कतुप्रतिघातिनः"।

(२) क इह च...नवा बहूमन्यते ६.—पाठा०, 'क इह न जनने..."।

(३) अखिलक्षत्राक्षेपचण्ड...—पठा०, अखिलक्षेत्राक्षेपः......।

चन्द्रकेतुः—किंनु भवतस्तातप्रतापोत्कर्षेऽप्यमर्षः।

लवः—अस्त्वहमर्षो मा भूत्। अन्यदेतत्पृच्छामि दान्तं हि राजानं

राघवं शृणुमः । स किल नात्मना दृप्यति, नाप्यस्य प्रजा वा दृप्ताः जायन्ते । तत्किं मनुष्यास्तस्य राक्षसीं वाचमुदीरयन्ति ?

ऋषयो राक्षसीमाहुर्वाचमुन्मत्तदृप्तयोः ।
सा योनिः सर्ववैराणां, सा हि लोकस्य निष्कृतिः ॥२९॥

[अन्वयः—ऋषयः, उन्मत्तदृप्तयोः, वाचं, राक्षसीम्, आहुः । सा, सर्ववैराणां योनिः, सा लोकस्य निष्कृतिः हि ॥२९॥]

इति ह स्म तां निन्दन्ति । इतरामभिष्टुवन्ति ।

कामं दुग्धें, विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं, कीर्तिं सूते, दुर्हृदो निष्प्रलान्ति ।
शुद्धां शान्तां मातरं मङ्गलानां, धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः ॥३०॥

[अन्वय–(इतरा वाक्) कामं दुग्धे, अलक्ष्मीं विप्रकर्षति, कीर्तिं सूते, दुर्हृदः निष्प्रलान्ति, (अतः) धीराः सूनृतां वाचम् शुद्धां शान्तां मङ्गलानां मातरं धेनुम्, आहुः ॥३०॥]

हिन्दी—

चन्द्रकेतु—क्या आप को तात (श्री रामचन्द्र जी) के प्रताप की उत्कृष्टता में भी अमर्ष (असहनीयता) है ?

लव—अमर्ष हो, अथवा न हो (इस विषय में विवाद करने की आवश्यकता नहीं है ।) परन्तु मैं यह दूसरी बात पूछता हूँ । हम महाराज राम को बड़े दमनशील सुनते हैं । न वे (कभी) स्वयं गर्व करते है और न उनकी प्रजा ही गर्व करती है । तो फिर उनके सैनिक क्यों 'राक्षसी वाणी' बोलते हैं ?

[श्लोक २९]—ऋषियों ने उन्मत्त और घमण्डी पुरुषों की वाणी को, राक्षसी वाणी' कहा है । वह सब बैरों की जननी है और व्यक्ति के अपमान का कारण है ।

इसीलिये (महात्मा-गण) उसकी निन्दा और दूसरी (प्रियवाणी) की प्रशंसा करते हैं ।

[श्लोक ३०]—विद्वान् पुरुष सत्य और प्रिय वाणी को शुद्ध शान्त और 'मङ्गलों की उत्पादिका कहते हैं । वह कामनाओं को पूर्ण करती है । अलक्ष्मी को दूर करती हैं, कीर्ति को उत्पन्न करती है और शत्रुओं का (भी) विनाश कर देती है ।

संस्कृत-व्याख्या

'किन्तु तातस्य=रामस्य प्रतापविषयेऽप्यमर्षः=असहिष्णुता तवे'ति चन्द्रकेतोराशयं निर्मलं करोति, लवः अस्त्विति । एतस्य प्रश्नस्येदानीमावश्यकता नास्ति, अमर्षो भवतु मामति नास्त्यवसरः प्रश्नस्यास्यः । अहस्तु भवन्तमेवं पृच्छामि दान्तः=दमनशीलः स राजा । स्वस्य श्लाघां न करोति, न वा तस्य प्रजा अपि दृप्ताः, सन्ति, परमेते तस्य सैनिकाः राक्षसीं वाचं कथमुच्चारयन्ति ? महानुभावस्य नृपस्य सैनिकैरपि विनीतवचनैर्भाव्यमितिकुतोऽयं व्युत्क्रमः ?

राक्षसीं वाचमेव प्रतिपादयति लवः—ऋषय इति ।

ऋषि इति । उन्मत्तस्य=उन्मादिनो विक्षिप्तस्य दृप्तस्य=साहङ्कारस्य च जनस्य वाणीं 'राक्षसीं' राक्षस-सम्बन्धिनीमाहुः । यतः सा वाणी सर्वेषां बैराणां योनिः

=समुत्पादिका । कटूक्तिश्रवणमात्रेण चेतसि महान् विक्षोभः समुज्जृम्भते । सा हि लोकस्य निष्कृतिः=तिरस्कारस्य कारणम् ।

अतएव तां निन्दन्ति महात्मानः । तदितरां=स्फीतां=सत्यां मधुरां वाणीञ्च स्तवन्ति । अत्र रूपकालङ्कारः ॥२९॥

अतोऽतिरिक्ताया वाचः स्वरूपमुदस्थापयति काममिति ।

धीरपुरुषाः सूनृताम् = सत्यां प्रियाञ्च वाचं शुद्धाम्, शान्ताम् मङ्गलानां जनयित्रीं कथयन्ति, तादृशी वाक् कामम्=अभिलाषं दुग्धे=पूरयति=मृदु=(मधुर) =भाषिणां सर्वाणि कार्याणि सम्पन्नानि भवन्तिः सा ही अलक्ष्मीं=अकल्याणं विप्रकर्षति=दूरी करोति, कीर्तिमुत्पादयति, शत्रूनपि विनाशयति । अतएव सा कामदोग्ध्रीत्युच्यते । सूक्तञ्च केनापि—

"वाङ्माधुर्यात् सर्वलोकप्रियत्त्वम् । वाक् पारुष्यात् सर्वलोकाप्रियत्वम् ।
किं वा लोके कोकिलेनोपनीतम् ? किं वा लोके गर्दभेनापनीतम् ! ॥इति॥
अत्र निदर्शनाऽलङ्कारः । शालिनी च्छन्दः । तल्लक्षणञ्च—
'शालिन्युक्ताम्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः ।" तति । सूनृतं प्रिये सत्ये', इत्यमरः ॥३०॥

टिप्पणी

(१) [श्लोक २९]—ऋषयो राक्षसीमाहुर्वाचः......पाठा० ऋषयो राक्षसीं वाचं वदन्त्युन्मत्त......" ।

(२) निष्कृतिः पाठा० "निर्ऋतिः" (निष्क्रान्ता ऋतेः सन्मार्गादिति निर्ऋतिः ।

[श्लोक ३०]—१. कामदुग्धे—पाठा० 'कामान्दुग्धे' (इस वाक्य में नियुक्त (१/२०) की छाया पड़ी प्रतीत होती है—

"नास्मै कमान् दुग्धे वाग्दोह्यान्देवमनुष्यस्थानेषु यो वाचं श्रुतवान्भवत्यफलामपुष्पाम् ।"

२. श्लोक के भावसाम्य के लिये संस्कृत टीका में "वाङ्माधुर्यात्..."आदि श्लोक देखिये । और भी तुलना कीजिये—

"प्रियमेवाभिधातव्य नित्यं सत्सु द्विषत्सु च ।
शिखीव केकामधुरः प्रियवाक्यस्य न प्रियः ॥ (कामन्दकीयनीतिसार, ३/२६)
"सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥" (मनु०, ४/१३८)

सुमन्त्रः—परिभूतोऽयं बत कुमारः वाचेतेसान्तेवासी । प्रदत्यमभ्युपपन्नामर्षेण संस्कारेण ।

लवः—यत्पुनश्चन्द्रकेतो ! वदसि 'कन्तु भवतस्तातप्रतापोत्कर्षेऽप्यमर्ष इति, तत्पृच्छामि "किं व्यवस्थितविषयः क्षत्रधर्म" रति ?

सुमन्त्रः—नैव खलु जानासि देवमैक्ष्वाकम् ! तद्विरमातिप्रसङ्गात् ।

सैनिकानां प्रमाथेन, सत्यमोजायितं त्वया।
जामदग्न्यस्य दमने, न हि निर्वन्धमर्हसि ॥३१॥

[अन्वयः— सैनिकानां प्रमाथेन, त्वया ओजायितं, सत्यम्। जामदग्न्यस्य दमने निवन्धं, न अर्हसि हि ॥३१॥]

लवः—(सहासम्।) आर्य ? जामदग्न्यस्य दमनः स राजेति कोऽप्युच्चैर्वदि ?

सिद्धं ह्येतद्वाचि वीर्यं द्विजानां बाह्वोर्वीर्यं यत्तु तत्क्षत्रियाणाम्।
शस्त्रग्राही ब्राह्मणो जामदग्न्यस्तस्मिन्दान्ते का स्तुतिस्तस्य राज्ञः ? ॥३२॥

[अन्वयः—द्विजानाम् वाचि वीर्यम्, यत् बाह्वो वीर्यम तत्तु क्षत्रियाणाम्; एतत् सिद्धं हि। जामदग्न्यः, शस्त्रग्राही ब्राह्मणः, तस्मिन् दान्ते तस्य राज्ञः का स्तुतिः ? ३२॥]

हिन्दी—

सुमन्त्र—खेद है, यह वाल्मीकि ऋषि का अन्तेवासी कुमार तिरस्कृत हो गया है। अतएव ऋषियों के संस्कार के अनुसार यह बात कह रहा है।

लव—और चन्द्रकेतु जी ! यह जो आपने कहा कि 'क्या तुम्हें तात के प्रतापोत्कर्ष में भी अमर्ष है ?' तो मैं आपसे पूछता हूँ—'क्या क्षत्रिय धर्म एक ही व्यक्ति में निश्चित है ? (क्या क्षात्र-धर्म एक राम के लिए ही निश्चित है ?)'

सुमन्त्र—तुम इच्छवाकु-कुल-भूषण राम को नहीं जानते हो अतः इस व्यर्थ के अति प्रसङ्ग (बात-बढ़ाव) से रुक जाओ।

[श्लोक ३७]—यह सच है कि तुम्हें सैनिकों की उद्दण्डता ने क्रोध दिला दिया है, परन्तु इसलिए परशुराम जी के विजेता (श्री रामचन्द्र जी) के लिए ऐसी रुक्ष वाणी बोलना तुमको उचित नहीं है।

लव—(हँस कर) आर्य ! 'वे महाराज परशुराम जी के विजेता हैं' इसमें क्या बड़ी बात है ?

[श्लोक ३२]—यह बात सिद्ध है कि ब्राह्मणों का बल (उनकी) वाणि में रहता है और जो बाहुबल है वह क्षत्रियों का है। परशुराम जी शस्त्रग्राही ब्राह्मण हैं उनके पराजित होने पर उन राजा की क्या बड़ाई है ? (अरे। बेचारे ब्राह्मण का दमन कर दिया तो इसमें कौन-सी बात हुई ? क्या उन्होंने कभी किसी क्षत्रिय को भी हराया है ?)

संस्कृत-व्याख्या

लवस्य वचनेनाक्षिप्तचेताः सुमन्त्रस्तं प्रशंसन्नाह—परिभूत इति। अयं वाल्मीकि शिष्यः परिभुतः=तिरस्कृतः सैनिकैः, बत खेदे। किन्तु, आर्षेण=ऋषिसम्बन्धिना संस्कारेण अभ्युपपन्नः सन्वदति। ऋषेः शिष्यत्वात्संस्कारोपेतैर्वचनै व्यवहरति।

लवः पुनरिति चन्द्रकेतुं पृच्छति—यत्पुननिति किं चन्द्रकेतो ? यत्त्वयोक्तं 'तात-प्रतापोत्कर्षेऽप्यमर्षः ? इति। तदहं पृच्छामि—किमु क्षत्रियाणां धर्मः क्वचिदेकत्र एकस्मिन्नेव जने (रामादौ) व्यवस्थितः=सुनिश्चितो विषयो यस्यैवंविधोऽस्ति ? किमु श्रीराम एव क्षत्रिय-धर्मयुक्तः ? नाऽन्यः कोऽपि ?

महाराज विषयेऽनभिज्ञोऽसीति सुमन्त्रः प्राह—नेवैति । वत्स ! इक्ष्वाकु-कुल-भूषणं महाराजं पुनस्त्वं न जानासि । ततोऽतिप्रसङ्गं मा कुरु । तद्विषये किमपि नैव वक्तव्यम् ।

एतदेव स्फुटीकरोति सैनिकानामिति ।

वत्स लव ! सैनिकानां प्रमाथेन = पराभवेन हिंसनेन वा सत्यमेव त्वया ओजस्विता = वीरभावः प्रकटितः, इत्यहं तव प्रशंसां करोमि, किन्तु, परशुरामस्यापि पराजेतरि भगवति रामे निर्बन्धं कर्त्तुम् = हठेन किमपि वक्तुं नार्हसि । तद्विषये त्वत्कथनं सर्वथानुचितमेव ॥३१॥

परशुरामदमने न किमपि वीरत्वम् महाराजस्येति साधयितुमाह लवः—सिद्धमिति ।

इदन्तु सिद्धमेव—ब्राह्मणानां वाच्येव केवलं बलं भवति । वाचैव ते शापमाशीर्वादं वा दातुमर्हन्ति । बाह्वोर्वीर्यं तु क्षत्रियाणामेव । ततश्च—शस्त्रग्राही ब्राह्मणः परशुरामो यदि पराजितः का तर्हि तत्र स्तुतिः ? क्षत्रियः कोऽपि पराजितः किमु भवतां महाराजेन ? इति नैव प्रशंसाऽतिवादो युक्तः इति भावः ।

अत्र परिसंख्यालङ्कारः । शालिनीच्छन्दः ॥३२॥

टिप्पणी

(१) विरमतिप्रसङ्गात्—'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' इति पञ्चमी ।

(२) [श्लोक ३१] १. ओजायितम्—यहाँ 'ओजस्' का अर्थ 'ओजस्वि' है । ओजसोऽप्सरसो नित्यम्' वार्तिक पर 'सिद्धान्तकौमुदी' में लिखा है—'ओजः शब्दो वृत्तिविषये तद्वति । ओजायते ।'

ओजस्विन इव आचरितम् इति ओजस् + क्यङ् (नामधातु) + क्त भावे ओजायितम् । 'कर्त्तुः, क्यङ् सलोपश्च' (पा० ३/१/११) इति क्यङ् सलोपश्च ।

२. न हि निर्बन्धमर्हसि—पाठा०, 'ननु । नैव । नातिनिर्वक्तु…' ।

(२) [श्लोक ३२] शस्त्रग्राही—शस्त्रं गृह्णातीति शस्त्र + √ग्रह् + णिनि प्रथमा एकवचन शस्त्रग्राही ।

चन्द्रकेतुः—(सोन्माथमिव) आर्य सुमन्त्र ! कृतमुत्तरोत्तरेण ।

कोऽप्येष सम्प्रति नवः पुरुषावतारो,
वीरो न यस्य भगवान्भृगुनन्दनोऽपि ।
पर्याप्तसप्तभुवनाभयदक्षिणानि,
पुण्यानि तातचरितान्यपि यो न वेद ॥३३॥

[अन्वयः—सम्प्रति, एष कोऽपि, नवः, पुरुषावतारः यस्य, भगवान्, भृगुनन्दनः अपि, न, वीरः । यः पर्याप्तसप्तभुवनाभयदक्षिणानि, पुण्यानि, तातचरितानि, अपि, न वेद ॥३३॥]

हिन्दी—

चन्द्रकेतु—(व्यथित-सा होकर)।

[श्लोक ३३]—यह तो कोई पुरुष-रूप में नया ही अवतार हुआ है, जिसके मत में भगवान् परशुराम भी वीर नहीं हैं और जो सातों लोकों को पूर्ण अभय देने वाले तात (श्री रामचन्द्र जी) के चरित्रों को भी नहीं जानता ?

संस्कृत-व्याख्या

लव वचनेन परिकुपितश्चन्द्रकेतुः सोन्माथमिवाह आर्येति । आर्य ! सुमन्त्र ! उत्तरोत्तरेण=उत्तरादनन्तरमुत्तरप्रदानेन कृतम्=अलम् । एतेन सहोत्तरोत्तरप्रसङ्गः नोचितः ।

अस्मिन् विषये युक्तिं प्रदर्शयति कोऽप्येष इति ।

मन्ये, अयं कोऽपि साम्प्रतं नवो वीरः समवतीर्णो भुवि, यो भगवन्तं परशुराममपि वीरं न गणयति; न च तातस्य, तत्र सप्तभुवनानामभयदाने प्रसिद्धानि चरित्राण्यपि पुण्यान्यपि यो न वेद । रामपरशुरामयोरपि पराक्रमं यो न गणयति । एतेन मन्ये, नवावतारोऽयं वीरताया इति भावः ।

अत्र रूपकालङ्कारः । वसन्ततिलकाच्छन्दः ॥३३॥

टिप्पणी

(१) सोन्माथम्—उद् + √मथ् + घञ् भावे उन्माथः । तेन सह यथा तथा ।

(२) [श्लोक ३३] १. वीरो न यस्य—पाठा०, 'श्लाघ्यो न यस्य' । २. पर्याप्तः···—पर्याप्ता (पूर्णा) सप्तभुवनस्य (सप्तानां भुवनानां समाहारः सप्तभुवनं) अभयमेव दक्षिणा यैः अथवा येषु तानि ।

लवः—को हि रघुपतेश्चरितं महिमानं च न जानाति ? यदि नाम किंचिदस्ति वक्तव्यम् । अथवा शान्तम् ।

वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्तते,
सुन्दस्त्रीमथनेऽप्यकुण्ठयशसो लोके महान्तो हि ते ।
यानि त्रीणि कुतोमुखान्यपि पदान्यासन्खरायोधने,
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुनिधने तत्राप्यभिज्ञो जनः ॥३४॥

[अन्वयः—हुं वर्तते, वृद्धा विचारणीयचरिताः, नः तिष्ठन्तु, सुन्दस्त्रीमथनेऽपि; अकुण्ठयशसः ते लोके; महान्तः हि ! खरायोधने, यानि त्रीणि; कुतोमुखानि; पदानि, अपि, आसन्, वा, इन्द्रसूनु-निधने, यत् कौशलम्, अत्र अपि जनः अभिज्ञः ॥३४॥]

हिन्दी—

लव—रामचन्द्र जी के चरित्र और महात्म्य को कौन नहीं जानता ? क्या (वह) कुछ कहने योग्य है ? अथवा, कहने से क्या लाभ ?

[श्लोक-३४]—वे वयोवृद्ध हैं, अतः उनके चरित्र पर टीका-टिप्पणी करना उचित नहीं। 'सुन्द' की स्त्री (ताड़का) को मारने पर भी उनका यश कुण्ठित नहीं हुआ वे आज भी महान् ही हैं। 'खर' के साथ युद्ध करते समय वे जो तीन पग पीछे हटे थे अथवा इन्द्र-पुत्र बाली) को मारने में (उन्होंने) जो कौशल किया था, उससे भी संसार परिचित है। (रामचन्द्रजी का यश चारों तरफ फैला हुआ है। उनके अबलाघात युद्ध में विमुखता, छल से बाली-वध करना आदि गुणों से संसार सुपरिचित है।)

संस्कृत-व्याख्या

लवो राममहिम्नो विषये प्राह—कोहीत्ति। रघुपतेर्महिमानं=प्रभावं, को नाम न वेत्ति ? लोकातिशायि सम्भावनायाम्। अत्रापि किञ्चिदवक्तुं सम्भाव्यते, अथवा नात्र किमपि वक्तव्यमिति कथयति शान्तमिति। नैव वक्तव्यम्। अत्र युक्तिमाह—वृद्धास्ते इति।

'हु' इति वितर्के। अत्रापि किञ्चिद् वक्तुमस्तीति वितर्कयामि। यतस्ते वृद्धाः सन्ति; तेषां चरितं न विचारणीयम्। सुन्दस्य = राक्षसस्य स्त्रियाः दमने = विनाशनेऽपि तेषां यशो लोके कुण्ठितं नास्ति। यो हि स्त्रियं हन्ति, सोऽपि लोके ख्यातकीर्तिरस्तीति किमु वक्तव्यम् ? महतां विषये सर्वं सम्भाव्यते। अपि च—'खर' राक्षसेन सह युद्धसमयेऽपि यानि त्रीणि पदानि कुतोमुखानि = विमुखानि आसन्, एतदेव वीरत्वम् ? वीरा हि कदापि शत्रुसमक्षे विमुखा न भवन्ति। किञ्च-इन्द्रसूनो = इन्द्रपुत्रस्य बालिनो निधने = वधेऽपि यत्तैराचरितम् तत्रापि जनोऽभिज्ञ एवास्ते। सर्वोऽपि लोको महात्मनस्तस्य राज्ञश्चरित्रं सम्यग् जानाति। स्त्रीघाती, राक्षसेन सह युद्धे विमुखः, छलेन बलिवधकर्ता सन्नपि लोके महानेव कथ्यते। धन्योऽयमिति मौनमेवोचितमत्र।

अत्राक्षेपालङ्कारः शार्दूलविक्रीडितम् छन्दः ॥३४॥

टिप्पणी

(१) पाठान्तर—

१. वृद्धास्ते—"वन्द्यास्ते···"। २. हु वर्तते—"किं वर्ण्यते"। ३. सुन्दस्त्रीमथने—"सुन्दस्त्रीनिधने। दमनेऽप्यखण्ड···"। ४. त्रीणिकुतोभयानि—"त्रीण्यपराङ्मुखानि"।

(२) इस पद्य में लव ने श्रीराम द्वारा ताड़का (स्त्री)–मथन; पीछे लौटकर खर के मारण एवं छल से बालि-वध की निन्दा की है। खर-वध और बाली-निग्रह के विषय में देखिये 'रामायण'—

"तमापतन्तं संक्रुद्धं कृतास्त्रो रुधिराप्लुप्तम्।
अपासर्पद् द्वित्रिपदं किञ्चित्त्वरितविक्रमः॥
ततः पावकसकाशं वधाय समरे शरम्।
खरस्य रामो जग्राह ब्रह्मदण्डमिवापरम्॥" (अरण्यकाण्ड, ३०/२३–२४)

"ततो रामो महातेजा आर्त्तं दृष्ट्वा हरीश्वरम् ।
सशरं वीक्षते वीरो बालिनो वधकांक्षया ॥
ततो धनुषि सन्धाय शरमाशीविषोपमम् ।
पूरयामास तच्चापं कालचक्रमिवान्तकः ॥
ततस्तेन महातेजा वीर्ययुक्तः कपीश्वरः ।
वेगेनाभिहितो बाली निपपात महीतले ॥" (किष्किन्धा०, १६/३२, ३३, ३६)

बाली ने भी छल से अपने वध पर राम की निन्दा की—

"पराङ्मुखवधं कृत्वा कोऽत्र प्राप्तस्त्वया गुणः ?
यदहं युद्धसंरब्धस्त्वत्कृते निधनं गतः ॥" (किष्किन्धा०, १७/१६)

(३) यह पद्य दशरूपक (१/४५) में द्रव (गुरुतिरस्कृति) के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है। (४) क्षेमेन्द्र ने अपनी "औचित्यविचारचर्चा" में इस पद्य की आलोचना की है—

"अत्रप्रधानस्य रामसूनोः कुमारलवस्य परप्रतापोत्कर्षासहिष्णोर्वीररसोद्दीपनाय सकलप्रबन्धजीवितसर्वस्वभूतस्य प्रधाननायकगतस्य वीररसस्य ताडकादमनखररणापसरण-अन्यरणससक्तवालिव्यापादनादिजनविहितापवादप्रतिपादनेन स्ववचसा कविना विनाशः कृतः इत्यनुचितमेतत् ।

इसी आशय का परिपोषण विश्वनाथ ने भी किया है—

"यत्स्यादनुचित्तं वस्तु नायकस्य रसस्य वा ।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ॥"

अनुचितमितिवृत्तं यथा रामस्य छद्मना बालिवधः तच्चोदात्तराघवे नोक्तमेव । वीरचरिते तु वाली रामवधार्थमागतो रामेण हत इत्यन्यथाकृतः । (साहित्यदर्पण, ६)

किन्तु हमारे मत से, यहाँ लव के मुख से ऐसी स्वाभाविक बातें कहलवा देने में कवि का दोष नहीं है। इस विषय में प्रो० कान्तानाथ शास्त्री 'तैलङ्ग' का कथन भी द्रष्टव्य है जिसे यहाँ अविकलरूप से उद्धृत किया जा रहा है—

"क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्यविचारचर्चा में इस पद्य का उल्लेख किया है। उन्होंने इसकी आलोचना की है। उनका कहना है कि भवभूति ने रामचन्द्र जी के दोष दिखलाकर प्रधान-नायक-गत वीर रस का विनाश कर दिया। क्षेमेन्द्र की यह आलोचना ठीक नहीं है। इस नाटक में कवि का अभिप्राय रामचन्द्र जी के जीवन से वीर रस का आस्वाद कराने का नहीं है। यह नाटक करुण रस का नाटक है। प्रधान नायक और नायिका के जीवन से करुण रस का आस्वाद होता है। जिस रस की पुष्टि अपेक्षित है उसी रस का घात न होना चाहिए। इस सिद्धान्त का पालन उत्तरचरित में हुआ है। अतः रामचन्द्रजी के दोष दिखलाने वाला पद्य रस का विनाश करने वाला नहीं माना जा सकता।

केवल इतना ही नहीं कि यह पद्य प्रधान रस का विनाश नहीं करता, वस्तुतः वह प्रधान रस का पोषण करता है। यह पद्य सुनने पर प्रेक्षकों के हृदय में यह भाव

उठता है कि इतने दोषों के रहने पर भी रामचन्द्रजी बड़े बने हैं और किसी दोष के न रहने पर भी बेचारी सीता घर से निकाल दी गईं। बेचारी सीताजी व्यर्थ कष्ट में पड़ीं। इस प्रकार सीताजी के चरित्र से प्राप्त होने वाला करुण रस पुष्ट होता है। यह इस पद्य का गुण है।

यदि रामचन्द्रजी को वीर रस की दृष्टि से देखा जाय, जैसा कि क्षेमेन्द्र कहते हैं, तो भी उनका कहना ठीक नहीं जँचता। लव की उक्ति, सुनने पर यह बात मन में आती है कि यह एक सच्चे वीर का पुत्र है। क्या यह बात अप्रत्यक्ष रूप से रामचन्द्रजी की वीरता की पुष्टि नहीं करती? लव रामचन्द्रजी का कोई वास्तविक प्रतिपक्षी नहीं था। चन्द्रकेतु और लव भले ही इसे न जानते हों, सहृदय प्रेक्षक वस्तुस्थिति को अच्छी तरह जानते हैं। किसी भी प्रेक्षक के मन में लव के प्रति द्वेष की भावना नहीं उठती, जैसे कि प्रतिनायक के प्रति उठा करती है। सब यही चाहते हैं कि दोनों लड़कों की लड़ाई बराबरी पर छूटे। ऐसी स्थिति में लव की उद्धत उक्ति एक निर्वचनीय आनन्द देकर समाप्त हो जाती है। उसका मनोवैज्ञानिक असर और कुछ नहीं होता।

प्रधान नायक के रस का विनाश नहीं करना चाहिये, इस सिद्धान्त से भवभूति अपरिचित नहीं थे। जहाँ उन्हें रसनाश का भय हुआ, वहाँ उन्होंने कथानक बदल दिया है। महावीरचरित में भवभूति ने दिखलाया है कि बाली रामचन्द्रजी से युद्ध करने आया। दोनों युद्ध-भूमि को जा रहे थे। रामचन्द्रजी आगे थे और बाली पीछे। सहसा बाली मतङ्ग मुनि के शापवश मृग हो गया। वह अपने स्वरूप को भूलकर जंङ्गल में भाग गया। युद्ध-भूमि में पहुँचकर रामचन्द्रजी ने पीछे देखा तो बाली न दिखाई दिया। बहुत खोजने पर भी जब वह न दिखाई दिया तो रामचन्द्रजी लौट जाना चाहते थे। परन्तु धनुष पर चढ़ाये बाण को वे व्यर्थ उतारना न चाहते थे। अतः उन्होंने किसी पशु के शिकार करने की सोची। इधर-उधर देखने पर उन्हें वहीं मृग रूप में बाली दिखाई दिया। इस भय से कि कहीं मृग भाग न जाय रामचन्द्रजी पेड़ की आड़ में हो गए। यहाँ से उन्होंने बाली को मारा। इस प्रकार कवि ने वीर रस की रक्षा की।

इन सब बातों पर विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि क्षेमेन्द्र की आलोचना केवल पुस्तकी सिद्धान्तों पर आश्रित है वास्तविक नहीं।"

चन्द्रकेतुः—आः तातापवादिन्। भिन्नमर्याद! अति हि नाम प्रगल्भसे।

लवः—अये, मय्येव भ्रुकुटीमुखः संवृत्तः?

सुमन्त्रः—स्फुरितमनयोः क्रोधेन। तथाहि—

क्रोधेनोद्धतधूतकुन्तलभरः सर्वाङ्गजो वेपथुः,
किञ्चित्कोकनदच्छदस्य सदृशे नेत्रे स्वयं रज्यतः ।
धत्ते कान्तिमिदं च वक्त्रमनयोर्भङ्गेन भीमं भ्रुवो-
श्चन्द्रस्योद्भटलाञ्छनस्य कमलस्योदभ्रान्तभृङ्गस्य च ॥३५॥

[अन्वयः—क्रोधेन, उद्धतधूतकुन्तलभरः, सर्वाङ्गजः, वेपथुः, स्वयं कोकनदच्छदस्य सदृशे नेत्रे, किञ्चित् रज्यतः, भ्रुवोः भङ्गेन, भीमम्, अनयोः, इदं वक्त्रम्, च, उद्भट लाञ्छनस्य, चन्द्रस्य उद्भ्रान्तभृङ्गस्य, च, कमलस्य कान्ति धत्ते ॥३५॥

लवः—कुमार ! कुमार ! एह्येहि । विमर्दक्षमां भूमिमवतरावः ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति महाकविभवभूतिविचरित उत्तररामचरिते "कुमारविक्रमो"
नाम पञ्चमोऽङ्कः ।

हिन्दी—

चन्द्रकेतु—अरे, तातनिन्दक ! मर्यादा का अतिक्रमण करने वाले ! बहुत बढ़-बढ़ कर बोल रहा है !

लव—अरे, मुझ पर ही भृकुटी तान रहा हैं ?

सुमन्त्र—इन दोनों का क्रोध भड़क उठा है । जैसे कि—

[श्लोक ३५]—इनके सारे शरीर में क्रोध से केशों को अधिक हिलाने वाला कम्पन हो रहा है । स्वभावतः रक्तकमल-पत्र के समान नेत्र कुछ-कुछ लाल हो रहे हैं । और भृकुटी टेढ़ी करने से इन दोनों के मुख, स्पष्ट चमकाने वाले कलंक से युक्त चन्द्रमा की तथा ऊपर मंडराते हुए भौंरों से युक्त कमल की शोभा धारण कर रहे हैं । (इन दोनों के मुख चन्द्रमा तथा कमल के समान गौरवपूर्ण है । भृकुटी टेढ़ी करने से यदि एक सकलंक चन्द्रमा सा प्रतीत होता है तो दूसरा समिलिन्द कमल सा ।)

लव—कुमार ! आओ ! युद्ध के योग्य भूमि में उतरें ।

(सब चले जाते हैं)

महाकवि 'भवभूति'—विरचित 'उत्तररामचरित' में 'कुमारविक्रम'
नामक पञ्चम अङ्क समाप्त

संस्कृत-व्याख्या

'महाराजस्यापकर्षं श्रुत्वा भृशं खिन्नश्चन्द्रकेतुः प्राह—आः ! इति' । 'आः' इति क्रोधसूचकमव्ययपदम् । तातापवादिन् ! =तातनिन्दक ! भिन्ना=छिन्ना मर्यादा येन, तत्सम्बुद्धौ हे भिन्नमर्याद ! अति हि प्रगल्भसे=धृष्टो भवसि ! 'नाम' इति क्रोधसूचकमव्ययपदम् । ("नाम प्रकाश्य-सम्भाव्य-क्रोधोपगम-कुत्सने" इत्यमरः ।)

कुपितं चन्द्रकेतुमवलोक्य लवः प्राह—अये ! इति । अहो ! मयि एव भ्रुकुटिमुखे यस्य स एवंविधः संवृत्तः । कुपितो जातः ।

सुमन्त्रः कुमारयोः क्रोधमेव वर्णयति—क्रोधेनेति ।

क्रोधवशादनयोः कुन्तलानां=केशानां भर=समूहः, उद्धतः=इतस्ततश्चलितः, सर्वाङ्गे वेपथुः कम्पो जातः, स्वयं रक्तकमलदलसदृशे चः लोचने किंचित् रक्ते भवतः । भ्रुवोर्भङ्गेन=भ्रुकुटी समुत्तोलनेन मुखञ्चानयोः भिन्नं सत् उद्भूदं=उत्कृष्टतयाः प्रतीयमानं लाञ्छनं यस्मिन्नेवंविधस्य चन्द्रस्य, उद्भ्रान्ताः भ्रमरा यत्र तस्य कमलस्य कान्ति धारयति ।

क्रोधवशात् केश-सञ्चालनम्, शरीरे कम्पः, रक्तनेत्रता, मुखे भ्रुकुटी-सन्तानेन चन्द्रकमलतुल्यता, इति कुमारयोः क्रोधः स्फुरित इति ।

अत्र निदर्शना, अनुमानञ्चालङ्कारौ । शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः । ओजो गुणः । गौडी रीतिः ।

लवश्चद्रकेतुं कुपितमवलोक्य कथयति—कुमार ! इति । कुमार ! आगच्छ, विमर्दक्षमां=युद्धोचितां भूमीमवतरावः । तत्रैव युद्धकौशलं प्रदर्शितं भविष्यतीत्युक्त्वा सर्वे यथायथं निष्क्रान्ताः ।

कुमार इति ।

कुमारस्य कुमारयोर्वा पराक्रम-प्रदर्शनादस्याङ्कस्य "कुमार-विक्रमः" इति नामास्ति ।

इत्युत्तरामचरितस्य 'श्री प्रियम्वदा'ख्यटीकाय-पञ्चमोऽङ्कः समाप्ति गतः ॥

टिप्पणी

(१) अये ! मय्येव भ्रुकुटीमुखः संवृत्तः—पाठा०, "आ कथं मय्येव भ्रुकुटीधरः संवृत्तः" ।

(२) [श्लोक ३५]

१. क्रोधेनोद्धतधूतकुन्तल भर'''—पाठा०, 'चूडामण्डलबन्धनं तरलयत्याकूतजो वेपथुः' । २. धत्ते कान्तिमिदं च'''—पाठा०, "धत्ते कान्तिमकाण्डताण्डवितयोर्भङ्गेन वक्त्रं भ्रुवोः" ।

"वक्त्रमित्येकवचनोक्तिः सन्तानैकप्रयुक्तात्यन्तसारूप्यद्योतनाय'–इति वीरराघवः

३. चन्द्रस्योद्भूटः'''—पाठा०, "चन्द्रस्योत्कटः" । ४. निदर्शनालङ्कारः ।

श्री 'प्रियम्वदा'-टीकालङ्कृत 'उत्तररामचरित'-नाटक के "कुमारविक्रम" नामक पञ्चम अङ्क का सटिप्पण हिन्दी अनुवाद समाप्त ॥

षष्ठ अंक

(कुमार-'प्रत्यभिज्ञान')

'व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते ।
विकसतिं हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकम्,
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः ।

षष्ठ अङ्क की विश्लेषणात्मक कथावस्तु—

विश्लेषण की दृष्टि से छठे अङ्क की कथावस्तु को ६ भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(क) विष्कम्भक, (ख) राम, चन्द्रकेतु और लव, (ग) लव और कुश, (घ) राम का स्वगत-कथन तथा लव-कुश का कौतूहल, (ङ) लव-कुश एवं राम तथा (च) नेपथ्य-कथन ।

(क) विष्कम्भक

[स्थान—वाल्मीकि आश्रम का पार्श्व]

अङ्क के आरम्भ में विमान पर बैठकर विद्याधर और विद्याधरी प्रविष्ट होते हैं । उन दोनों के वार्तालाप से निम्नलिखित सूचनाएँ मिलती हैं—

(१) लव और चन्द्रकेतु दोनों कुमारों का भयङ्कर युद्ध हो रहा है ।

(२) युद्ध में चन्द्रकेतु के 'आग्नेयास्त्र' के प्रयोग का उत्तर लव ने 'वारुणास्त्र' से दिया है; जिसका निराकरण चन्द्रकेतु 'वायव्यास्त्र' से कर देता है ।

(३) रामचन्द्रजी शम्बूक को मारकर युद्धस्थल पर आ गये हैं और दोनों को अपने गम्भीर स्वर से शान्त कर चुके हैं ।

(ख) राम, लव और चन्द्रकेतु

[स्थान—वाल्मीकि आश्रम का पार्श्व]

सन्तप्त राम 'पुष्पक' से उतरते हैं और चन्द्रकेतु से आलिङ्गन करते हुए उसका अनामय पूछते हैं । चन्द्रकेतु लव का परिचय देता है । राम उसकी प्रशंसा करते हैं । वह उनके दुःख को विश्राम—सा दे रहा है । लव चन्द्रकेतु से राम का परिचय पूछता है । उनका परिचय प्राप्त कर लेने के अनन्तर वह उनको प्रणाम करता

है तथा उसके प्रति चन्द्रकेतु के समान व्यवहार करता है। चन्द्रकेतु उसके युद्ध की चर्चा करता हुआ 'जृम्भकास्त्र' प्रयोग की बात बता देता है। इससे रामचन्द्रजी को कौतूहल होता है। लव रामचन्द्रजी के कथनानुसार अस्त्र को प्रशान्त कर देता है। रामचन्द्रजी, लव तथा चन्द्रकेतु के वार्तालाप से ये सूचनाएँ मिलतीं हैं —

(१) चन्द्रकेतु लव को अपना मित्र बना चुका है।

(२) लव बाल्मीकि ऋषि का छात्र है।

(३) लव और उसके भाई कुश को जृम्भकास्त्र सिद्ध हैं। दोनों उस अस्त्र का प्रयोग एवं निवारण करना पूर्णतया जानते हैं।

(ग) लव और कुश

[स्थान—पूर्वोक्त]

इसी समय क्रोधित कुश प्रवेश करके लव से युद्ध के विषय में प्रश्न करता है। लव उसे शान्त रहने के लिये कहता है, क्योंकि वहाँ रामचन्द्रजी उपस्थित हैं। रामचन्द्रजी उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होते हैं, लव के कथनानुसार कुश उसको 'पिता' सम्बोधन कर प्रणाम करता है। राम उसका आलिङ्गन करते हैं इसी समय मध्याह्न हो जाता है। लव रामचन्द्रजी से साल-वृक्ष की छाया में बैठने के लिये कहता है, सब वहाँ घूमकर बैठ जाते हैं।

(घ) राम का स्वगत-कथन तथा लव और कुश का कौतूहल

[स्थान—पूर्वोक्त]

रामचन्द्रजी के स्वगत-कथन में दो बातों पर विशेष प्रभाव पड़ा है—

(१) लव और कुश का शारीरिक सौन्दर्य, और (२) उनकी उत्पत्ति का विचार तथा सीता देवी की स्मृति।

लव एवं कुश दोनों बालक वृषस्कन्ध और युवक कपोत कण्ठ के समान मेचक (मटमैले) वर्ण वाले हैं। दोनों सिंह के समान देखते हैं तथा उनकी ध्वनि गम्भीर है। उनमें सीता देवी की झलक दिखाई देती है बस वे सीता-परित्याग के स्थान—बाल्मीकि आश्रम और सीताजी के गर्भकालीन चिह्नों से इस निष्कर्ष पर आते हैं कि ये दोनों उनके ही पुत्र हैं। 'जृम्भकास्त्र' का प्रयोग भी इस विचार को दृढ़ कर देता है। सीता-स्मृति में राम रोने लगते हैं। लव एवं कुश परस्पर उनके रुदन के विषय में बात-चीत करते हैं।

(ङ) लव, कुश एवं राम।

[स्थान—पूर्वोक्त

इसी बीच रामचन्द्रजी आदिकवि बाल्मीकि द्वारा प्रणीत रामायण के कतिपय अंश सुनने की इच्छा करते हैं सर्वप्रथम कुश दो श्लोक सुनाता है, जो कि

सीता और रामचन्द्रजी के मधुर दाम्पत्य जीवन से सम्बन्धित हैं तदन्तर एक श्लोक लव सुनाता है। जो कि चित्रकूट-मार्ग में मन्दाकिनी-विहार के अवसर पर रामचन्द्रजी की उक्ति है। राम स्तम्भित हो जाते हैं।

(च) नेपथ्य-कथन।

[स्थान—पूर्वोक्त]

इसी समय नेपथ्य से यह सूचना मिलती है कि अरुन्धती के साथ वसिष्ठ, बालमीकि, दशरथ की महारानियाँ, जनक—सभी चन्द्रकेतु और लव के युद्ध के समाचार से घबराये हुये धीरे-धीरे आ रहे हैं। राम व्याकुल हो उठते हैं और उनके स्वागत के लिये तत्पर हो जाते है अङ्क समाप्त हो जाता है।

छठे अङ्क का नाटकीय महत्व

(१) विष्कम्भक—नाटयशास्त्र में युद्ध-दृश्य का निषेध होने के कारण कवि ने 'विषकम्भक' का प्रयोग किया है। इसके द्वारा युद्ध एवं राम के आगमन की सूचना मिलती है। [इसके विषय में पञ्चम अङ्क की 'विश्लेषणात्मक कथावस्तु का 'युद्ध दृश्य देखना चाहिए।]

(२) षष्ठ अङ्क की आवश्यकता—षष्ठ अङ्क की अवतारणा 'प्रत्यभिज्ञान'-दृश्य' (Recognition Scene) के लिये अत्यन्त आवश्यक थी। इस स्थान तक लव एवं कुश के चरित्र के विभिन्न पक्षों का भी उद्घाटन कर दिया है। लव एवं कुश में रघुवंश की दीप्ति, उनमें सीता के मुख की झाँकी, सीता परित्याग के स्थान और समय की अवधि बालकों की अवस्था आदि से राम को यह विश्वास हो जाता है कि लव-कुश सीता के ही पुत्र हैं। नाटक के लिये यह भी आवश्यक है कि राम सीता के विषय में एकान्तिक रूप से निराश न हो। लव एवं कुश को देखकर वे सीता के विषय में अवश्य ही उत्कण्ठित होते हैं। इसलिए चरमावधि (Climax) तक पहुँचने के लिए इस अङ्क की महत्ता स्वतः सिद्ध है।

इसके अतिरिक्त कवि चतुर्थ अङ्क से ही रामचन्द्रजी उनके कुटुम्बी तथा कुश-लव सभी को परस्पर मिलाने के विचार में है। इस अङ्क में आकर उसका यह उद्देश्य बहुत कुछ पूर्ण होने लगता है। चतुर्थ अङ्क से प्रारम्भ किये गये कथा-सूत्र यहाँ एकत्रित होते दिखाई देते हैं।

(३) भाषा—इस अङ्क के प्रारम्भ में भवभूति की भाषा अपेक्षाकृत दीर्घसमासयुक्त और कठिन है। उसमें "ब्राह्मणीव विवर्तानां क्वापि प्रविलयः कृतः" (श्लोक ६) इत्यादि स्थानों पर दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रयोग विचार-गाम्भीर्य ला देता है। विविध अस्त्रों का आडम्बर पूर्ण वर्णन भी नाटकीय दृष्टि से कुछ बोझिल-सा जान पड़ता है। यहाँ केवल ऐसा प्रतीत होता है कि भवभूति ने अपने उस दर्शन तथा शस्त्र-ज्ञान का प्रयोग यहाँ अवसर प्राप्त करके किया हो। हाँ, कवित्व

की दृष्टि से उसमें ओजोगुण के दर्शन होते हैं, तथा युद्धानुरूप दीर्घबन्ध भी दृष्टि-गोचर होता है। इसी प्रकार राम का स्वगत कथन भी नाटकीय दृष्टि से कुछ विस्तृत हो गया है, तथापि उसमें विचार-गाम्भीर्य तथा तीव्र अनुभूति के कारण कोई अधिक व्याघात प्रतीत नहीं होता। बच्चों के सम्मुख सीता देवी के शारीरिक गठन का वर्णन (श्लोक ३५) राम के मुख से अच्छा नहीं लगता। यदि यह 'स्वगत' कथन होता तो अधिक उचित रहता।

(४) नाटकीय सोत्प्रास (Dramatic Irony)

छठे अङ्क में यत्र-तत्र नाटकीय सोत्प्रासों, जिनके एक प्रकार-विशेष को अंग्रेजी साहित्य में 'आयरनी आफ् स्पीच' (Irony of Speech) कहा गया है, का सुन्दर प्रयोग हुआ है। इसका प्रयोग लव तथा कुश की उक्तियों में श्री रामचन्द्रजी को 'तात' कहते समय तथा चन्द्रकेतु की उक्तियों में 'प्रियवयस्य' कहते समय हुआ है। लव तथा कुश चन्द्रकेतु की मित्रता के कारण ही रामचन्द्र जी को 'तात' कहते हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा वे उनके 'तात' ही सिद्ध होते हैं। उक्ति की यह व्यञ्जना कितनी सार्थक तथा नाटकीय गतिविधि में कैसी रोचकता ला रही है।

(५) अङ्क का नाम—कवि के अङ्क का नाम 'कुमारप्रत्यभिज्ञान' रखा है। यहाँ 'प्रत्यभिज्ञान' को पारिभाषिक रूप से नहीं ले सकते हैं, क्योंकि ज्ञात वस्तु का पुनः ज्ञान ही 'प्रत्यभिज्ञान' कहलाता है। यहाँ श्री रामचन्द्रजी सर्वप्रथम ही लव एवं कुश को देख रहे हैं। इसी प्रकार 'शैव-दर्शन' की 'प्रत्यभिज्ञान' से इसका कोई सम्बन्ध नहीं, अतः उक्त प्रसङ्ग में 'प्रत्यभिज्ञान' का सीधा-साधा अर्थ 'परिचय' या 'पहचान' ही लेना चाहिये।

षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशति विमानेनोज्ज्वलं विद्याधरमिथुनम् ।)

विद्याधरः—अहो नु खल्वनयोर्विकर्तनकुलकुमारयोरकाण्डकलहप्रचण्डयोर्मुरूद्योतितक्षत्रलक्ष्मीकयोरत्यद्भुतोद्भ्रान्तदेवासुराणि विक्रान्तविलसितानि । तथा हि ! प्रिये पश्य—

झणज्झणितकङ्कणक्वणितकिङ्किणीकं धनु-
र्ध्वनद्गुरुगुणाटनीकृतकरालकोलाहलम् ।
वितत्य किरतोः शरानविरतं पुनः शूरयो-
र्विचित्रमभिवर्तते भुवनभीममायोधनम् ॥१॥

[अन्वयः—झणज्झणितकङ्कणक्वणितकिङ्किणीकम्, ध्वनद्गुरुगुणाटनीकृत-करालकोलाहलम् धनुः, वितत्य, शरान् अविरतम् किरतोः, शूरयोः, पुनः, विचित्रं, भुवनभीमम्, आयोधनम्, अभिवर्तते ॥१॥]

जृम्भितं च विचित्राय मङ्गलाय द्वयोरपि ।
स्तनयित्नोरिवामन्ददुन्दुभेर्दुन्दुमायितम् ॥२॥

तत्प्रवर्त्यतामनयोः प्रवीरयोरनवरतमविरलमिलितविकचकनककमलकमनीयसंहतिरमरतरुतरुणमणिमुकुलनिकरमकरन्दसुन्दरः पुष्पनिपातः ।

हिन्दी—

(तदनन्तर विमान से उज्ज्वल-वेष में 'विद्याधर-दम्पती' का प्रवेश होता है ।)

विद्याधर—ओह ! आकस्मिक कलह से प्रचण्ड, क्षत्रियोचित शोभा दिखलाने वाले इन सूर्यवंशी कुमारों के सुर और असुरों को भी आश्चर्य-चकित बना देने वाले वीर-चरित हैं !) जैसे कि—प्रिये ! देखो !

[श्लोक १]—कर-कङ्कण के समान 'झन-झन' शब्द करने वाले घूंघरुओं से युक्त, (जैसे कङ्कण में घूंघरु बजते हैं वैसे ही घूंघरुओं से युक्त) अग्र-भाग से प्रत्यञ्चा की टंकार तथा भयंकर कोलाहल करने वाले धनुष को चढ़ाकर अनवरत बाण-वर्षा करते हुए इन वीरों का पुनः संसार को त्रस्त करने वाला भीषण रण हो रहा है । (धनुष को कान तक चढ़ाकर लगातार तीव्रतर शर वर्षा करते हुए ये दोनों युद्ध कर रहे हैं ।)

[श्लोक २]—इन दोनों के विचित्र मङ्गल के लिए मेघ के समान (गम्भीर) 'दुन्दुभि' का अमन्द 'धम-धम' शब्द (भी) बढ़ रहा है।

इसलिए हम दोनों महावीरों के ऊपर, लगातार, सघन, और (बीच-बीच में) मिले हुए विकसित स्वर्ण (सुनहरे) कमलों से सुन्दर समूह वाली, 'कल्पतरु' की मणि-तुल्य नवीन कलिकाओं के मकरन्द से मनोहर पुष्प-वर्षा करें! (अर्थात्—इन दोनों के ऊपर ऐसी वर्षा करें जिसके बीच-बीच में कनक-कमल और कल्पतरु' के कुसुम खिले हुए हों)।

संस्कृत-व्याख्या

अथ कुमारयोर्युद्ध-कौशलं प्रदर्शयितुं षष्ठाङ्कमारभमाणः कविरादौ विष्कम्भ-कमवतारयति। अङ्के युद्ध-प्रदर्शनस्य निषिद्धत्वात्। तथा चोक्तं साहित्यदर्पणे—

"दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यादेशादिविप्लवः।" इति।

अतो-विमान द्वारा किन्नर-मिथुन-प्रवेशं नाटयति कविः। विद्याधरो विमानस्थः स्व प्रियया सह युद्धवार्ताङ्कर्तुमारभते—अहो नु—इति। आश्चर्यद्योतकमव्ययपद-मिदम्। आश्चर्यम्। खलु = अनयोः, विकर्तन = सूर्य-कुल-कुमारयोः, अकाण्डे एव = अकस्मादेव कलहेन प्रचण्डयोः = कुपितयोः, उद्योतिता = प्रकटिता क्षात्रलक्ष्मीर्याभ्यां तयोः, अत्यद्भुतेन अत्याश्चर्येण, उद्भ्रान्ताः = सम्भ्रम प्राप्ताः देवांसुराः यैः, तानि-विक्रान्त-विलसितानि शूरचरितानि सन्ति। एवंविधं युद्धमवलोक्य देवा असुरा-श्चापि विस्मिताः सञ्जाताः, इति भावः ('शूरो वीरश्च विक्रान्तः' इत्यमरः।) तथाहि प्रिये त्वमपि पश्य—

तदेव युद्धकौशलं प्रदर्शयति—झणदिति।

'झणज्झण' इत्यव्यक्तध्वनियुक्तं यत करकङ्कणम् = हस्त-भूषणभूतं कङ्कणम्, तस्य क्वणितम् = शब्दो यासां तादृश्यः किङ्किण्यः = क्षुद्रघण्टिकाः यस्मिन् तद् (यादृशः शब्दः करस्थितस्य कङ्कणस्य 'झण-झण' ध्वनियुक्तो भवति, तादृशं शब्दं कुर्वन्त्यः क्षुद्रघण्टिकाः (घूँघरू) यस्मिन्निबद्धास्तादृशं धनुः (वितत्य) इति भावः) ध्वनन् = शब्दं कुर्वाणः, यो गुरुगुणः = दीर्घामौर्वं यया तादृशी अटनी-धनुष्कोटिः, (कोटिरस्याटनी इत्यमरः।) तया कृत = सम्पादितः करालो भयंकरः कोलाहलो यस्मिन् तत् धनुर्वितत्य = विस्तृतं कृत्वा, शरान् = बाणान्, किरतोः = क्षिपतोः, शूरयोः = वीरयोः, अनयोः, लवचन्द्रकेत्वोः, पुनः विचित्रम् = अत्यद्भुतम्, भुवनभीमं = भुवनेषु भीमं = भीषणं, आयोधनं = युद्धम् (युद्धमायोधनं जन्यं प्रधन प्रविदारणम्। इत्यमरः) अभिवर्तते = विद्यते शब्दायमान धनुर्वितत्य सतत बाणवृष्टिं विधाय भुवन-भीषणम् = युद्धं कुरुतः, इत्यर्थः।

अत्र उपमा अलङ्कारः। पृथ्वी च्छन्दः। तल्लक्षणं यथा—

"जसौ जसयलावसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः।" इति।

ओजो गुणः। गौडी रीतिः ॥१॥

अपि चोभयोरपि मङ्गलार्थं दुन्दुभिघोषोऽपि भवति—इत्याह—जृम्भितमिति अनयोर्विचित्राय मङ्गलाय स्तनयित्नोः—मेघस्येव, अमन्दः—महान् यो दुन्दुभिः=भेरी, तस्य, दुन्दुमायितं—'दुम्-दुम् इत्येवं ध्वनिः जृम्भितम्=प्रवृत्तम् ।

अत्राप्युपमाऽलङ्कारः । अनुष्टुप् च्छन्दः ।।२।।

पुनः स्वप्रियाम्प्रति सामयिकं कर्तव्यमुपदिशति—तत्प्रवर्त्यतामिति । यतः एतयोर्वीरयोरति मनोहरं युद्धं भवति, ततश्चैतयोरुत्साहवर्धनार्थं सम्प्रति पुष्पाणां निपातः क्रियताम्=पुष्पवृष्टिः, क्रियताम्, इति यावत् । कीदृशः पुष्पनिपातः ? इत्याह-अनवरतं=निरन्तरं, सततमित्यर्थः । अथ च—अविरलैः—सघनैः मिलतैः=सम्मि—लितैः, विकचैः=विकासमुपेतैः, कनक-कमलैः=स्वर्णवर्णपद्मैः (कृत्वा), कमनीया रमणीया, संहतिः=समुदायः, यस्य सः पुष्पनिपातः, पुनः अमराणाम्=देवानाम्, ये तरवः=वृक्षास्तेषां ये तरुणाः=नवीना, मणिमुकुलाः=मणितुल्याः, कुड्मलाः, तेषां निकरस्य=समूहस्य, मकरन्दः=पुष्परसः, तेन सुन्दरः=मनोहरः, पुष्पनिपातः, क्रियतामिति सम्बन्धः । पुष्पाणां मध्ये सुवर्णकमलानि, देवपादप-कुसुममालाश्च मिलिताः स्युः, इति भावः ।

टिप्पणी

(१) षष्ठ अङ्क का आरम्भ विष्कम्भक से इस हेतु हुआ है क्योंकि युद्ध का प्रत्यक्ष प्रदर्शन मञ्च पर नहीं होता । यहाँ विद्याधर और विद्याधरी के संवाद से लव और चन्द्रकेतु के युद्ध की सूचना प्राप्त होती है । यह नियम है—

"युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोधनं चैव ।
प्रत्यक्षाणि तु नाङ्के प्रवेशकैः संविधेयानि ।।" (नाट्यशास्त्र, १८/१९)

(२) [श्लोक १]—

झणज्झणित········—झणज्झणः सञ्जातः अस्य इति झणज्झण+इतच्= झणज्झणितम् । झणज्झणितं कंकण तस्येव क्वणितं यासां ताः किंकिण्यः यस्य तत् । क्वण+क्त भावे क्वणितम् । पाठा०, । 'रणत्करणझज्झण' । रणत्करेण झञ्झणन्त्यः क्वणिताश्च किंकिण्यः यस्य । २. ध्वनद्गुरु—ध्वनन् यः गुरुः गुणः, अटन्यौ च ताभिः कृतः करालः कोलाहलः यस्य तत् । अथवा—

ध्वनन् गुरुगुणः (ज्या) यया तथोक्त्या अटन्याः कृतः करालः कोलाहलः यस्मिन् तत् । अविरतं पुनः शूरयोः—पाठा०, अविरतस्फुरच्चूडयोः ।

४. भावानुरूपिणी शब्दावली द्रष्टव्य है ।

(३) [श्लोक २]—

१. जृम्भितं च 'विचित्राय—पाठा०, विजृम्भितं च दिव्यस्य' । २. अमन्द-दुन्दुभि···—पाठा०, 'अमन्दं दुन्दुभेः···' । ३. स्तनयित्नो···—स्तन+इत्नुच् कर्तरि (उणादि) तस्य । ४. दुन्दुमायितम्—दुम्+डाच्+क्यष्+क्त भावे ।

विद्याधर—ता किं ति पुरो आआसं दुद्दंतरलतडिच्छडाकडारं अवरं विअ झति संवुत्तम् ? [तत्किमिति पुर आकाशं दुर्दर्शतरलतडिच्छटाकडारमपरमिवं झटिति संवृत्तम् !]

विद्याधरः—तत्किं नु खल्वद्य ?

त्वष्ट्रयन्त्रभ्रमिभ्रान्तमार्तण्डज्योतिरुज्ज्वलः ।
पुटभेदो ललाटस्थनीललोहितचक्षुषः ॥३॥

अन्वयः--ललाटस्थनीललोहित चक्षुषः त्वष्ट्रयन्त्रभ्रमिभ्रान्तमार्तण्डज्योतिरुज्ज्वलः पुटभेदः ॥३॥]

(विचिन्त्य) आं ज्ञातम् । जातक्षोभेण चन्द्रकेतुना प्रयुक्तमप्रतिरूपमाग्नेयमस्त्रम्, यस्यायमग्निवच्छरसम्पातः । संप्रति हि—

अवदग्धबर्बरितकेतुचामरैरपयातमेव हि विमानमण्डलैः ।
दहति ध्वजांशुकपटावलीमिमां, नवकिंशुकद्युतिसविभ्रम शिखी ॥४॥

[अन्वयः—अवदग्धबर्बरितकेतुचामरैः, विमानमण्डलैः अपयातम्, एव, हि, नवकिंशुकद्युतिसविभ्रमः, शिखी, इमां ध्वजांशुकपटावलीं, दहति ॥४॥]

आश्चर्यम् ! प्रवृत्त एवायमुच्चण्डवज्रखण्डावस्फोटपटुरटत्स्फुलिङ्गगुरुरुत्तालमुमुललेलिहानोज्ज्वलज्वालासंभारभैरवो भगवानुषर्बुधः प्रचण्डश्चास्य सर्वतः सपातः । तत्प्रियामंशुकेनाच्छाद्य सुदूरमपसरामि (तथा करोति) ।

हिन्दी—

विद्याधरी—तब क्यों सामने का आकाश दुर्दर्शनीय चञ्चल बिजली की चमक से पीला-पीला होकर सहसा दूसरे रूप में बदल-सा गया है । (आकाश बिजली की चमचमाहट से पीला-पीला-सा क्यों हो रहा है ?)

विद्याधर—तो क्या आज—?

[श्लोक ३]—भगवान् शंकर के मस्तक पर स्थित (तृतीय) नयन का, 'विश्वकर्मा' के द्वारा शाणचक्र (खराद पर चढ़ाकर) घुमाये सूर्य के उज्ज्वल प्रकाश के समान उन्मीलन हुआ है ?) अर्थात् क्या आज प्रलयंकर शंकर का, विश्वकर्मा के द्वारा सान पर चढ़ाये हुए सूर्य के उज्ज्वल प्रकाश के समान तीसरा नेत्र खुल गया है ? जिससे यह दिगन्तव्यापी प्रकाश फैल रहा है ?

(सोचकर) हाँ, जाना ! चन्द्रकेतु ने क्षुब्ध होकर असाधारण 'आग्नेयास्त्र' का प्रयोग किया है, जिसकी अग्नि के समान यह बाणधारा है ! इस समय—

[श्लोक ४]—'बर्बर' (भड़-भड़) शब्द कर जलती हुई ध्वजाओं और चँवरों से युक्त विमान भाग गए हैं । और नव-पलास कुसुम के समान यह आग इन पताका-पंक्तियों को जला रही है ।

आश्चर्य है । अत्यन्त प्रचण्ड अशनि-खण्ड के टूटने के समान बड़े वेग से शब्द करते हुए, चिनगारियों से ऊँचे, तथा लपलपाती [हुए लपटों से भयंकर भगवान् अग्निदेव (चारों ओर) फैल ही गए हैं । ये बड़े वेग से चारों ओर फैल रहे हैं । अतः

अपनी प्रियतमा को कपड़े से ढककर सुदूर चला जाता हूँ। (जिससे अग्नि हमारी कोई हानि न कर सके।)

संस्कृत-व्याख्या

आकाशं विद्युत्प्रभापिशङ्गितं विलोक्य किमेतदित्याकुलतया विद्याधर पृच्छति विद्याधरी—तां किं त्ति इति। दुर्दर्शा=दुःखेन द्रष्टुं योग्या तरला=चञ्चला या तडिच्छटा=विद्युल्लहरी, तया कडारम्=कडार वर्णम्, कपिशमिति यावत्, पुरः=सम्मुखे, किमिति=किमर्थं, आकाशम् संवृत्तम्? आकाशे चपला-चाकचक्यवशात् कपिश-वर्णत कथं समजनि? इत्याशयः।

विद्याधरोऽप्यसंविदानः (अज्ञानः) इव प्राह—त्वष्टृ-इति।

अये तत्किमद्य ललाटस्थितस्य भगवतः शिवस्य लोचनस्य पुटयोः=आवरणयोः, भेदः=विघटनं, जातः किमु शिवस्य तृतीयनेत्रोन्मीलनं सम्पन्नमिति। अन्यथा एतावान् प्रकाशः कुतः स्यात्? इति भावः। कीदृशोऽयं प्रकाशः? इत्याह—त्वष्टुः=विश्वकर्मणः, यन्त्रस्य=शाणचक्रस्या या भ्रमिः=भ्रमणं, तया भ्रान्तः=भ्रमणं प्रापितः, यो मार्तण्डः=सूर्यः, तस्य ज्योतिरिवोज्ज्वलः, प्रकाशयुक्तः।

[सूर्यस्य तेजः प्रभावातिशयमसहमाना तत्पत्नी 'संज्ञा' स्व पितरं विश्वकर्माणं प्रार्थितवती, तेजोन्यूनता सम्पादनार्थम्, स च स्व शाणयन्त्रे समारोप्य तं भास्करं न्यूनतेजस्कं चकारेति पौराणिकी कथाऽत्रानुसन्धातव्या।]

अत्रोपमा—सन्देहनामानावलङ्कारौ ॥३॥

पुनः किञ्चिद् विचिन्त्याह विद्याधरः—आमिति। मया सम्प्रति ज्ञातम्। विशेषकुपितेन चन्द्रकेतुना, अप्रतिरूपम्=अनुपमम्, आग्नेयमस्त्रं प्रयुक्तं, यस्य अग्निवत् बाणानां सम्पातः=पतनम्, वृष्टिरिति यावद् भवति।

चन्द्रकेतुना प्रयुक्तस्य 'आग्नेय' संज्ञकस्यास्त्रस्यैवायं प्रभावः, इति भावः।

तमेव प्रभावं स्फुटीकर्तुमाह—अवदग्धेति।

सम्प्रति च—अवदग्धानि=किञ्चित्, प्रज्वलितानि=दाहं भजमानानि, बर्बरितानि='बर्बर' ध्वनि-युक्तानि, केतूनां=ध्वजानां चामराणि येषां तैः, विमानानां मण्डलैः अपयातमेव। आग्नेयास्त्र प्रभावेण विमानानामग्रभागेषु समारोपितानां ध्वजानां प्रकीर्णानि चामराणि दग्धानि, अतएव तानि विमानानीतः प्रयातानि। इति स्पष्टोऽर्थः। नवकिंशुकवर्णः अग्निः इमां ध्वजांशुकपटानामवलीं—पंक्ति दहति। अंशुकः=सूक्ष्म-वस्त्रमेव पटः=महद् वस्त्रम्। अंशुकवस्त्रमित्यस्य हि 'उत्तमवस्त्र' मित्यर्थः।

अत्र निदर्शनालङ्कारः। मञ्जुभाषिणी च्छन्दः। तल्लक्षणं यथा—

"सजसा जगौ भवति मञ्जुभाषिणी" इति ॥४॥

अग्नेः प्रकोपं प्रकाशयन् साश्चर्यमाह" विद्याधरः—आश्चर्यमिति।

उच्चण्डः=प्रबलः, यः वज्रखण्डस्य=अशनिखण्डस्य, अवस्फोटः=स्फोटनम्, स इव पटुः तीक्ष्णतया=वेगेन वा यथा स्यात्तथा रटन्=शब्दं कुर्वाणः, स्फुलिङ्गैः

गुरुः = स्फुलिङ्गबहुलः, उत्तालः = अत्युन्नतः, तुमुलः = भयङ्करः, लेलिहानः = ज्वाला-सन्तानयुक्तः, उज्ज्वलः = प्रदीप्तः, यो ज्वालानाम् = अर्चिषाम् सम्भारः = समूहः, तेन भैरवः = भयावहः, भगवान् उषर्बुधः = अग्निः, उषसि = प्रातःकाले बुध्यते, इति उषर्बुधः । प्रवृत्तः एव - सर्वत्र प्रसृत एव । सर्वत्रातिवेगेन अग्निदेवस्य प्रसारः संजात इति सारः । महता वेगेन चास्य वेगः सर्वतः प्रसरति, अतः स्वप्रियां वस्त्रेणाच्छाद्य सुदूरमपसरामि । इत्युक्त्वा स्वप्रियां वसनेनाच्छादयति ।

टिप्पणी

(१) [श्लोक ३] त्वष्ट्रयन्त्र—पाठा०, 'त्वाष्ट्रयन्त्रः' ।

पुराणों में ऐसी कथा मिलती है कि 'विश्वकर्मा' की पुत्री 'संज्ञा' भगवान् सूर्य की पत्नी थी । एक बार, सूर्य के तेज को न सह सकने के कारण, उसने अपने पिता से इसका कोई उपाय करने की प्रार्थना की । यह सुनकर 'विश्वकर्मा' ने सूर्य को अपनी 'सान' पर चढ़ाकर खराद कर दिया, जिससे उसका तेज अपेक्षाकृत न्यून हो गया । उस तेज से उसने विभिन्न देवताओं के आयुधों का निर्माण किया । विष्णुपुराण में लिखा है— "भ्रमिमारोप्य सूर्यं तु तस्य तेजोविशातनम् ।
कृतवानष्टनं भागं, नव्यंशातयताव्ययम् ॥
यत्सूर्याद् वैष्णवं तेजः, शातितं विश्वकर्मणा ।
त्वष्ट्रैव तेजसा तेन विष्णोश्चक्रमकल्पयत् ॥
त्रिशूलं चैवं रुद्रस्य, शिविकां धनदस्य च ।
शक्तिं गुहस्य देवानामन्येषां च यदायुधम् ॥"

महाकवि कालिदास ने भी रघुवंश में अवन्तिनाथ का वर्णन करते हुए इसी प्रकार सङ्केत किया है—

"अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः ।
आरोप्यचक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यन्त्रोल्लिखितो विभाति ॥"
(रघुवंश, ६/३२)

२. "नीललोहितः"—शिवः । नीलः कण्ठे लोहितश्चकेशेऽतो नीललोहित इति पुराणम्'—क्षीरस्वामी ।

(३) "आग्नेयम्"—'अग्निः देवता अस्य इति आग्नेयम् ।' 'अग्नेर्ढक्' (पा०, ४/२/३३) इति ढक् ।

(३) [श्लोक ४] १. "अवदग्धबर्बरित"···—पाठा०, 'अवदग्धकर्बुरित' । कर्बुराणि कृतानि इति कर्बुर + √णिच् (नामधातु) + क्त कर्मणि कर्बुरितानि । केतवश्च चामराणि च केतुचामराणि । अवदग्धानि कर्बुरितानि (चित्रितानि) केतुचामराणि येषाम् तैः । "चित्रं किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्वुरे' इत्यमरः । बर्बरितानि = दाहजबर्बर-ध्वनियुक्तानि ।

२. "दहति······शिखी"—पाठा०, "दहति ध्वजांकुश (अंकुश)—पटाञ्चले-ष्विमाः क्षणकुङ्कुमच्छुरणविभ्रमं शिखाः ।" वीरराघव और घनश्याम पण्डित ने पहले पाठ को ही स्वीकार किया है ।

(४) "उच्चण्ड भैरव:"—समास-विग्रह के लिए संस्कृत टीका देखिये ।

विद्याधरी—दिट्ठिआ, एदेण विमलमुत्तासेअसीअलसिणिद्धमसिङ्गमंसलेण, णाहदेहप्पंसेण, आणन्दसंदलिदघुण्णमाणवेअणाए अद्धोदिदो एव्व अन्दरिदो मे संदाओ ! [दिष्ट्या एतेन विमलमुक्ताशैलशीतलस्निग्धमसृणमांसलेन, नामदेहस्पर्शेनानन्दसंदलितघूर्णमानवेदनाया अर्धोदित एवान्तरितो मे सन्तापः ।]

विद्याधरः—अयि, किमत्र मया कृतम् ? अथवा—

न किञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं, यो हि यस्य प्रियो जनः ॥५॥

विद्याधरी—कहं अविरलविलोलघुण्णमाणविज्जुल्लदाविलासमसलेहिं मत्तमयूरकण्ठसामलेहिं ओत्थरीअदि णभोङ्गणं जलहरेहिं ? [कथमविरलविलोलघूर्णमानविद्युल्लताविलासमांसलैर्मत्तमयूरकण्ठश्यामलैरवस्तीर्यते नभोऽङ्गणं जलधरैः ?]

विद्याधरः—कुमारलवप्रयुक्तवारुणास्त्रप्रभावः खल्वेषः । कथमविरलप्रवृत्तवारिधारासंपातैः प्रशान्तमेव पावकास्त्रम् ?

विद्याधरी—पिअं मे, पिअं मे । [प्रियं मे, प्रियं मे ।]

विद्याधरः—हन्त भोः ! सर्वमतिमात्रं दोषाय । यत्प्रलयवातोत्क्षोभगम्भीरगुलुगुलायमानमेघपेदुरितान्धकारनीरन्ध्रनद्धमिव एकवारविश्वग्रसनविकटविकरालकालमुखकन्दरविवर्तमानमिव युगान्तयोगनिद्रानिरुद्धसर्वद्वारं नारायणोदरनिविष्टमिव भूतं विपद्यते । साधु चन्द्रकेतो ! साधु ! स्थाने वायव्यमस्त्रमीरितन् । यतः—

विद्याकल्पेन मरुता मेघानां भूयसामपि ।
ब्रह्मणीव विवर्तानां, क्वापि प्रविलयः कृतः ॥६॥

[अन्वयः—विद्याकल्पेन, मरुतां, भूयसाम् अपि, मेघानां, विवर्तानां, ब्रह्मणि, इव, क्वापि, प्रविलयाः कृतः ॥६॥]

हिन्दी—

विद्याधरी—सौभाग्य से, प्रिय के निर्मल मुक्ता-पर्वत-सदृश शीतल, स्निग्ध, मृदु और मांसल (गठीले) शरीर के स्पर्श से आनन्द के कारण बढ़ती हुई वेदना दूर होने से मेरा सन्ताप थोड़ा-सा ही बढ़कर शान्त हो गया है । अग्नि से सन्तप्त शरीर प्रिय के शीतल स्पर्श से शान्ति का अनुभव कर रहा है ।

विद्याधर—प्रिये ! मैंने इसमें क्या कर दिया ? अथवा

[श्लोक ५]—जो जिनका प्रिय होता है वह उसके लिये कुछ भी न करता हुआ (सामीप्यमात्र के) सुखों से दुःख दूर कर देता है। इसीलिये प्रिय व्यक्ति प्रेमी का कोई अवर्णनीय पदार्थ होता है [अर्थात् चाहे प्रिय व्यक्ति प्रेमी के लिये कुछ न करे तो भी प्रेमी को उसके सामीप्य मात्र से ही सुख होता है। उसके स्मरण तथा सान्निध्य से ही सम्पूर्ण दुःख भाग जाते हैं। वह प्रेमी के लिये कोई 'अमूल्य निधि' होता है।]

विद्याधरी—क्या निरन्तर चञ्चल और चलती हुई चपला के चमकने से शक्तिशाली, मद-मत्त मयूरों के कण्ठ के समान श्यामवर्ण के मेघों से आकाश आच्छादित हो रहा है ?

विद्याधर—यह कुमार लव के द्वारा छोड़े गये 'वारुणास्त्र' का प्रभाव है। लगातार गिरती हुई जल-धाराओं से 'आग्नेयास्त्र' शान्त ही हो गया ?

विद्याधरी—मेरे लिए (बड़ा) प्रिय है ! (बहुत) हितकर है !

विद्याधर—अरे, 'अति' सर्वत्र दोष का कारण होता है। जो कि प्रलयकालीन पवन से क्षुब्ध, गम्भीर 'गुल-गुल' शब्द करने वाले मेघों से समृद्ध, सघन अन्धकार से पूर्णतया (एक छिद्र का भी स्थान न छोड़कर) बँधा हुआ सा एक बार ही संसार को निगलने के लिए कराल-काल की मुख-कन्दरा में घूमता-सा, प्रलय-काल में योग-निद्रा से सब ओर निरुद्ध-द्वार 'नारायण के उदर में प्रविष्ट-सा होकर यह जगत् नष्ट हो रहा है ! [आशय यह है कि—'वायव्यास्त्र' के प्रभाव से जगत् की ऐसी स्थिति हो गई है, जैसी कि प्रलय-काल में। ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रलयकालीन बादल उमड़ रहे हों, चारों ओर निबिड़ अन्धकार छाकर संसार को घेर रहा हो एक बार ही निगलने के लिए कराल-काल ने मानों समस्त प्राणियों को अपने मुख-विवर में भर लिया हो अथवा युगान्त में चारों ओर से बन्द शेष-शायी भगवान् विष्णु के उदर में प्रविष्ट होकर यह लोक नष्ट हो रहा है ! इस समय कुछ पता नहीं लग रहा है ! 'वायव्यास्त्र' अपना पूर्ण प्रभाव दिखला रहा है ! वाह ! चन्द्रकेतु ! वाह ! तुमने ठीक समय पर 'वायव्यास्त्र' छोड़ा।

(अथवा—तुमने जो 'वायव्यास्त्र' छोड़ा वह ठीक किया !) क्योंकि—

[श्लोक ६]—जिस प्रकार (तत्त्व-ज्ञान से) सम्पूर्ण 'विवर्त' (नाम-रूपात्मक दृश्य पदार्थ) 'ब्रह्म' में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार ज्ञान-तुल्य इस 'वायव्यास्त्र' ने अगणित मेघों का भी कहीं विलय कर दिया है। (अर्थात्—जैसे 'मिथ्या' 'जगत् ब्रह्म' में विलीन हो जाता है वैसे ही यह 'मिथ्यात्मक' मेघ 'वायव्यास्त्र' से कहीं विलीन हो गये हैं।)

संस्कृत-व्याख्या

स्वकान्त-संस्पर्शात् सुखमनुभवन्ती विद्याधरी प्राह— विद्धिआ इति। विमलः = स्वच्छः, यो मुक्ता-शैलः = मौक्तिकानां पर्वतः स इव शीतलः, स्निग्धः = चिक्कणः,

मसृणः = कोमलः, तथा मांसलः = वलवान् तेन, नाथस्य देहस्पर्शेन, आनन्देन संदलिता = विनष्टा, घूर्णमाना = वर्धमानाः वेदना यस्यास्तस्या मे सन्तापः, अर्धोदित एव = किंचिदुत्पन्न एव अन्तरितः = प्रशान्तः।

अग्नितापभीतिः शीतलेन कान्तशरीरस्पर्शेण सहसैव शान्तेत्यर्थः।

विद्याधरः स्व प्रियाया मधुरामुक्तिं निशम्य प्राह—अयि इति। अयि प्रिये! अत्र मया किं कृतम्? किमपीत्यर्थः।

प्रियो जनः स्मरणमात्रेणापि सुखप्रदो भवतीति मयाप्युपकारः कृत एवेत्याह—नेति। पद्यमिदं द्वितीयाङ्के (१९) संख्याकं व्याख्यातपूर्वम् ॥५॥

आकाशे मेघमालामालोक्य विद्याधरी प्राह—कहमिति। अविरलं = निरन्तरं, विलोलाः = चञ्चलाः, (घूर्णमानाः = भ्रमन्त्यः या विद्युल्लताः = तडिल्लताः, तासां विलासेन मांसलैः = वलवद्भिः, उन्मत्तमयूरकण्ठच्छविश्यामलैः जलधरैः नभोऽङ्गणं = आकाशम्, अवस्तीर्यते = समाच्छाद्यते।

विद्याधरस्तस्याः कथनं समाधत्ते—कुमार इति। कुमारेण लवेन वारुणास्त्रं प्रयुक्तम्। ततश्चायमस्य प्रभावः। कथम्—निरन्तरं सम्पतता जलधारासमूहेन पावकास्त्रं प्रशान्तमेव।

चन्द्रकेतुना वारुणास्त्रप्रतीकाराय पवनास्त्रं प्रयुक्तमित्याह विद्याधरः—हन्तेति। सर्वमपि अत्यधिकं दोषकारणं भवति। यतः प्रलयकाले वातस्यातिक्षोभयुक्ताः, गम्भीर "गुल-गुल" इति ध्वनियुक्ता ये मेघाः, तैः मेदुरित्तम् = समृद्धम्; अन्धकारेण नीरन्ध्रं = छिद्ररहितं यथा स्यात्तथा, नद्धमिव = वद्धमिव, एकवारमेव विश्वस्य ग्रसनाय विकटं = भयङ्करं कालस्य मुखमेव कन्दरं = कन्दरा, तत्र विवर्त्तमानम् = भ्रमत् इव। युगान्ते = प्रलये, योगनिद्रा निरुद्धानि = संवृतानि सर्वाणि द्वाराणि यस्य तत्, नारायणस्य उदरे निविष्टं = प्रविष्टमिव भूतं = जगत्, विपद्यते = विपद्ग्रस्तमिव वर्तते। साधु चन्द्रकेतो! त्वया वायव्यमस्त्रं प्रेरितम् "वायव्यम्" वायुर्देवता यस्य वायुदैवतम्' "वाय्वृतुपित्रुषसोर्यत्" इति यत्प्रत्ययः। तत् स्थाने = उचितमेव। "युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने" इत्यमरः।

युक्ततामेव साधयितुमाह विद्याधरः—विद्येति।

अहो! तव वायव्यास्त्रप्रभावेण सहसैव सव मेघा न जाने कुत्र विलीनाः? यथा सर्वेऽपि विवर्ताः ब्रह्मणि विलीना भवन्ति, तथैवामी मेघा अपि विलीना इति भावः। विद्याकल्पेन = ज्ञानतुल्येन। "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति भगवती श्रुतिर्ज्ञानमन्तरा ब्रह्मात्मकानुभूतिर्नैव सम्भवतीत्याह।

'मरुता' इति सामान्यतया पवनवाचकं सदपि विशेषरूपेण चन्द्रकेतु-प्रयुक्त = वायव्यास्त्र-जन्येन पवनेनेत्यर्थं गमयति।

यथा सर्वमपीदं मिथ्याभूतं जगत् ब्रह्मण्येव विलीनं भवति। ब्रह्मणि एव विवर्तः = जगदस्ति, विलये च तत् ब्रह्मण्येव विलीयते, तथैव मिथ्यात्मका मेघा विद्यासदृशेन

वायव्यास्त्रजन्य पवनेन क्वचिद् विलीनाः । विवर्त्तस्वरूपञ्च पूर्वं स्पष्टतया प्रतिपादितम् द्वितीयाङ्कविष्कम्भके ।

अत्रोपमालङ्कारः । अनुष्टुप् च्छन्दः ॥६॥

टिप्पणी

(१) "सर्वमतिमात्रं दोषाय"—तुलनात्मक—

१. "अति सर्वत्र वर्जयेत्" ।

२. "सीते पर्याप्तमेतावद्भर्त्तुः स्नेहः प्रदर्शितः ।
सर्वत्रातिकृतं भद्रे ! व्यसनायोपकल्पते ॥' (सुन्दरकाण्ड, २४/२१)

(२) "युगान्त...भूत...विपद्यते"—पाठा०, "युगान्तयोगनिद्रानिरुद्धसर्वद्वारनारायणोदरनिविष्टमिव भूतजातं प्रवेपते ।"

(१) युगान्ते (कल्पान्ते) योगनिद्रया (ध्यानात्मकस्वापेन) निरुद्धानि सर्वाणि द्वाराणि यस्य तथाभूतम् युगान्तयोगनिद्रानिरुद्धसर्वद्वारम् । नारायणस्योदरे निविष्टम् नारायणोदरनिविष्टम् (२) युगान्ते या योगनिद्रा तस्यां निरुद्धानि सर्वद्वाराणि येन स नारायणः तस्य उदरे निविष्टमिव ।

तुलना कीजिये—

१. यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥" (मनु० १/५२)

२. "अमुं (अम्बुराशिं) युगान्तोचितयोगनिद्रः ।
संहृत्यलोकान् पुरुषोऽधिशेते ॥ (रघुवंश, १३/६)

३. "युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो, जगन्ति यस्यां सविकासमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधाम्यागमसम्भवा मुदः ॥"
(शिशुपाल० १/२३)

(३) "वायव्यम्"—वायुः देवता अस्य इति वायु + यत् = वायव्यम् । "वाय्वृतुपित्रुषसो यत्" (पा०, ४/१/३१) ।

(४) [श्लोक ६]

१. यहाँ 'विवर्त' शास्त्रीय (Technical) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इस शब्द पर पहले विचार किया जा चुका है ।

विद्याधरी—णाध ! को दाणि एसो ससंभमोक्खित्तकरम्भमदुत्तरीअञ्चलो दूरदो एव्व महुरसिणिद्धवअणपडिसिजुद्धव्वावारो एदाणं अन्दरे विमाण वरं ओदरावेदि ? [नाथ ! कः इदानीमेष ससंभ्रमोत्क्षिप्तकरभ्रमदुत्तरञ्चलो दूरत एव मधुरस्निग्धवचनप्रतिषिद्धयुद्धव्यापार एतयोरन्तरे विमानवरमवतारयति ?]

विद्याधरः—(दृष्ट्वा ।) एष शम्बूकवधात्प्रतिनिवृत्तो रघुपतिः ।

शान्तं महापुरुषसंगदितं निशम्य, तद्गौरवात्समुपसंहृतसंप्रहारः ।
शान्तो लवः प्रणत एव च चन्द्रकेतुः, कल्याणमस्तु सुतसंगमनेन राज्ञः ॥७॥

[अन्वयः—शान्तं, महापुरुषसंगदितं, निशम्य, तद्गौरवात्, समुपसंहृतसंप्रहारः, लवः, शान्तः, चन्द्रकेतुः, च प्रणः, एव, सुतसंगमनेन, राज्ञः कल्याणम्, अस्तु ॥७॥]

तदितस्तावदेहि । (इति निष्क्रान्तौ ।)

विष्कम्भकः

हिन्दी—

विद्याधरी—नाथ ! इस समय यह कौन शीघ्रता से हाथ को ऊँचा कर अपने उत्तरीय वस्त्र को हिलाता तथा दूर से ही मधुर और स्नेहमय वचनों से युद्ध का निषेध करता हुआ इन दोनों के बीच में विमान उतार रहा है ?

विद्याधर—ये शम्बूक का वध कर श्री रामचन्द्रजी लौटे हैं ।

[श्लोक ७]—महापुरुष (राम का शान्ति-पूर्वक कथन सुनकर उनके गौरव से शस्त्र-प्रयोग बन्द कर यह लव शान्त हो गया है और चन्द्रकेतु भी प्रणाम कर रहा है । पुत्र-मिलन से महाराज का कल्याण हो !

तो इधर आओ ! [दोनों चले जाते है ।]

विष्कम्भक ।

संस्कृत-व्याख्या

उभयोः कुमारयोरन्तराले गगनमण्डलाद्विमानमवतारयन्तं भगवन्तं रामं निरीक्ष्य पृच्छति विद्याधरी—णाध इति । साम्प्रतं ससम्भ्रमं करे उत्तरीयाञ्चलमादाय युद्धव्यापार-निषेधाय मधुरस्निग्धमुदीरयन् वचनमेतयो मध्ये कोऽयं विमानमवतारयति ? इत्याशयः ।

रघुनाथ एवायमिति विद्याधरः कथयति—एष इति । शम्बूक-वधं विधाय प्रति निवृत्तो भगवान् राम इति । "वधात् इत्यत्र" "ल्यब् लोपे कर्मण्यधिकरणे च" इति पञ्चमी विभक्तिः ।

महाराजस्य वचनेन किं फलं जातमिति प्रदर्शयति—शान्तमिति ।

महापुरुषेण संगदितम्=कथितम् शान्तं वचनं निशम्य, तस्य गौरवेण समुपसंहृतः=समपरित्यक्तः सम्प्रहारः, शस्त्रप्रयोगो येन स लवोऽपि शान्तः, चन्द्रकेतुश्च प्रणतः प्रणामं कृतवानित्यर्थः । सुतसंगमनेन=पुत्रप्राप्त्या राज्ञो रामस्य कल्याणमस्तु । मानवानामपेक्षया देवयोनि-विशेषत्वात् विद्याधरस्य वचनं यथार्थपरिचयात्मकमिति भावः ।

अत्र रामवचनश्रवणादुभयोरपि कुमारयोः कोपस्य प्रशमो जातः । स च भगवद् रामविषयकरतेरङ्गतां गतः । अतः "समाहितः" नामालङ्कारः । तथा चोक्तं दर्पणे—

"रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा ।
गुणीभूतत्वमायान्तियदालङ्कृतयस्तदा ॥
रसवत् प्रेय ऊर्जस्वि समाहितमिति क्रमात् ॥ इति॥

वसन्ततिलका च्छन्दः । प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः ॥७॥

विष्कम्भकः-इति । शुद्धोऽयं विष्कम्भकः । मध्यमपात्राभ्यां विद्याधर-विद्याधरीभ्यां प्रयुज्यमानत्वात् । वृत्तानां संग्रामादीनां भविष्यताञ्च-पुत्रप्राप्त्यादीनां समाचाराणां प्रकाशाद् विष्कम्भकलक्षणं चरितार्थम् । तथा च—

"वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भः आदावङ्कस्य दर्शितः ॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः ।
शुद्धः स्यात् सतु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः" ॥ इति ॥

टिप्पणी

(१) एष शम्बूकवधात्—ल्यब्लोपे पञ्चमी । शम्बूकवधं विधाय इति भावः । [श्लोक ७] १. शान्तं महापुरुषसंगदितम् निशम्य—पाठा०, शब्दं महापुरुषसंविहितम् । नि + शम् + ल्यप् = निशम्य ।

२. सुतसंगमनेन—पाठा०, 'सुतसम्मिलनेन' तथा 'पुनरागमनेन' ।

(ततः प्रविशति रामो लवः प्रणतश्चन्द्रकेतुश्च)

रामः—(पुष्पकादवतरन् ।)

दिनकरकुलचन्द्र ! चन्द्रकेतो ! सरभसमेहि दृढं परिष्वजस्व ।
तुहिनशकलशीतलैस्तवाङ्गैः, शममुपयातु ममापि चित्तदाहः ॥८॥

[अन्वयः—दिनकरकुलचन्द्र ! चन्द्रकेतो ! सरभसम्, एहि, दृढं परिष्वजस्व । तुहिनशकलशीतलैः, तव, अङ्गैः, मम, चित्तदाहः, अपि, शमम्, उपयातु ॥८॥]

हिन्दी—

(तदनन्तर राम और लव प्रणाम करते हुए चन्द्रकेतु ! का प्रवेश होता है ।)

राम—(पुष्पक से उतरते हुए)

[श्लोक ८]—सूर्य वंश के चन्द्र ! चन्द्रकेतु ! शीघ्र आओ और मेरा आलिङ्गन करो। जिससे तुम्हारे हिम-खण्ड के समान शीतल अंगों से मेरे मन का भी ताप शान्त हो जाये ।

संस्कृत-व्याख्या

रामः पुष्पकादवतरन् चन्द्रकेतुम्प्रत्याह—दिनकरेति ।

दिनकरवंशकेतो ! चन्द्रकेतो ! सत्वरमागत्य दृढं यथा स्यात् तथा मां परिष्वजस्व = समालिङ्गनं कुरु । तुहिनस्य = हिमस्य, शकलवत् = खण्डवत् शीतलैस्तवाङ्गैर्ममाङ्गतापः शान्तिमुपैतु मनस्तापश्चापि दूरीभवतु ।

अत्रोपमालङ्कारः । पुष्पिताग्रा च्छन्दः ॥८॥

टिप्पणी

(१) चन्द्रकेतु के अङ्गों से श्रीराम को शान्ति मिलना ठीक ही है । श्रीराम जी का चितदाह सन्तान राहित्य से भी है । वे चन्द्रकेतु को ही अपनी सन्तान और सूर्यवंश का आशादीप समझते हैं। भला ऐसी अवस्था में उस चन्द्रकेतु के प्रति श्रीराम का वात्सल्य क्यों न उमड़ता ? (१) श्रीराम जी की इस उक्ति को श्री कान्तानाथ शास्त्री ने नाटकीयता की दृष्टि से अस्वाभाविक माना है । विशेष देखिये उनकी 'उत्तररामचरित' पर टिप्पणी ।

(उत्थाप्य सस्नेहास्रं परिष्वज्य ।) अप्यनामयं नूतनदिव्यास्त्रायोधनस्य तव ?

चन्द्रकेतुः—अभिवादये । कुशलमत्यद्भुतप्रियवस्यलाभाभ्युदयेन । तद्विज्ञापयामि मामिवाविशेषेण स्निग्धेन चक्षुषा पश्यत्वमुं वीरमनरालसाहसं तातः ।

रामः—(लवं निरूप्य ।) दिष्टया अतिगम्भीरमधुरकल्याणाकृतिरयं वयस्यो वत्सस्य ।

त्रातुं लोकानिव परिणतः कायवानस्त्रवेदः,
क्षात्रो धर्मः श्रित इव तनुं ब्रह्मकोशस्य गुप्त्यै ।
सामर्थ्यानामिव समुदयः, संचयो वा गुणाना-
माविर्भूय स्थित इव जगत्पुण्यनिर्माणराशिः ॥९॥

[अन्वयः—लोकान्, त्रातुम्, परिणतः, कायवान, अस्त्रवेदः, इव, ब्रह्मकोशस्य गुप्त्यै, तनुं श्रितः क्षात्र धर्मः, इव, सामर्थ्यानां, समुदयः, इव, गुणानां संचयः इव, जगत्पुण्यनिर्माणराशिः, आविर्भूय, स्थितः, इव ॥९॥]

हिन्दी—

(उठकर प्रेमाश्रुओं सहित आलिङ्गन कर) दिव्य अस्त्रों से नया-नया युद्ध करने वाले तुम स्वस्थ तो हो न ?

चन्द्रकेतु—मैं प्रणाम करता हूँ । अत्यन्त अद्भुत प्रियमित्र के लाभ-रूप अभ्युदय से (सब) कुशल हैं । अतः मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरी ही भाँति इन सरल साहसी वीर को स्नेह-पूर्ण दृष्टि से देखें (जैसे स्नेह से आप मुझे देखते हैं वैसे ही इन्हें भी देखिये ।)

राम—(लव को देखकर) सौभाग्य से वत्स का मित्र अत्यन्त गम्भीर, सुन्दर तथा शुभ लक्षणों से सम्पन्न आकृति वाला है ।

[श्लोक ९] क्या धनुर्वेद ही लोकों की रक्षा करने के लिए अवतीर्ण हो गया है ? अथवा वेद-कोष की रक्षा के लिये क्षत्रिय-धर्म ने ही शरीर धारण कर लिया है ?

या शक्तियों का समूह गुणों का संग्रह अथवा जगत् का पुण्य-पुञ्ज ही (इनके रूप में) प्रकट होकर खड़ा हुआ है।

संस्कृत-व्याख्या

प्रणतं चन्द्रकेतुमुत्थाप्य स्नेहाश्रुसहितं समालिङ्ग्य चाह रामः—अपीति। नूतनं, दिव्यैरस्त्रैरायोधनं=युद्धं यस्य तस्य तव=भवतः, अपि=प्रश्ने, अनामयम् =आरोग्यमस्ति ? कश्चिद् व्याघातस्तु नोत्पन्न ? क्षत्रियस्यानामय-प्रश्न एव शास्त्र-सम्मतः। तथाचोक्तम्—

"ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्, क्षत्रं पृच्छेदनामयम्।" इति।

चन्द्रकेतुः प्रणमति—अभिवादये-इति। प्रणमामि। अत्यद्भुतस्य प्रिय मित्रस्य लाभेन विशेषतया कुशलमस्ति। तदहं निवेदयामि—मामिव साधारण्येनैवामुमनरालम् =सरल साहसं यस्य तथाविधं वीरं स्नेह-युक्तेन लोचनेनावलोकयन्तु पितृचरणा।

रामो लवं विलोक्याह—दिष्टयेति। सौभाग्येन अति गम्भीरा मधुरा कल्याण-लक्षण-लक्षिता चाकृतिर्यस्य सोऽयं वत्सस्य तव वयस्यः। अहन्त्वेनं निरीक्ष्य निरीक्ष्य-तोऽस्मि।

लव-विषयिणीं सम्भावनां करोति भगवान् रामः—त्रातुमिति।

लोकानां रक्षणार्थं परिणतः=परिणामं प्राप्तं शरीरधारी धनुर्वेद इवायं प्रतीयते ! किमु सशरीरो धनुर्वेद एवं लोकरक्षार्थमवतीर्णः ? अथवा ब्रह्मकोशस्य=वेदसमुदायस्य गुप्ति=रक्षां कर्तुं तनुः=शरीरं—श्रितः=प्राप्तः क्षात्रधर्म एवा-यमस्ति ? आहोस्वित् सामर्थ्यानां=शक्तीनां समुदयः=समुदायः ? किंवा शौर्यादीनां गुणानां सञ्चय एव ? यद्वा-जगतां=लोकानां पुण्यानां शुभ-कर्मणां राशिः आविर्भूय स्थित इवायं तव प्रियवयस्यः ? तत् कोऽयं बालोऽप्यबालपौरुषः ? इति नावधारयामि।

अत्र प्रति वाक्यमुत्प्रेक्षेति संसृष्टिस्तासाम्। मन्दाक्रान्ता: च्छन्दः। प्रसादो गुणः। लाटी रीतिः ॥६॥

टिप्पणी

(१) अतिगम्भीरमधुरकल्याणाकृति—पाठा०, 'अतिगम्भीराकृतिः तथा 'अतिकल्याणाकृतिः'। अतिगम्भीरा मधुरा कल्याणी च आकृतिर्यस्य सः।

(२) [श्लोक ६]—

१. परिणितः=परि+$\sqrt{}$नम्+क्त। २. ब्रह्मकोषस्य गुप्त्यै—पाठा०, "ब्रह्मघोषस्य"। "तुमर्थाच्च भाववचनात्" (पा० २/३/१५) इति गुप्त्यै' इत्यत्र चतुर्थी। ब्रह्मैव कोषः ब्रह्मकोषः=वेदरूपी रत्नभाण्ड। ब्रह्म वेद का नाम है—"वेद-स्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः" इत्यमरः।

रक्षा (गुप्ति) क्षत्रिय का कर्त्तव्य है—

"सङ्ग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम्।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥" (मनु० ७/८८)

३. सामर्थ्यानाम्—सङ्गतः अर्थेन इति समर्थः, तस्य भावः समर्थ + ष्यञ् सामर्थ्यम् तेषाम् । ४. उपमान-विधान द्रष्टव्य है। ५. यह पद्य 'महावीरचरित' (२/४१) में भी आया है।

लव—(स्वगतम् ।) अहो ! पुण्यानुभावदर्शनोऽयं महापुरुषः ।

आश्वास इव भक्तीनामेकमायतनं महत् ।
प्रकृष्टस्येव धर्मस्य, प्रसादो मूर्तिसुन्दरः ॥१०॥

आश्चर्यम् !

विरोधो विश्रान्तः, प्रसरति रसो निर्वृतिघन-
स्तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति, विनयः, प्रह्वयति माम् ।
झटित्यस्मिन्दृष्टे किमिति परवानस्मि ? यदि वा,
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः ॥११॥

[अन्वयः—विरोधः, विश्रान्तः, निर्वृतिघनः रसः प्रसरति, तत् औद्धत्यम् क्वापि, व्रजति, विनयः, मां, प्रह्वयति, अस्मिन्, दृष्टे, किमिति, झटिति, परवान्, अस्मि यदि वा, हि, तीर्थानाम्, इव महतां कोऽपि, महार्घः अतिशयः ॥११॥]

हिन्दी—

लव—(स्वयं ही) ओह ! इन महापुरुष का प्रभाव और दर्शन परम पवित्र है।

[श्लोक १०]—ये श्रद्धाओं (सद्विचारों) के एकमात्र महान् आधार एवं आश्रय-स्थान और प्रकृट धर्म की मूर्तिमती सुन्दर प्रसन्नता से प्रतीत होते हैं।

आश्चर्य है ?

[श्लोक ११]—(इनके दर्शन से) विरोध शान्त हो गया, अत्यन्त आनन्द से प्रगाढ़ प्रेम (मेरे अन्दर बाहर सर्वत्र) फैल रहा है, वह उद्दण्डता कहीं चली गई, और विनय मुझको नम्र बना रहा है, मैं इनको देखते मात्र से ही सहसा पराधीन-सा क्यों हो रहा हूँ। अथवा तीर्थों की भाँति महापुरुषों का भी कोई बहुमूल्य उत्कर्ष होता है। (जैसे तीर्थों के दर्शन से मन में आनन्द होता है वैसे ही महानुभावों के दर्शन से भी चित्त आह्लादित होता है। अतः यदि मेरा मन इनकी ओर झुक रहा है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि यह तो स्वाभाविक है कि महापुरुषों को देखकर मन आनन्दित हो उठता है)

संस्कृत-व्याख्या

लवोऽपि रामदर्शनेनाह्लादित स्वगतमाह—अहो ! इति । पुण्ये=पुण्यजनके, परमपावने, इति यावत्, अनुभावः=प्रभावः, दर्शनञ्च यस्य एवंविधोऽयं महानुभावः । दर्शनमात्रेणैव चेतसि कोऽपि प्रसादमहिमा पदमाधायि, इति भावः ।

कीदृशोऽयं महानुभावः ? इति स्वविचारं प्रकटयति—आश्वास इति । भक्तीनां—श्रद्धा सद्भावनानां, आश्वासः इव, समाश्वास इव, एकं महत् आयतनं= गृहमिव, धर्मस्य मूर्त्याँ सुन्दरः प्रसादः इवायं महानुभावः प्रतीयते इति भावः धर्मो मूर्तिमानेवागतः, इत्येतद्दर्शनेनानुमीयते ।

अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥१०॥

पुनः साश्चर्यमाह—विरोध इति ।

आश्चर्यम् ! एतस्य महानुभावस्य दर्शनेनैव विरोधभावो विश्रान्तः=समाप्ति गतः, निर्वृत्या=आनन्देन घनो रसः=परा प्रीतिश्च, सर्वस्मिन्नपि देहे मनसि च प्रसरति, न जाने मदीयं मदौद्धत्यं कुत्र प्रयाति ? विनयश्च मां प्रह्वयति=नम्रतां नयति, विनम्रभावो मयि वर्तते, इति, यावत् । अस्मिन् महापुरुषे दृष्टे=दृष्टमात्रे एव झटिति=सहसैव किमित्यहं पराधीनः सञ्जातोऽस्मि ? अथवायं महानुभावः तीर्थानामिव महापुरुषाणामपि कोऽपि महार्घः=अतिमूल्यवान् अतिशयो भवतीति नात्राश्चर्यं मया मन्तव्यम् । यथा तीर्थानां दर्शनेन चेतसि महानानन्दो जायते, तथैव महापुरुषाणामपि, इति ज्ञायते, कोऽप्यतिशयो महात्मना भवत्येवेति भावः' ।

अत्रोपमाऽर्थान्तरन्यासावलङ्कारौ सङ्कीर्णौ । शिखरिणी च्छन्दः । प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः ।

टिप्पणी

(१) [श्लोक १०]—

१. आश्वास······मायतनम्—पाठा०, 'आश्वासस्नेहभक्तीनामेकमालम्बनम् । २. मूर्तिसुन्दरः—पाठा०, 'मूर्तिसञ्चरः' (मूर्त्या सञ्चरते इति मूर्ति+सम्+√चर् +अच् कर्त्तरि) । ३. महावीरचरित में, विश्वामित्र के विषय में कहे गये इस श्लोक से तुलना कीजिए–

तुरीयो ह्येष मेध्याग्निराम्नायः पञ्चमोऽपि वा ।
अथवा जङ्गमं तीर्थं धर्मो वा मूर्तिसञ्चरः ॥"

(२) [श्लोक ११]—१. किमिति—पाठा०, 'किमिव' । २. यह पद्य 'दशरूपक' (१/४६) में 'शक्ति' के उदारण के रूप में उद्धृत हुआ है ।

रामः—तत्किमयमेकपद एव मे दुःखविश्रामं ददात्युपस्नेहयति च कुतोऽपि निमित्तादन्तरात्मानम् ? अथवा 'स्नेहश्च निमित्तसव्यपेक्ष' इति विप्रतिषिद्धमेतत ।

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु–
र्न खलु बहिरुपाधीन्प्रीतयः संश्रयन्ते ।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः । १२॥

[अन्वयः—आन्तरः कोऽपि, हेतुः, पदार्थान्, व्यतिषजति, प्रीतयः, बहिरुपाधीन्, न, संश्रयन्ते खलु, हि पतङ्गस्य, उदये, पुण्डरीकं, विकसति, हिमरश्मौ, उद्गते, चन्द्रकान्तः, द्रवति ॥१२॥]

हिन्दी—

राम—तो यह बालक सहसा ही क्यों मेरे दुःख को विश्राम दे रहा है और किसी अनिवर्चनीय कारण से मेरी अन्तरात्मा को स्नेह-सिक्त कर रहा है अथवा,

'स्नेह किसी कारण की अपेक्षा रखता है' यह विरुद्ध बात है। (अर्थात् स्नेह हो, और वह किसी पर आश्रित हो यह सर्वथा विरुद्ध है। स्नेह किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखता ।)

[श्लोक १०]—प्रेम बाह्य-कारणों पर अवलम्बित नहीं होता, कोई आन्तरिक अज्ञात हेतु ही पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करता है (इसीलिये तो) सूर्य के उदय होने पर (ही) कमल विकसित होता है और चन्द्रमा के निकलने पर ही 'चन्द्रकान्त-मणि' पिघलने लगती है।

संस्कृत-व्याख्या

लवं निरीक्ष्य रामस्यापि मनसि विचित्रा परिस्थितिः पदमकरोदित्याह भगवान् रामः—तत्किमिति। किमिति एकपदे एव = सहसैव, अयं बालो मम दुःखस्य विश्राममिव ददाति? केनाप्यज्ञातकारणेन ममान्तरात्मानं स्नेहयुक्तं करोति? अथवा 'स्नेहश्च निमित्तमपेक्षते' इति नोचितोऽयं सिद्धान्तः। स्नेहम्प्रति किमपि कारणं नैव सम्भवति। सन्ति लोके बहून्युदाहरणानि, येभ्यः सिद्धमेतन्मतं भवति, स्नेहे धारणं नावधारयितुं शक्यते।

तथाहि—स्वोक्तिं प्रमाणयितुमाह—व्यतिषजति इति।

सर्वानपि पदार्थान् कोऽप्यनिर्वचनीयः आन्तरिको हेतुः परस्परं व्यतिषजति = संयोजयति, सम्मेलयतीत्यर्थः, तत्र पदार्थानां परस्पर-संघटने बहिरुपाधयः कारणतां नावहन्ति। हि = यतः "हि हेतावधारण" इति कोषः। पतङ्गस्य = सूर्यस्योदये सत्येव पुण्डरीकं = कमलं विकसितं भवति, हिमरश्मौ = चन्द्रमस्युदिते एव च चन्द्रकान्तो द्रवो भवति तस्माज्जलं निर्गच्छति। ततश्च स्पष्टोऽयमर्थः। यत् कस्यचिदेव क्वचित्प्रीतिसम्बन्धौ भवति, न हि सर्वस्य। सूर्यस्य स्थानेऽसंख्या अपि चन्द्राः कमलं विकासयितुम्, चन्द्रस्य स्थाने वाऽसंख्या वा सूर्याश्चन्द्रकान्तं द्रावयितुं न क्षमन्ते। सूर्येण सहैव कमलानां प्रीतिः चन्द्रेण सह च चन्द्रकान्तस्य अतः केनाप्यज्ञातेन कारणेनैवास्यावलोकने मम प्रीत्यतिशयो भवतीतिनाश्चर्यं किमपि इति सारः।

अत्रार्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। मालिनीवृत्तम्।

तल्लक्षणञ्च यथा—

"न न म य य युतेयं मालिनी भोगिलोकैः" इति। प्रसादो गुणः। लाटी रीतिः। माधुर्यं वा गुणः। वैदर्भी रीतिः ॥१२॥

टिप्पणी

१. व्यतिषजति—वि + प्रति + सञ्ज् + लट, प्रथम पुरुष एकवचन।

२. उपाधयः—उप + आ + धा + कि, प्रथम बहुवचन।

(३) [श्लोक १२] इस श्लोक में प्रेम की क्या ही सुन्दर परिभाषा की गई है? प्रेम बाहरी कारणों पर आश्रित नहीं होता; वह तो आन्तरिक है। कोई अनिर्वचनीय अज्ञात हेतु ही प्राणियों के अन्तस्तत्वों को परस्पर सम्बन्धित करता है। यही कारण है कि सहस्रों चन्द्रमा भी 'कमल' को नहीं खिला सकते और सहस्रों सूर्य भी 'चन्द्रकान्तमणि' को नहीं पिघला सकते। कमलों का प्रेम सूर्य से है और चन्द्रकान्त का चन्द्र से। अतः यह सिद्ध है कि किसी अनिर्वचनीय कारण से ही पदार्थों व प्राणियों

का हृदय एक-दूसरे से मिलता है। भवभूति के ये विचार उनके प्रेम-विषयक सिद्धान्त को दृढ़ कर रहे हैं। (४) यह पद्य "मालतीमाधव" (१/२७) में भी आया है।

लवः—चन्द्रकेतो ! क एते ?

चन्द्रकेतुः—प्रियवयस्य ! ननु तातपादाः।

लवः—ममापि धर्मतस्तथैव, यतः प्रियवयस्येति भवतोक्तम्। किन्तु चत्वारः किल भवन्त्येवं व्यपदेशभागिनस्तत्रभवन्तो रामायणकथापुरुषाः। तद्विशेषं ब्रूहि।

चन्द्रकेतुः—ज्येष्ठतात इत्यवेहि।

लवः—(सोल्लासम्।) कथं रघुनाथ एव ? दिष्ट्या सुप्रभातमद्य, यदयं देवो दृष्टः। (सविनयं निर्वर्ण्य।) तात ! प्राचेतसान्तेवासी लवोऽभिवादयते।

रामः—आयुष्मन् ! एह्येहि। (इति सस्नेहमालिङ्ग्य।) अयि वत्स ! कृतमत्यन्तविनयेन। अङ्गेन मामपरिश्लथं परिरम्भस्व।

परिणतकठोरपुष्करगर्भच्छदपीनमसृणसुकुमारः।
नन्दयति चन्द्रचन्दननिष्यन्दजडस्तव स्पर्शः॥१३॥

[अन्वयः—परिणतकठोरपुष्करगर्भच्छदपीनमसृणसुकुमारः, चन्द्रचन्दननिष्यन्दजडः, तव, स्पर्शः नन्दयति॥१३॥]

लवः—(स्वगतम्।) ईदृशा मां प्रत्यमीषामकारणस्नेहः। मया पुनरेभ्य एवाभिद्रोग्धुमज्ञेनायुधपरिग्रहः कृतः। (प्रकाशम्) मृष्यन्तां त्विदानीं लवस्य बालिशतां तातपादाः।

रामः—किमपराद्धं वत्सेन ?

चन्द्रकेतुः—अश्वानुयात्रिकेभ्यस्तातप्रतापाविष्करणमुपश्रुत्य वीरायितमनेन।

रामः—नन्वयमलङ्कारः क्षत्रियस्य।

न तेजस्तेजस्वी प्रसृतमपरेषां विषहते,
स तस्य स्वो भावः प्रकृतिनियतत्वादकृतकः।
मयूखैश्रान्तं तपति यदि देवो दिनकरः,
किमाग्नेयो ग्रावा निकृत इव तेजांसि वमति॥१४॥

[अन्वयः—तेजस्वी, प्रसृतम्, अपरेषां, तेजः, न, विषहते। तस्य, स, प्रकृतिनियतत्वात् स्वोभावः। देवः, दिनकरः, मयूखैः, अश्रान्तं, तपति, यदि, आग्नेयः, ग्रावा, निकृतः, इव, किं, तेजांसि, वमति ?॥१४॥]

हिन्दी—

लव—चन्द्रकेतु ! ये कौन हैं ?

चन्द्रकेतु—प्रिय मित्र ! पूजनीय 'तात'।

लव—तो मेरे भी ये धर्म से वे ही (पिता जी लगते हैं क्योंकि तुमने मुझे प्रियमित्र' कहा है। परन्तु आपके 'तात' शब्द से व्यवहार करने योग्य श्रद्धेय 'रामायण-कथा-पुरुष' चार हैं। अतः विशेष रूप से बतलाओं। (उन चारों में से ये कौन-से हैं? यह स्पष्ट बतलाओं।)

चन्द्रकेतु—इनको 'ज्येष्ठ-तात' (ताऊ जी—श्री रामचन्द्र जी) समझो।

लव—(सहर्ष) क्या श्री रामचन्द्र जी हैं? सौभाग्य से आज का दिन बड़ा शुभ है जो कि महाराज का दर्शन हुआ। (विनयपूर्वक देखकर) तात महर्षि वाल्मीकि का शिष्य लव आपको प्रणाम करता है।

राम—चिरञ्जीव! आओ, आओ! (स्नेहपूर्वक आलिङ्गन कर) वत्स! अधिक विनय को रहने दो। (मुझे) अपने अङ्गों से दृढ़तापूर्वक आलिङ्गन करो।

[श्लोक १३]—विकसित, पूर्ण कमल की भीतरी पङ्खुड़ियों के समान मांसल, मसृण और सुकुमार, चन्द्र एवं चन्दन-द्रव के तुल्य शीतल तुम्हारा स्पर्श मुझे आनन्दित कर रहा है।

लव—(स्वयं ही) इनका मुझ पर ऐसा अहेतुक स्नेह है। परन्तु मन्दमति मैंने इनसे ही द्रोह करने के लिए शस्त्र-ग्रहण कर लिया था। (प्रकाश में) श्रद्धेय पिता जी! अब आप लव की मूर्खता को क्षमा कर दीजिये।

राम—वत्स ने (तुमने) क्या अपराध कर दिया?

चन्द्रकेतु—'अश्व के पीछे चलने वाले रक्षकों से आपके प्रताप की महिमा सुनकर इन्होंने वीरों के योग्य आचरण (युद्ध) किया है।

राम—अरे! यह तो क्षत्रिय का आभूषण है।

[श्लोक १४]—तेजस्वी दूसरों के व्यापक तेज को सहन नहीं कर सकता। उसका यह अपना स्वभाव-सिद्ध अकृत्रिम गुण है। (देखो न) यदि सूर्य अपनी (प्रखर) किरणों से निरन्तर तपता है तो सूर्यकान्तमणि' तिरस्कृत-सी होकर क्यों आग उगलने लगती है? [सूर्य के प्रताप को सहन न करता हुआ जड़ पदार्थ पत्थर भी आग उगलने लगता है क्योंकि यह उसका स्वभाव है। इसी प्रकार क्षत्रिय भी अपने स्वभावानुसार दूसरे का तेज सहन नहीं करते। अतः यदि तुमने युद्ध कर दिया तो क्या दोष कर दिया है?]

संस्कृत-व्याख्या

वयस्येति कथनेन धर्मतो ममापि पितृचरणा एवेत्यादिकं पृच्छति लवः—ममापि इति। ममाप्येतेन सम्बन्धेन पितृत्त्वमेतेषु वर्तते, परन्तु रामायणकथा पुरषा एवं व्यपदेशभागिनः=एवंविध "तातपादाः" इति व्यवहारभाजनानि चत्त्वारः सन्ति; अतो विशेषरूपेण कथनमेवोचितमत्र प्रतिभाति।

"ज्येष्ठतातः" इति श्रुत्वा सहर्षमाह लवः=कथमिति। किमु तत्र भगवान् रघुनाथ एवायमिति सुप्रभातमद्य, अद्यतनः प्रातःकालः परमरमणीयः, यन्महानुभावस्यास्य दर्शनं सम्पन्नम्। सविनयं निर्वर्ण्य=दृष्ट्वा तात! प्राचेतसस्य=भगवतो वाल्मीकेरन्तेवासी लवो भवन्तमभिवादयते=प्रणमति।

रामः प्रीत्या लवमालिङ्ग्य कथयति—आयुष्मन्निति । अत्यन्तविनयस्येदानीमावश्यकता नास्ति । मांमपरिश्लथेनातिशयदृढेनाङ्गेनालिंग इति ।

तवाङ्गसङ्गेनानन्दो ममायातीति रामः कथयति परिणतेति ।

परिणतम् = विकसितम्, कठोरम् = परिपूर्णम्, तत् पुष्करं = कमलम्, तस्य गर्भच्छद इव = पत्रमिव, पीनः = स्थूलः, मसृणः, चिक्कणः, सुकुमारः कोमलः, चन्द्रवत् चन्दनद्रववत्, जडः = शीतलः, तव स्पर्शः, मामानन्दयति = सानन्द करोति । पूर्णकमलमध्यगत-पत्रवत् तव कोमलाङ्गस्पर्शः, चन्द्र-चन्दनशीतलश्च संस्पर्शः, मामानन्दयुक्तं करोतीत्याशयः ।

अत्र उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । आर्याच्छन्दः ॥१३॥

महाराजस्य प्रीत्यतिशयं स्वस्याविनयञ्च विचार्य लवः कथयति—ईदृश इति । अमीषाम् = एतेषामीदृशः स्नेहः मया चानभिज्ञेन एभ्य एव द्रोहं कर्तुं शस्त्र ग्रहणं कृतम् ! प्रकाशमाह—पितृचरणा लवस्य बालिशतां = मूढतां, मृष्यन्ताम् ममापराधः क्षम्यतामिति यावत् ।

'किमपराद्धम् ?' इत्यस्योत्तरं ददाति चन्द्रकेतु—अश्वेति । अश्वसंरक्षकेभ्यो भवतां प्रतापकथनं श्रुत्वाऽनेन वीरवदाचरणं कृतम् ।

रामः सहर्षमाह—ननु इति । अये ! अयन्तु क्षत्रियस्यालङ्कारोऽस्ति । क्षत्रिया हि अपरेषां तेजो न सहन्ते स्वभावेनैव ! तत् कोऽस्यापराधः ?

तदेव प्रमाण-प्रदानेन समर्थयते—न तेज इति ।

तेजस्वी अपरेषां प्रसृतं विस्तृतं तेजो नैव सोढुं शक्नोति, सोऽयं प्रकृत्या नियतीकृतस्तस्य स्वाभाविको गुणः । अत्र कृत्रिमताया लेशोऽपि नास्ति । यदि भगवान् भास्करोऽश्रान्त यथास्यात्तथा किरणैस्तपति, तदा निकृत इव = तिरस्कृत इव, आग्नेयः = अग्निसम्बन्धी, ग्रावा = पाषाणः, तेजांसि किमिति वमति = उद्गिरति ? सूर्यप्रतापसहमान इव स पाषाणोऽपि वह्निमुत्पादयति । स स्वभाव एव तस्य एवमेव क्षत्रियोऽपि स्वभावानुसारमपरस्य तेजो न सहते, इति भावः । ततश्च यद्यनेन वीरायितम् तदा को दोषः ?

अत्रार्थान्तरन्यासः उत्प्रेक्षा चालङ्कारौ । शिखरिणी च्छन्दः ॥१४॥

टिप्पणी

(१) [श्लोक १४]

१. विषहते पाठा०, "प्रसहते" । वि + सह् + लट् + प्र० पु० एकवचन । २. किमाग्नेयो ग्रावा—पाठा०, "किमाग्नेय ग्रावा" ३. तुलना कीजिये—

"यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिवकान्तः ।
तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिं कथं सहते ?" (भर्तृहरि)
"प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया ।" (किरात०, २/२१)

चन्द्रकेतुः—अमर्षोऽप्यस्यैव शोभते महावीरस्य । पश्यन्तु हि तातपादाः प्रियवयस्यनियुक्तेन जृम्भकास्त्रैण विक्रम्य स्तम्भितानि सर्वसैन्यानि ।

रामः—(सविस्मयखेदं निर्वर्ण्य । स्वगतम् ।) अहो ! वत्सस्य ईदृशः प्रभावः ? (प्रकाशम् ।) वत्स ! संह्रियतामस्त्रम् । त्वमपि चन्द्रकेतो ! निर्व्यापारतया विलक्षाणि सान्त्वय बलानि ।

चन्द्रकेतुः—यथा निर्दिष्टम् । (इति निष्क्रान्तः ।)

(लवः प्रणिधान नाटयति)

लवः—तात ! प्रशान्तमस्त्रम् ।

रामः—सरहस्यप्रयोगसंहारजृम्भकास्त्राणि दिष्ट्या वत्सस्यापि संपद्यन्ते ।

ब्रह्मादयो ब्रह्महिताय तप्त्वा, परःसहस्रं शरदस्तपांसि ।
एतान्यदर्शन्गुरवः पुराणाः, स्वान्येव तेजांसि तपोमयानि ॥१५॥

अथैतामस्त्रमन्त्रोपनिषदं भगवानकृशाश्वः परःसहस्राधिकसंवत्सरपरिचर्यानिरतायान्तेवासिने कौशिकाय प्रोवाच । स भगवान् मह्यमिति गुरुपूर्वानुक्रमः । कुमारस्य कुतः संप्रदायः ? इति पृच्छामि ।

लवः—स्वतः प्रकाशान्यावयोरस्त्राणि ।

रामः—(विचिन्त्य ।) किं न संभाव्यते ? प्रकृष्टपुण्योपादानकः कोऽपि महिमा स्यात् ? द्विवचनं तु कथम् ?

लवः—भ्रातरावावां यमौ ।

रामः—स तर्हि द्वितीयः कः ?

हिन्दी—

चन्द्रकेतु—अमर्ष भी इस महावीर का ही अच्छा लगता है । ताऊ जी ! देखिये प्रिय मित्र ने 'जृम्भकास्त्र' का प्रयोग कर (हमारी) सम्पूर्ण सेनाओं को स्तम्भित कर दिया है ।

राम—(विस्मय और खेद-सहित देखकर स्वयं ही) ओह ! वत्स का ऐसा प्रभाव ! (प्रकाश में) वत्स ! अस्त्र को लौटा लो ! (और चन्द्रकेतु ! तुम भी स्तम्भित होने से लज्जित सेनाओं को सान्त्वना दो । (लव ध्यान का अभिनय करता है ।)

चन्द्रकेतु—जो आज्ञा ! (चला जाता है ।)

लव—तात ! अस्त्र शान्त हो गया ।

राम—सौभाग्य से, प्रयोग और संहार (छोड़ने तथा लौटने) के रहस्य से युक्त 'जृम्भकास्त्र' तुम्हारे पास भी हैं ? (तुम्हें भी सिद्ध हैं ?)

[श्लोक १५]—ब्रह्मा आदि पुराण पुरुषों ने वेद (अथवा ब्राह्मणों) के हित के लिए हजारों वर्षों से अधिक तपस्या करके अपने तपोमय तेजों को ही इनके रूप में देखा था ।

इस अस्त्र-मंत्र के रहस्य (उपनिषद्) को भगवान् 'कृशाश्व' ने हजारों से भी अधिक वर्षों तक सेवा करने वाले अपने शिष्य विश्वामित्र जी को बतलाया था और उन्होंने मुझे यह इनकी गुरु परम्परा है (परन्तु) मैं यह पूछता हूँ कि ये तुम्हारे पास कहाँ से आये ?

लव—हम दोनों को (जृम्भक) अस्त्र स्वतः सिद्ध हैं ।

राम—(सोचकर) क्या वह सम्भव नहीं है ? कदाचित् प्रकृष्टपुण्यहेतुक कोई (विशेष) महिमा (विभूति) हो । परन्तु यह द्विवचन क्यों (कहा ?)

लव—हम जुड़वें भाई हैं।

राम—तो वह दूसरा कहाँ है ?

संस्कृत-व्याख्या

लवस्य प्रशंसां करोति चन्द्रकेतुः—अमर्षोऽपीति। ननु पितृचरणाः ! नायं साधारणवीरः, अपितु सामर्षोऽप्यस्ति, अमर्षश्चाप्यस्यैव वीरस्य शोभते अनेन जृम्भकास्त्रस्य प्रयोगतः सैन्यानि स्तम्भितानि। पश्यन्तु श्रीमन्तः।

लवस्येदृशः प्रभावः ? इति सविस्मयं, स्वसैन्यस्तम्भनेन सखेदञ्चाह रामः—अहो ! इति। वत्स ! अस्य भवदीयास्त्रस्योपसंहारः क्रियताम्। किञ्च—चन्द्रकेतो ! त्वमपि क्रियाशून्यत्वात् सलज्जानि सैन्यानि सान्त्वय ! सैनिकाः कदाचित्स्वपराक्रमाभावात् सलज्जाः स्युः अतो यथाकथमपि तेषां सान्त्वनंमावश्यकमितिभावः।

महाराजादेशात् प्रणिधानं = ध्यानं कुर्वतो लवस्य प्रभावे न शस्त्रे शान्ते रामस्तं पृच्छति—सरहस्येति। वत्सस्य लवस्य जृम्भकास्त्राणि सरहस्यौ = अङ्गन्यासादिविधान-सहितौ प्रयोग-संहारौ = प्रयोगः = सञ्चालनं, संहारः = आकर्षणम्, कथं सञ्चाल्यते ? कथं वा समुपसंह्रियते ? इति विज्ञानसहितानि, अस्त्राणि सम्पद्यन्ते। 'अपि' शब्देन ममान्तिकेऽपि सन्ति। परमेतस्मिन् परमाश्चर्यमिदम्। यत् कुत एतानि समागतानीति।

अस्त्राणां प्राप्ति विषये भगवान् रामः—प्राह—ब्रह्मादय इति। प्रथमाङ्के चित्रदर्शनावसरे (१५) संख्यकोऽयं श्लोको व्याख्यातः।

अस्य प्राप्तिस्तव कुतः ? इति पृच्छति—अथेति। एषा मन्त्रोपनिषत् भगवता कृशाश्वेनानेकवर्षतपस्याशालिने स्व शिष्याय कौशिकाय दत्ता, तेन च मह्यम्, भवतः पुनः कुतः ? इति पृच्छामि !

'स्वतः प्रकाशानीति लवस्य वचनं निशम्य साश्चर्यं रामः प्राह—किं नेति। सर्वं सम्भाव्यते। कदाचित् प्रकृष्टस्य पुण्यस्य उपादानेन = कारणेन कदाचित् कोऽपि विशिष्टो महिमा भवेत् ? परमावयोरितिद्वित्वं कथम् ?

'यमलावावा'मिति लवस्य वाक्यमाकर्ण्य रामः पृच्छति—स इति। तदा स तव द्वितीयो भ्राता कुत्र वर्तते।

(नेपथ्ये)

दण्डायन !

आयुष्मतः किल लवस्य नरेन्द्रसैन्यै-
रायोधनं ननु किमात्थ ? सखे ! तथेति।
अद्यास्तमेतु भुवनेषु च राजशब्दः,
क्षत्रस्य शस्त्रशिखिनः शममद्य यान्तु ॥१६॥

[अन्वयः—सखे ! आयुष्मतो लवस्य, नरेन्द्रसैन्यैः, आयोधनं ननु ! किल, तथा, इति, आत्थ किम् ? अद्य भुवनेषु, राजशब्दः अस्तम्, एतु, अद्य, क्षत्रस्य, शस्त्रशिखिनः, शमं यान्तु ॥१६॥]

रामः—

अथ कोऽयमिन्द्रमणिमेचकच्छविर्ध्वनिनैव बद्धपुलकं करोति माम् ।
नवनीलनीरधरधीरगर्जितक्षणबद्धकुड्मलकदम्बडम्बरम् ॥१७॥

[अन्वयः—अथ इन्द्रमणिमेचकच्छविः, अयं, ध्वनिना, एव, बद्धपुलकं; मां; नवनीलनीरधरधीरगर्जितक्षणबद्धकुड्मलकदम्बडम्बरं; कः करोति ॥१७॥]

लवः—अयमसौ मम ज्यायानार्यः कुशो नाम भरताश्रमात्प्रतिनिवृत्तः ।

रामः—(सकौतुकम् ।) तर्हि वत्स ! इत एवैतमाह्वयायुष्मन्तम् ।

लवः—यदाज्ञापयति । (इति निष्क्रान्तः ।)

हिन्दी—

(नेपथ्य में)

दण्डायन !

[श्लोक १६]—लव का राजा (राम) के सैनिकों के साथ युद्ध हो रहा है ? क्या कहते हो, ऐसा ही है ! (यदि ऐसा है तो) संसार में 'राजा' शब्द अस्त हो जाय और अब क्षत्रियों की शस्त्राग्नि बुझ जाय । (अब ऐसा भयानक युद्ध होगा जिसमें न राजा रहेंगे और न क्षत्रियों के शस्त्रों की शक्ति ही) ।

राम—[श्लोक १७]—यह कौन इन्द्रनीलमणि के समान श्याम शोभा वाला अपने शब्द मात्र से ही, नये नील मेघ के गम्भीर गर्जन के समय विकसित कदम्ब-कलिकाओं के समान मुझको रोमाञ्चित कर रहा है ?

[भावार्थ—यह इन्द्रनील मणि के समान श्यामवर्ण बालक कौन है ? इस की गम्भीर वाणी सुनकर मेरा समस्त शरीर ठीक वैसे ही रोमाञ्चित हो रहा है जैसे कि नये बादलों के गम्भीर गर्जन से कदम्ब-मुकुल ।]

लव—ये मेरे बड़े भाई सम्मान्य 'कुश' भरताश्रम से लौट रहे हैं ।

राम—(कौतूहल के साथ) तो वत्स ! इस चिरञ्जीव को भी यहीं बुलाओ ।

लव—जो आज्ञा । (चला जाता है ।)

संस्कृत-व्याख्या

भगवता रामेण पृष्टस्योत्तरमपि यावन्न ददाति लवः तावन्नेपथ्ये कुशो 'दण्डायन' संज्ञकेन सतीर्थ्येन सह वार्तालाप करोति—आयुष्मत इति ।

सखे दण्डायन ! यत् त्वयोक्तं यत् राज्ञः सैन्यैः सह वत्सस्य लवस्य युद्धमिति, तत् किमु सत्यमेव तत् तव वचनम् ? यदि तत् सत्यमेव तत् त्वया निश्चितं मन्यताम् —अद्य भुवनेषु 'राजा' इति शब्दः अस्तं गमिष्यति । किञ्च—क्षत्रस्य—क्षत्रियस्य शस्त्राणां शिखिनः=वह्नयः, अद्य शमं यान्तु=शान्ता भवन्तु । एवंविधं विचित्र युद्धं करिष्यामि येनाद्य प्रभृति संसारे 'राजानः' नैव स्थास्यन्ति, न वा क्षत्रियाः, एतेनास्य महाप्रभावत्वं सूच्यते ।

अत्र रूपकालङ्कारः । वसन्ततिलकाच्छन्दः । ओजो गुणः । गौडी रीतिः ॥१६॥

दूरादेव कुशमायान्तं विलोक्य भगवान् रामः कथयति—अथेति ।

इन्द्रमणिरिव श्यामलकान्तिः कोऽयं बालको ध्वनिमात्रेणैव मां; नवीनो= नीलवर्णो यो नीरधरः=मेघः; तस्य धीरं यथास्यात्तथा यद्गर्जित, तस्य क्षणे= समये: बद्धाः = प्रादुर्भूताः; =कुड्मलाः=मुकुला यस्य एव विधस्य कदम्ब-वृक्षस्य-डम्बरं= साद्दश्यमिव साद्दश्यं यस्य ताद्दशं विदधाति । यथा मेघगर्जनेन कदम्बपादपा; सकोरका भवन्ति, तथैवास्य धीर-ध्वनि-समाकर्णनमात्रेणैव रोमाञ्चितो भवामीति भावः ।

अत्रोपमालङ्कारः । मञ्जुभाषिणीच्छन्दः ॥१७॥

टिप्पणी

(१) [श्लोक १६]—

१. भुवनेषु च राजशब्दः पाठा०, 'भुवनेष्वधिराज...'

२. शस्त्रशिखिनः - शस्त्राण्येव शिखिनः (अग्नयः) ।

(२) [श्लोक १७]—

१. इन्द्रमणि...छविः—इन्द्रमणिवत् मेचका (नीला) छविः (कान्तिः) यस्य सः । २. नवनील...डम्बरम्—नवः नीलः नीरधरः (मेघः), तस्य धीरं गर्जितम्, तस्य क्षणे बद्धाः कुड्मलाः यस्मिन् सः नवनीलनीरधरधीरगर्जितं क्षणबद्धकुड्मलः कदम्बः, तस्य इव डम्बरः (शोभा) यस्य तथाविधम् (माम्) ।

[ततः प्रविशति कुशः ।]

कुशः—(सक्रोधं कृतधैर्यं धनुरास्फाल्य ।)

दत्तेन्द्राभयदक्षिणैर्भगवतो वैवस्वतादा मनो-
दृप्तानां दमनाय दीपितनिजक्षत्रप्रतापाग्निभिः ।
आदित्यैर्यदि विग्रहो नृपतिभिर्धन्यं ममैतत्ततो,
दीप्तास्त्रस्फुरदुग्रदीधितिशिखानीराजितज्यं धनुः ॥१८॥

[विकटं परिक्रामति]

[अन्वयः—भगवतः, वैवस्वतात्, मनोः, आ, दत्तेन्द्राभयदक्षिणैः, दृप्तानां, दमनाय, दीपितनिजक्षत्रप्रतापाग्निभिः, आदित्यैः, नृपतिभिः, विग्रहः, यदि, ततः, दीप्तास्त्रस्फुरदुग्रदीधितिशिखानीराजितज्यं, मम, एतत्, धनुः धन्यम् ॥१८॥]

(तदनन्तर कुश प्रवेश करता है)

कुश—(क्रोध से, धैर्यपूर्वक धनुष को टङ्कार कर)

[श्लोक १८]—भगवान् 'वैवस्वत्' मनु से लेकर इन्द्र को भी अभयदक्षिणा देने वाले तथा गर्वीले (राजाओं) का गर्व चूर्ण करने के लिये अपनी क्षत्रिय-पराक्रम-रूप अग्नि को प्रज्वलित करने वाले सूर्यवंशी राजाओं से यदि युद्ध होता है तो प्रज्व-लित अस्त्रों की देदीप्यमान प्रखर किरणों की शिखाओं (चोटियों) से आरती की जाने वाली प्रत्यञ्चा से युक्त मेरा धनुष धन्य है ! [अर्थात्, यदि इन्द्र को भी अभय देने वाले, शत्रुहन्ता, अप्रतिम, सूर्यवंशोद्भव राजाओं के साथ मेरा युद्ध हो जाता है तो प्रज्वलित अस्त्रों को फेंकने से, उनकी किरण-शिखाओं से, प्रत्यञ्चा की आरती सी हो जायगी और यह धनुष धन्य हो जायेगा ।]

संस्कृत-व्याख्या

सक्रोधं धैर्येण चापमास्फाल्य=ताडयित्वा कुशः प्राह—दत्त इति।

भगवतो वैवस्वतात् - एतन्नाम्नः मनोरारभ्य दत्ता इन्द्रस्याप्यभयरूपदक्षिणा यैः, तैः, दृप्तानां=सगर्वाणां भूपानां दमनं कर्तुं दीपितः=प्रज्वलितः निज-प्रतापाग्नि-र्यैस्तैः, आदित्य-वंश-प्रभवैर्नृपतिभिः सह यदि विग्रहः=युद्धमस्ति, तदा दीप्तानां=प्रज्वलितानाम्. अस्त्राणाम् स्फुरन्त्यः=देदीप्यमानाः, उग्राः=तीव्राः या दीधितयः=किरणजालानि, तासां शिखाभिः=कोटीभिः, नीराजिता=कृतनीराजना, ज्या=गौर्वी यस्य तत् ममैतद्धनुर्धन्यमस्ति। यैर्मनोरारभ्यैव सर्वदा शक्र यापि साहाय्यं सम्पादितम्। युद्धं तदरातिभिः सह कृत्वा, इन्द्रप्रस्थाभयं कृतम्। यदि तैः सूर्यवंशावतंसैः क्षत्रियनृपतिभिः सहाद्ययुद्धमारब्धम्, तदा तु निश्चितरूपेण दीप्तास्त्रप्रक्षेपेण निर्गता-भिर्ज्वालाशिखाभिः कृतनीराजनमिवैतन्मम् धनुश्चरितार्थम्भविष्यतीति सौभाग्यमिति भावः। एतेन कुशस्य वीरत्त्वाधिक्यं व्यज्यते।

अत्र रूपकमलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः। ओजो गुणः। गौडी-रीतिः ॥१८॥

टिप्पणी

(१) आमनोः—'आङ्मर्यादावचने' (पा०, १/४/८९) इति कर्मप्रवचनीय-संज्ञा, 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' (पा०, २/३/१०) इति पंचमी। (२) दृप्तानां दमनाय —पा०, 'दुष्टानां दहनाय'। (३) आदित्यैः—अदितेरपत्यम् पुमान् आदित्यः 'दित्य-दित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः, (पा०, ४/१/८५) इति अदितेः ण्यप्रत्ययः। तस्य इमे आदित्याः आदित्य + ण्य, तैः। (४) 'नृपतिभि··· ततो—पाठा०, 'नृपतिभिर्वत्सस्य दिष्ट्या ततो। (५) नीराजीता—निर् + राज + क्त। नीराजन का अर्थ आरती होता है अथवा क्षत्रियों द्वारा आश्विन में आयुधों के पूजन-संस्कार को भी नीराजन कहा जाता है। क्षीरस्वामी ने यह लिखा है—'नीरस्य शान्त्युदकस्यार्जनं क्षेपोऽत्र नीराजनम्, मन्त्रो-क्त्या वाहनायुधादेर्निःशेषेण राजनं वात्र।

रामः—कोप्यस्मिन्क्षत्रियपोतके पौरुषातिरेकः। तथाहि—

दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्वसारा,
धीरोद्धता नमयतीव धतिर्धरित्रीम्।
कौमारकेऽपिगिरिवद्गुरुतां दधानो,
वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव ॥१९॥

[अन्वयः—दृष्टिः, तृणीकृतजगत्त्रयसत्वसारा, धीरोद्धता, गतिः, धरित्रीं, नमयति, इव, कौमारके, अपि, गिरिवत्, गुरुतां, दधानः, अयं, किं वीरः, रसः? उत, दर्पः, एव, इति? ॥१९॥]

हिन्दी—

राम—इस क्षत्रिय-बालक में कोई अलौकिक पौरुषातिरेक है! जैसा कि—

[श्लोक १६]—इनकी दृष्टि तीनों लोकों के सारभूत पदार्थों को तृण-तुल्य समझ रही है, (इसकी) धीर और उद्धत चाल मानों पृथ्वी को दबा रही है। बालकपन में भी पर्वत की-सी गुरुता धारण करने वाला यह साक्षात् 'वीररस' आ रहा है अथवा मूर्तिमान् 'दर्प' ही ?

संस्कृत-व्याख्या

कुशं विकटतया समागच्छन्तं वर्णयति रामः—दृष्टिरिति।

अहो ! एतस्मिन् क्षत्रियबालके पौरुषातिरेकः=पुरुषार्थस्याधिक्यमस्ति। तथाहि—अस्य दृष्टिस्तृणीकृतो जगत्त्रयस्य सारो यया सा, त्रिलोक्याः सारभूतानपि पदार्थान् तृणाय मन्यते इति भावः। धीरा, उद्धता चास्य गतिर्धरित्रीं=पृथिवीम्, नमयतीव। कुमारावस्थायामपि पर्वतसदृशगुरुत्वं दधानोऽयं किमु साक्षाद्वीरो रसः समायाति ? अथवा साक्षाद्दर्प एव ? लोकातिशायि-पौरुषसम्पन्नोऽयमिति तत्त्वम्।

अत्रोत्प्रेक्षोपमा चालङ्कारौ। वसन्ततिलकाच्छन्दः ॥१६॥

टिप्पणी

(१) यह श्लोक 'दशरूपक' (२/११) में 'विलास' के उदाहरण के रूप में आया है। (२) कौमारके—कुमारस्य भावः इति कुमार+अञ् कौमारः। कौमारः एव कौमार+क (स्वार्थे) कौमारकस्तस्मिन्। (३) दधानः—√धा+शानच्।

लवः—(उपसृत्य।) जयत्वार्यः।

कुशः—नन्वायुष्मन् ! किमियं वार्ता युद्धं युद्धमिति।

लवः—यत्किंचिदेतत्। आर्यस्तु दृप्तं भावमुत्सृज्य वर्तताम्।

कुशः—किमर्थम् ?

लवः—यदत्र देवो रघुनन्दनः स्थितः। स रामायणकथानायको ब्रह्मकोशस्य गोप्ता।

कुशः—आशंसनीयपुण्यदर्शनः स महात्मा। किंतु स कथमस्माभिरुपगन्तव्यः ? इति न संप्रधारयामि।

लवः—यथैव गुरुस्तथोपसदनेन।

कुशः—कथं हि नामैतत् ?

लवः—अत्युदात्तः सुजनश्चन्द्रकेतुरौर्मिलेयः प्रियवयस्येति सख्येन मामुपतिष्ठते। तेन संबन्धेन धर्मतस्तात एवायं राजर्षिः।

कुशः—संप्रत्यवचनीयो राजन्येऽपि प्रश्रयः।

(उभौ परिक्रामतः।)

लवः—पश्यत्वेनमार्यो महापुरुषमाकारानुभावगाम्भीर्यसंभाव्यमानविविधलोकोत्तरसुचरितातिशयम्।

कुशः—(निर्वर्ण्य)

अहो प्रासादिकं रूपमनुभावश्च पावनः।
स्थाने रामायणकविर्देवीं वाचमवीवृधत् ॥२०॥

(उपसृत्य) तात ! प्राचेतसान्तेवासी कुशोऽभिवादयते।

रामः—एह्येह्यायुष्मन् !

अमृताध्मातजीमूतस्निग्धसंहननस्य ते।
परिष्वङ्गाय वात्सल्यादयमुत्कण्ठते जनः ॥२१॥

(परिष्वज्य स्वगतम्।) तत्किमित्ययं च दारकः—

अङ्गादङ्गात्सृत इव निजः स्नेहजो देहसारः,
प्रादुर्भूय स्थित इव बहिश्चेतनाधातुरेकः।
सान्द्रानन्दक्षुभितहृदयप्रस्रवेणावसिक्तो,
गाढाऽऽश्लेषः स हि मम हिमच्योतमाशंसतीव ॥२२॥

[अन्वयः—अङ्गात्–अङ्गात्, सृतः, स्नेहजः, निजः, देहसारः, इव, एकः, चेतना-धातुः, बहिः, प्रादुर्भूय, स्थितः, सान्द्रानन्दक्षुभितहृदयप्रस्रवेण, अवसिक्तः, सः, गाढा-श्लेषः (सन्) मम, हिमच्योतम्, आशंसति, इव, हि ॥२२॥]

लवः—ललाटन्तपस्तपति धर्मांशुः। तदत्र सालवृक्षच्छायायां मुहूर्त-मासनपरिग्रह करोतु तातः।

रामः—यदभिरुचितं वत्सस्य।

(सर्वे परिक्रम्य यथोचितयुपविशन्ति।)

हिन्दी—

लव—(समीप जाकर) आर्य की जय हो !

कुश—चिरञ्जीव ! यह 'युद्ध-युद्ध' क्या बात है ?

लव—यों ही कुछ है। (कोई गम्भीर बात नहीं) आप तो इस उग्र रूप को छोड़कर शान्ति से काम लें।

कुश—क्यों ?

लव—क्योंकि यहाँ पर भगवान् रामचन्द्र जी स्थित हैं। वे 'रामायण-कथा' के प्रधान पुरुष और वेद-कोष के रक्षक हैं।

कुश—वे महानुभाव अभिलाषी एवं पवित्र दर्शन वाले हैं। परन्तु उनके पास कैसे चलना चाहिये ? यह मैं निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ।

लव—जैसे गुरुजनों के पास चलते हैं, वैसे ही चलना चाहिये।

कुश—यह क्यों।

लव—अत्यन्त उदार, सज्जन, उर्मिला-नन्दन चन्द्रकेतु मुझे 'प्रिय-मित्र' यह सम्बोधन कर मेरे साथ मित्रता का व्यवहार कर रहे हैं, उस सम्बन्ध से वे राजर्षि हमारे धर्म-पिता ही हैं।

कुश—इस समय राजा में भी हमारे विनय-व्यवहार निन्दनीय नहीं हैं।

[दोनों घूमते हैं।]

लव—आकार; प्रभाव और गम्भीरता से जिनके विविध लोकोत्तर चरित्रों का अनुमान किया जा सकता है, आप उन महानुभाव का दर्शन करें।

कुश—(देखकर)।

[श्लोक २०]—ओह! इनका रूप प्रासादिक और प्रभाव पवित्र है! (सच-मुच) कवि (बाल्मीकि) ने अपनी वाणी को उचित स्थान में संवर्धित (पल्लवित) किया है। [अथवा, वाल्मीकि जी ने जो अपनी वाणी को पल्लवित किया है, वह उचित ही है। (स्थाने=युक्त है।)]

(समीप जाकर) तात! बाल्मीकि जी का शिष्य कुश आपको प्रणाम करता है।

राम—आयुष्मान्! आओ आओ!

[श्लोक २१]—यह जन (राम) वात्सल्य के कारण जल-भरित मेघ के समान स्निग्ध शरीर वाले तुम्हारे आलिङ्गन के लिये उत्कण्ठित हो रहा है।

(आलिङ्गन कर, स्वयं ही तब यह बालक किसलिए!—)

[श्लोक २२]—मानों अङ्ग-अङ्ग से, स्नेह से उत्पन्न मेरे देह का सार अथवा चैतन्य शक्ति ही (इस बालक के रूप में) बाहर प्रकट हो गई है। अतिशय आनन्द से क्षुब्ध हृदयद्रव से सिक्त यह (बालक) गाढ़ आलिङ्गन करने पर मानों मुझे हिम से सींच रहा है। [अर्थात् इसके आलिङ्गन से मुझे अत्यन्त आनन्द आ रहा है। ऐसा प्रतीत हो रहा है मानों मेरी चैतन्य शक्ति ही वात्सल्यातिरेक से अङ्गों के द्वारा बाहर बालक के रूप में आ गई हो। इसका आलिङ्गन हिम के समान शीतल है।]

लव—सूर्य 'ललाटन्तप' (मस्तक–सिर को तपाने वाला) होकर तप रहा है। अतः आप थोड़ी देर शाल-वृक्ष की छाया में आसन ग्रहण कीजिये।

राम—जैसी तुम्हारी इच्छा। (सब घूमकर यथोचित बैठ जाते हैं।)

संस्कृत-व्याख्या

युद्धन्तु यत्किञ्चिदेव, गर्वयुक्तं भावं परित्यज्य भवान् सविनयो भवतु, यतोऽत्र रामायणकथानायको वेदरक्षको भगवान् रामस्तिष्ठति—इति लवस्य वचनं श्रुत्वा कुशः प्राह—आशंसनीय इति। आशंसनीयम्—अभिवाञ्छनीयम्, पुण्यजनकं दर्शनं यस्यैवंविधः स महात्मा। तस्य दर्शनन्तु वाञ्छनीयमेवास्ते। परं कथमिवोपेत्य व्यवहारः कर्तव्य इति निश्चयं नैव करोमि।

लवः कथयति—यथैवेति। यथाऽस्माभिः श्री गुरुचरणा व्यवहरणीया भवन्ति, तथैवासावपि। उपसदनेन=उप=समीपे=गमनेन।

उर्मिला–पुत्रश्चन्द्रकेतुर्मां प्रियवयस्यमाह, अतः सम्बन्धेनानेनावयोरपि स पिता, इति लव–कथनं निशम्याह कुशः—सम्प्रति—इति। इदानीं राम–पितृत्वे क्षत्रियेऽपि नम्रताव्यवहारो न निन्दितोऽस्माकमिति।

लवः कुशम्प्रति कथयति—पश्यत्विति। आकारेण=शरीराकृत्या, अनुभावेन

=प्रभावेण, गाम्भीर्येण=गम्भीरतया च सम्भाव्यमानः विविधानाम् अलौकिकानाम्, सुचरितानामतिशयो यस्य तमेनं महानुभावं पश्यतु आर्यः।

कुशो भगवन्तं रामं निर्वर्ण्य=दृष्ट्वा, प्राह—अहो! इति।

अहो! महानुभावस्यास्य प्रसाद-सम्पन्नं रूपम्, पावनोऽनुभावश्चास्ते। उचितमेवरामायण-कविः=वाल्मीकिः भगवतीं वाचम् सरस्वतीम् अवीवृधत्=संवर्धितवान्! चरित्रनायक ईदृशो नास्त्यन्यः। एवंविधस्य वर्णनेनैव कवेः साफल्यमस्तीति भावः।

अत्र काव्यलिङ्गम् अलङ्कारः ॥२०॥

प्रणमन्तं कुशम्प्रत्याह रामः—अमृत–इति।

अयं जनः (रामः) वात्सल्याद् हेतोः, जलभरिमेतधवत् स्निग्धं शरीरं यस्य तस्य ते परिष्वङ्गाय=समालिङ्गनाय, उत्कण्ठते=सोत्कण्ठो वर्तते। तदेहि परिष्वजस्व मामिति ॥२१॥

समालिङ्गन-सुखमनुभूय रामः कथयति—अङ्गादिति।

अत्र 'तत्किमित्ययं दारकः—' इत्यन्वेति कर्तृत्वेन। तत् किमर्थमयं बालकः अङ्गात्–अङ्गात् प्रत्यवयवात् सृतः=निःसृतः, स्नेहजः=स्नेहादुत्पन्नः, निजः देहस्य-सारः स्थिरोंऽश इव, एकः=मुख्यः, चेतनाधातुः बहिः प्रादुर्भूय स्थित इवास्ति! सान्द्रः=सघनः, ये आनन्दः, तेन क्षुभितं यद् हृदयं तस्य प्रस्रवेण=द्रवेण, अवसिक्तः =आर्द्रीकृतः, इवायं बालकः अस्तीति शेषः। गाढः आश्लेपः=समालिङ्गनम् यस्य योऽयं बालकः ममः हिमच्योतन्=तुषारसेकमिव, आशंसतीव=सूचयतीव। अस्यालिङ्गनेन महानानन्दो भवति। एवं प्रतीयते=यथा शरीरस्थश्चेतनाधातुः स्नेहादुत्पद्य सर्वेभ्योऽवयवेभ्यः, बहिर्बालकरूपेण स्थितः। हिमवच्छीतलोऽस्य गाढालिङ्गनजः आनन्दातिरेकोऽद्भुतामिव शान्ति मह्यमर्पयतीवेतिसारः।

अत्र उत्प्रेक्षा अलङ्कारः। मन्दाक्रान्ता च्छन्दः ॥२२॥

घर्माधिक्यं निरीक्ष्य लवः सविनय प्राह–ललाटन्तप इति। घर्मांशुः=उष्णकिरणः, ललाटन्तपः सन्, इदानीं तपति। सूर्यस्य तापाधिक्यमस्तीति सालवृक्षस्याधो भागे छायायामुपविशतु मुहुर्तमार्यः।

टिप्पणी

(१) और्मिलेयः—उर्मिलायो अपत्यं पुमान्' उर्मिला+ढक्।

(२) आकारानुभाव···तिशयम्—आकारः अनुभावः गाम्भीर्यं च तैः सम्भाव्यमानः विविधानां लोकोत्तराणां सुचरितानां अतिशयः यस्य तथाविधम्।

(३) [श्लोक २०]—१. प्रासादिकम्—प्रसादे भवम् इति प्रसाद+ठञ् (अध्यात्मादि) प्रासादिकम्। २. अवीवृधत्—पाठा०, व्यवीवृतत्, अविवृतत्। वि+√वृत् (वृध्)+णिच्+लुङ्+तिप्।

(४) [श्लोक २१]—१. स्निग्धसंहननस्य—पाठा०, सिंहसंहननस्य, सम्+√हन्+ल्युट करणे संहननम्। २. परिष्वङ्गाय—पाठा०, परिष्वङ्गस्य'।

[श्लोक २२]—१. पाठान्तर—सृत इव—'च्युत इव' तथा 'स्नुत इव'। निजः स्नेहजो—'निजस्नेहजो'। स्थित इव वहि—'स्थित इत इतश्चेतनाधातुरेकः। प्रस्रवेणावसिक्तो—'प्रस्रवेनेव सृष्टो'। गाढाश्लेषः—'गात्रं श्लेषे यदमृतरसस्रोतसा सिञ्चतीव' अथवा 'गात्राश्लेषः 'गात्रा श्लेषः' सहि···'।

२. अङ्गादङ्गात्—तुलना कीजिये।

'अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥' (शतपथ, १५/६/४/२६)

(४) ललाटन्तपः—ललाटं तपति इति ललाटन्तपः। असूर्यललाटयोर्दृशितपोः' (पा०, ३/२/३६) इति खश्, 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' (पा० ६/३/६७) इति मुमागमः। ललाट + तप + खश् कर्त्तरि।

रामः—(स्वगतम्।)

अहो प्रश्रययोगेऽपि, गतिस्थित्यासनादयः।
साम्राज्यशंसिनो भावा कुशस्य च लवस्य च ॥२३॥

वपुरवियुतसिद्धा एव लक्ष्मीविलासाः,
प्रतिकलकमनीयां कान्तिमुद्भेदयन्ति।
अमलिनमिव चन्द्रं रश्मयः स्वे यथा वा,
विकसितमरविन्दं बिन्दवो माकरन्दाः ॥२४॥

[अन्वयः—यथा वा, स्वे रश्मयः, अमलिनं चन्द्रम् इव, माकरन्दा, बिन्दवः, विकसितं, अरविन्दम्, इव, उद्भेदयन्ति, (तथैव) अवियुतसिद्धाः एव, लक्ष्मीविलासाः, वपुः प्रतिकलकमनीयां कान्तिं (च उद्भेदयन्ति) ॥२४॥]

हिन्दी—

राम—(स्वयं ही)

[श्लोक २३]—ओह! नम्रता का भाव होने पर भी कुश और लव की चाल-ढाल, उठना-बैठना आदि (रङ्ग-ढंग) साम्राज्य की सूचना देने वाले हैं। [इनके उठने-बैठने के ढङ्ग से प्रतीत होता है कि ये किसी साम्राज्य के अधिकारी हैं।]

[श्लोक २४]—जैसे (अपनी) किरणें ही निष्कलङ्क चन्द्रमा को प्रकाशित करती हैं, और जैसे मकरन्द-बिन्दु विकसित कमल को सुशोभित करते हैं—वैसे ही स्वभाव-सिद्ध शोभा के चमत्कार प्रतिक्षण (इनके) शरीर तथा रमणीय कान्ति को उद्भासित करते हैं।

[अर्थात्, जैसे चन्द्रमा अपनी किरणों से सुशोभित होता है, और कमल मकरन्द बिन्दुओं से। वैसे ही मनुष्य भी अपनी स्वाभाविक शोभा से निरन्तर सुशोभित रहता है—शोभा के विलास उसके शरीर और कान्ति को अनुक्षण बढ़ाते रहते हैं।]

संस्कृत-व्याख्या

तयोर्गतिविधिमालोक्य रामः स्वगतमाह अहो ! इति।

अहो ! प्रश्रयस्य-नम्रतायाः योगे = सम्बन्धेऽपि गतिः, स्थितिः आसनं चेति सर्वेऽपि कुशस्य लवस्य च साम्राज्यसूचका भावाः सन्ति। विनये सत्यपि एतैश्चिह्नैः—रनयोः साम्राज्यभाक्त्वं सूचितं भवतीत्यर्थः ॥२३॥

पुनरपि शरीर-सौन्दर्यं निरीक्ष्याह रामः—वपुरिति।

स्वे = स्वकीया, रश्मयः = किरणा यथा अमलिनं = स्वच्छं चन्द्रम्, अत्यधिकतम् समुद्भेयन्ति = विकासयन्ति, स्वच्छोऽपि चन्द्रः स्वकीयैः किरणैर्यथात्यर्थं शोभते। यथा वा, मकरन्दस्य = पुष्परसस्येमे माकरन्दा बिन्दवो विकसितं कमलं नितरां समुद्भेदयति, सहजरमणीयमपि कमलं मकरन्दबिन्दुसन्दोहात् नितान्तं शोभितं भवति, तथैव, अवियुतसिद्धाः = शरीरेण वियुक्ता न भवन्तीति शरीर-सम्पृक्ताः, लक्ष्मीविलासाः = शोभाचमत्काराः, प्रतिकलं = प्रतिक्षणम्, कमनीयाम् = रमणीयाम् कान्ति, वपुः = शरीरञ्चोद्भेदयन्ति - विकासयन्ति। अङ्गे = अङ्गे स्वाभाविकी शोभा स्यूतेव विद्यते। परममनोहरत्वं शरीरस्य प्रदर्शितं भवतीति भावः।

अत्र उपमालङ्कारः। मालिनी छन्दः ॥२४॥

टिप्पणी

(१) [श्लोक २३]—१. "साम्राज्यशंसिन" साम्राजो भावः साम्राज्यम्। साम्राज् + ष्यञ्। साम्राज्यं शाधु शंसन्ति (सूचयन्ति) इति साम्राज्य + शंस् + णिनि कर्तरि साधुकारिणि साम्राज्यशंसिनः। २. "भावा" क्रियाः, चेष्टाः, भावाः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु" इत्यमरः।

(२) [श्लोक २४]—१. वपुरवियुतसिद्धाः—पाठा०, "वपुरविहितसिद्धा"।

२. "प्रतिकलकमनीयाम्"—कलायां कलायामिति प्रतिकलम्, कमनीयां मनोहराम्। पाठा० 'प्रतिजन'। प्रतिकल कमनीयं कान्तिमत्केतयन्ति"। इस पाठ में 'वपुः' 'केतयन्ति' का कर्म होगा और 'कान्तिमत्' उसका विशेषण। ३. "अमलिनमिव"—पाठा० "अमनिमिव रत्नं रश्मयस्ते मनोज्ञाः। ४. विकसितमरविन्दम्—पाठा० "विकसितमिव पद्मम्"। ५. माकरन्दाः"—मकरन्दस्य इमे मकरन्द + अण् = माकरन्दाः।

भूयिष्ठं च रघुकुलकौमारमनयोः पश्यामि।

कठोरपारावतकण्ठमेचकं, वपुर्वृषस्कन्धसुबन्धुरांसयोः।
प्रसन्नसिंहस्तिमितं च वीक्षितं, ध्वनिश्च माङ्गल्यमृदङ्गमांसलः ॥२५॥

[अन्वयः—वृषस्कन्धसुबन्धरांसयोः वपुः, कठोरपारावतकण्ठमेचकं, वीक्षितं, प्रसन्नसिंहस्तिमितं, ध्वनिश्च, माङ्गल्यमृदङ्गमांसलः (अस्ति) ॥२५॥]

(निपुणं निरूपयन्) अये, न केवलमस्मद्वंशसंवादित्याकृतिः ?

अपि जनकसुतायास्तच्च तच्चानुरूपं,
स्फुटमिह शिशुयुग्मे नैपुणोन्नेयमस्ति ।
ननु पुनरिव तन्मे गोचरीभूतमक्ष्णो-
रभिनवशतपत्रश्रीमदास्यं प्रियायाः ॥२६॥

[अन्वयः—इह शिशुयुग्मे, नैपुणोन्नेयम्, तच्च-तच्च, जनकसुतायाः, अनुरूपं स्फुटम्, अस्ति । ननु, अभिनवशतपत्रश्रीमत्, तत् प्रियायाः, आस्यं, पुनः, मे, अक्ष्णोः । गोचरीभूतम् इव ॥२६॥

मुक्ताच्छदन्तच्छविसुन्दरीयं, सैवोष्ठमुद्रा, स च कर्णपाशः ।
नेत्रे पुनर्यद्यपि रक्तनीले तथापि सौभाग्यगुणः स एव ॥२७॥

[अन्वयः—मुक्ताच्छदन्तच्छविसुन्दरी, इयम्, ओष्ठमुद्रा, सा, एव, कर्णपाशः; च, स, एव, नेत्रे, पुनः, यद्यपि, रक्तनीले, तथापि, सौभाग्यगुणः स, एव ॥२७॥]

हिन्दी—

मैं इन कुमारों में रघुकुल के बहुत से चिह्न देख रहा हूँ ।

[श्लोक २५]—बैल (साँड) के समान मनोहर कन्धों वाले इन (लव-कुश) का शरीर युवा कबूतर के कण्ठ जैसा श्यामवर्ण है, दृष्टि प्रसन्न सिंह के समान शान्त और स्वर माङ्गलिक मृदङ्ग के सदृश गम्भीर है ।

(सूक्ष्मता से देखते हुए) ओह ! न केवल हमारे वंश के समान आकृति ही है, (प्रत्युत)—

[श्लोक २६]—इन दोनों बालकों में सूक्ष्म रूप से देखने पर 'जानकी' के अङ्ग आदि स्पष्ट दिखलाई देते हैं । (सच तो यह है कि इन्हें देखने पर) प्रियतमा (सीता) का वह नूतनकमल के समान शोभा वाला मुख मेरी आँखों के सामने फिर से प्रकट हो गया है । [इसके सादृश्य से मृगलोचनी सीता की मनोहर मूर्ति मेरी आँखों में नाच उठी है ।]

[श्लोक २७]—मोतियों के समान स्वच्छ दाँतों की शोभा से सुन्दर इनकी वैसी ही (सीता के समान ही) 'ओष्ठ-मुद्रा' है और वैसे ही कर्ण-पाश हैं । यद्यपि इनके नेत्र (कुछ-कुछ) लाल और नीले हैं तथापि इनमें सौन्दर्य-गुण वही (सीता का ही) है । (इन समानताओं से मैं अनुमान करता हूँ कि ये सीता के ही तनय हैं ।)

संस्कृत-व्याख्या

पुनरप्यनयोर्विषये कथयति रामः—भूयिष्ठमिति । अनयोरुभयोरपि कुमरियोः भूयिष्ठम् = अत्यधिकम्, रघुकुलस्य कौमारम् = रघुवंश-कुमारावस्थाचिह्नम्, पश्यामि । रघुवंशस्य कुमारा यादृशा भवन्ति, तादृशाविमाविति भावः ।

तदेव स्फुटीकर्तुमाह—कठोरेति ।

वृषस्य स्कन्धाविव सुबन्धुरौः = अत्यधिकमनोहरौ, अंसौ = स्कन्धौ, ययोस्तयोः कुशलवयोर्वपुः शरीरम् कठोरः = युवा, यः पारावतः = कपोतः, तस्य कण्ठवत् मेचकं = श्यामलं विद्यते । वीक्षितम् = अवलोकनञ्च, प्रसन्नः = सहर्षः, यः सिंहस्तस्य दर्शनमिव स्तिमितम् = शान्तम् । ध्वनिः = कण्ठरवश्च माङ्गलस्य = मङ्गलसूचको यो

मृदङ्गः, स इव मांसलः = वृद्धिमापन्नः = स्फुट इति यावत्, अस्ति । एवञ्च चिह्नै-रमीभिः रघुवंशसम्बन्धोऽनयोः परिस्फुट एवेति भावः ।

अत्र उपमालङ्कारः । वंशस्थं छन्दः ॥२५॥

पुनरपि सुनिपुणं निरीक्ष्याह—अये इति । अहो ! आश्चर्यम् ! अनयोर्बाल-कयोः केवलमस्माकं वंशसदृश्याकृतिरेव नास्त्यपितु वक्ष्यमाणह्नि विशेषोऽपि मम प्राण-प्रियायाः सीताया वर्तते ।

कीदृशश्चिह्नविशेषः ? इति प्रतिपादयति—अपि-इति ।

इह बालयुगले नैपुणेन—निपुणतया समुन्नेयम्, तच्च-तच्च = सर्वमपि, जनकसुताया अनुरूपं = अनुकूलम् स्फुटं, अस्ति । यादृशी सीताया आकृतिरासीद् अङ्गविन्यासादिकं वा, निपुणतयाऽवलोकनेन तत्सर्वमपिस्फुटमत्रोपलक्ष्यते, इत्याशयः (यत् सत्यम् अद्य नवीन-कमल-शोभम् प्रियायाः श्रीसम्पन्नं मुखं पुनः मम लोचन-गोचरीभूतं वर्तते । अनयोर्मुखाकृति-दर्शनेन सीताया एव मुखं मम प्रत्यक्षे वर्तते, एवं जानामि ।

अत्र उत्प्रेक्षोपमा च सङ्कीर्णे । स्मरणालङ्कारश्च व्यञ्जनयावृत्त्या प्रतीयते । मालिनीच्छन्दः ॥२६॥

पुनरपि सीता-साम्यं प्रतिपादयितुमुक्रमते मुक्तेति ।

मुक्ता इव, अच्छः = विशदा ये दन्ताः, तेषां या छविः कान्तिस्तद्वत् सुन्दरा = मनोहरा, इयं सैव = सीताया एव, ओष्ठमुद्रा । सीताया ओष्ठयोर्यादृशी निर्माण-मुद्रा आसीत् तादृश्येवानयोरित्यर्थः, कर्णपाशः = शोभनौ कर्णौ च स एव । ('पाशः केशादिपूर्वः स्यात् तत्सघे, कर्णपूर्वकः । सुकर्णे' इति मेदिनी) नेत्रे किन्तु रक्तनीले च यद्यपि स्तः, नेत्रे मम नेत्रसदृशे, इति भावः । तथापि सौभाग्य-गुणस्तु लोचनयोरपि सीता सदृश एवेति यावत् ।

एतेन मन्ये, सीतायाः सुतावेतौ ।

अत्र निदर्शनाऽलङ्कारः । प्रसादो गुणः । इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोः सम्मेलनादुपजा-तिश्छन्दः ॥२७॥

टिप्पणी

(१) भूयिष्ठं च···पश्यामि पाठा०, 'भूयिष्ठां च रघुकुमारच्छायामनयोः पश्यामि' । (२) (श्लोक २५) १. "कठोरपारावतकण्ठमेचकम्"—कठोरस्य (उपचित-गात्रस्य, प्राप्तयौवनस्य) पारावतस्य कण्ठ इव मेचकम् (नीलम्) । २. वृषस्कन्ध-सुबन्धरांसयौ—पाठा०, "वृषस्कन्धसुबन्धुरांसकम्" (वृषस्य स्कन्धः इव स्कन्धः यस्मिन् तादृशम्, अपि च—सुबन्धुरौ असौ यस्मिन् तादृशम्) । 'बन्धुरं तून्नतानतम्, इत्यमरः ।

पुरुष—सौन्दर्य-वर्णन में वृषस्कन्धता का उल्लेख प्रायः होता है तुलना०—
"व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ।" (रघुवंश)

(३) (श्लोक २६) इस श्लोक में स्मरणालङ्कार है। श्री रामचन्द्र जी को बालकों के देखने पर सीता जी का मुख याद आता है। बालक सीता जी की सूरत पर हैं। यह अच्छा लक्षण होता है—"धन्यो मातृमुखः सुतः।"

(४) (श्लोक २७) १. "मुक्ताः···सुन्दरीयम्"—पाठा०, "शुक्लाच्छः···सुन्दरीयम्"। २. "रक्तनीले"—पाठा०, "नैव नीले"।

(विचिन्त्य।) तदेतत्प्राचेतसाध्युषितमरण्यं, यत्र किल देवी परित्यक्ता। इयं चानयोराकृतिर्वयोऽनुभावश्च। यत्स्वतः प्रकाशान्यस्त्राणीति च, तत्रापि स्मरामि खलु तदपि चित्रदर्शनप्रासङ्गिकं प्रबुद्धं स्यात्। न ह्यसप्रदायिकान्यस्त्राणि पूर्वेषामपि शुश्रुमः। अयं विस्मयसंप्लवमानसुखदुःखातिशयोहृदयस्य मे विप्रलम्भः। यमाविति च भूयिष्ठमात्मसंवादः। जीवद्वयापत्यचिह्नो हि देव्या गर्भिणीभाव आसीत्। (सास्रम्।)

परां कोटिं स्नेहे परिचयविकासादधिगते,
रहो विस्रब्धाया अपि सहजलज्जाजडदृशः।
मयैवादौ ज्ञातः करतलपरामर्शकलया,
द्विधा गर्भग्रन्थिस्तदनु दिवसैः कैरपि यया ॥२८॥

[अन्वयः—स्नेहे, परिचयविकासात् परां कोटिम् अधिगते [रहः, विस्रब्धायाः, अपि, सहजलज्जाजडदृशः, आदौ, करतलपरामर्शकलया, मया एव, द्विधा, गर्भग्रन्थिः, ज्ञातः, तदनु, कैः, दिवसैः तया अपि (ज्ञातः) ॥२८॥

(रुदित्वा) तत्किमेतौ पृच्छामि केनचिदुपायेन ?

हिन्दी—

(सोचकर) यह वही महर्षि वाल्मीकि से अधिष्ठित वन है, जहाँ देवी (सीता) का परित्याग किया था। और, इन दोनों की यह आकृति, अवस्था तथा प्रभाव है। और इन दोनों की (जृम्भक) अस्त्र स्वतः प्रकाशित हैं। इस विषय में मैं स्मरण करता हूँ कि (कदाचित्) 'चित्र-दर्शन' के समय जृम्भकास्त्रों के लिए दी गई मेरी अनुमति (ही) सफल हो गई हो। "प्राचीन लोगों को भी बिना गुरु-क्रम के अस्त्र प्रकट नहीं होते थे" ऐसा हम सुनते हैं। (परन्तु इनको कैसे प्रकट हो गये ?) मेरे हृदय का यह वियोग सुख और दुःखातिरेक को आश्चर्य में डुबा रहा है। "ये दोनों जुड़वें हैं" इस विषय में भी बहुत-कुछ बुद्धि की संगति मिलती है; क्योंकि देवी की गर्भावस्था दो सन्तानों के लक्षणों वाली थी (सीता के गर्भ के लक्षण ऐसे प्रतीत होते थे कि उसके दो बालक होंगे।) (आँखों में आँसू भरकर)

[श्लोक २८]—(शनैः शनैः) परिचय के विकास से स्नेह के घनिष्ठ हो जाने पर (एक दिन) विश्वास-पूर्वक स्थित तथा स्वाभाविक लज्जा से निमीलिताक्षी होते

पर भी (उसके उदर को) निपुणतापूर्वक हाथ छूकर पहले मैंने ही दो प्रकार की गर्भ-ग्रन्थि को पहचान लिया था। तदनन्तर कुछ दिनों के पश्चात् उसने भी (इस बात को समझ लिया था। अतः इन सब चिह्नों से ये सीता के ही पुत्र प्रतीत होते हैं।

(रोकर) तो क्या मैं इनसे किसी प्रकार से पूँछू ?

संस्कृत-व्याख्या

पुनरपि विचिन्त्याह—तदेतदिति। प्राचेतसेन = वाल्मीकिना, अध्युषितम् = अधिष्ठितम् तदेतदरण्यम्, यत्र किल देवी परित्यक्ता। इयञ्चानयोः समानाऽऽकृतिः। स्वतः प्रकाशितानि चास्त्राणि। स्मरामि च चित्रदर्शनावसरे मयोक्तं "सर्वथा त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्तीति"। सम्प्रदायं विनाऽस्त्राणां प्राप्तिः पूर्वेषामपि न श्रूयते। अयञ्च—विस्मये = आश्चर्ये, सम्प्लवमानः—सन्तरन्, सुख-दुःखयोरतिशयो येन सः, मे = मम हृदयस्य विप्रलम्भः। 'यमौ' इत्यपि च भूयान् सम्वादः। मया ही गर्भावस्थायां जीवयुगलस्यास्तित्वं परिज्ञातमासीत्।

पुनः सर्वमापि वृत्तं संस्मृत्याह—परामिति।

यदा स्नेहः शनैः-शनैः परिचयस्य विकासात् परां कोटिमुपेतस्तदा रहः = एकान्ते, विश्वासपूर्वकं स्थितायाः सीता देव्याः स्वाभाविक-लज्जावशात् जडलोचनाया अपि सत्याः करतलस्य परामर्शकलया = नैपुण्येन मयैवादो द्विधा गर्भग्रन्थिः परिचितः, अत्र गर्भे द्वो जीवौ स्तः, इति मयैव पूर्वं परिज्ञातम्, अनन्तरञ्च कतिपयैर्दिवसैस्तयापि विज्ञातम्। ततश्च सर्वैरमीभिश्चिह्नैः सीतातनयावेताविति निशङ्कं वक्तुं युज्यते।

अत्र तुल्ययोगितालङ्कारः। शिखरिणी छन्दः ॥२८॥

स्वयं रुदित्वा कथयति—तदिति। ततः केनचिदुपायेन किं वृत्तान्तमिमं पृच्छामि एतौ ?

टिप्पणी

[श्लोक २८]—

१. परां कोटिं स्नेहे—पाठा०, पुरा रूढे स्नेहे' २. सहजलज्जाजडदृशः—सहजा लज्जा तया जडा दृक् यस्यास्तस्याः। ३. करतलपरामर्शकलया—करतलेन परामर्शः, तस्य कलया। (परया + मृश् + घञ्) ४. द्विधा—द्वि + धाच्।

लवः—ताप किमेतत् ?

वाष्पवर्षेण नीतं वो जगन्मङ्गलमाननम्।
अवश्यायावसिक्तस्य, पुण्डरीकस्य चारुताम् ॥२९॥

[अन्वयः—जगन्मङ्गलं, वः, आननम्, वाष्पवर्षेण, अवश्यायावसिक्तस्य पुण्डरीकस्य, चारुतां, नीतम् ॥२९॥]

कुशः—अयि वत्स—

विना सीतादेव्या किमिव हि न दुःखं रघुपतेः ?
प्रियानाशे कृत्स्नं किल जगदरण्यं हि भवति ।
स च स्नेहस्तावानयमपि वियोगो निरवधिः,
किमेवं त्वं पृच्छस्यनधिगतरामायण इव ? ॥३०॥

[अन्वयः—सीतादेव्या, विना, रघुपतेः किमिव, दुःखं, नहि ? हि, प्रियानाशे, कृत्स्नं जगत्, अरण्यं भवति किल । स च स्नेहः तावान्, अयम्, अपि, वियोगः, निरवधिः, त्वम्, अनधिगतरामायणः इव, किम् पृच्छसि ? ॥३०॥]

हिन्दी—

लव—तात ! यह क्या ?

[श्लोक २६]—जगत् के लिये मंगल-स्वरूप आपका मुख अश्रु-वर्षा से, ओस से सींचे गये कमल के समान सुन्दर लग रहा है । (जैसे कमल पर ओस की बूंद पड़ी हुई सुशोभित होती हैं, वैसे ही आपके मुख-कमल पर भी ये अश्रु-बिन्दु पड़े हुए हैं । आप क्यों रो रहे हैं ?

कुश—वत्स !

[श्लोक ३०]—सीता देवी के बिना श्रीरामचन्द्रजी को (संसार में) क्या दुःख नहीं हैं ? (उन्हें दुःख ही दुःख है ।) क्योंकि, प्रिया के अभाव में सम्पूर्ण जगत् बीहड़ जंगल हो जाता है । (इन दोनों का) कहाँ तो वह स्नेह ? और (कहाँ) यह निरवधि विरह ? (इन सब बातों को जानते हुए भी) तुम अनधीत-रामायण से होकर क्या पूछ रहे हो ? (तुमने तो रामायण पढ़ी है ।) क्या तुम्हें पता नहीं कि इन दोनों को वियुक्त कर दिया है । ऐसी विपत्ति में राम के आँसू बहाने पर तुम ऐसा प्रश्न क्यों कर रहे हो ?)

संस्कृत-व्याख्या

रुदन्तं रामं दृष्ट्वा लवः 'तात ! किमेतत् ?' इति पृच्छति ।

किमित्याह लवः ? इति निर्दिशति—वाष्पेति ।

ननु तातपादाः ! जगन्मङ्गलमिदं भवतामाननं वाष्पवर्षेण=अश्रुवृष्ट्या, अवश्यायेन=तुषारेण ('ओस' इति हिन्दी) अवसिक्तस्य=सिक्तस्य, पुण्डरीकस्य=कमलस्य, चारुताम्=सौन्दर्यम्, नीतम्=प्राप्तम् । तुहिनकणैर्यथा कमलमासिक्तं भवति, तथैवाश्रु-जलेन भवती मुखमपीति भावः । किमिति मुधा रुदन्ति श्रीमन्तः ? इति तत्त्वम् ।

अत्र निदर्शनालङ्कारः ॥२६॥

लवस्य वचनं श्रुत्वा कुशः प्राह—विनेति ।

अयि वत्स ? रामायणं पठित्वापि किमनधिगतरामायण इव प्रश्नं करोषि ? त्वं न जानासि ? सीता देवीं विना रघुपतेः किमिव दुःखं न ? अपितु सर्वमपि दुःख-कारणमिति । सत्यमेवेदं कथनं—'प्रियानाशे सर्वमपि जगदरण्यमेव भवति' इति ।

श्च चानयो सीता-रामयोः क्व च तावान् स्नेहः ? क्व चायं निरवधिः वियोगः ? अतो रामायणमधीत्यैवंविधः प्रश्नो न शोभते। सीता दुःख-दुःखितस्य भवतो रामस्य सर्वमपि जगत् क्लेशकरमेवेति भावः।

अत्रार्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। जगदरण्यमित्यत्र परिणामश्च। शिखरिणीच्छन्दः, प्रसादो गुणः। लाटी रीतिः ॥३०॥

टिप्पणी

(१) [श्लोक १९]—

१. अवश्यायावसिक्तस्य—पाठा०—'अवश्यायाम्बुसिक्तस्य'। अवश्यायेन अवसिक्तस्य। 'अवश्यायस्तु नीहारस्तुषारस्तुहिनं हिमम्' इत्यमरः। अवश्यायते शीतो भवति इति अव + √श्यै + ण + कर्त्तरि—अवश्यायः।

२. पुण्डरीकस्य—इससे मुख की पाण्डिमा सूचित होती है।

२. [श्लोक ३०]—

१. प्रियनाशे कृत्स्नं किल ...—पाठा० 'प्रधानाशे कृत्स्नं जगदिदम्' कुश ने यह वाक्य लोगों के द्वारा सुने गए (अथवा पठित) अनुभवों के आधार पर कहा है, स्वानुभव के आधार पर नहीं।

रामः—(स्वगतम्) अये तटस्थ आलापः। कृतं प्रश्नेन। मुग्धहृदय ! कोऽयमाकस्मिकस्ते संप्लवाधिकारः ? एवं निर्भिन्नहृदयावेगः शिशुजनेनाप्यनुकम्पितोऽस्मि। भवतु तावदन्तरयामि (प्रकाशम्।) वत्सौ ! 'रामायणं रामायणमिति श्रूयते भगवतो वाल्मीकेः सरस्वतीनिष्यन्दः प्रशस्तिरादित्यवंशस्य' तत्कौतूहलेन यत्किंचिच्छ्रोतुमिच्छामि।

कुशः—कृत्स्न एव सन्दर्भोऽस्माभिरावृत्तः, स्मृतिप्रत्युपस्थितौ तावदिमौ बालचरितस्यासाते द्वौ श्लोकौ।

रामः—उदीरयतं वत्सौ !

कुशः—

प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति।
गुणैरूपगुणैश्चापि प्रीतिर्भूयोऽप्यवर्धत ॥३१॥
तथैव रामः सीतायाः प्राणेभ्योऽपि प्रियोऽभवत्।
हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोग परस्परम् ॥३२॥

हिन्दी—

राम—(स्वयं ही)

अरे, वह वार्तालाप उदासीन-(सा) है। (क्योंकि मेरा हृदय इनको सीतापुत्र मान रहा है। यदि ये सीता के पुत्र होते तो "विना सीता देव्याः"—के स्थान पर

"विना मातरम्" का प्रयोग करते परन्तु इन्होंने वैसा नहीं किया है। अतः यह वार्तालाप सर्वथा उदासीन है।) (इस विषय में) प्रश्न अनावश्यक है। मूढ़ हृदय ! अकारण तुझे दूर जाने का क्या अधिकार है ? (तू क्यों व्यर्थ ही इनको सीता का पुत्र मान रहा है ?) (हा !) इस प्रकार हृदय का आवेग प्रकट होने से मैं बालकों के द्वारा भी अनुकम्पनीय हो गया हूँ। (मेरी कैसी करुण-दशा हो गई है ?) अस्तु; अपने आवेग को रोकता हूँ। (प्रकाश में) बच्चो ! ऐसा सुना जाता है कि—"रामायण-रामायण" यह भगवान् "वाल्मीकि" की वाणी का द्रव (प्रवाह) एवं सूर्यवंश की 'प्रशस्ति' है अतः कौतूहल के कारण (उसमें में) कुछ सुनना चाहता हूँ।

कुश—(तात !) हमने ग्रन्थ की ही आवृत्ति की है परन्तु इस समय 'बाल-चरित' के ये दो श्लोक हमें स्मरण हैं।

राम—बच्चो ! कहो ! (सुनाओ !)

कुश—(श्लोक ३१-३२)—सीता, राम की, पिता (जनक) के द्वारा (विधिपूर्वक) दी गई प्रिय पत्नी थीं। (दाक्षिण्यादि) गुणों एवं रूप-गुणों से उनका प्रेम बहुत बढ़ा हुआ था (उनमें अपार प्रेम था)। (जैसे राम का सीता में प्रेम था) वैसे ही राम भी सीता को प्राणों से भी अधिक प्रिय थे। (सच तो यह है कि) पारस्परिक प्रीति-सम्बन्ध को हृदय ही जानता है।

संस्कृत-व्याख्या

एवं श्रुत्वा स्वगत माह रामः—अये इति। तटस्थः=उदासीनः इवायं वार्तालापः। मन्ये, मम हृदयमेवमेवेमौ सीतातनयौ मन्येते। यदीमौ सीतासुतौ स्याताम्—'विना सीता देव्याः' इत्यस्य स्थाने—'विना मातर' इत्येव कथयेताम्, न च तथोक्त-वन्ताविति आलापः तटस्थ इवास्ति अत्र प्रश्न एवानावश्यक इति भावः। स्वकीयं हृदयमुपालभते। मुग्ध हृदय ! अकस्मात् संप्लवितुं ते कोऽयमधिकारः ? हन्त ! शिशुजनैरप्यनुकम्पनीयोऽस्मि जातः। कीदृशी मे करुणदशा ? (प्रकाश) वत्सौ ! श्रूयते किल भगवता वाल्मीकिना सूर्यवंशस्य प्रशंसात्मकं रामायणमिति काव्यं निर्मितम्। तत् किमपि श्रोतुमिच्छामि, तत्रत्यं पद्यादिकम्।

रामवाक्यमाकर्ण्य कुशः प्राह—कृत्स्ना-इति। तात ! सम्पूर्णोऽप्यसौ ग्रन्थोऽस्माभिरावृत्तः परमिदानीं बालचरितस्य द्वौ श्लोकौ स्मृतिपथमायातौ।

महाराज-समाज्ञया कुशः श्रावयति—प्रियेति। "सीता रामस्य पितृकृता=पित्रा जनकेन यथाविधि मन्त्रसंस्कारपूर्वकं दत्ता सती प्रिया दारा आसीत्। तयोश्च गुणैरूपगुणैश्च सौन्दर्येणाकृत्या दयादाक्षिण्यादिभिर्गुणैश्च अति प्रीतिरासीत्। यथा सीताया रामे प्रीतिरासीत्, तथैव रामोऽपि तस्याः प्राणेभ्योऽपि प्रियोऽभवत्। पारस्परिकं प्रीति-सम्बन्ध तु केवलं हृदयमेव जानाति वस्तुतस्तु तयोः प्रीति-रसं वेत्तुमन्यस्य सामर्थ्यं नासीत्।" ॥३१-३२॥

टिप्पणी

[१] "बालचरितस्य"—बालकाण्ड से अभिप्राय है।

[२] [श्लोक ३०]

पाठान्तर—"प्रकृत्यैव प्रिया सीता रामस्यासीन्महात्मनः ।
प्रियभावः स तु तया स्वगुणैरेव वर्धितः ।।"

सम्भवतः भवभूति ने रामायण के प्रत्येक शब्द को उद्धृत नहीं करना चाहा, यहाँ बालकाण्ड में आये हुए इस श्लोकयुग्म का भाव ही लिया है—

"प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति ।
गुणाद्रूपगुणाच्चापि प्रीतिर्भूयोऽभिवर्धते ।।
तस्याश्च भर्त्ता द्विगुणं हृदये परिवर्त्तते ।
अन्तर्गतमपि व्यक्तमाख्याति हृदयं हृदा ।।"

(बालकाण्ड, ७०/२६-२७)

रामः—कष्टमतिदारुणो हृदयमर्मोद्घातः। हा देवि ! एवं किलैतदासीत् । अहो ! निरन्वयविपर्यासविप्रलम्भस्मृतिपर्यवसायिनस्तावकाः संसारवृत्तान्ताः ।

क्व तावानानन्दो निरतिशयविस्रम्भबहुलः ?
क्व वान्योन्यप्रेम ? क्व च नु गहनाः कौतुकरसाः ?
सुखे वा दुःखे वा क्व नु खलु तदैक्यं हृदययोः ?
स्तथाप्येष प्राणः स्फुरति, नतु पापो-विरमति ।।३३।।

[अन्वयः—निरतिशयविस्रम्भबहुलः, तावान् आनन्दः, क्व ? वा, अन्योन्यप्रेम, क्व ? गहनाः, कौतुकरसाश्च, क्व नु ? सुखे, वा, दुःखे वा, हृदययोः, तत् ऐक्यं, क्व, नु, खलु ? तथापि, पापः, एषः, प्राणः, स्फुरति, न, तु विरमति ।।३३।।]

भो कष्टम् !

प्रियागुणसहस्राणां क्रमोन्मीलनतत्परः ।
य एव दुःसहः कालस्तमेव स्मारिता वयम् ।।३४।।

[अन्वयः—प्रियगुणसहस्राणां, क्रमोन्मीलनतत्परः, यः, एव, कालः, दुःसह, वयम्, तम्, एव, स्मारिताः ।।३४।।]

तदा किंचित्किंचित्कृतपदमहोभिः कतिपयै-
स्तदीषद्विस्तारि स्तनमुकुलमासीन्मृगदृशः ।
वयः स्नेहाकूतव्यतिकरघनो यत्र मदनः,
प्रगल्भव्यापारः स्फुरति हृदि, मुग्धश्च वपुषि ।।३५।।

[अन्वयः—यत्र वयः स्नेहाकूतव्यतिकरघनः, मदनः, हृदि, प्रगल्भव्यापारः, वपुषि च, मुग्धः स्फुरति, तदा, किञ्चित्-किञ्चित् कृतपदम् मृगदृशः तत् स्तनमुकुलम्, कतिपयैः, अहोभिः, ईषद्विस्तारि, आसीत् ।।३५।।]

राम—कष्ट है ! (यह) हृदय के मर्म-स्थलों पर अत्यन्त दारुण आघात है। हा ! देवि ! उस समय (हमारा) यह ऐसा (सुखमय जीवन) था ! (परन्तु आज··· ···!) ओह ! तुम्हारे (से सम्बन्ध रखने वाले) संसार के वृत्तान्त, आकस्मिक परिवर्तन के कारण 'वियोग' और 'स्मरण' में बदलने वाले हैं ? (तुम्हारे वियोग में मेरे लिए सम्पूर्ण सांसारिक व्यवहार कुछ और ही हो गये। एकमात्र 'स्मृति' ही शेष रहकर हृदय में अनी की भाँति चुभ रही है।)

[श्लोक ३३]—यह अतिशय विश्वास से समृद्ध आनन्द (आज) कहाँ चला गया ? वह (हम दोनों का) पारस्परिक प्रेम कहाँ गया ? तुम्हारे वे क्रीडा के प्रति दृढ़ अनुराग कहाँ है ? और सुख-दुःख दोनों में हृदय की वह एकता कहाँ चली गई ? (प्रियतमा के वियोग में ये सुखद व्यवहार आज दुःखद हो रहे हैं।) इतने पर भी ये प्राण जीवित हैं, ये अधम निकलते नहीं।

हा ! कष्ट है !

[श्लोक ३४]—प्रिया के (दाक्षिण्यादि) हजारों गुणों के प्रकाशन वाला जो समय है, वही मुझे स्मरण हो आया है। (प्रियतमा के समस्त गुण आज विरहोत्पादक होकर दुःसह हो रहे हैं !)

[श्लोक ३५]—(जिस समय सीता तरुणावस्था में आई थी तब) अवस्था स्नेह और विशेष चेष्टाओं के सम्पर्क से काम हृदय में प्रबल तथा शरीर में सरल होकर रहता था, तब मृग-लोचना सीता का स्तन मुकुल धीरे-धीरे कुछ दिनों में विस्तृत होने लगा था। (यौवनारम्भ में सीता के हृदय और शरीर के अङ्गों में परिवर्तन होने लगा था। पहिले उसके स्तन मुकुलाकार थे परन्तु कुछ दिनों के बाद धीरे-धीरे बढ़ने लगे थे। उस समय वह कैसी अल्हड युवती थी। परन्तु हा ! आज वह कुछ भी नहीं है ?)

संस्कृत-व्याख्या

बालकयोर्मुखात्पूर्ववृत्तान्तमाकर्ण्य व्यथितहृदयो रामः प्राह—कष्टमिति। अति कष्टमापतितम्। हृदयमेव मर्म=कोमलभागस्तस्योद्घातः=उद्भेदः। हा देवि ! तस्मिन् समये एवमासीदावयोः प्रीतिः ? सम्प्रति च किं जातम् ? हा ! सीते ! त्वदीयाः संसार-सम्बन्धिनो वृत्तान्ता विचित्राः सन्ति। ते च निरन्वयाः=अन्वयः=सम्बन्धः स न भवति, आकस्मिक, इति यावत्, यो विपर्यासः=परिस्थितिपरिवर्तनम्, तेन यो विप्रलम्भः=वियोगः, या च स्मृतिः=स्मरणम्, तत्पर्यवसायिनः=तत्फलाः सन्ति। त्वदीयाः सर्वे वृत्तान्ता वियोग एव परिणताः स्मृतिरेव च केवलमवशिष्यते, इत्याशयः।

सीता-संयोग-समयं स्मरन् भगवान् रामः कथयति—क्व तावानिति।

अत्यधिकविश्वास-प्रचुरः स्वानुभूतिविषयस्तावानानन्दो न जाने क्व (गतः) ? क्व वा तदन्योन्य-प्रेम गतम् ? क्व ते अतिशयिता कौतुकक्रीडानुरागाः सन्ति ? सुख-दुःखयोः हृदययोरैक्यमपि न जाने सम्प्रति कुत्र विलीनम् ? पूर्ववर्तिनः सुख-

समाचारा इदानीं कथामात्रावशेषाः सञ्जातास्तथापि हृदये स्थितो ममैष प्राणवायुरधुनापि स्फुरणं करोति, पापकारी प्राणो न तु विरमति = विरामं नाप्नोति । सर्वेषु सुखपदार्थेषु सम्प्रयातेषु ममेदानीं जीवनं मुधैवेति भावः ।

अत्र प्राणनाशकहेतुवर्गे विद्यमानेऽपि प्राणनिर्गमाभावरूपस्य कार्यस्याभावाद् विशेषोक्त्यलङ्कारः । तल्लक्षणञ्च यथा—

"सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिः ।" इति ।

शिखरिणी च्छन्दः । प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः ॥३३॥

पुनरपि कष्टमनुभवन् कथयति रामः—प्रियेति ।

हन्त भोः ! यस्मिन् समये स्वप्राणेभ्योऽपि प्रियायाः सीतायाः सहस्रसंख्यानां गुणानां क्रमशः समुन्मीलनं = प्रकाशो भवति, स एव समयः साम्प्रतं स्मृतिपथमारूढः सर्वेऽपि सौजन्य-दाक्षिण्यादयो भावाः सहसा स्मृति-मार्गमुपेताः सन्तो दुःसहाः सञ्जाताः । किं करवाणि ? अतः परं किं कष्टं स्यात् ॥३४॥

कीदृशोऽसौ समयो यस्य स्मरणमिदानीं जातमित्याह—तदेति ।

यस्मिन् समये सीता प्राप्तयौवनाऽभूत्, वयसोऽवस्थायाः, स्नेहस्य, आकूतस्य = अभिप्रायविशेषस्य, व्यतिकरेण = सम्पर्केण सघनः कामः प्रगल्भव्यापारः सन् हृदये मुग्धतया च शरीरे स्फुरन्नासीत्, तदा किंचित्-किंचित् कतिपयैरहोभिः दिवसैः, मृगलोचनायाः सीतायाः स्तन-मुकुलं विस्तृतमभूत् । यौवनारम्भे हृदये शरीरे च कामावेशो भवति, तथैव सीतायाः अपि मनसि वपुषि च ते ते भावास्तेषां प्रभावश्च प्रभविष्णवोऽभूवन् । पूर्वं स्तनौ कलिकाकारौ आस्ताम् तावेव च क्रमशो विस्तृतौ जाताविति कीदृशी सा मधुरावस्थाऽऽसीत् ! इदानीञ्च तद्वियोगे स्मरणमात्रेण ममान्त, सन्तापमर्पयतीवेति हा ! कष्टमिति भावः ।

अत्रैकस्यैव कामस्य हृदये शरीरे च वर्तमानत्वात् पर्यायाऽलङ्कारः । प्रगल्भत्त्वमुग्धत्त्वयोर्विरोधाभासश्च । तयोरङ्गाङ्गिभावतया साङ्कर्यम् । शिखरिणी च्छन्दः । प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः ॥३५॥

टिप्पणी

(१) "हृदयमर्मोद्घातः"—पाठा०, "हृदयमर्मोपघातः" । मर्म अत्यन्त कोमल भाग है । भवभूति ने कई स्थानों पर मर्म की व्यथा का उल्लेख किया है—

''हृन्मर्मव्रण इव वेदनां करोति ।" (१/३०)

"व्रणो रूथग्रन्थिः स्फुटित इव हृन्मर्मणि पुनः । (२/२६)

(२) [श्लोक ३४]—१. "क्रमोन्मीलनतत्परः"--पाठा०, "एकोन्मीलनपेशलः" ? २. "दुःसहः"

पाठा०, "दुस्मरः" ।

(३) [श्लोक ३५] १. "तदा"—पाठा०, "यदा" । २. श्री राम के मुख से लव के समक्ष प्रकाश रूप में यह पद्य कहलाना अधिक उचित प्रतीत नहीं होता । श्रीराम के द्वारा लव के समक्ष स्तनादिवर्णन मर्यादा से आगे बढ़ जाता है । अतः

यदि श्रीरामजी के इस कथन को 'स्वगत' माना जाय तो उक्त शंका का समाधान हो सकता है।

लवः—अयं तु चित्रकूटवर्त्मनि मन्दाकिनीविहारे सीतादेवीमुद्दिश्य रघुपतेः श्लोकः।

"त्वदर्थमिव विन्यस्तः, शिलापट्टोऽयमायतः।
यस्यायमभितः पुष्पैः, प्रवृष्ट इव केसरः॥३६॥

रामः—(सलज्जास्मितस्नेहकरुणम्।) अति हि नाम मुग्धः शिशुजनः विशेषतस्त्वरण्यचरः हा देवि! स्मरति वा तस्य तत्समयविस्रम्भातिप्रसङ्गस्य?

श्रमाम्बुशिशिरीभवत् प्रसृतमन्दमन्दाकिनी-
मरुत्तरलितालकाकुलललाटचन्द्रद्युति।
अकुङ्कुमकलङ्कितोज्ज्वलकपोलमुत्प्रेक्ष्यते,
निराभरणसुन्दरश्रवणपाशमुग्धं मुखम्॥३७॥

[अन्वयः—श्रमाम्बुशिशिरीभवत्, प्रसृतमन्दमन्दाकिनीमरुत्तरलितालकाकुलललाटचन्द्रद्युति, अकुङ्कुमकलङ्कितोज्ज्वलकपोलं, निराभरणसुन्दरश्रवणपाशमुग्धं, मुखम्, उत्प्रेक्ष्यते॥३७॥]

(स्तम्भित इव स्थित्वा, सकरुणम्।) अहो न खलु भोः,
चिरं ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरतः,
प्रवासे चाश्वासं न खलु न करोति प्रियजनः।
जगज्जीर्णारण्यं भवति न कलत्रे ह्युपरते,
कुकूलानां राशौ तदनु हृदयं पच्यत इव॥३८॥

[अन्वयः—प्रवासे च, चिरं ध्यात्वा-ध्यात्वा, निर्माय, पुरतः, निहितः, इव, प्रियजनः, आश्वासं, न करोति (इति) न खलु। कलत्रे, उपरते, जगत् जीर्णारण्यं, भवति, हि। तदनु, हृदयं कुकूलानां राशौ, पच्यते, इव॥३८॥]

हिन्दी—

लव—चित्रकूट के मार्ग में गङ्गा-विहार के समय सीता देवी को लक्ष्य कर (कहा गया) श्री रामचन्द्रजी का यह श्लोक है—

[श्लोक ३६]—(देवि!) यह विस्तृत शिलापट्ट, जिसके चारों ओर यह मौलसरी का वृक्ष पुष्पों की वर्षा-सी कर रहा है, मानों तुम्हारे (बैठने के) लिए (किसी ने) रखा है। (अतः इस पर सुखपूर्वक बैठो।)

राम—(लज्जा, मुस्कराहट, स्नेह और करुणा से) बच्चे बहुत ही भोले होते हैं!

विशेषकर वनवासी। हा! देवि! क्या तुम उस निशशङ्क (हम दोनों के मिलन) प्रसङ्ग को याद कर रही हो?

[श्लोक ३७]—जो श्रम से शीतल-सा हो रहा है, तथा मन्द-मन्द बहते हुए मन्दाकिनी (गङ्गा) के समीर से चञ्चल अलकों से जिसके ललाट-रूपी चन्द्रमा की शोभा ढकी जा रही है, केसर का लेप न होने पर भी जिसके कपोल उज्ज्वल हैं; और जो कि आभूषण-रहित होने पर भी सुन्दर कर्णपाशों से मनोहर है, मैं तुम्हारे उस मुख को प्रत्यक्ष-सा देख रहा हूँ।

[श्लोक ३८]—बहुत समय तक बार-बार ध्यान करके सामने स्थापित सा किया जाने पर प्रियजन प्रवास में (प्रेमी को) सान्त्वना न देता हो, ऐसी बात नहीं (अपितु देता ही है।) परन्तु स्त्री के मर जाने पर (तो) संसार अरण्य हो जाता है और तत्पश्चात् हृदय मानो तुषाग्नि की राशि पर पकता रहता है।

(भावार्थ—प्रिय का निरन्तर ध्यान करते-करते उसकी मूर्ति आँखों के सामने खड़ी हो जाती है। इस प्रकार प्रियजन प्रवास में भी प्रेमी को सान्त्वना देता रहता है। परन्तु स्त्री के मर जाने पर तो संसार बीहड़ जंगल हो जाता है; और तदनन्तर हृदय 'तुषाग्नि' के ढेर पर पड़कर मानो सुलगता रहता है। जिस प्रकार 'तुषाग्नि' सिसका-सिसका कर जलाती है इसी प्रकार प्रियतमा का विरह भी व्यक्ति को घुला-घुलाकर मारता है।)

(आशय यह है कि विरह दो प्रकार का होता है। एक, प्रवास उत्पन्न और दूसरा, मरण जन्य। प्रवास में हम अपने प्रिय की मूर्ति की कल्पना कर लेते हैं, जिससे हमको सुख मिलता है, परन्तु प्रेम-पात्र (स्त्री) के मर जाने पर उसकी कल्पना कैसे की जा सकती है? उस समय तो संसार शून्य लगता है। हृदय ऐसा लगता है, मानो तुषाग्नि पर पड़ा-पड़ा सुलग रहा हो। प्रिया के बिना जीवन में सुख नहीं, शान्ति नहीं, उल्लास नहीं। और है केवल चिन्ता, शोक एवं विपत्ति का अथाह सागर!)

संस्कृत-व्याख्या

लवोऽपि चित्रकूटस्य मार्गे रामोक्तिं पठति—त्वदर्थमिवेति। देवि। अयं सुदीर्घः शिलापट्टः यस्याभितः=(आर्षत्वा "दभितः" इत्यस्य योगे द्वितीयाया अभावः) परितः, केसरः=वकुल=पादपः पुष्प-वृष्टिमिव करोति, स मन्ये तवोपवेशनार्थमिव (केनचिद्) विन्यस्तः, अतोऽत्र तथा सुखमुपविश्यताम्।

अत्रोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥३६॥

लवस्य पद्यश्रवणेन सलज्जः, (बालेनानेन रहस्योद्भेदः कृतः, इति लज्जा), लवस्य सारल्येन च सस्मितः वात्सल्यश्च सस्नेहः, सीता-शोकात्सकरुणश्च रामः, सीता सम्बोध्य कथयति पूर्ववृत्तान्तं स्मरसि? न वा? अहमिदानीं तव मुखमेवंविधं स्व पुरतः स्थितमिव पश्यामीत्याह—

श्रमजलेन शिशिरीभवत्, शीतलमिव सम्पन्नं, (मुखम्) प्रसृतः=प्रचलितः

मन्दः—शनैः-शनैः, यो मन्दाकिन्यां:', मरुत् = पवनः तेन तरलिताः = चाञ्चल्यं प्रापिताः ये तव) अलकाः = चूर्णकुन्तलाः, तैः आकुलाः = व्याकुला, ललाटरूपस्य, चन्द्रस्य द्युतिः, यस्य तत्, अकुङ्कुमकलङ्कितौ = कुङ्कुमचिह्नरहितौ, कपोलौ यस्य, निराभरणावपि = आभूषणरहितावपि सुन्दरौ कर्णपाशौ = मनोहरौ कर्णौ, ताभ्यां मुग्धं = एवंविधं तव मुखमुत्प्रेक्ष्यते = पुरतो वर्तमानमिव पश्यामीत्यर्थः ।

कुङ्कुमराहित्येऽपि समुज्ज्वलत्वप्रतिपादनात्, आभरणशून्येत्वेऽपि च सौन्दर्याख्यानाद् विभावनालङ्कारः । तल्लक्षणं यथा—

"विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।।"

पृथ्वी च्छन्दः । तल्लक्षणञ्च—

"जसो जल यला वसु ग्रह यतिश्च पृथ्वी गुरुः ।" इति ।।३७।।

स्तम्भित इव स्थित्वा रामः सनिर्वेदमाह—चिरमिति ।

प्रवास समये सुदूरं गत्वा कल्पनाभिः प्रकल्प्य पुरतः स्थापित इव प्रियजन आश्वासं प्रददात्येव ! परन्तु कलत्रे पञ्चत्वमुपेते तु जगज्जीर्णमरण्यमिव सम्पद्यते । अनन्तरञ्च हृदयं कुकूलानाम्—तुषाग्नीनाम् ("कुकूलं शङ्कुभिः कीर्णे श्वभ्रे ना तु तुषानले" इत्यमरः ।) राशौ इव पच्यते = परिपक्वमिव जायते । प्रवासे जीवितः प्रियजनः प्रकल्पितमूर्तिः सन् धैर्यं ददाति, परन्तु पत्न्यां परलोके प्रयातायां तु सर्वोऽपि ससारः प्राचीनं जनशून्यमरण्यमिव विभाति । तत्र सान्त्वना नैव लभ्यते, इति भावः । गृहिणीं विना संसार-यात्रैव मुधेति रामस्यातितमां दुःखमभिव्यज्यते ।

अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । शिखरिणी च्छन्दः । प्रसादो गुणः । लाटी रीतिः ।।३८।।

टिप्पणी

(१) चित्रकूटवर्त्मनि मन्दाकिनीविहारे—पाठा०, 'मन्दाकिनीचित्रकूट वनविहारे', "चित्रकूटमन्दाकिनीपरिसरे" ।

यहाँ मन्दाकिनी का अर्थ 'गङ्गा' नहीं अपितु चित्रकूट के निकट प्रवाहित होने वाली नदी से तात्पर्य है क्योंकि चित्रकूट प्रयाग से लगभग दस कोस दूर था । तुलना कीजिए— "अथ शैलाद्विनिष्क्रम्य मैथिलीं कोशलेश्वरः ।

आदर्शयच्छुभ्रजलां रम्यां मन्दाकिनीं नदीम् ।।" (अयोध्या० ९५/१)

"तां तदा दर्शयित्वा तु मैथिलीं गिरिनिम्नगाम् ।

निषषाद गिरिप्रस्थे सीतां मांसेन छन्दयन् ।।" (अयोध्या०, ९६/१)

(२) [श्लोक ३६]—

१. पाठा०, "शिलापट्टः—शिलापादः" 'अयमागतः' 'अयमग्रतः' ।

२. इस श्लोक के विषम में वीरराघव लिखते हैं—

"अयं श्लोको रामायणलेखकैः प्रभ्रंशित इति वदन्ति ।"

(३) सलज्जसास्मितस्नेह करुणम्—राम लव के पद्य को सुनने में सलज्ज, उसकी सरलता से सस्मित, वात्सल्य से स्नेह एवं सीता के शोक से सकरुण होकर बोले

(४) [श्लोक ६६]—१. 'भवति च कलत्रे ह्युपरते' पाठा०—'भवति च विकल्प व्युपरमे' कलत्रेऽप्युपरते।'

(नेपथ्ये)

वसिष्ठो वाल्मीकिर्दशरथमहिष्योऽथ जनकः,
सहैवारुन्धत्या शिशुकलहमाकर्ण्य सभयाः।
जराग्रस्तैर्गात्रैरथ खलु सुदूराश्रमतया,
चिरेणागच्छन्ति त्वरितमनसो विश्लथजटाः ॥३६॥

हिन्दी—

(नेपथ्ये में)

[श्लोक ३६]—अरुन्धती के साथ वसिष्ठ, वाल्मीकि, दशरथ की महारानियाँ और राजा जनक (ये सब बालकों (लव और चन्द्रकेतु) के कलह (युद्ध) को सुनकर, भयभीत होकर, जरा-ग्रस्त अङ्गों के आश्रम के दूर होने के कारण अस्त-व्यस्त जटाएँ धारण कर, शीघ्र पहुँचने की इच्छा होने पर भी (शिथिलता के कारण) देर से आ रहे हैं।

संस्कृत-व्याख्या

नेपथ्ये वसिष्ठादीनामागमनं सूच्यते—वसिष्ठ इति।

कुलगुरुर्वसिष्ठः, महामुनिर्भगवान् वाल्मीकिः, कौसल्यादयः, जनकः, इत्येतेऽरुन्धत्या सह शिशुजनकलहात् भीता इव वृद्धावस्थाया शिथिल-शरीराः, आश्रमस्य च दूरतया विश्लथजटाः, त्वरित चेतसः सन्तोऽपि गमन शैथिल्यात् चिरेणायान्ति।

अत्र काव्यलिङ्गालङ्कारः। शिखरिणी वृत्तम् ॥३६॥

रामः–कथं भगवत्यरुन्धती ? वसिष्ठोऽम्बाश्च जनकश्चात्रैव ? कथं खलु ते द्रष्टव्याः ? (सकरुणं विलोक्य।) तातजनकोऽप्यत्रैवायात इति वज्रेणेव ताडितोऽस्मि मन्दभाग्यः।

सम्बन्धस्पृहणीयताप्रमुदितैर्ज्येष्ठैर्वसिष्ठादिभि-
र्दृष्ट्वापत्यविवाहमङ्गलविधौ तत्तातयोः सङ्गमम्।
पश्यन्नीदृशमीदृशः पितृसखं वृत्ते महावैशसे,
दीर्ये किं न सहस्रधाहमथवा रामेण किं दुष्करम् ॥४०॥

[अन्वयः—सम्बन्धस्पृहणीयताप्रमुदितैः, ज्येष्ठैः वसिष्ठादिभिः, अपत्यविवाहमङ्गलविधौ, तत् तातयो सङ्गमं दृष्ट्वा महावैशसे वृत्ते ईदृशं, पितृसखं पश्यन्; ईदृशः, अहं, किं, सहस्रधा, न दीर्ये ॥४०॥]

हिन्दी—

राम—क्या भगवती अरुन्धती, वसिष्ठ, माता, और जनक (ये सब) यहीं हैं।

मैं उन्हें कैसे देख सकूँगा ? (करुणापूर्वक देखकर) तात, 'जनक' भी यहीं आये हैं। इस वज्र से तो मैं हतभाग्य ताडित-सा हो गया हूँ ?

[श्लोक ४०]—सम्बन्ध की श्लाघनीयता से अत्यन्त प्रसन्न वसिष्ठ आदि सामान्य गुरुजनों से (अधिष्ठित) विवाह-मङ्गल के समय दोनों पिताओं (दशरथ और जनक) का वह मिलन देखकर भी आज इस भयङ्कर हत्या-काण्ड (दुर्घटना) के हो जाने पर पिताजी के मित्र (जनक) को देखते हुए मेरे हजारों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते ? अथवा, राम को क्या दुष्करणीय है ? [वह राम जी कि निरपराध सीता को भी त्याग सकता है आज जनक को देखना दुष्कर कैसे समझ सकता है ? उनकी पुत्री का विनाश कर वह आज क्या सुख लेकर उनसे मिलेगा ?]

संस्कृत-व्याख्या

जनकस्य दर्शनं कथङ्कर्तुं शक्यते-इत्याह रामः सम्बोधेति ।

विवाहसमये सम्बन्धस्योत्तमतया ज्येष्ठाः कुलगुरु-वासिष्ठादयः सर्वेऽपि प्रमुदिता आसन् । तातयोर्दशरथ-जनकयोः, संगमं दृष्ट्वा महानानन्दो मयानुभूतः । अद्येदृशीं दशामनुप्रपन्नः प्रिय-पितृ-मित्र तातं श्रीजनकं पश्यन् कथं न विदीर्णो भवामि ? अथवा रामेण किं दुष्करमस्ति ? भाग्यहीनो रामः सर्वमपि सोढुं शक्नोति । महावैशसे = सीतापरित्यागरूपायां हिंसायां सम्पन्नायामपराधिना मया कथमिवैतेषांदर्शनं कर्त्तव्यमिति भावः ।

अत्रार्थापत्तिरलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः । प्रसादो, माधुर्यं वा गुणः । वैदर्भी रीतिः ॥४०॥

टिप्पणी

(१) पाठा०,—···ज्येष्ठैः—'जुष्टैः' ।···मङ्गलविधौ—'मङ्गलमहे' । सङ्गमम्—'सङ्गतम्' । 'पश्यन्नीदृशमीदृशः'—'पश्यन्तीदृशमीदृशे' । (२) सम्बन्धस्पृहणीयता···—तुलना कीजिए—

'जनकानां रघूनां च सम्बन्धः कस्य न प्रियः ! (उत्त०, १|२७)

(३) दीर्ये—√दृ+लट् ए उ० पु० एक वचन। कर्म्म तर्त्ता में। (४) "रामेण किं दुष्करम्" तुलना किजिए— 'रामोऽस्मि सर्वं सहे ।'

अनुक्ते कर्त्ता में तृतीया, 'न लोकाव्ययनिष्ठा खलर्थतृणाम्' सें षष्ठी को निषेध हो जाने से ।

(नेपथ्ये)

भो भोः! कष्टम् ।

अनुभावमात्रसमवस्थितश्रियं सहसैव वीक्ष्य रघुनाथमीदृशम् ।

प्रथमप्रबुद्धजनकप्रबोधिता, विधुराः प्रमोहमुपयान्ति मातरः ॥४१॥

[अन्वयः—अनुभावमात्रसमवस्थितश्रियम् ईदृशं, रघुनाथं, सहसा, एवं वीक्ष्य, प्रथमप्रबुद्धजनकप्रबोधिताः, मातरः, विधुराः प्रमोहम् उपयान्ति ॥४१॥]

रामः—

जनकानां रघूणां च, यत्कृत्स्नं गोत्रमङ्गलम् ।
तत्राप्यकरुणे पापे, वृथा वः करुणामयी ॥४२॥

यावत्संभावयामि ।(इत्युत्तिष्ठति ।)

कुशलवौ—इत इतस्तातः ।

(सकरुणं परिक्रम्य निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति महाकविभवभूतिविरचित उत्तररामचरिते
"कुमारप्रत्यभिज्ञानो" नाम षष्ठोऽङ्कः ।

हिन्दी—

(नेपथ्य में)

ओह ! कष्ट है ।

[श्लोक ४१]—केवल प्रभाव-मात्र से ही शोभा-सम्पन्न, (ढांचा मात्र रहने वाले) रामचन्द्रजी को अप्रत्याशित रूप से देखकर पहले प्रकृतिस्थ हुए (होश में आए हुए) जनक से (बार-बार) जगाई जाने पर भी राम-माताएँ मूर्छित हो रही हैं [अर्थात् रामचन्द्र जी ऐसे को दुर्बल वेश में देखकर एकदम ये सब मूर्छित हो गये, परन्तु कुछ समय पश्चात् जनक रानियों से पहले ही सचेत हो गए। इस समय वे महारानियों की चेतना लौटाने का भरसक प्रयत्न कर रहे हैं, परन्तु इसका कोई परिणाम दिखलाई नहीं पड़ रहा है ।]

राम—[श्लोक४२]—जो 'रघु' और 'जनक' दोनों वंशों के लिए मंगल स्वरूपिणी थी, उस पर भी निर्दय होने वाले मुझ अधम पर आप लोगों की दया व्यर्थ है ॥४२॥

तो तब तक मैं इनका स्वागत करता हूँ । [उठते है]

कुश-लव—पिताजी ! इधर से । इधर से ।

[शोकपूर्वक घूमकर सब चले जाते हैं ।]

महाकवि भवभूति विरचित उत्तररामचरित का कुमारप्रत्यभिज्ञान नामक षष्ठ अङ्क समाप्त ।

संस्कृत-व्याख्या

पुनर्नेपथ्ये राम-मातरो मोहं गताः, इति निर्दिशति—अनुभावेति ।}

केवलं प्रभावमात्रेण यस्मिन् शोभा विद्यते, शुष्कशरीरम्, एवं दशाकीर्णरामं वीक्ष्य जनको राममातरश्च सर्वेऽप्यमी मोहं न जहति विधुरा राम-मातर इति । शोक-बाहुल्यं तासां सूच्यते । मञ्जुभाषिणी च्छन्दः ॥४१॥

सर्वानपि शोकाकुलानुद्दिश्य कथयति रामः जनकानामिति ।

यत् सीतारूपं वस्तु जनकानां रघूञ्च वंशस्य सम्पूर्ण मङ्गलमासीत्, या सीता वंशद्वयस्य मंगलमयी आसीत्, तत्राप्यकरुणे रामे मयि भो महानुभावः ।

सर्वेषां भवतां करुणा वृथास्ते। पापे घृणा समुचिता, न तु करुणा। अहन्तु तामपापां-मपि घातितवानिति सपापोऽस्मीति भावः।

अत्र काव्यलिङ्गालङ्कारः ॥४२॥

आस्तां तावत् गत्वा स्वयमेतेषां सत्कारं करोमीत्याह—यावदिति। सम्भाव-यामि सत्करोमि। प्रणामादिना यथायोग्य सत्कारं सर्वेषां करोमिति यावत्।

इति सकरुणं भ्रमणं विधाय सर्वेऽपि निष्क्रान्ताः।

कुमारेति। अस्मिन्नाङ्के कुमारयोः कुशलवयोरुभयोरपि प्रत्यभिज्ञानम् = परिचयो वर्णितः इत्येतन्नाम कृतमिति।

इति उत्तररामचरितस्य 'श्री प्रियम्वदा'ख्य' टीकायां 'कुमारप्रत्यभिज्ञान' नाम षष्ठोऽङ्कः पर्यवसन्नः ॥६॥

टिप्पणी

[श्लोक ४१]—१. अनुभावमात्रसमवस्थितश्रियम्—पाठ०, 'अनुभाव-मात्रसमुपस्थितश्रियम् अनुभावः एवं अनुभावमात्रम् तस्मिन् समवस्थिता श्रीः यस्य तम्। २. प्रथमप्रबुद्धजनकप्रबोधिताः—प्रथमप्रबुद्धेन कौसतयाद्यपेक्षया पूर्वोत्पन्नप्रत्यभिज्ञापकेन जनकेन प्रबोधितः प्रत्यभिज्ञापिताः मातरः।'

पाठ०,—'प्रथमप्रमूढजनकप्रबोधनात्' प्रथमं प्रमूढः जनकः तस्य प्रबोधनात्।

(२) [श्लोक ४२] तत्राप्यकरुणे—'पाठा० 'तस्मिन्नकरुणे'। (३) यावत्स-म्भावयामि प्रावत्पुरानिपातयोर्लट्' (पा० ३/३४) से भविष्यत् अर्थ में लट्। (४) कुमारप्रत्यभिज्ञानः—कुमारयोः प्रत्यभिज्ञानं यस्मिन् सः विशेष देखिए—'नाटकीय महत्त्व अङ्क ६।

श्री 'प्रियम्वदा' टीकालङ्कृत 'उत्तररामचरित-नाटक के "कुमारप्रत्यभिज्ञान" नामक छठे अङ्क का सटिप्पण हिन्दी-अनुवाद समाप्त ॥

———

सप्तम अंक
(सम्मेलन)

"मन्थादिव क्षुभ्यति गाङ्गमम्भो, व्याप्तञ्च देवर्षिभिरन्तरिक्षम् ।
आश्चर्यमार्या सह देवताभ्यां, गङ्गामहीभ्यां सलिलादुपैति ॥"

सप्तम अङ्क की विश्लेषणात्मक कथा-वस्तु—

विश्लेषण की दृष्टि से सप्तम अङ्क की कथा को निम्नलिखित सात भाग में विभक्त किया जा सकता है—

(क) लक्ष्मण की उक्ति; (ख) राम और लक्ष्मण; (ग) गर्भाङ्क नाटक; (घ) नेपथ्य और लक्ष्मण; (ङ) अरुन्धती सीता और राम; (च) अरुन्धती; (छ) वाल्मीकि तथा अन्य ।

(क) लक्ष्मण की उक्ति

[स्थान—गङ्गा तट पर आतोद्य-स्थान]

अङ्क के आरम्भ में लक्ष्मण प्रविष्ट होते हैं । उनकी उक्तियाँ ये सूचना देती हैं—

(१) वाल्मीकि जी ने लक्ष्मण आदि के साथ ब्राह्मण, क्षत्रीय, नागरिक देश-वासीजन, प्रजा, दैत्य, नाग स्थावर जङ्गमात्मक प्राणिसमूह सभी को अपने प्रभाव से एकत्रित कर लिया है ।

(२) इनका एकत्रीकरण करुणाद्भुत रस वाली किसी (गर्भाङ्क में प्रदर्शित) कृति का प्रदर्शन करने के लिये किया गया है । अतएव रामचन्द्रजी की आज्ञा है कि लक्ष्मण गङ्गातट पर आतोद्य-स्थान में पहुँचकर समाज का सन्निवेश करलें ।

(३) यह कृति अप्सराओं द्वारा प्रदर्शित की जाएगी ।

(४) रामचन्द्रजी आतोद्यस्थान की ओर ही आ रहे हैं ।

(ख) राम और लक्ष्मण

[स्थान—पूर्वोक्त]

राम प्रविष्ट होकर लक्ष्मण के साथ समाज संन्निवेशविषयक वार्तालाप करते हैं । दोनों की उक्तियाँ अधोनिर्दिष्ट सूचना देती हैं—

(१) नाटच-स्थान में सामाजिक उपस्थित हो चुके हैं ।

(२) लव और कुश का चन्द्रकेतु के साथ ही बैठने का प्रबन्ध किया गया है । दोनों बैठ जाते हैं, गर्भाङ्क नाटक आरम्भ हो जाता है ।

(ग) गर्भाङ्क नाटक

सूत्रधार उपस्थित होकर सामाजिकों से करुणाद्भुतरसमय नाटक को दत्ताव-धान होकर देखने के लिए कहता है। (गर्भाङ्क से सम्बन्ध रखने वाले) नेपथ्य में परित्यक्ता सीता विलाप करती हैं। सूत्रधार सूचना देता है कि सीताजी ने अपने शरार को गङ्गा के प्रवाह में प्रक्षिप्त कर दिया है। [राम की व्याकुलता, लक्ष्मण का उन्हें समझाना तदनन्तर एक-एक बालक को अङ्क में लिये हुए दो देवियों द्वारा संभाली गई मूर्च्छितावस्था में सीताजी रङ्गमञ्च पर आती है। [राम की व्याकुलता] दोनों देवियाँ सीता को आश्वस्त करती हुई उनसें कहती हैं कि 'सीते ! तुमने रघुवंश को धारण करने वाले दो कुमारों को जन्म दिया है'। इससे सीता रामचन्द्रजी का स्मरण करती हुई दुःखी होती है। [लक्ष्मण की प्रसन्नता और राम की मूर्च्छा] देवियाँ सीताजी को आश्वासन देती हैं और सीता के प्रश्न करने पर अपना परिचय देती हैं कि वे दोनों गङ्गा और पृथिवी हैं। गङ्गा उनको चरित्रोचित कल्याण सम्पत्ति का आशीर्वाद देती है। [लक्ष्मण का प्रसन्न होना] सीता की माता पृथिवी सीता से आलिङ्गन करती हैं। दोनों मूर्च्छित हो जाती हैं। [राम और लक्ष्मण का गंगा और पृथ्वी के उक्त अनुग्रह पर प्रसन्न होना, किन्तु उनकी मूर्च्छा से दुःखी होना।] भागीरथी दोनों को आश्वस्त करती है। पृथ्वी आश्वस्त होकर राम द्वारा परित्याग दुःसहता का कथन करती हैं, गङ्गा संतोष देने का प्रयत्न करती हैं। सीता के अपने आर्यपुत्र राम का स्मरण करने पर पृथिवी राम के प्रति आक्रोश प्रकट करती हैं। [राम द्वारा उक्त आक्रोश की यथार्थता] इस पर गङ्गा पृथ्वी को समझाती है कि राम ने यह कार्य केवल लोकाराधन के लिए ही किया है अतः वे क्रोध के पात्र नहीं हैं। [लक्ष्मण द्वारा उक्त कथन का समर्थन] इस पर गङ्गा पृथ्वी को प्रणाम करती हैं, गङ्गा राम की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालती हैं [राम द्वारा उक्त कथन की यथार्थता तथा प्रशंसा करना यह सुनकर सीता रो उठती हैं और पृथ्वी के अंगों में विलीन हो जाना चाहती हैं, किन्तु गंगा उनको हजारों वर्ष तक जीवित रहने का आशीर्वाद देती हैं और पृथ्वी उनसे उनके पुत्रों का स्तन्य त्याग पर्यन्त पालन करने के लिए कहती हैं। सीताजी अपने पुत्रों को अनाथ समझती हुई निराश हो उठती हैं। [राम द्वारा अपने हृदय को 'वज्र' कहकर निन्दा करना] और स्वंय को भाग्य-हीना कहती हैं। किन्तु गङ्गा और पृथ्वी उनको जगत् को पवित्र करने वाली सिद्ध करती हैं तथा उनके सम्पर्क से स्वयं को पवित्र समझती हैं [लक्ष्मण द्वारा राम से उक्त संदेश सुनने के लिए कहना, राम द्वारा "मैं क्या सुनूँ लोक सुने" यह उत्तर देना।]

इसी बीच नेपथ्य में कल-कल सुनाई पड़ता है। [राम का औत्सुक्य] अन्तरिक्ष दीप्त हो उठता है, सीता प्रश्न करती हैं, देवियाँ बताती हैं कि ये जृम्भकास्त्र-प्रकट हो रहे हैं। नेपथ्य में जृम्भकास्त्र सीताजी को प्रणाम करते हैं और चित्रदर्शन-काल में प्रदत्त राम की आज्ञा से सीता की सन्तान् को प्राप्त होते हैं। सीता उनके

आगमन का "आर्यपुत्र का प्रसाद" कहकर अभिनन्दन करती हैं। [लक्ष्मण द्वारा चित्रदर्शन काल में "सर्वथा त्वत्प्रतिमुपस्थास्यन्ति" वाक्य का स्मरण करना।] दोनों देवियाँ अस्त्रों को प्रणाम करती हैं और लव तथा कुश द्वारा स्मरण किये जाने पर उपस्थित होने की प्रार्थना करती हैं। [राम की अनिर्वचनीय स्थिति] और दोनों बालकों के रामभद्र के तुल्य पराक्रमशालिता की सूचना देती है। सीताजी बालकों के क्षत्रियोचित संस्कार कराने वाले आचार्य के विषय में चिन्तित हैं। [सीता-पुत्रों के आचार्य के अभाव से राम का कष्ट।] गङ्गा इनको स्तन्यत्याग के अनन्तर वाल्मीकि ऋषि के समीप पहुँचा देने का विचार प्रस्तुत करती हैं। [राम द्वारा उक्त कथन की प्रशंसा, लक्ष्मण का लवकुश के विषय में सीता-पुत्र होने का निश्चय, राम का मूर्छित होना।] इसी बीच पृथ्वी सीता से रसातल को पवित्र करने के लिए कहती है, सीताजी भी जीवलोक द्वारा किये गये अपने तिरस्कार को न सहती हुई पृथ्वी में विलीन हो जाना चाहती हैं। [लक्ष्मण द्वारा उत्तर की प्रतीक्षा] पृथ्वी सीताजी से पुत्रों के स्तन्य-त्याग तक ऐसा करने का निषेध करती हैं, गङ्गा भी इसका समर्थन करती है। सीता और दोनों देवियाँ निकल जाती हैं। [राम का मूर्च्छित होना, लक्ष्मण का परित्राण के लिए वाल्मीकि का सम्बोधन।] (गर्भाङ्क समाप्त हो जाता है।)

(घ) नेपथ्य और लक्ष्मण

[स्थान—पूर्वोक्त]

इसी समय नेपथ्य से आतोद्य समाप्ति का आदेश सुनाई देता है। स्थावर जङ्गम, प्राणि वर्ग और देवता तथा मनुष्यों से वाल्मीकि ऋषि से आदिष्ट आश्चर्य को देखने की सूचना मिलती है। केवल लक्ष्मण गङ्गा और पृथ्वी के साथ गङ्गाजल से निकलती हुई सीताजी को देखते हैं। गङ्गा और पृथ्वी नेपथ्य में पहुँचकर सीताजी को अरुन्धती को समर्पित कर देती हैं। इस पर लक्ष्मण आश्चर्य युक्त होते हैं, किन्तु रामचन्द्रजी की मूर्छा बनी ही रहती है।

(ङ) अरुन्धती, सीता और राम

[स्थान—पूर्वोक्त]

तदनन्तर अरुन्धती के साथ सीताजी प्रविष्ट होती हैं, और सीता जी से मूर्च्छित रामचन्द्रजी को जीवित (स्वस्थ) करने के लिए कहती हैं, सीता राम का स्पर्श करती हैं, राम आश्वस्त हो जाते हैं और सीता को देखकर प्रसन्न तथा अरुन्धती को देखकर लज्जित एवं ऋष्यशृंग आदि ऋषियों की उपस्थिति से उत्सुक होते हैं। इसी समय नेपथ्य से पृथ्वी का कथन सुनाई देता है, जिससे यह सूचना मिलती है—

(१) पृथ्वी ने 'चित्र-दर्शन' के समय रामचन्द्रजी के "सा त्वमम्ब स्नुषायामरुन्धतीव सीतायां शिवानुध्यानापरा भव" एवं सीता परित्याग के अवसर पर "भगवति वसुन्धरे! सुश्लाघ्यां दुहितरमवेक्षस्व जानकीम्" वाक्यों का पालन कर दिया है।

(च) अरुन्धती

[स्थान—पूर्वोक्त]

इसी समय अरुन्धती (१) पौरजानपदों को सम्बोधन कर सीता की स्वीकृति के विषय में उनका मत लेती है। लक्ष्मण सबकी स्वीकृति की सूचना देते हैं। (२) फिर वे रामचन्द्रजी से सीताजी को स्वर्णमूर्ति के स्थान पर पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए कहते हैं, राम स्वीकृति दे देते हैं। लक्ष्मण कृतकृत्य हो जाते हैं, सीता पुनर्जीवन-सा प्राप्त कर लेती हैं, लक्ष्मण प्रणाम करते हैं, सीता आशीर्वाद देती हैं। अरुन्धती वाल्मीकि जी से कुश-लव को रामचन्द्रजी को समर्पित करने को कहने के लिए निकल जाती हैं।

(छ) वाल्मीकि तथा अन्य

वाल्मीकि ऋषि कुश और लव के साथ प्रविष्ट होते हैं। वे उनसे राम, लक्ष्मण, सीता, जनक का परिचय कराते हैं। लव और कुश आश्चर्यचकित हैं, राम, लक्ष्मण, सीता उनसे क्रमशः आलिङ्गन करते हैं, वाल्मीकि सीताजी को आशीर्वाद देते हैं। नेपथ्य में शत्रुघ्न के आने की सूचना मिलती है। रामचन्द्रजी, 'भरतवाक्य' के रूप में अभीष्ट प्रार्थना करते हैं। अङ्क समाप्त हो जाता है।

सप्तम अङ्क का नाटकीय महत्त्व

(क) गर्भाङ्क

यद्यपि तृतीय अङ्क में मुरला और तमसा की उक्तियों द्वारा दर्शक (या पाठक) को परित्याग के अनन्तर सीतादेवी की दयनीय दशा का पता चल जाता है, तथापि उस परित्याग में कारण बना हुआ लोक एवं परित्याग करने वाले राम उनकी उस दशा से नितान्त अनभिज्ञ हैं। लोक की सहानुभूति के विना राम सीता को पुनः स्वीकार ही नहीं कर सकते हैं। उक्त स्थिति का समाधान करने के लिए कवि ने सप्तम अङ्क में गर्भाङ्क नाटक की अवतारणा की है। इसे दृश्य के द्वारा ही सीताजी लोक की सहानुभूति अर्जित करती हैं, रामचन्द्रजी भी अपनी भूल स्वीकार करते हैं, तथा अरुन्धती के आदेशानुसार सीता को पुनः स्वीकार कर लेते हैं। सीता की स्वीकृति का यही प्रकार मनोवैज्ञानिक तथा नाटकीय दृष्टि से औत्सुक्यवर्धक है।

(ख) नाटक का सप्तम अङ्क

कवि ने नाटक के आदिम अङ्क में यदि चित्रवीथी के माध्यम से रामचन्द्रजी का पूर्वचरित प्रदर्शित किया है तो चरम अङ्क में 'गर्भाङ्क'-के माध्यम से उनके उत्तर चरित्र की ओर प्रकाश डाला है। कहना न होगा कि उत्तररामचरित का अन्तिम अङ्क ही अधिकांश में सम्पूर्ण नाटक की कथावस्तु को उपस्थित कर रहा है। नाटक के तृतीय अङ्क का छाया चित्र सप्तम अङ्क में वास्तविक रूप धारण कर लेता है। उक्त घटना यदि तृतीय अङ्क में स्वप्न थी तो इस अङ्क में जागरण; यदि वहाँ कल्पना थी

तो यहाँ प्रत्यक्ष; यदि वहाँ चित्र की एक प्रच्छन्न रेखा थी तो यहाँ उभरा हुआ मनोहर दृश्य। अधिक क्या, कवि ने उक्त घटना को तृतीय अङ्क में चित्त में निवेशित कर सप्तम अङ्क में सत्व योग से परिकल्पित-सा कर दिया है।

नाटक का आरम्भ राजमहलों के दृश्यों से होता है और समाप्ति महर्षि वाल्मीकि के पवित्र आश्रम के गंगातट पर। आरम्भ में यदि दुर्मुख की सूचना से देवी सीता का परित्याग है तो अन्तिम दृश्य में पवित्र-चरित्र अरुन्धती के आदेश से उनकी स्वीकृति। दुर्मुख का प्रेरक यदि लोक है तो अरुन्धती के भगवान् वाल्मीकि। यदि प्रथम अङ्क में बालक, नवीन राज्य के अधिकारी, यशोधन, राम के मस्तिष्क में वसिष्ठ जी का "युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्याः" (अङ्क १/११) वाक्य हलचल मचा रहा है तो सप्तम में उन्हीं जगत्पति रामभद्र को देवी अरुन्धती का 'नियोजय यथाधर्मं प्रियां त्वं धर्मचारिणीम्'। "हिरण्मय्याः प्रतिकृतेः पुण्यां प्रकृतिमध्वरे।" (अङ्क ७/२०) आदेश शान्ति दे रहा है। प्रथम वाक्य का प्रभाव यदि त्याग है तो दूसरे का प्राप्ति। लक्ष्मण को कृतार्थ होने का और सीता को प्रत्युज्जीवन प्राप्त करने का अवसर सौभाग्य से यहीं प्राप्त होता है।

(ग) अङ्क समाप्ति

अङ्क की समाप्ति से स्पष्ट है कि नाटक करुण विप्रलम्भ रस का है। इसके नायक तथा नायिका दोनों जीवित हैं तथा अन्त में मिल जाते हैं।

संस्कृत साहित्य में सुखान्त नाटकों की परम्परा है। उक्त नाटक भी सुखान्त ही है।

(घ) अङ्क का नाम

बारह वर्ष के अनन्तर वियुक्त दो हृदयों के सम्मेलन के कारण कवि ने इस अङ्क का नाम 'सम्मेलन अङ्क' रखा है। राम और सीता के अतिरिक्त उनके सूत्रों लव और कुश के साथ-साथ जनक-प्रभृति भी उपस्थित हैं, अतः अङ्क का नाम सम्मेलन उचित ही है। फैले हुए नाटकीय कथासूत्र भी यहीं पर मिलते हैं। यह अङ्क वाल्मीकीय रामायण के कथाभाग तथा कवि की कल्पना का भी उपयुक्त सम्मेलन है। यहाँ हर्ष, औत्सुक्य आदि अनेक भावो का भी सुन्दर सम्मेलन है। फिर भी कवि ने सबके सम्मेलन के साथ-साथ भरत का सम्मेलन नहीं दिखलाया है। बारह वर्ष के अनन्तर जब शत्रुघ्न लवण का संहार कर उक्त अवसर पर उपस्थित होते हैं, उस समय भरत का न मिलाना एक प्रश्नवाचक चिह्न बना रहता है।

सप्तमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति लक्ष्मणः)

लक्ष्मणः—भोः, किं नु खलु भगवता वाल्मीकिना सब्रह्मक्षत्रपौराजानपदाः प्रजाः सहस्माभिराहूय कृत्स्न एव सदेवासुरतिर्यङ्निकायः सचराचरो भूतग्रामः स्वप्रभावेण संनिधापितः? आदिष्टश्चाहमार्येण—वत्स लक्ष्मण! भगवता वाल्मीकिना स्वकृतिमप्सरोभिः प्रयुज्यमानां द्रष्टुमुपनिमन्त्रिताः स्म। तद् गङ्गातीरमातोद्यस्थानमुपगम्य क्रियतां समाजसन्निवेशः' इति। कृतश्च मर्त्यामर्त्यस्य भूतग्रामस्य समुचितस्थानसन्निवेशो मया। अयं तु—

राज्याश्रमनिवासोऽपि प्राप्तकष्टमुनिव्रतः।
वाल्मीकिगौरवादत्र, इत एवाभिवर्तते ॥१॥

हिन्दी—

(तदनन्तर लक्ष्मण प्रवेश करते हैं)

लक्ष्मण—अरे! क्या भगवान् वाल्मीकि ने हमारे साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, नागरिक और ग्रामवासियों सहित सब प्रजा को बुलाकर सुर, असुर, तिर्यक् योनियों के जीव, स्थावर और जङ्गम सभी प्राणी-समूह को अपने प्रभाव से एकत्रित कर लिया है? आर्य (श्री रामचन्द्र जी) ने मुझे आज्ञा दी है कि 'वत्स लक्ष्मण!' भगवान् वाल्मीकि ने अप्सराओं से अभिनीत की जाने वाली अपनी रचना (नाटक) को देखने के लिये हमको निमन्त्रित किया है। अतः गङ्गा तट पर (बनी हुई) रङ्गशाला में जाकर समाज को बैठाने का समुचित प्रबन्ध करो।' मैंने भी मर्त्य तथा अमर्त्य (देवता आदि) प्राणी-समूह का यथायोग्य स्थान-विभाग कर दिया है। ये—

[श्लोक १]—(राज्याश्रम में रहते हुए भी मुनियों का-सा) कठोर व्रत पालन करने वाले वाल्मीकि के प्रति गौरव-बुद्धि से इधर ही आ रहे हैं।

संस्कृत-व्याख्या

सर्वातिशायि सौन्दर्यसम्पन्नं सप्तममङ्कं प्रारभते तत्र भवान् महाकविर्भवभूतिः नाटके नवीननाटकाभिनयः कवयितुरस्य प्रतिभा-वैचित्र्यमुद्घोषयति। अङ्केऽस्मिन् सीतायाः सम्प्राप्तिर्देवता-प्रसादाद्भवतीति कविकल्पनाया महत्त्वमभिनन्दनीयम्।

तत्रादौ लक्ष्मणः प्रविश्य कथयति—भोः, किन्नु—इति। किमर्थं वयं भगवता वाल्मीकिना समाहूताः? सर्वे ऋषिगणाश्च? आदिष्टश्चाहमार्येण भगवता रामेण-

यद्भगवान् वाल्मीकिः स्वकीयां कृतिमप्सरोभिः प्रयुज्यमानां दर्शयितुमस्मानाहूतवान् । अतो गङ्गातीरं गत्वा आतोद्यस्थानम् = चतुर्विधवाद्यगायनादियुक्तं स्थानमुपेत्य समाजस्य सन्निवेशः क्रियताम् । मया च तत्सर्वं साधु सम्पादितम् स्वकीयं कार्यम् ।

इदानीं रामस्यागमनं सूचयति —राज्येति । अयं महाराजो रामः राज्यमेवाश्रमस्तत्र स्थितोऽपि मुनिवत् कष्ट-व्रतपालनेन शिथिलाङ्गोऽपि भगवतो वाल्मीकेर्गौरवात् इत एवायाति । अत्र विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥१॥

टिप्पणी

(१) उत्तररामचरितम् का सप्तम अङ्क वहुत ही महत्वपूर्ण हैं । इसमें कवि ने उस कारुणिक कथा को सुखान्त बना दिया है । 'करुणा' की अजस्र धारा एवं 'अद्भुत' रस का सर्वातिशायी उत्कर्ष स्थल-स्थल पर दिखाई देता है । नाटक के अन्दर दूसरा नाटक दिखलाकर कथा का सुखमय अन्त करना कवि की अलौकिक प्रतिभा का परिचायक है । संक्षेप में—नाटक को सफल वनाने में सातवें अङ्क का महत्व असिनन्दनीय है । (२) पाठान्तर—भोः, किं न खलु—'भो भो अद्य खलु' । प्रजाः—'प्रजाः सर्वाः' । सदेवासुरपतिर्यङ्निकायः—सदेवासुरतिर्यगुरगनायकनिकायः । सचराचरः—'जङ्गमः स्थावरश्च' । द्रष्टुमुपनिमन्त्रिताः—'द्रष्टुमुपनियन्त्रिताः' । तद्गङ्गातीरमातोद्यस्थानम्—'तद्भागीरथीतीरमनेकस्थानम्, तीरमनोज्ञस्थानम्' । समुचितस्थानसंनिवेशः—···स्थानसर्गः; स्थानेषु समुपवेशसङ्गः; कृतं स्थानेषु समुपवेशनम् । (३) सब्रह्मक्षत्रपौरजानपदाः—ब्रह्म (ब्राह्मणाः) च क्षत्रं (क्षत्रियाः) च पौराश्च जानपादश्च तैः सह । (४) निकायः—निचीयते अस्मिन्निति नि + √चि + घञ् अधिकरणे = निकायः । पशूनां समजोन्येषां समाजोऽथ सधर्मिणाम् । 'स्यान्निकायः' इत्यमरः । (५) भूतग्रामः—भूतानां समूह इति भूत + ग्रामच् = भूतग्रामः । 'गुणादिभ्यो ग्रामच् वक्तव्यः । अथवा ग्राम को प्रातिपदिक माना जा सकता है । भूतानां ग्रामः (षष्ठी तत्पु०), भूतग्रामः 'शब्दादिपूर्वो वृन्देऽपि ग्रामः' इति हेमः । (६) आतोद्यस्थानम्—आ सम्यक् तुद्यते ताडयते इति आ + √तुद् + ण्यत् कर्मणि = आतोद्यम् (वाद्यम्), तस्य स्थानम् यहाँ इस शब्द का प्रयोग रङ्गशाला के अर्थ में है । रङ्गशाला में बाजे बजते ही हैं जिन्हें चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) तन्तुवाद्य—वीणा आदि, (२) पीटकर बजाये जाने वाले—नगाड़े आदि । (३) फूंक मार कर बजाये जाने वाले—बाँसुरी, बीन आदि एवं (४) परस्पर मिलाकर बजाये जाने वाले—मंजीरे आदि । गङ्गातीर पर रङ्गशाला बनाने के अभिप्राय को घनश्याम ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—'आतोद्यस्य स्थानम् आस्पदम् तत्तीरस्य प्रशस्तशीतलपावनत्वादिति त्व (त ?) दन्तरालस्य परित्यक्तसीताधिष्ठानत्वादिति च भावः । अत एव सीतादेवी प्राप्तप्रसववेदना आत्मानमतिदुःखसंवेगात् गङ्गाप्रवाहे निक्षिप्तवती इति तृतीयाङ्कविष्कम्भे तमसयोक्तम् । सलिलादुपैति इत्यग्रे लक्ष्मणवचसा स्फुटीभविष्यति चेति दिक् ।'

वीरराघव ने भी लिखा है—'सीताया गङ्गाया जलायुदुद्गमनसौकर्याय गङ्गातीरस्य रङ्गत्वकल्पनम् ।

(७) [श्लोक १] राज्याश्रमनिवासोऽपि—पाठा०, 'राज्याश्रमनिवासेऽपि' ।

(ततः प्रविशति रामः ।)

रामः—वत्स लक्ष्मण ! अपि स्थिता रङ्गप्राश्निकाः ?

लक्ष्मणः—अथ किम् ।

रामः—इमौ पुनर्वत्सौ कुमारचन्द्रकेतुसमां प्रतिपत्तिं लम्भयितव्यौ ।

लक्ष्मणः—प्रभुस्नेहप्रत्ययात्तथैव कृतम् । इदं चास्तीर्णं राजासनम् । तदुपविशत्वार्यः ।

रामः—(उपविश्य) प्रस्तूयतां भोः ।

सूत्रधारः—(प्रविश्य) भगवान्भूतार्थवादी प्राचेतसः स्थावरजङ्गमं जगदाज्ञापयति—"यदिदमस्माभिरार्षेण चक्षुषा समुद्वीक्ष्य पावनं वचनामृतं करुणाद्भुतरसं च किंचिदुपनिबद्धम् । तत्र काव्यगौरवादवधातव्यम्" इति ।

रामः—एतदुक्तं भवति—"साक्षात्कृतधर्माणो महर्षयः । तेषामृतम्भराणि भगवतां परोरजांसि प्रज्ञानानि न क्वचिद्व्याहन्यन्त इति न हि शङ्कनीयानि" ।

(नेपथ्ये)

हा अज्जउत्त ! हा कुमार लक्खण ! एआइणिं असरणं आसण्णप्पसववेअणं अरण्णे हदासं सावदा अहिलसन्दि । हा दाणिं मन्दभाइणी भईरईए अत्ताणं णिक्खिविस्सम् । [हा आर्यपुत्र ! कुमारलक्ष्मण ! एकाकिनीमशरणामासन्नप्रसववेदनामरण्ये हताशां श्वापदा अभिलषन्ति । हा, इदानीं मन्दभाग्या भागीरथ्यामात्मानं निक्षिपामि ।]

लक्ष्मणः—कष्टं बतान्यदेव किमपि ।

सूत्रधारः—

विश्वंभरात्मजा देवी, राज्ञा त्यक्ता महावने ।
प्राप्तप्रसवमात्मानं, गंगादेव्यां विमुञ्चति ॥२॥

(इति निष्क्रान्तः)

प्रस्तावना

हिन्दी—

(तदनन्तर राम प्रवेश करते हैं ।)

राम—वत्स लक्ष्मण ! सामाजिक ठीक बैठ गये ?

लक्ष्मण—जी हाँ !

राम—इन दोनों वत्सों (लव-कुश) को कुमार चन्द्रकेतु के समान (ही) सम्मानित करना चाहिये। (इन दोनों का स्वागत-सत्कार चन्द्रकेतु से घटकर न हो ऐसी व्यवस्था करना।)

लक्ष्मण—(इनके प्रति) आपके स्नेह को जानते हुए वैसा ही किया है। यह राज-सिंहासन बिछा हुआ है। आप इस पर विराजिये।

राम—(बैठकर) आरम्भ कीजिये।

सूत्रधार—(प्रवेश कर) यथार्थवादी भगवान् बाल्मीकि चराचर-जगत् को आज्ञा देते हैं कि—'जो यह हमने आर्ष दृष्टि से देखकर पवित्र, अमृतमय वचनों से युक्त तथा 'करुण' और 'अद्भुत' रस वाला 'कुछ' (नाटक बनाया है, उसमें आपको उत्तम काव्य होने के कारण ध्यान देना चाहिये। (आप लोगों को वह अलौकिक, आश्चर्यजनक, परम पवित्र नाटक बड़े ध्यान से देखना चाहिये।)

राम—ऐसा कहा जाता है।—(कि) "महर्षिगण धर्म का साक्षात्कार करने वाले होते हैं। उन महिमा-शालियों के सत्य-पूर्ण रजसातीत' विज्ञान भी कुण्ठित नहीं होते। अतः (उनमें) शङ्का नहीं करनी चाहिये। परम सात्विक महर्षिगण कभी भी मिथ्या भाषण नहीं करते। अतः उनके द्वारा रचित इस सत्य नाटक में आपको श्रद्धा-पूर्वक विश्वास करना चाहिये।

(नेपथ्य में)

हा, आर्यपुत्र ! हा कुमार लक्ष्मण ! अकेली, अशरण, प्रसव-वेदना से व्याकुल निराश मुझको (इस) भयानक जङ्गल में (व्याघ्र आदि) हिंस्र जीव (चट करना) चाह रहे हैं। हा ! अब मैं मन्दभागिनी अपने (शरीर) को गङ्गा में डालती हूँ।

लक्ष्मण—दुःख है ! यह तो कुछ और ही निकला !

सूत्रधार—[श्लोक २]—पृथ्वी की पुत्री (सीता जी) राजा (रामचन्द्र जी) के द्वारा भीषण वन में परित्यक्त होने पर प्रसव-वेदना से व्याकुल होकर अपने को गङ्गा जी में डाल रहीं हैं। [चला जाता है।]

प्रस्तावना।

संस्कृत-व्याख्या

रङ्गप्राश्निकेषु=सामाजिकेषु, समागत्य, यथास्थानं स्थितेषु चन्द्रकेतुतुल्यं सत्कारं प्रापितयोश्च कुशलवयोः सिंहासनासीने च महाराजे रामे तदादेशात् सूत्रधारः प्रविश्य कथयति—भगवानिति। भूतार्थवादी=यथार्थवादी। स्थावराः=स्थितिशीलाः =वृक्षपर्वतादयः। जंगमाः=गमनशीलाः=मानवादयः। उपनिबद्धम्=ग्रथितम् रचितमिति यावत्। काव्यस्य गौरवात्=उत्तमं काव्यमिति धिया=अवधातव्यम्= सावधानतया व्यवहर्तव्यम्।

शेषं सुगमम् ।

सूत्रधारवचनस्य स्पष्टीकरणं करोति रामः—एतदिति । सूत्रधारकथनस्यायमाशयः—'महर्षयः साक्षात्कृतो धर्मो यैस्तादृशा भवन्ति । तेषां महात्मनां ऋतम्भराणि =सत्यपूर्णानि परोरजांसि—रजोगुणरहितानि, प्रज्ञानानि = विज्ञानानि, क्वचिदपि न बाध्यन्ते । सत्वगुणसम्पन्नाः साक्षात्कृतधर्माणो महर्षयो नहि मिथ्या किमपि वदन्ति, अतो यत् किमपि तेन महात्मनोपनिबद्धम्, तत्रार्षप्रबन्धे सर्वथा श्रद्धालुभिः प्रेक्षकैर्भवितव्यमिति भावः ।

सीता—परिवेदनान्तरं सूत्रधारः प्राह—विश्वम्भरेति ।

पृथिव्याः, पुत्री, देवीसीता, राज्ञा, महावने, परित्यक्ता, सती, प्रसव-वेदनयाऽऽत्मानं, गङ्गादेव्यां, निपातयति ॥२॥

इत्युक्त्वा निर्गतः ।

इत्येवं 'प्रस्तावना' समाप्ता । प्रस्तावनालक्षणादिकं पूर्वं नाटकस्य प्रस्तावनायामुक्तम् ।

टिप्पणी

(१) रङ्गप्राश्निकाः—पाठा०, 'रङ्गप्रेक्षकाः' । रज्यन्ते जना अस्मिन् इति √रञ्ज् + घञ् अधिकरणे रङ्गः=नृत्यम् । यहाँ नृत्य समस्त अभिनय कर्म का उपलक्षण है । 'नृत्य रणे खले रागे रङ्गः क्लीबेऽत्रपुण्यपि' इति त्रिकाण्डशेषः । रङ्गस्य प्राश्निकाः इति रङ्गप्राश्निकाः । प्रश्नमर्हतीति प्रश्न + ठञ् = प्राश्निकः । 'तदर्हति' (पा० ५/१/६) इति ठञ् ।

'रङ्गप्राश्निका' का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए वीरराघव ने लिखा है—

'रङ्गस्य नाट्यस्थानस्य सामाजिकाः । रङ्गस्थले राज्ञा सह द्रष्टार इत्यर्थः प्रश्नं ज्ञातव्यार्थजिज्ञासामर्हन्तीति प्राश्निकाः । तदर्हाधिकारीयष्ठञ् । समस्तशास्त्रनिष्णातहृदया इति, भावः ।"

(२) इदं चास्तीर्णं राजासनम्—यह वास्तविक राजसिंहासन नहीं था अपितु वहाँ एक विशिष्ट आस्तरणादि युक्त स्थान था । घनश्याम ने इस शब्द के प्रयोग पर आपत्ति की है—"राजासनमास्तीर्णमिति कवेरिव कस्य न व्याकर्त्तुरचातुर्यम् । नृपासनं यत्तद्भद्रासनं च तत् इत्यमरसिंहेनाभिहिततया, सिंहासनस्यास्तरणत्वासंभवात् । न च वाच्यमास्तरणोचितमन्यदासनं भवत्विति । तर्हि सभानायकस्य जगत्पते इति गङ्गया वक्ष्यमाणे वचसि चास्वररसापत्तेः । तस्माद्वटतरुमूलगुरुव्याख्तानमेव शरणमिति दिक् ।"

किन्तु वीरराघव ने कवि की यहाँ रक्षा की है—

"तस्मादिदं चास्तीर्णं राजासनं सिंहासनस्यास्तीर्णासंभवेऽपि अन्यत्तद्योग्यमासनमास्तीर्णमिति मन्तव्यम् । कृत्स्न एव सदेवासुरेति ब्रह्मेन्द्रादीनामपि तत्र सन्निधापिनत्त्वोक्त्वा तदैकरूप्याय सिंहासनातिरेकेणास्तीर्णार्हासनस्येव युक्तत्त्वात् । एतेनात्र कवेः प्रमादवचनं प्रत्युक्तम् ।"

(३) सूत्रधारः—यह गर्भनाटक का सूत्रधार है, मूल नाटक का नहीं। गर्भाङ्क का लक्षण यह है—

"अङ्कोदरप्रविष्टो यो रंगद्वारसुखादिमान्।
अङ्कोऽपरः स गर्भाङ्कः सबीजः फलवानपि॥" (सा० द०/६)

(४) भूतार्थवादी—'भूतं सत्योपमानयोः' इति हैमः। भूतः अर्थः भूतार्थः। भूतार्थ + √वद् + णिनि कर्त्तरि ताच्छील्ये भूतार्थवादी। (५) साक्षात्कृतधर्माणः—साक्षात्कृतः धर्मः यैस्ते। धर्मादनिच्केवलात्। (पा०, ५/४/१२४) इति अनिच्। धर्म्मः पुण्यः यमे न्याये स्वभावाचारयोः क्रतो' इति विश्वः।

यहाँ निरुक्त के इस वाक्य की छाया है—

"साक्षात्कृतधर्माणन् ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रापुः!"

(६) अमृतम्भराणि—यहाँ वह शब्द संज्ञा के अर्थ में है। 'संज्ञायां भृतवृजि-धारिसहितपिदमाः' (पा०, ३/२/४६)।

रामः—(सावेगम्) देवि! देवि! लक्ष्मणमवेक्षस्व।

लक्ष्मणः—आर्य! नाटकमिदम्।

रामः—हा देवि दण्डकारण्यवासप्रियसखि! एष ते रामाद्विपाकः।

लक्ष्मणः—आर्य! आश्वस्य दृश्यताम्। प्रबन्धस्त्वार्षः।

रामः—एष सज्जोऽस्मि वज्रमयः।

(ततः प्रविशति उत्सङ्गितैकैकदारकाभ्यां पृथिवीगङ्गाभ्यामलम्बिता प्रमुग्धा सीता)

रामः—वत्स! असंविज्ञातपदनिबन्धने तमसीवाहमद्य प्रविशामि, धारय माम्।

देव्यौ—

समाश्वसिहि कल्याणि! दिष्टचा वैदेहि! वर्धसे।
अन्तर्जले प्रसूतासि, रघुवंशधरौ सुतौ॥३॥

सीता—(आश्वस्य) दिट्ठआ दारए पसूदह्मि। हा अज्जउत्त! [दिष्टचा दारकौ प्रसूतास्मि। हा आर्यपुत्र।]

लक्ष्मणः—(पादयोर्निपत्य) आर्य! दिष्टचा वर्धामहे। कल्याणप्ररोहो रघुवंशः। (विलोक्य) हा कथं क्षुभितबाष्पोत्पीडनिर्भरः प्रमुग्ध एवार्यः? (वीजयति)।

देव्यौ—वत्से! समाश्वसिहि।

सीता—(समाश्वस्य) भअवदीओ ! का तुह्मे ? मुञ्चह । [भगवत्यौ ! के युवाम् ? मुञ्चतम् ।]

पृथिवी—इयं ते श्वशुरकुलदेवतां भागीरथी ।

सीता—णमो दे भअवदि ! [नमस्ते भगवति !]

भागीरथी—चारित्रोचितां कल्याणसंपदमधिगच्छ ।

लक्ष्मणः—अनुगृहीताः स्मः ।

भागीरथी—इयं ते जननी विश्वंभरा ।

सीता—हा अम्ब ! ईरिसी अहं तुए दिट्ठा ? [हा अम्ब ! ईदृश्यहं त्वया दृष्टा ?]

पृथिवी—एहि पुत्रि वत्से सीते ?

(उभे आलिङ्ग्य मूर्च्छतः)

लक्ष्मणः—(सहर्षम् ।) कथमार्या गङ्गापृथिवीभ्यामभ्युपपन्ना ?

रामः—दिष्टचा खल्वेतत् । करुणानन्तरं तु वर्तते ।

भागीरथीः—अत्रभवतीं विश्वंभरा व्यथत इति जितमपत्यस्नेहेन । यद्वा सर्वसाधारणो ह्येष मनसो मूढग्रन्थिरान्तरश्चेतनावतामुपप्लवः संसारतन्तुः । सखि भूतधात्रि ! वत्से वैदेहि ! समाश्वसिहि ।

पृथिवी—(आश्वस्य) देवि ! सीतां प्रसूय कथमाश्वसिमि ?

सोढश्चिरं राक्षसमध्यवास, स्त्यागो द्वितीयस्तु सुदुःसहोऽस्याः ।

गङ्गा—

को नाम पाकाभिमुखस्य जन्तुर्द्वाराणि दैवस्य पिधातुमीष्टे ? ॥४॥

[अन्वयः—अस्याः, चिरं, राक्षसमध्यवासः, सोढः, द्वितीयः, त्यागस्तु, सुदुःसहः (इति पूर्वार्धस्यान्वयः) को नाम जन्तुः, पाकाभिमुखस्य दैवस्य, द्वाराणि, पिधातुम्, ईष्टे ? ॥४॥]

पृथिवी—भगवति भागीरथि ! युक्तमेतत्सर्वं वो रामभद्रस्य ?

न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये, बालेन पीडितः ?
नाहं न जनको नाग्नि, र्न तु वृत्तिर्न संततिः ? ॥५॥

हिन्दी—

राम—(घबराहट से) देवि ! देवि ! लक्ष्मण का (तो) ध्यान करो।

लक्ष्मण—आर्य ! यह नाटक है । (सावधान होकर देखिए ।)

राम—हा देवि ! दण्डकारण्य-वास की प्रिय सखि ! राम से तुम्हारा ! यह (ऐसा कारुणिक) परिणाम हुआ ?

लक्ष्मण—आर्य धैर्य धारण कर देखिये। यह रचना तो ऋषि की है। (इसमें किसी प्रकार का सन्देह न कीजिए, क्योंकि अभी आप ही ने तो ऐसा कहा था।)

राम यह वज्र का बना हुआ मैं देखने के लिए तैयार हूँ। (तदनन्तर एक-एक बालक को गोदी में लिए हुए पृथ्वी और गङ्गा के द्वारा संभाली गई मूर्छित सीता का प्रवेश होता है।)

राम—वत्स! मैं, जिसमें पैर नहीं जम पा रहे हैं ऐसे गाढ़ अन्धकार में धँसा जा रहा हूँ। (मुझे अपना कुछ ज्ञान नहीं है। निराधार-सा होकर निविड़ अन्धकार में डूबा जा रहा हूँ।) मुझे सम्भालो।

दोनों देवियाँ—(पृथ्वी और गङ्गा)—

[श्लोक ३]—कल्याणि! धैर्य धारण करो। वैदेहि! सौभाग्य से बढ़ रही हो (तुम्हें बधाई है।) तुमने जल के अन्दर रघु-वंश के चलाने वाले दो पुत्रों को उत्पन्न किया है। (ये दोनों पुत्र रघु-वंश के उन्नायक होंगे, अतः तुम अधिक चिन्ता मत करो।)

सीता—(आश्वस्त होकर) सौभाग्य से मैंने दो बालकों को जन्म दिया! हा आर्यपुत्र!

लक्ष्मण—(पैरों पर गिरकर) आर्य! सौभाग्य से हम लोगों का अभ्युदय हो रहा है। रघुवंश शुभ अङ्कुर वाला है। ये (दोनों बालक रघुवंश के अङ्कुरस्वरूप है।)—(देखकर) हा! क्या क्षुब्ध आँसुओं की बाढ़ से व्याकुल 'आर्य' मूर्छित ही हो गये? [पङ्खा झलते हैं]

देवियाँ—वत्से! आश्वस्त हो!

सीता—(आश्वस्त होकर) देवियों! तुम कौन हो? मुझे छोड़ दो।

पृथ्वी—ये तुम्हारे श्वसुर-कुल की देवी गङ्गाजी हैं।

सीता—भगवति! नमस्ते।

भागीरथी—चरित्र के योग्य कल्याण-सम्पत्ति प्राप्त करो। अर्थात्, जिससे चरित्र उज्वल रहे, वह कल्याण-सम्पत्ति-प्राप्त करो।

लक्ष्मण—हम कृतार्थ हो गये हैं।

भागीरथी—(और) यह तुम्हारी माता 'पृथ्वी' है।

सीता—हा! माँ! तुमने मुझे ऐसी (दीन-हीन तथा प्रसव-कालीन) अवस्था में देखा?

पृथ्वी—बेटी सीते आओ! [दोनों परस्पर मिलकर मूर्छित हो जाती हैं।]

लक्ष्मण—(सहर्ष) क्या 'आर्या' को 'गङ्गा' और 'पृथ्वी' ने अनुगृहीत किया है?

राम—यह सौभाग्य की बात है—(कि माता-पुत्री का मिलन हो रहा है।)

परन्तु (दूसरी ओर तो) यह बड़ा कारुणिक (दृश्य) है—कि ये दोनों मूर्छित हो गई हैं।)

भागीरथी—पूजनीय भगवती पृथ्वी भी व्यथित हो रही हैं, इससे सन्तान-प्रेम की विजय हो गई ! सन्तान-प्रेम की बड़ी महिमा है। आज पृथ्वी-सीता के मिलन में उसने विजय पाई है।) अथवा, (इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि) यह (अपत्य-स्नेह) सर्व-साधारण के मन को मोह में बाँधने वाली ग्रन्थि, प्राणियों की आन्तरिक संवेदनशीलता का कारण तथा संसार का तन्तु है। [अर्थात्, यह जीव-धारिणों के मन को मोह में डालने वाली ग्रन्थि (अपत्य-स्नेह) प्राणियों के हृदय में तरलता उत्पन्न करती रहती है। यह संसार का तन्तु है। जिस प्रकार वस्त्र की सत्ता तन्तु-समुदाय में सन्निहित है, उसी प्रकार संसार की स्थिति भी सन्तान से ही सम्भव है। सन्तान स्नेह बड़ा प्रबल है। इसी से तो 'सर्वसहा' भगवती वसुन्धरा भी आज स्नेह-परवश हो गई हैं।] सखि वसुन्धरे ! वत्से, वैदेहि ! धैर्य धारण करो।

पृथ्वी—(आश्वस्त होकर) देवि ! सीता को उत्पन्न कर कैसे धैर्य धारण करूँ ? [सीता की माँ होकर मैं कैसे शान्ति प्राप्त करूँ ! जिसे निरन्तर-कष्ट सहने पड़ रहे हैं, उस सीता की माता बनकर मुझे सुख कैसे मिल सकता है ? मैं तो उसके दुःख को देखकर सदैव दुखित रहती हूँ। धैर्य अथवा सुख की बात तो मेरे लिए आकाश पुष्पवत् है।]

[श्लोक ४]—'(मैंने) इसके राक्षसों के बीच में निवास को (तो जैसे-तैसे) सह लिया था, परन्तु इसका यह (अकारण) परित्याग (तो मुझे) सर्वथा असह्य है—।"

गङ्गा—'सखि ! घबराओं मत। भला, कौन प्राणी परिणामोन्मुख दैव के द्वार बन्द करने में समर्थ है ? विधि का विधान टालने का सामर्थ्य किसमें है ? होनहार ही ऐसी थी, यह समझकर धैर्य धारण करो।

पृथ्वी—भगवती गङ्गे ! क्या 'तुम्हारे' रामभद्र के लिये यह सब-कुछ उचित है।

[श्लोक ५]—उस बालक (अथवा 'नासमझ', राम) ने बाल्यावस्था से पकड़े हुए हाथ को (पाणि-ग्रहण को) प्रमाण नहीं माना ? और न मुझे, न जनक को, न अग्नि को, न (सीता के) पातिव्रत्य, को ही (प्रमाण माना) 'मुझसे' उत्पन्न सीता की 'पवित्रता' तपस्वी जनक की 'अपत्यता' परम पवित्र अग्निदेव की 'विशुद्धि' और सीता के 'सतीत्व'—इन सबको राम ने प्रमाण नहीं माना। और तो और उस सन्तान की भी, जिसके लिए सारा संसार लालायित रहता है, 'तुम्हारे' राम ने चिन्ता न की ? और उसकी क्षिप्रकारिता !]

संस्कृत-व्याख्या

सावेगं रामः प्राह—देव इति । यद्यहं सापराधस्तर्हि लक्ष्मणस्तु न सापराधः । तमेवावेक्षस्व । तदुपरि ध्यानं दत्त्वा त्वया गङ्गायां पतनं नैव कार्यमिति भावः ।

लक्ष्मणो विकलं रामं प्रार्थयते—आर्येति ! आर्य ! आश्वस्य=सावधानतया सम्यगाश्वस्य नाटकमिदं दृश्यताम् । प्रबन्धस्तु आर्षः=ऋषि-निबद्धः । तत्र संशयो न कार्यं' इति भवतैवोक्तम् ।

सीतां समवलम्ब्य गङ्गा-पृथिव्योः प्रवेशाद् भृशं विक्षुब्धो रामः प्राह—वत्सेति । असंविज्ञातं=समयङ् न ज्ञातं पदयोर्निबन्धनम्=अस्तित्वं यत्र, एवंविधे तमसि=सघने अन्धकारे इव प्रविशामि । मां धारय । अहमेवंविधेऽन्धकारे प्रवेशं करोति, यत्र पदयोः स्थितिरेव न सम्भवति । इति भावः ।

देव्यौ सीताम्प्रत्यूचतुः=समाश्वसिहीति । कल्याण-गुण-शालिनि ! सीते ! समाश्वस्ता भव ! सौभाग्येन वर्धसे । यत् जलमध्ये रघुवंश-प्रवर्तकौ पुत्रौ प्रसूतवती भवती ! इमौ तव पुत्रौ रघुवंशसमुन्नायकौ भविष्यतः अतो निश्चिन्ता भवत्या भवितव्यम् । इति भावः ।

अत्र काव्यलिङ्गालङ्कारः ॥३॥

"सीता देव्याः पुत्रौ" इति श्रुत्वा प्रसन्नो लक्ष्मणः श्री रामस्य चरणयोर्निपत्य कथयति—आर्येति । आर्य ! सौभाग्येनास्माकं महती समृद्धिरिदानीं सञ्जाता । अधुना रघुवंशः कल्याणप्रदोङ्कुरो यस्यैवंविधः संजातः । सुताविमौ कल्याणाङ्कुरतुल्यौ । मुग्धं रामं विलोक्य कथयति-हा ! क्षुभितः=प्राप्तक्षोभः=प्रचलित इति यावत्, यो वाष्पस्य=अश्रुणः, उत्पीडः=समुदायः—तेन निर्भरः=व्याकुलः, आर्यस्तु शोकजन्याश्रुप्रवाह-वशात् प्रमुग्ध इवास्ति । इति सम्मोहनिवृत्त्यर्थं व्यजनेन पवन-सञ्चारणं करोति ।

सीताया कृतप्रणामा भगवती भागीरथी तां शुभाशिषा संवर्धयति—चारित्रेति । चरित्रमेव=चारित्रं=सदाचारः, तदुचितां=तद्योग्यां, कल्याणस्य=श्रेयसः, सम्पदं=सम्पत्तिं, अधिगच्छ=प्राप्नुहि । चरित्रसम्पत्तिर्यया वृद्धिमाप्नोति, तां सम्पत्तिं प्राप्नुहीत्याशयः ।

पृथिव्याः परिचयं ददाति तत्र भगवती भागीरथी=इयमिति । इयम्=सम्मुखस्था मत्तोऽपरा, विश्वम्भरा=संसारमस्य भरणे प्रवृत्ता भगवती पृथिवीं तव मातास्ति । ["विश्वम्भरा" इति कथनेन-तव निन्दकानामपि पापसन्तापपरीतानामियं भरणं करोति इत्यस्याः 'क्षमात्वं' नामतोऽर्थतश्चापि चरितार्थम् ।]

स्वकीयां जननीमवलोक्य दुःखातिभाराद् सीता प्राह—हा—इति । हा ! मातः ! एवंविधामवस्थामनुभवन्ती त्वयाऽहमवलोकिता ? प्रसवकाले श्वसुरगृहे मम सेवाविधानार्थं विविधसम्भारैर्भवितव्यम् । परं दौर्भाग्यादिह कथं कथमपि प्राणान् धारयन्ती प्रसव-पीडामावहन्ती भवत्याऽहं दृष्टेति महान् मे खेदः, लज्जेति महान् मे खेदः, लज्जातिशयश्चास्ति इति भावः ।

लक्ष्मणः सीतां पृथिवीं चालोक्याह—कथमिति । किमु आर्या=सीता, श्री गंगया, पृथिव्याचाभ्युपपन्ना ? = अनुगृहीता ? उभाभ्यामपि महाननुग्रहः कृतः सीतायाम् । अन्यथैवं विपत्ति—समये नु जाने कीदृशीं दशामनुभवेदियमार्येति भावः । ("अभ्युपपत्तिरनुग्रहः" इत्यमरः ।)

लक्ष्मणोक्ति निशम्य प्राह रामः—दिष्टयेति । इदन्तु सौभाग्येनैव मातापुत्र्योः सम्मेलनं सञ्जातमिति, किन्तु करुणान्तरम् । अन्यविधोऽयं शोकः । सर्वजगन्नायकस्य मम पत्न्याः परित्राणार्थं ममासामर्थ्यमित्यपि मनसः पीडामातनोतीति भावः ।

दुःखितां धरित्रीमालोक्य भगवती जाह्नवी साश्चर्यमाह—अत्रेति । आश्चर्यम् । अत्रभवती वन्दनीया सर्वजनरक्षिका भगवती विश्वम्भरापि व्यथामनुवर्तीत्यतोऽपत्यस्य =सन्तते; स्नेहेन जितम्, सन्तानप्रीतिरतितमां विजयिनी सिद्धा । सर्वोऽपि शोकः स्वसन्तत्या सह स्निग्धेन व्यवहारेण निबध्यते, इति भावः । यद्वा=अथवा नात्र किमप्याश्चर्यं मन्तव्यम् । एष मनसो मोहकरः सर्वधारणो ग्रन्थिविशेषः, सचेतनानां हृदये समुपप्लवं=चाञ्चल्यम्, तनोति । संसारस्याय तन्तुः=यथा पटस्यास्तित्वं तन्तुषु सम्भवति, तथैव संसारस्य स्थितिः सन्तति-स्नेहेनैव नान्यथेति विचार्य, मातापुत्र्योः समाश्वासनं कर्तुमाह–सखि ! भूतधात्रि ! =पृथिवी ! देवि, सीते ! चाश्वस्ते भवतः ! शोको न कार्यः ।

कथञ्चिदाश्वस्य पृथिवी प्राह—देवि इति । देवि गङ्गे ! सीतां प्रसूय= उत्पाद्य कुतो मे समाश्वासः ? एवंविधां निरतिशयापमानदुःखदावानल-दग्धामिमां सीतां प्रसूय कुतो ममाश्वासः ? क्षणे-क्षणे सीतायाः समवलोकनेन शोकातिभारो मां पीडयत्येवेति भावः ।

कीदृशस्ते शोकः ? इत्याह—सोढ इति ।

मया कथञ्चित् राक्षसानां मध्ये सीतायाः निवासस्तु सोढः, परमयं द्वितीय-स्त्यागस्तु सर्वथा दुःसहो मे जातः । राक्षसानां मध्ये निवासः अपहृताया अस्या निन्दाकरोऽपि कथंचित, सोढः, परं त्यागोऽयमत्यन्तनिन्दितः ? अतोऽहं ब्रवीमि कथमाश्वासः इति ।

भगवती गङ्गा तामाश्वासयितुमुत्तरार्धमाह—को नामेति । पाकाभिमुखस्य= परिणामोन्मुखस्य दैवस्य द्वाराणि पिधातुम् क ईष्टे ? दैवद्वार-निरोधनाय कस्यापि सामर्थ्यं नास्ति भवितव्यमीदृशमेवासीदिति नातिमात्रं मनः खेदनीयमिति भावः ।

अत्रार्थान्तरन्यासोऽर्थापत्तिश्चालङ्कारौ । इन्द्रवज्रा छन्दः ॥४॥

भगवतीं भागीरथीम्प्रत्याह वसुन्धरा-भगवति इति । भगवति गंगे ! वः= युष्माकं रामभद्रस्य कृते, इदं सर्वं सीतापरित्यागरूपं कार्यं किमु युक्तम्=उचितम-स्ति ? कोऽन्य एवं दुष्करं साहसं करिष्यति ? नेति भावः ।

तदेव साधयति नेति । बाल्यावस्थायां तादृसेन तेन पीडितः पाणिरपि न प्रमाणीकृतः ? बाल्यावस्थायां सर्वथा पूतेयमासीत् । न चाहं प्रमाणिता । मम सन्तति-

दुश्चरित्रा भवितुमर्हति नवेति किं विचारितं तेन ? न च परम-तपस्वी जनकोऽपि परिगणितः ? एवंविधस्य महामतेस्तपस्विनः सुता कीदृशीत्यपि न विचारः कृतः। न चाग्निः । सर्वेषाम् पावनानामपि पदार्थानां पावनो वह्निरपि सीता—विशोध-कोऽनेन न प्रमाणितः। नवा सीताया वृत्तिः=पतिव्रताचरणम्, न ध्यातम्। संसार-स्य सर्वेऽपि प्राणिनः सन्तानार्थं नानाविधान् क्लेशानङ्गीकुर्वन्ति, अनेन तु सन्तानस्यापि चिन्ता न कृता ! सगर्भा, सर्वपूजिताचरणा निर्वासितेति सर्वं युक्तमस्ति किमु रामस्य ?

अत्र तुल्ययोगितालङ्कारः ॥५॥

टिप्पणी

(२) "देवि देवि ! लक्ष्मणमवेक्षस्य !"—भाव है कि मेरे सापराध होने पर भी अपने पुत्र तुल्य लक्ष्मण की करुण दशा देखकर तो गङ्गा में मत गिरो 'लक्ष्मणमवेक्षस्व, मयि सापराधेऽपि त्वपुत्रं लक्ष्मणं दृष्ट्वा गङ्गायां न पतितव्यमित्यर्थः।" (२) पाठान्तर'— १. आर्य ! नाटकमिदं "आर्य ! आर्य ! नाटकमिदं" । २. रामाद्विपाकः—'रामाद्दैव-दुर्विपाकः । ३. आर्य ! आश्वस्य त्वार्षः "आर्य ! दृश्यतां तावत्प्रवन्धार्थः" । ४. वत्स ! प्रविशामि—'वत्स लक्ष्मण ! असंविज्ञातमनिबन्धनमन्धतमसमिव प्रविशामि" ।

[श्लोक ३] १. अन्तर्जतं अन्तर्जलम्" । २. क्षुभितावाष्पोत्पीडनिर्भरः—"क्षुभितबाष्पोद्भेदनिर्भरः" । ३. 'चरित्रोचिताम्"—चरित्रोपचिताम्" । ४. 'इयं ते जननी—"इयं तु जननी ते" । ५. एहि पुत्रि वत्से सीते !—"एहि वत्सेएहि पुत्रि" । ६. (उभौ आलिङ्ग्य मूर्च्छतः)—"(उभे प्रालिङ्ग्य) एवं (इति सीतामालिङ्गच मूर्च्छति)" । ७. कथमार्या—"दिष्ट्या" । "दिष्ट्या खल्वेतत् । ८. करुणान्तरं तु वर्त्तते"—(अवलोक्य) करुणतरं खल्वेतद्वर्त्तते" ९. अत्रभवती विश्वम्भरा व्यथत—"विश्वम्भराऽपि नाम व्यथत" । १०. ह्येष मनसो मूढग्रन्थि···"—'ह्येष मनसः । मानसः गूढ । मोहग्रन्थि···" । ११. "सखि भूतधात्रि !"—देवि भूतधात्रि ।

(३) [श्लोक ४] १. "द्वितीयस्तु सुदुःसहोऽस्या" पाठा०, 'द्वितीयश्च । द्वितीयो हि; सुदुश्रवोऽस्याः" ।

२. कौनाम···ईष्टे ?" पाठा०, "जन्तो" । पिधातुम्=अपिधातुम् "वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः" इत्यकारलोपः । तुलना०—

"दैवी च सिधिरपिलङ्घयितु न शक्या ।" (मृच्छकटिक)

"यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितम् तन्मार्जितुं कः क्षमः ?" (भर्तृहरि)

"भगवन्तौ जगन्नेत्रे सूर्याचन्द्रमसावपि ।
पश्य गच्छत एवास्तं नियतिः केन लङ्घ्यते ? (काव्यादर्श, २/११७)

"विधिरहो बलवानिति मे मतिः"

ईष्टे—ईश्+लट्+प्र० पु०, एकवचन ।

(४) "युक्तमेतत्सर्वं वो रामभद्रस्य"—'वः' शब्द का व्यङ्ग्य दर्शनीय है ।

(५) (श्लोक ५) (१) 'पाणि' के विषय में वीरराघव ने लिखा है:—

"सामुद्रिकतन्त्रवेत्ता स्वयं रामो मत्सुतापाणिस्थसाध्वीस्थनिश्चायकं रेखाविशेषं दृष्ट्वा निर्दोषियं चिरानुभवार्हेति सूचनाय दृढं पाणिं गृह्णन्नद्य तद्दिवसस्मारेति । अन्यथा पाणिग्रहणस्य दोषवत्यास्त्यागात्प्रतिबन्धकत्वादिति मन्तव्यम् ।"

(२) "नाग्निर्नतु वृत्तिर्न···पाठा०, 'नाग्निर्नानुवृत्तिर्न" ।

सीता—हा अज्जउत्त ! सुमरेसि ? [हा आर्यपुत्र ! स्मरसि ?]

पृथिवी—आः, कस्तवार्यपुत्रः ?

सीता—(सलज्जास्रम् ।) जह अम्बा भणादि । [यथाम्बा भणति ।]

रामः—अम्ब पृथिवि ! ईदृशोऽस्मि ?

गङ्गा—भगवति वसुन्धरे ! शरीरमसि संसारस्य । तत्किमसंविदानेव जमात्रे कुप्यसि ?

घोरं लोके विततमयशो या च वह्नौ विशुद्धि-
लंङ्काद्वीपे कथमिव जनस्तामिह श्रद्दधातु ?
इक्ष्वाकूणां कुलधनमिदं यत्समाराधनीयः,
कृत्स्नो लोकस्तदिह विषये किं स वत्सः करोतु ? ॥६॥

[अन्वयः—लोके, घोरम्, अयशः, विततम्, या च, लङ्काद्वीपे, वह्नौ विशुद्धिः, ताम्, इह जनः, कथमिव, श्रद्दधातु ? इदम्, इक्ष्वाकूणां, कुलधनं, यत्, 'कृत्स्नः लोकः समाराधनीयः' । तत् इह विषये, स वत्सः किं करोतु ?]

लक्ष्मणः—अव्याहतान्तःप्रकाशा हि देवताः सत्त्वेषु ।

गङ्गा—तथाप्येष तेऽञ्जलिः ।

रामः—अम्ब ! अनुवृत्तस्त्वया भगीरथकुले प्रसादः ।

पृथिवी—नित्यं प्रसन्नास्मि तव । किं त्वसावापातदुःसहः स्नेहसंवेगः । न पुनर्न जानामि सीतास्नेहं रामभद्रस्य ?

दह्यमानेन मनसा दैवाद्वत्सां विहाय सः ।
लोकोत्तरेण सत्त्वेन, प्रजापुण्यैश्च जीवति ॥७॥

रामः—सकरुणा हि गुरवो गर्भरूपेषु ।

सीता—(रुदती कृताञ्जलिः ।) णेदु मं अत्तणो अङ्गेषु विलअं अम्बा । [नयतु मामात्मनोऽङ्गेषु विलयमम्बा ।]

गङ्गा—किं ब्रवीषि ? अविलीना वत्से । संवत्सरसहस्राणि भूयाः ।

पृथिवी—वत्स ! अवेक्षणीयौ ते पुत्रौ ।

सीता—किं एहिं अणाहेहिं ? [कमेताभ्यामनाथाभ्याम् ?]

रामः—हृदय ! वज्रमसि ।

गङ्गा—कथं वत्सौ सनाथावप्यनाथौ ।

सीता—कीरिसं मे अभग्गाए सणाहत्तणम् ? [कीदृशं मे अभाग्याया सनाथत्वम् ?]

देव्यौ—

जगन्मङ्गलमात्मानं, कथं त्वमवमन्यसे ? ।
आवयोरपि यत्सङ्गात्पवित्रत्वं प्रकृष्यते ॥८॥

लक्ष्मणः—आर्य ! श्रूयताम् ।

रामः—लोकः शृणोतु ।

हिन्दी—

सीता—आर्यपुत्र ! क्या मेरा स्मरण करते हैं ?'

पृथिवी—अरी ! कौन तेरा 'आर्यपुत्र है ?'

सीता—(सलज्ज और सास्र) जैसा माँ कहती हैं ।

राम—माता पृथिवी ! क्या मैं ऐसा हो गया हूँ ? (जो कि 'सीता' के द्वारा 'आर्यपुत्र' कहकर सम्बोधित भी न किया जा सकूँ ?)

गङ्गा—भगवती वसुन्धरे ! तुम संसार का शरीर हो । फिर किस लिए अनजान-सी होकर 'जामाता' (राम) पर कुपित हो रही हो ?

[श्लोक ६]—लोक में (सीता का) घोर अपयश फैल गया, और जो 'लङ्का'—द्वीप में 'अग्नि-शुद्धि हुई थी उस पर यहाँ के लोग (दूर होने के कारण) कैसे विश्वास करें ? (करते ?) और यह 'इक्ष्वाकु'-कुल के राजाओं का कुल-व्रत है कि (सर्वतोभावेन) "समस्त प्रजाओं का पालन करना चाहिए" तो (तुम ही सोचो) ऐसी विषम परिस्थिति में वह क्या करें ? (करते ?) धर्म-संकट में पड़कर ही राम ने यह सब कुछ किया है । इसमें उनका कोई अपराध नहीं है । अतः देवी ! शान्त-चित्त होकर राम के प्रति तुम्हारे मन में जो कोप है, उसे दूर करो ।

लक्ष्मण—देवता प्राणियों के अन्तःकरण को जानने में अप्रतिहत सामर्थ्य-शाली होते हैं । (देवता प्राणियों के हृदय की सब बाते जानते हैं । इसलिए भगवती भागीरथी ने यथार्थ बात जान ली है ।)

गङ्गा—(यद्यपि राम निरपराध है) तथापि (तुम्हें प्रसन्न करने के लिए) यह प्रणामाञ्जलि है ।

राम—माँ ! तुमने (सचमुच) भगीरथ के कुल में अपने अनुग्रह का पालन कर दिया ।

पृथिवी—(गङ्गे !) मैं तुमसे सदैव प्रसन्न हूँ । परन्तु यह स्नेहावेग पहले पहल कठिनता से संभाला जाता है (यही कारण है मैंने शोकावेग में ऐसी कड़वी बातें कह दी थीं) मैं सीता के प्रति राम के स्नेह को न जानती हूँ, ऐसी बात नहीं ।

[श्लोक ७]—वह (राम) दुर्भाग्यवश वत्सा (सीता का परित्यागकर सन्तप्त मन से अपने अलौकिक धैर्य और प्रजाओं के पुण्यों से (ही) जी रहे हैं। (अन्यथा ऐसे विषम संकट में कैसे प्राण धारण कर सकते थे? यह केवल प्रजाओं के पुण्य और लोकोत्तर धैर्य का ही प्रभाव है जो वे जीवित हैं।)

राम—गुरु-जन (अपने बालकों पर (बड़े) दयालु होते हैं। (सीता परित्याग रूप अपराध करने पर भी माता पृथ्वी मुझे क्षमा कर रही हैं।

सीता—(रोती हुई हाथ जोड़कर) माँ मुझे अपने अङ्गों में विलीन कर लो! (मैं अब अधिक जीवित रहना नहीं चाहती।)

गङ्गा—क्या कहती हो? वत्से! अविलीन रहकर हजारों वर्ष जीओ।

पृथ्वी—वत्से! तुम्हें अपने पुत्रों की देखभाल करनी चाहिए। (तुम्हारा मुझ में विलीन होने का विचार उचित नहीं है।)

सीता—इन अनाथों से क्या? (इन अरक्षितों का क्या जीवन रह सकेगा?)

राम—हृदय! तू (सचमुच) वज्र है। जो कि ऐसी दारुण बातें सुनकर भी फट नहीं जाता।)

गङ्गा—क्या बालक सनाथ होने पर भी अनाथ हैं?

सीता—मुझ मन्दभागिनी की सनाथता कैसी? (बिना पति-प्रेम के कैसी सनाथता?

देवियाँ–[श्लोक ८]—(सीते) तुम विश्व के लिए कल्याण स्वरूप अपने को) हीन क्यों समझ रही हो? जिसके संसर्ग से हम दोनों की भी पवित्रता बढ़ रही है। (तुम अपने को हीन मत समझो। तुम परम पवित्र हो।)

लक्ष्मण—आर्य! सुनिये! (जिसका आपने अकारण परित्याग कर दिया था, उसके विषय में देवियों की कैसी उच्च धारणा है? सुन लीजिए।)

राम—संसार सुने! (क्योंकि वही उसमें लाञ्छन लगाता है। मैं तो सब कुछ जानता ही हूँ।)

संस्कृत-व्याख्या

सीताया मुखादार्यपुत्रेति श्रुत्वा भर्त्संयन्त्याः "कस्तवार्यपुत्रः" इति श्रुत्वा सखेदमाह रामः—अम्बेति। मातः पृथिवि! अहमधुना सीतया 'आर्यपुत्र'त्वेन स्मरणीनयोऽपि नास्मि किमु?

पृथिव्याः परिदेवनान्याकर्ण्य भागीरथी प्राह—भगवतीति। भगवति धरित्रि! त्वन्तु सर्वस्य जगतः शरीरमसि, पुनरपि सर्वं वृत्तान्तं विज्ञायापि, असंविदानेव = अनभिज्ञेव कथं कुपिता भवसि? जामात्रे इत्यत्र "क्रुधद्रुहेर्ष्यार्थानां यं प्रति कोपः" इत्यनेन चतुर्थी।

रामस्यापराधो नास्तीति प्रदर्शयति—घोरमिति।

संसारे भीषणमपयशः सीतायाः प्रसिद्धमभूत् । अग्नौ विशुद्धिस्तु लङ्काद्वीपे सञ्जाता, अयोध्यावासिनो जनाः कथमिव तां श्रद्धधतु ? इक्ष्वाकु—वंशोद्भावनाञ्च भूपतीनामिदं कुलव्रतमस्ति यत् सर्वात्मना सर्वोऽपि प्रजाजनः समाराधनीयः ततश्चैवंविधे व्यतिकरे विषमे समुपस्थिते स वत्सो रामः किं करोतु ? तस्य कोऽपराधः ? इति भवत्यैव विचारणीयम् रामः सर्वथाऽपराधरहितोऽस्मिन् विषये, इति तत्र तव कोपोनोचित इति भावः ।

अत्र समुच्चयालङ्कारः । मन्दाक्रान्ताच्छन्दः ॥६॥

भगवत्या भागीरथ्या ईदृशं विज्ञानं दृष्ट्वा साश्चर्यमाह लक्ष्मणः—अन्याहतेति । देवताः सत्वानां=प्राणिनामन्तस्तत्व परिज्ञानेऽव्याहताः=अनवरुद्धः प्रकाशः=सामर्थ्यं यासां ताः एवंविधा भवन्ति । यतो गंगादेव्या वास्तविकं तत्त्वमत्र परिज्ञातम् ।

पृथिवीं सन्तोषयितुमाह—गंगादेवी तथापीति । यद्यपि रामस्य नास्ति मनागप्यपराधः, निरपराधस्य कुते क्षमा प्रार्थना सर्वथानुचिता, तथापि सर्ववन्दनीयायास्तवायमञ्जलिर्मया बध्यते । तदुपरि प्रसन्ना भवेति भावः ।

भागीरथ्या अनुग्रहं दृष्ट्वा भगवान् रामः प्राह—अम्बेति । मातर्भागीरथि ! सत्यमेव त्वया स्वभक्त-भागीरथवंशे प्रसादः परिपालितः । अन्यथा मम पक्षपातं कथं कुर्याः ।

भागीरथ्या रामप्रसादनपरां सविनयोक्तिं निशम्य भगवती वसुन्धरा प्राह—नित्यमिति । देवि गंगे ! अहन्तु तवोपरि सर्वदा प्रसन्नास्मि, किन्तु, आपाते=सद्यः श्रवणकाले एवं दुःसह=अमर्षणीयः, अयं स्नेहस्य संवेगः । "मम मुखादेवंविधा कटूक्तिर्निस्सृता", इत्यत्र कारणमस्ति । रामस्य सीताम्प्रति स्नेहाधिक्यं न जानामीति न, अपितु सम्यग् जानामि । नञ्द्वयं प्रकृतार्थं पोषयति ।

स्नेहमेव समर्थयते—दह्यमानेनेति । स रामो दैववशात् दह्यमानेन चेतसा वत्सामिमां परित्यज्य सम्प्रति केवलेन लोकोत्तरेण धैर्येण प्रजायाः पुण्यैश्च जीवति । अन्यथा—एवंविधे दुष्करे वियोगे समुपस्थिते कथमिव प्राण-धारणं कर्तुं समर्थः स्यात् ? लोकोत्तरं धैर्यम्, प्रजायाः पुण्यञ्च रामोज्जीवन कारणमिति तत्त्वम् ॥७॥

धरित्र्या वचनमाकर्ण्य प्राह रामः—सकरुणा इति । गुरुजनाः स्वगर्भरूपेषु=बालेषु सकरुणाः=करुणया सहिता भवन्ति । सीतापरित्यागरूपेऽपराधेऽपि मय्यनुकम्पां विधत्ते माता पृथिवीति महत् कारुण्यमस्या इति । सीता देवी रुदती सती मातरम्प्रत्याह—णेदु इति । माता पृथिवी मामिदानीं स्वकीयेष्वङ्गेषु विलीनां करोतु इदानीमहं जीवितुं नोत्सहे, इति यावत् ।

गङ्गा कथयति—किमिति । वत्से सीते ! किं कथयसि ? मैवं वक्तव्यम् । सहस्रवर्षाणि यावदविलीना सती जीविता भूयाः । सम्वत्सरसहस्रमित्यत्र संख्या—बहुत्वरूपोऽर्थः ।

भगवती पृथिव्याह—वत्से ! इति । पुत्रि ! त्वया स्वकीयौ पुत्रौ परिपालनीयौ । अतो मदङ्गेषु विलयस्त्वयानुचितः ।

सीता देवी पुत्ररक्षणवार्तयाऽतिमात्रं खिन्ना प्राह—किमिति । अनाथाभ्याम्= रक्षकविरहिताभ्यामेताभ्यां किम् ? रक्षितयोरप्यनाथयोर्जीवनं किं स्यात् ?

राम: सीता-वाक्येन भृशं भर्त्सित इवाह= हृदयेति । ननु हृदय ! सत्यमेव त्वं वज्रमयमसि । सम्राजोऽपि धर्मपत्नी पुत्रावनाथौ मन्यते, इत्येवं श्रुत्वापि त्वं शतधा न दीर्यसे ? इति भावः ।

सनाथावपीमावनाथौ कथं वदसीति गंगा-देव्या वचनमाकर्ण्य सीता प्राह— कीरिसमिति ? सौभाग्यहीनाया मम सनाथता कीदृशी ? पत्युः प्रेम-प्रसादमन्तरा न किमपि पथ्यं तथ्यञ्चेति भावः ।

एवं विशेषरूपेणात्मनिन्दाकरं वचनं निशम्य देव्यौ प्राहतुः—जगदिति ।

सीते ! त्वं विश्व-मङ्गल-कारणं स्वात्मानं कथं निन्दसि ? तव नामश्रवणेनैव लोकाः पवित्रा भवन्ति, पुनरपि विगर्हितमात्मानं मन्यसे ? यस्यास्तव संसर्गात् आवयोर्द्वयोरपि पवित्रत्वं प्रकृष्टतरमाभातीति भावः । गङ्गातः पृथिव्याश्चापि प्रकृष्टतरं जगत्पावनत्वं सीते ! तवास्तीति धन्यासि ॥८॥

लक्ष्मणः साधिक्षेपमाह—आर्येति । आर्य ! सावधानतया श्रूयताम् । याम्भवान् परित्यक्तवान्, किं कथयतो देव्यौ तस्या विषये ?

रामः समाधत्ते—लोक इति । लोकः शृणोतु । स एव सीतायां दोष-दृष्टिभाधत्ते । अहन्तु जानाम्येव सर्वम् ।

टिप्पणी

(१) हा आर्य ! स्मरसि पाठा०, "हा ! आर्यपुत्रं स्मारितास्मि" । (२) आ कस्तवार्यपुत्रः ?—अब तेरा कौन पति है ? भाव यह है कि जिस राम ने निरपराध तुझको घर से निकाल दिया है वह भी क्या तेरा पति (आर्यपुत्र) है ? पृथिवी का क्षोभ स्वाभाविक ही है । (३) "अम्ब पृथिवी ईदृशोऽस्मि" "ईदृशोऽस्मि अनार्यपुत्रोऽस्मि" (वीर०) मैं ऐसा ही पापी हूँ जैसा कि आप कहना चाहती हैं । अथवा प्रश्नवाचक पाठ मानने पर—क्या मैं ऐसा हो गया हूँ जो सीता के इस (आर्यपुत्र) सम्बोधन का भागी भी नहीं रह गया हूँ ? देखिये—संस्कृत-टीका (४) "जामात्रे कुप्यसि"— 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः" (पा० १/३/३७) इति चतुर्थी । (५) अव्याहन्तातः सत्वेषु—"द्रव्यासुव्यसायेषु सत्वमस्त्री तु जन्तुषु इत्यमरः । सत्वेषु=प्राणिषु । (६) "हृदय ! वज्रमसि"—पाठा०, "हृदय ! वज्रमयमसि" । (७) "लोकः शृणोतु"— आशय यह है कि राम को सीता की पवित्रता में कोई आवश्यकता ही नहीं है । सन्देह करने वाले लोक को यह बात अब सुननी चाहिए ।

(नेपथ्ये कलकलः ।)

रामः—अद्भुततरं किमपि ।

सीता—किंत्ति आबद्धकलकलं पज्जलिअं अन्तरिक्खम् ? [किमत्याबद्धकलकलं प्रज्वलितमन्तरिक्षम् ?]

देव्यौ—ज्ञातम् ।

कृशाश्वः कौशिको राम, इति येषां गुरुक्रमः ।
प्रादुर्भवन्ति तान्येव, शस्त्राणि सह जृम्भकैः ॥९॥

(नेपथ्ये)

देवि ! सीते ! नमस्तेऽस्तु गतिर्नः पुत्रकौ हि ते ।
आलेख्यदर्शनादेव, ययोर्दाता रघूद्वहः ॥१०॥

सीता—दिट्ठिआ अत्थदेवताओ एदाओ । अज्जउत ! अज्जावपि दे पसादा पडिप्फुरन्दि [दिष्टचा अस्त्रदेवता एताः आर्यपुत्र ! अद्यापि ते प्रसादाः परिस्फुरन्ति ।]

लक्ष्मणः—उक्तमासीदार्येण "सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ती" ति ।

देव्यौ—

नमो वः परमास्त्रेभ्यो, धन्याः स्मो व परिग्रहात् ।
काले ध्यातैरुपस्थेयं, वत्सयोर्भद्रमस्तु वः ॥११॥

हिन्दी—

(नेपथ्ये में कोलाहल होता है ।)

राम--कुछ अद्भुततर है ।

सीता--'कल-कल' ध्वनि के साथ आकाश क्यों प्रज्वलित हो रहा है ?

देवियाँ--(हाँ) समझा ।

[श्लोक ९]—जिनका 'कृशाश्व' से 'कौशिक' और (कौशिक से) 'राम' से गुरु-क्रम हैं, ये वही शस्त्र जृम्भकों से साथ प्रकट हो रहे हैं । (यह उन्हीं का प्रकाश है !)

(नेपथ्य में)

[श्लोक १०]--देवी सीते ! आपको नमस्कार है । आपके (दो) पुत्र ही हमारी गति हैं; जिनको चित्र-दर्शन के समय से ही रघुकुल-श्रेष्ठ (श्री रामचन्द्र जी ने) हमें दे दिया था । (चित्र-दर्शन के समय भगवान् राम के कथनानुसार हम आये हैं ।)

सीता—सौभाग्य से ये अस्त्र देवता हैं ! आर्यपुत्र ! आज भी आपके प्रसाद से प्रकाशित हो रहे हैं (फल-फूल रहे हैं । जो कि ये 'जृम्भक' बालकों के पास आ गये हैं ।)

लक्ष्मण—आर्य ने कहा था कि 'अब ये सर्वात्मना तुम्हारी सन्तान के पास पहुँच जायेंगे ।'

देवियाँ—

[श्लोक ११]—अस्त्र देवताओं ! आपको नमस्कार है ! आपको ग्रहण करने से हम धन्य हो गये हैं । (युद्ध आदि के) समय में, बालकों (लव और कुश) के ध्यान करने पर आप उपस्थित हों (अब आप पधारिये) आपका कल्याण हो !

संस्कृत-व्याख्या

नेपथ्ये सकलकलं किमप्यद्भुतमिव प्रादुर्भवति, समक्षे एवाकाशे महान् प्रकाशः कलकलध्वनिश्चेति विस्मिता सती सीता प्राह—किंत्ति-इति। आ समन्ताद्बद्धः= समुद्भूतः कलकलध्वनिर्यस्मिन्नेवं भूतमाकाशमण्डलं किमर्थं प्रज्वलितमास्ते ?

देव्यौ परिज्ञाय कथयतः-कृशाश्व इति। येषामस्त्राणां गुरुसम्प्रदायक्रमः कृशाश्वः ततः कौशिकः, ततो रामः" इत्यात्मकोऽस्ति, तान्येव अस्त्राणि जृम्भकैः सह प्रादुर्भवन्ति। जृम्भकास्त्राणि नभोमण्डले प्रकाशन्ते, इत्यर्थः ॥६॥

तानि जृम्भकास्त्राणि (नेपथ्ये) सीता देवीमुद्दिश्य प्राहुः—देवि-इति। देवि सीते ! तुल्यं नमोऽस्तु। तव पुत्रौ गतिरस्माकं स्तः। आलेख्यदर्शन-समये रघुद्वहो रामो ययोः—याभ्यामित्यर्थः; दाताऽऽवयोरिति शेषः। चित्रदर्शनवेलायामेव भगवता रामेण—"सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ती" त्युक्तम्। तदनुसारमेव तव पुत्रयोः सविधेऽस्माकमागमनमिति भावः।

सीता देवी अस्त्रदेवता निरीक्ष्य प्राह—दिट्ठआ-इति। सौभाग्येनैता अस्त्राणां देवताः सन्ति। आर्यपुत्र ! अधुनापि तव प्रसादाः परिस्फुरन्ति=प्रकाशन्ते। तव प्रसादस्य कृपेयम्, यदस्त्र देवताः समागत्य मम पुत्रौ सम्भावयन्ति।

देव्यौ सप्रमाणस्त्रदेवान् प्रत्याहतुः—नमो व इति। परमास्त्रेभ्यः=अस्त्रदेवेभ्यः नमस्क्रियते। युष्माकं स्वीकृत्या वयं धन्याः सञ्जाताः। समये भवतां ध्यानं यदा पुत्रौ करिष्यतस्तदोपस्थातव्यम्। इदानीन्तु स्वस्थानमलङ्कुर्वन्तु भवन्तः। युष्माकं कल्याणमस्तु ॥११॥

टिप्पणी

(१) 'नमः परमात्रेभ्यः—"नमः" स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषट्योगाच्च' (पा० २/३/१६) इति चथुर्थी।

रामः—

क्षुभिताः कामपि दशां कुर्वन्ति मम सम्प्रति।
विस्मयानन्दसंदर्भजर्जराः करुणोर्मयः ॥१२॥

[अन्वयः—सम्प्रति, क्षुभिताः, विस्मयानन्दसन्दर्भजर्जराः, करुणोर्मयः, मम, काम, अपि, दशां, कुर्वन्ति ॥१२॥]

हिन्दी—

राम—

[श्लोक १२]—आश्चर्य और हर्ष के संयोग से जर्जर (टकराई हुई) शोक की लहरें क्षुब्ध होकर इस समय मेरी कोई विचित्र (सी) दशा कर रही हैं।

[सीता जी के गङ्गा जी में गिरने से आश्चर्य', जल में ही कुश-लव की

उत्पत्ति से 'आनन्द' तथा सीता की दशा देखकर 'करुणा के भाव मेरे मन को न जाने कैसा बना रहे हैं ?']

संस्कृत-व्याख्या

राम ईदृशीं वस्तुस्थितिं निरीक्ष्याह—क्षुभिता इति ।

अधुना विस्मयः=आश्चर्यम्, आनन्दः=हर्षस्तयो, सन्दर्भेण=संग्रथनेन, जर्जराः विशीर्णाः, करुणाया उर्मयः=लहर्यः, क्षुभिताः=प्रचलिताः सत्यो मम कामपि विचित्रां दशां कुर्वन्ति ।

'सीता देवी गङ्गायां पतिता' इत्याश्चर्यम्, 'तत्र पुत्रौ समुत्पन्नौ, इत्यानन्दः, 'हन्त ! कीदृशीयं दशा सीतायाः' इति करुणा, एवं मिलित्वा सर्वैरमीभिस्तत्वैर्मम कापि-कापि विचित्रा दशा वर्तते इति भावः ॥१२॥

देव्यौ—मोदस्व वत्से ! मोदस्व । रामभद्रतुल्यौ ते पुत्रकाविदानीं संवृत्तौ ।

सीता—भअवदीओ । को एदाणं खत्तिओइदविहिं कारइस्सदि ? [भगवत्यौ ! क एतयोः क्षत्रियोचितविधिं कारयिष्यति ?]

रामः—

एषा वसिष्ठशिष्याणां रघूणां वंशनन्दिनी ।
कष्टं सीतापि सुतयोः संस्कर्तारं न विन्दति ॥१३॥

गङ्गा—भद्रे ! किं तवानया चिन्तया ? एतो हि वत्सो स्तन्यत्यागात्परेण भगवतो वाल्मीकेरर्पयिष्यामि ।

वसिष्ठ एव ह्याचार्यो रघुवंशस्य सम्प्रति ।
स एव चानयोर्ब्रह्मक्षत्रकृत्यं करिष्यति ॥१४॥
यथा वसिष्ठाङ्गिरसावृषिः प्राचेतसस्तथा ।
रघूणां जनकानां च वंशयोरुभयोर्गुरुः ॥१५॥

हिन्दी—

देवियाँ—वत्से ! प्रसन्न हो ! तुम्हारे पुत्र रामभद्र-तुल्य (तेजस्वी) हो गये हैं ।

सीता—देवियो ! इनके क्षत्रियोचित संस्कार कौन करायेगा ?

राम—

[श्लोक १३]—खेद है ! यह वसिष्ठ ऋषि के शिष्य रघुवंशोद्भव राजाओं के कुल को आनन्द देने वाली सीता भी अपने पुत्रों के संस्कार कराने वाले को नहीं पा रही है ।

गङ्गा—कल्याणि ! तुम्हें वह चिन्ता करने की क्या आवश्यकता ? मैं इन

दोनों बच्चों को स्तन्य-त्याग करने के अनन्तर भगवान् बाल्मीकि को समर्पित कर दूंगी। (वहीं इनके सब संस्कार हो जायेंगे। तुम निश्चित रहो।)

[श्लोक] १४]—इस समय वसिष्ठ जी ही रघुकुल के आचार्य हैं। वे ही इन दोनों के ब्राह्मणोचित (वेदाध्यापन आदि) तथा क्षत्रियोचित (धनुर्वेदाध्यापन आदि) संस्कार करेंगे।

[श्लोक १५]—जैसे वसिष्ठ और आङ्गिरस (शतानन्द) 'रघु' और 'जनक' इन दोनो वंशों के गुरु हैं वैसे ही वाल्मीकि भी इनके गुरु हैं। (अतः वे ही इनके सब संस्कार करा देंगे।)

राम—भगवती (गङ्गा जी) ने बहुत ठीक विचारा।

संस्कृत-व्याख्या

'मोदस्व सीते! 'जृम्भकास्त्रप्राप्त्या तव पुत्रौ रामभद्रसदृशौ सम्पन्नौ' इति देव्यौ शुभाशीर्वादं वितरतः सा च 'कोऽनयोः क्षत्रियोचितं संत्कारं करिष्यति?' इति पृच्छति। राम सखेदमाह—एषेति।

कष्टमतः परं किं स्यात्? इयं वसिष्ठस्य महर्षेः शिष्याणां वंशस्यानन्दयित्री सीता स्वात्मजयोः संस्कार-कर्तारं न लभते। समयगतिरतिविचित्रा! ॥१३॥

गङ्गादेवी सीतायाश्चिन्तां दूरीकरोति—भद्रे इति। त्वमिदानीं संस्कारचिन्तां परित्यज, स्तन्यत्यागात्परतरमिमौ स्वयमेवाहं भगवतो वाल्मीकेरर्पयिष्यामि।

तत्र किं भविष्यतीत्याह—वसिष्ठ इति।

इदानीं रघुकुलस्याचार्यो वसिष्ठ एवानयोः क्षत्रियोचितं संस्कारं करिष्यति-(कालान्तरे इति शेषः)। यथा वसिष्ठः, आङ्गिरसश्चोभयोर्जनकरघुवंशयोर्गुरूस्तः, तथैव प्राचेतसः = भगवान् वाल्मीकिरपि उभयवंशयोर्गुरुरेव। अतः स एवानयोः सर्वमपि संस्कारजातं विधास्यति, सर्वेषां वेदानाञ्चाध्यापनमपि करिष्यतीत्याशय ॥४५-१५॥

टिप्पणी

(श्लोक १४) कुछ पुस्तकों में इस श्लोक के स्थान पर यह वाक्य है— 'स एतयोः क्षत्रकृत्यं करिष्यति'। इस प्रकार एक श्लोक कम होने से उन संस्करणों में सप्तम अङ्क के श्लोकों की संख्या २० है।

लक्ष्मणः—आर्य! सत्यं विज्ञापयामि। तैस्तैरुपायैरिमौ वत्स कुशलवावुत्प्रेक्षे!

एतौ हि जन्मसिद्धस्त्रौ प्राप्तप्राचेतसावुभौ।
आर्यतुल्याकृती वीरौ वयसा द्वादशाब्दकी ॥१६॥

रामः—वत्सावित्येवाहं परिप्लवमानहृदयः प्रमुग्धोऽस्मि।

पृथिवी—एहि वत्से ! पवित्रीकुरु रसातलम् ।

रामः—प्रिये ! लोकान्तरं गतासि ?

सीता—णेदु मं अत्तणो अङ्गेसु विलअं अम्बा । ण सहिस्सं ईरिसं जीअलोअस्स परिभवं अणुभविदुम् । [नयतु मामात्मनोऽङ्गेषु विलयमम्बा । न सहिष्यामीदृशं जीवलोकस्य परिभवमनुभवितुम् ।]

लक्ष्मणः—किमुत्तरं स्यात् ?

पृथिवी—मन्नियोगतः स्तन्यत्यागं यावत्पुत्रयोरवेक्षस्व । परेण तु यथा रोचिष्यते तथा करिष्यामि ।

गङ्गा—एवं तावत् !

(इति निष्क्रान्ते देव्यौ सीता च ।)

हिन्दी—

लक्ष्मण—आर्य ! मैं सत्य निवेदन करता हूँ कि उन-उन उपायों (लक्षणों) से मैं इन कुश-लव को (सीता-पुत्र ही) समझ रहा हूँ ।

[श्लोक १६]—(क्योंकि) ये दोनों वीर हैं इनको जृम्भक (अस्त्र) जन्म-सिद्ध हैं, इन्हें वाल्मीकि जी ने प्राप्त किया है, ये आकृति में आपके ही समान है और अवस्था के (भी) बारह वर्ष के है । आर्या का परित्याग किये बारह ही वर्ष हुए हैं । इन सब बातों से मैं यही अनुमान करता हूँ कि ये दोनों वे ही हैं ।

राम—इन दोनों को पुत्र समझकर मैं चञ्चलचित्त और मोह-युक्त हो रहा हूँ ।

पृथिवी—आओ ! बेटी ! रसातल को पवित्र करो ।

राम—प्रिये ? क्या दूसरे लोक में चली गई हो ? (जा रही हो ?)

सीता—माँ मुझे अपने अङ्गों में विलीन कर लो । मैं संसार के ऐसे अपमान को सहन करने में समर्थ नहीं हूँ ।

लक्ष्मण—(देखें) क्या उत्तर होगा ? (देखें सीता जी के कथन का पृथ्वी क्या उत्तर देंगी !)

पृथिवी—मेरी आज्ञा से स्तन्य-त्याग तक (तो) पुत्रों की देखभाल (लालन-पालन) करो; तदनन्तर जैसी इच्छा होगी वैसा करूँगी ।

गङ्गा—ऐसा ही हो । [दोनों देवियाँ और सीताजी चली जाती हैं ।]

संस्कृत-व्याख्या

तैस्तैरनेप्रकारैरिमौ कुश-लवौ तावेव सम्भावयावि, इति लक्ष्मणः स्वोक्ति समर्थयते—एताविति ।

यतो द्वावपीमौ जन्मनैव प्राप्तास्त्रौ, भगवन्तं वाल्मीकिञ्चोपेतौ भवदीयाकृतिमनुकुरुतो वीरौ, अवस्थया च द्वादशवर्षदेशीयौ । द्वादशैव वर्षाणि व्यतीतानि सीतायाः अत एभिश्चिह्नै रतारेव ताविति मम मतिरस्तीति ॥१६॥

लक्ष्मणस्य 'पुत्राविमौ तौ' इति सम्मतिं निशम्य रामः प्राह—वत्साविति ।

'इमौ वत्सौ' इत्यनया सम्भावनावार्तया सरिप्लवमानं = चञ्चलं हृदयं यस्य तादृशोऽहं प्रमुग्धोऽस्मि ।

टिप्पणी

(१) [श्लोक १६]

प्राप्ताप्राचेतसावुभौ—पाठा०, 'जातौ प्राचेतसावुभौ', जातौ/उभौ प्राचेतसान्मुनेः', धीरौ सम्प्राप्तसंस्कारौ' ।

(२) **पवित्रीकुरु रसातलम्**—प्रो० कान्तानाथ शास्त्री तैलङ्ग के अनुसार—यहाँ रसातल' शब्द के दो अर्थ हैं । पृथ्वी ने उसका प्रयोग भूपृष्ठ के अर्थ में किया है । सीता जी और लक्ष्मण जी उसे उसी अर्थ में समझ रहे हैं । रामचन्द्र जी उसे 'पाताल के अर्थ में समझ रहे हैं ।' (विशेष देखिये उन्हीं की टिप्पणी) । (३) **न सहिष्यामीदृशं जीवलोकस्य परिभवमनुभवितुम्**—पाठा०, 'न शक्तास्मीदृशं जीवलोकपरिवर्तमनुभवितुम्' । सीता का जीवलोक के प्रति आक्रोश फूट पड़ा है ।

रामः—कथं विलयः प्रतिपन्न एव तावत् । हा चारित्रदेवते ! लोकान्तरे पर्यवसितासि ? (इति मुर्च्छति)

लक्ष्मणः—भगवन् वाल्मीके । परित्रायस्व, परित्रायस्व । एष ते काव्यार्थः ?

(नेपथ्ये)

अपनीयतामातोद्यम् । भो जङ्गमस्थावराः प्राणभृतो मर्त्यामर्त्याः ! पश्यन्त्विदानीं वाल्मीकिनाभ्यनुज्ञातं पवित्रमाश्चर्यम् ।

लक्ष्मणः—(विलोक्य ।)

मन्थादिव क्षुभ्यति गांगमम्भो, व्याप्तं च देवर्षिभिरन्तरिक्षम् ।
आश्चर्यमार्या सह देवताभ्यां, गंगामहीभ्यां सलिलादुपैति ॥१७॥

[**अन्वयः**—गाङ्गम् अम्भः, मन्थात्, इव क्षुभ्यति, अन्तरिक्षं च, देवर्षिभिः व्याप्तम्, आर्या, देवताभ्यां गङ्गामहीभ्यां सह सलिलात्, उपैति (इति) आश्चर्यम् ॥१७॥]

नेपथ्ये

अरुन्धति ! जगद्वन्द्ये ! गङ्गापृथ्व्यौ जुषस्व नौ ।
अर्पितेयं तवावाभ्यां सीता पुण्यव्रता वधूः ॥१८॥

लक्ष्मणः—अहो आश्चर्यमाश्चर्यम् । आर्य । पश्य । कष्टमद्यापि नोच्छ्वसित्यार्यः ।

हिन्दी—

राम—क्या विलय हो ही गया ? हाँ ! (विशुद्ध) चरित की देवी ! दूसरे लोक में चली गई हो ? [मूर्छित हो जाते हैं ।]

लक्ष्मण—भगवान् वाल्मीकि ? रक्षा करिये 'रक्षा करिये । क्या यही आपके काव्य का प्रयोजन है ? (आर्य मूर्छित पड़े हैं । कृपया इनकी रक्षा सर्वप्रथम कीजिये ।)

(नेपथ्य में)

वाद्य आदि बन्द करो । हे ! स्थावर-जंगल प्राणियों मनुष्यों तथा (मनुष्येतर) देवगण ! (आदि) इस समय आप लोग महर्षि बाल्मीकि के द्वारा आज्ञप्त पवित्र आश्चर्य को देखिये !

लक्ष्मण—(देखकर)

[श्लोक १७]—गङ्गाजी का जल, मानों किसी ने मथ दिया हो, इस प्रकार क्षुब्ध हो रहा है, अन्तरिक्ष देवताओं और ऋषियों से व्याप्त है ! आश्चर्य है ! आश्चर्य है, आर्य (सीता जी) देवी गङ्गा और पृथ्वी के साथ जल से निकल रही हैं ।

(नेपथ्य में)

[श्लोक १८]—जगद्वन्दनीये, अरुन्धति ! हम, गङ्गा और पृथ्वी को (सीता को स्वीकार कर) प्रसन्न करो । हम दोनों पवित्र चरित्र वाली वधू सीता को तुम्हें सौंपती हैं ।

लक्ष्मण—ओह ! आश्चर्य है, आश्चर्य है ! आर्य ! देखिये, देखिये ! दुःख है, आर्य अब तक भी सचेत नहीं हुए हैं ।

संस्कृत-व्याख्या

मदादेशात्, स्तन्यत्यागं यावदेतयोः संवेक्षण कार्यम्, अनन्तरं यथा रोचिष्यते, तथा करिष्यामीत्युक्त्वा सीतामादाय भागीरथ्या सह निष्क्रान्तायां विश्वम्भरायां व्याकुलो रामः प्राह—कथमिति । अहो ! कथं प्रविलयः— एव प्रतिपन्नः=सञ्जातः सीतायाः ? हा चरित्रस्य देवते सीते ! परलोकं प्रविष्टासि ! इत्युक्त्वा मूर्च्छितो भगवान् रामः ।

मूर्च्छितं राममालोक्य लक्ष्मणः कथयति—भगवन्निति । सर्वसामर्थ्यशालिन् महर्षे ! रक्षाधुना रामम् । किमेष तव काव्यस्य=दृश्यकाव्यस्य नाटकस्यार्थः ! रामो मूर्च्छित ! इति कृपया नाटकाभिनयं समाप्य महाराजस्य रक्षां प्रथमं क्रियताम् ।

(नेपथ्ये) आतोद्यमपनीयताम्=वादित्रादिकमवरुध्यताम् । भोः ! सर्वेऽपि मर्त्याः, अमर्त्याश्च वाल्मीकिना आज्ञप्तमाश्चर्यं विलोकयन्तु, इति श्रुत्वा लक्ष्मणः समालोक्य प्राह—मन्थादिवेति ।

· गङ्गाया इदमम्भः=जलं मथनात् विक्षुब्धमिवास्ति, अन्तरिक्षञ्च देवैः ऋषिभिश्च व्याप्तम्, आश्चर्यम्, इयमार्या सीता देवी, गङ्गया पृथिव्या च सह जलादुपैति =निर्गत्य समायाति ।

अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । इन्द्रवज्रा च्छन्दः ॥१७॥

पुनर्नेपथ्ये । देव्यौ कथयतः = अरुन्धति इति । भोः ! जगद्वन्दनाये ! अरुन्धति ! अत्रागच्छ नौ = आवाम्, गंगा-पृथिव्यौ, जुषस्व = प्रीत्या सेवस्व । इयं पुण्यचरित्रा तव पुत्र-वधूः, सीता, आवाभ्यां तुभ्यमर्पिता । गृहाणेमाम् ॥१८॥

टिप्पणी

(१) "एष ते काव्यार्थः" यह वाक्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । जहाँ एक ओर इससे लक्ष्मण का वाल्मीकि के प्रति आक्रोश प्रकट हो रहा है । वहाँ दूसरी ओर भवभूति की भी वाल्मीकि से उत्कृष्टता ध्वनित हो रही है ।

आशय यह है—वाल्मीकि ने सीता का पृथ्वी में विलय अपने काव्य में दिखा दिया है जो कि नाटक के लिए ठीक नहीं है (The words एष ते काव्यार्थः may also suggest the following this is the aim of your poem. It will do for a kavya, but not for a drama. —(kane)

देखिये—

"तामसानुगतां दृष्ट्वा प्रविशन्तीं रसातलम् ।
पुष्पवृष्टिरविच्छिन्ना दिव्या सीतामवाकिरत् ॥" (रामा०, उत्तर, ९७|२०)

किन्तु भवभूति ने एक विचित्र आनन्ददायक कल्पना की है । उन्होंने सीता को पृथ्वी में नहीं घुसाया अपितु बाहर निकालकर ऊँचा उठाया है । यही उनकी विशेषता है जो कि सुखान्तभावना से मण्डित है

यही कल्पना वह पवित्र आचार्य है, जिसे देखने के लिए स्थावर-जंगम, मर्त्य अमर्त्य—सभी आमन्त्रित हैं । व्यञ्जना यह है—वाल्मीकि ने तो सीता का पृथ्वी में विलय दिखाकर कथा समाप्त कर दी । किन्तु भवभूति ने उस कथा की सूचनामात्र (कथं विलय एव देव्या…आदि से) देकर उससे आगे एक और सुन्दर, साश्चर्य एवं सुखमय कथा का प्रणयन किया है । यह कथा वाल्मीकि से अभ्यनुज्ञात ही समझनी चाहिए । भाव यह है कि यह कथा अनर्गल ही नहीं गढ़ी गयी है अपितु वाल्मीकि की कथा पर ही आगे चली है ।

(ततः प्रविशत्यरुन्धती सीता च)

अरुन्धती—

त्वरस्व वत्से ! वैदेहि मुञ्च शालीनशीलताम् ।
एहि जीवय मे वत्सं, सौम्यस्पर्शेन पाणिना ॥१९॥

सीता—(ससम्भ्रमं स्पृशति ।) समस्ससदु समस्ससदु अज्जउत्तो ।
[समाश्वसित समाश्वसित्वार्यपुत्रः ।]

रामः—(समाश्वस्य सानन्दम् ।) भोः ! किमेतत् ? (दृष्ट्वा सहर्षादद्भुतम् ।)

कथं देवी जानकी ? (सलज्जम् ।) अये ! कथमम्बारुन्धती ? कथं सर्वे ऋष्यश्रृङ्गादयोऽस्मदगुरवः !

अरुन्धती—वत्स ! एषा भागीरथी रघुकुलदेवता देवी गंगा सुप्रसन्ना ।

(नेपथ्ये)

जगत्पते रामभद्र ! संस्मर्यतामालेख्यदर्शने मां प्रत्यात्मवचनम् । 'सा त्वमम्ब ! स्नुषायामरुन्धतीव सीतायां शिवानुध्याना भवैति' (प्रथम अङ्क) तदनृणास्मि ।

अरुन्धती—इयं ते श्वश्रूर्भगवती वसुन्धरा ।

(नेपथ्ये)

उक्तमासीदायुष्मता वत्सायाः परित्यागे "भगवति वसुन्धरे ! सुश्लाघ्यां दुहितरमवेक्षस्व जानकीम्" (प्रथम अङ्क) इति । तदधुना कृतवचनास्मि ।

रामः—कृतापराधोऽपि भगवति ! त्वयानुकम्पयितव्यो रामः प्रणमति ।

अरुन्धती—भो भोः, पौरजानपदाः ! इयमधुना वसुन्धराजाह्नवीभ्यामेवं प्रशस्यमाना, मया चारुन्धत्या च समर्पिता, पूर्वं भगवता वैश्वानरेण निर्णीत-पुण्यचारित्रा, सब्रह्मकैश्च देवैः स्तुता, सावित्रकुलवधूर्देवयजनसंभवा, जानकी परिगृह्यताम् । कथमिह भगवतो मन्यन्ते ?

लक्ष्मणः—आर्य ! एवमम्बयारुन्धत्या निर्भर्त्सिताः । पौरजानपदाः, कृत्स्नश्च भूतग्राम आर्यां नमस्कुर्वन्ति । लोकपालाः सप्तर्षयश्च पुष्पवृष्टि-भिरुपतिष्ठन्ते ।

अरुन्धती—जगत्पते रामभद्र !

नियोजय यथाधर्मं, प्रियां त्वं धर्मचारिणीम् ।
हिरण्मय्याः प्रतिकृतेः, पुण्यां प्रकृतिमध्वरे ॥२०॥

[अन्वयः—(हे जगत्पते !) त्वं, हिरण्मय्याः, प्रतिकृतेः, पुण्यां, प्रकृतिं, प्रियां, धर्मचारिणीम्, अध्वरे, यथाधर्मं, नियोजय ॥२०]

सीता—(स्वगतम् ।) अवि जाणादि अज्जउत्तो सीदाए दुक्खं पडि-मज्जिदुम् ? [अपि जानात्यार्यपुत्रः सीताया दुःखं परिमार्ष्टुम् ?]

रामः—यथा भगवत्यादिशति ।

लक्ष्मणः—कृतार्थोऽस्मि ।

सीता—पज्जुज्जीविदाह्मि। [प्रत्युज्जीवितास्मि।]

लक्ष्मणः—आर्ये ! अयं लक्ष्मणः प्रणमति।

सीता—वच्छ ! इरिसो तुमं चिरं जीअ। [वत्स ! इदृशस्त्वं चिरं जीव।]

अरुन्धती—भगवान् वाल्मीके ! उपनयेदानीं सीतागर्भसम्भवौ रामभद्रस्य कुशलवौ। (इति निष्क्रान्ता।)

राम-लक्ष्मणौ—दिष्टया तथैवैतत्।

सीता—कहिं ते पुत्तआ ? [क्व तौ पुत्रकौ ?]

(ततः प्रविशति वाल्मीकिः कुशलवौ च।)

वाल्मीकिः—वत्सौ ! वां एष रघुपतिः पिता। एष लक्ष्मणः कनिष्ठतातः, एषा सीता जननी। एष राजर्षिजनको मातामहः।

सीता—(सहर्षकरुणाद्भूतं विलोक्य।) कहं तादो ? कहं जादा ? [कथं तातः ? कथं जातौ ?]

वत्सो—हा तात ! हा अम्ब ! मातामह !

राम-लक्ष्मणौ—(सहर्षमालिङ्ग्य।) ननु वत्सौ ! युवां प्राप्तौ स्थः।

सीता—एहि जाद कुस ! एहि जाद लव ! चिरस्स मं परिस्सजह लोअन्दरादो आअदं जणणिम्। [एहि जात कुश ! एहि जात लव ! चिरस्य मां परिष्वजेथां लोकान्तरादागतां जननीम् !]

कुशलवौ—(तथा कृत्वा।) धन्यौ स्वः।

सीता—भअवं ! एसा हं पणमामि। [भगवान् ! एषाहं प्रणमामि।]

वाल्मीकिः—वत्से ! एवमेव चिरं भूयाः।

हिन्दी—

(तदनन्तर अरुन्धती और सीता प्रवेश करती हैं।)

अरुन्धती—

[श्लोक १९] बेटी, सीते ! लज्जा-शीलता को छोड़ों। अपने सौम्य (कोमल) स्पर्श वाले हाथ से (छूकर) मेरे वत्स (राम) को जिलाओ ! (होश में लाओ !)

सीता—(शीघ्रता से स्पर्श करती है) आर्यपुत्र ! धैर्य धारण करिये ! धैर्य धारण करिये।

राम—(आश्वस्त होकर आनन्द-सहित) अरे ! यह क्या है ? (देखकर, हर्ष और आश्चर्य से) क्या देवी जानकी हैं ? (लज्जा-सहित) अरे ! क्या माता 'अरुन्धती' हैं ? क्या सभी "ऋष्यशृङ्ग" आदि हमारे गुरुजन हैं ?

अरुन्धती—वत्स ! ये रघुकुल की देवी भागीरथी 'गङ्गाजी' (तुम पर) बहुत प्रसन्न हैं।

(नेपथ्य में)

जगत्पते ! रामभद्र ! 'चित्र-दर्शन' के समय मेरे प्रति कहे गये अपने (उन) वचनों का स्मरण करिये ! (कि)—"अम्ब ! ऐसी (अलौकिक प्रभाव-शालिनी) आप पुत्र-वधू ("सीता") में अरुन्धती की भाँति शुभाकाङ्क्षिणी होना !" (प्रथम अङ्क)। अतः (अब) मैं उऋण हो गई हूँ।

अरुन्धती—यह तुम्हारी सास भगवती पृथ्वी हैं।

(नेपथ्य में)

चिरञ्जीव ! आपने सीता परित्याग के अवसर पर कहा था—"भगवती वसुन्धरे ! अपनी प्रशंसनीय पुत्री (सीता) की देख-भाल रखना" (प्रथम अङ्क)। अतः अब मैंने (आपके इन) वचनों का पालन कर लिया है।

राम—अपराध करने पर भी भगवति ! आपके द्वारा अपुकम्पनीय राम प्रणाम करता है।

अरुन्धती—"नागरिकों ! और जन-पद-निवासियों ! इस समय गङ्गा और पृथ्वी ने जिनकी इस प्रकार प्रशंसा की है, और मुझ अरुन्धती ने जिन्हें समर्पित किया है, (इससे) पहले भी जिनके चरित्र की विशुद्धता का निर्णय भगवान अग्निदेव कर चुके हैं तथा ब्रह्माजी सहित सब देवताओं ने (मुक्त-कण्ठ) से जिसकी प्रशंसा की है, उन यज्ञ-भूमि से उत्पन्न सूर्यवंश की वधू जानकी को (राम) ग्रहण कर लें, इस विषय में आपकी क्या सम्मति है ?

लक्ष्मण—इस प्रकार माता अरुन्धती से भर्त्सित होकर (ताना पाकर) नागरिक तथा जनपद-निवासी और समस्त प्राणी-समूह आर्या को प्रणाम कर रहे हैं। लोकपाल और सप्तर्षि भी पुष्प-वर्षा कर (आर्या की) पूजा कर रहे हैं।

अरुन्धती—जगत्पते, रामभद्र !

[श्लोक २०]—हिरण्मयी प्रतिमा की मूल प्रकृति इस प्रिया (सीता) को तुम यज्ञ में धर्मानुसार धर्मचारिणी बनाओ। (सुवर्ण-प्रतिमा के स्थान पर वास्तविक सीता को प्रतिष्ठित करो:, उसी से यज्ञ सफल होगा।)

सीता—क्या आर्यपुत्र सीता के दुःख को पोंछना (दूर करना) भी जानते हैं ?

राम—जो भगवती की आज्ञा ?

लक्ष्मण—मैं कृतार्थ हो गया हूँ। (मैं ही आर्या को छोड़कर गया था, आज वह दुःख दूर हो गया।)

सीता—मुझे तो फिर से जीवन मिला गया है।

लक्ष्मण—आर्ये ! यह लक्ष्मण प्रणाम करता है।

सीता—वत्स ! तुम 'ऐसे ही' बहुत दिनों तक जीओ।

अरुन्धती—भगवान् वाल्मीकि ! अब सीता के गर्भ से उत्पन्न रामभद्र के 'कुश, और 'लव' को लाइये।

[चली जाती हैं।]

राम-लक्ष्मल—सौभाग्य से यह वैसा ही है। (जैसा कि हम सोच रहे थे कि ये लव-कुश वे ही हैं, यह बात सत्य सिद्ध हुई।)

सीता—वे दोनों बेटे कहाँ हैं ?

(तदनन्तर वाल्मीकि और कुश-लव प्रवेश करते हैं !)

वाल्मीकि बच्चों ! ये रामचन्द्र जी तुम्हारे पिता हैं। ये लक्ष्मण जी चाचा

है। यह सीता माता है, ये राजर्षि जनक (तुम्हारे) नाना हैं।

सीता—(हर्ष, शोक और आश्चर्य से देखकर) क्या पिताजी ? (और) क्या दोनों पुत्र ?

बच्चे—(कुश-लव)—हा ! पिताजी ! हा ! माँ ! हा ! नानाजी !

राम-लक्ष्मण—(सहर्ष आलिङ्गन कर) अरे ! बच्चों तुम मिल गये हो !

सीता—आओ बेटा कुश ! आओ, बेटा लव ! दूसरे लोक (रसातल) से आई हुई अपनी माता, मुझसे बहुत देर तक गले मिलो।

कुश-लव—(वैसा कर) हम धन्य हैं।

सीता—भगवान् ! यह मैं प्रणाम करती हूँ।

वाल्मीकि—बेटी ! तुम ऐसी ही बहुत दिनों तक रहो ! (तुम्हें कभी पति-पुत्र का वियोग न हो। तुम आनन्दपूर्वक रहो।)

संस्कृत-व्याख्या

मूर्च्छितं राममुज्जीवितुं सीतामाकर्षन्ती प्राहारुन्धती—त्वरस्वेति। पुत्रि सीते ! त्वरां कुरु। शालीनशीलताम्—अधृष्टस्वभावं मुञ्च। सौभाग्यस्पर्शवता करेण मे वत्सं राममुज्जीवय, सत्वरमेहि ॥१९॥

अरुन्धत्या सीतासंग्रहार्थं सर्वे पौरा जानपदाश्चोक्ताः। लक्ष्मणोऽधुना सर्वेषां प्रतिनिधिरूपेण कथयति आर्येति। आर्य ! एवमम्बयाऽरुन्धत्या निर्भर्त्सिताः सर्वे पौरा जानपदाश्च, सर्वो भूतग्रामश्चाय प्रणमन्त्येते। सर्वे लोकपालाः ऋषयश्च पुष्पवृष्टिं कुर्वन्ति।

अरुन्धती देवी रामं सम्बोध्याहा— नियोजयेति।

जगत्पते ! रामभद्र ! त्वमिदानीं धर्मानुसारं स्वसहधर्मिणीमिमां सीतां स्वर्णनिर्मितायाः सीतायाः स्थाने यज्ञे नियोजय। स्वर्णनिर्मिता सीता तु प्रतिकृतिरस्ति, इयं प्रकृतिरेव। साक्षात् प्रियामेव यज्ञे नियोजयति यज्ञसाफल्यमेतयैव भविष्यतीति भावः ॥२०॥

रामेण भगवत्या अरुन्धत्या आदेशे स्वीकृते सहर्षमाह लक्ष्मण—कृतार्थ इति। अधुनाऽहं कृतकृत्योऽस्मि। सीता मयैव रामादेशात्परित्यक्तेति मम मनसि सर्वदा दुःखं भवति स्म, इदानीञ्चानयोः सङ्गमात् प्रसीदामि।

टिप्पणी

(१) [श्लोक १९]—तृतीय अङ्क में भी श्रीराम जी को सीताजी के स्पर्श से चेतना प्राप्त हुई थी। (२) "लोकपालाः"—लोकपाला आठ हैं—

"इन्द्रो वह्निः पितृपतिर्नैऋतो वरुणो मरुत्।
कुबेर ईशः पतयः पूर्वादीनां दिशां क्रमात् ॥" इत्यमरः।

(३) "सप्तर्षय"—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरस, पुलस्त्य, पुलह, ऋतु एवं वसिष्ठ-ये सप्तर्षि है। (४) उपतिष्ठते—"उपाद्देवपूजासङ्गतिरणमित्रकरणपथिष्विति

वाच्यम्"-इत्यात्मनेपदत्वम् ! (५) "वत्से ! एवं चिरं भूयाः"—कहीं इसके आगे सीता का यह कथन और मिलता है—

सीता—"अम्महे, तादो कुलगुरु, अज्जाजणो, सभत्तुअ अज्जा सतादेई, संलक्खणा सुप्पसणा अज्जउत्तचलणा, समं कुसलवावि दिसंति, ता णिब्भरम्हि आणन्देण। (आश्चर्यम्, तात, कुलगुरुः, आर्याजनः, सभर्तृका आर्या शान्तादेवी, सलक्ष्मणा सुप्रसन्ना आर्यपुत्रचरणाः, समं कुशलवावपि दृश्यन्ते; तन्निर्भरास्मि आनन्देन)

(नेपथ्ये)

उत्खातलवणो मधुरेश्वरः प्राप्तः।

लक्ष्मणः—सानुषङ्गानि कल्याणानि।

रामः—सर्वमिदमनुभवन्नपि न प्रत्येमि। यद्वा प्रकृतिरियमभ्युदयानाम्।

वाल्मीकिः—रामभद्र ! उच्यतां ? किं ते भूयः प्रियमुपहरामि ?

रामः—अतः परमपि प्रियमस्ति ? किंत्विदं भरतवाक्यमस्तु।

पाप्मभ्यश्च पुनाति वर्धयति च श्रेयांसि सेयं कथा,
माङ्गल्या च मनोहरा च जगतो मातेव गङ्गेव च।
तामेतां परिभावयन्त्वभिनयैर्विन्यस्तरूपां बुधाः,
शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणता प्राज्ञस्या वाणीमिमाम् ॥२१॥

[अन्वयः—जगतः, माता इव, गङ्गा इव, च, माङ्गल्या च, मनोहरा, च, सा, इयं कथा, पाप्मभ्यः, पुनाति, श्रेयांसि वर्धयति च। बुधाः, अभिनयैः, विन्यस्तरूपां, शब्दब्रह्मविदः, प्राज्ञस्य, कवेः, परिणताम्, इमां, ताम्, एताम्, वाणीं, परिभावयन्तु ॥२१॥]

(निष्क्रान्ताः सर्वे।)

इति महाकविभवभूतिविरचित उत्तररामचरिते 'सम्मेलनं' नाम सप्तमोऽङ्कः।

हिन्दी—

(नेपथ्य में)

'लवणासुर' को मारकर 'मधुरेश्वर' (शत्रुघ्न) पधारे हैं।

लक्ष्मण—कल्याण के साथ और कल्याण भी आते हैं। (एक शुभ दूसरे शुभ कर्मों का जनक होता है। हमें आर्या मिल गई। कुश-लव मिल गये, 'लवण' मारा गया; और शत्रुघ्न भी आ गये। यह परस्पर अनुबद्ध कल्याण-परम्परा ही तो है।)

राम—मैं तो इस सब का अनुभव करते हुए भी (इस पर) विश्वास नहीं कर

रहा हूँ। अथवा यह अभ्युदयों का स्वभाव ही है।

वाल्मीकि—रामभद्र ! कहिए, अब मैं पुनः आपका क्या प्रिय (कार्य) करूँ ?

राम—इससे भी अधिक कुछ प्रिय हो सकता है ? तथापि यह 'भरतवाक्य' हो।

[श्लोक २१]—

१. 'जगत् की माता और गङ्गा जी की भाँति यह मङ्गलमय तथा मनोहर कथा (संसार को) पापों से शुद्ध करती है और पुण्यों को बढ़ाती है ! उसी शब्द ब्रह्म-वेत्ता ('वाल्मीकि') की ,अभिनय आदियों से सम्यक् रूप से दिखाई गई एवं कवि के द्वारा दूसरे रूप में बदली गई इस (रामायण-रूप) वाणी का पण्डित लोग विवेचन करें। [महर्षि 'वाल्मीकि' की रामायण-कथा को ही कवि ने इस नाटक में दूसरा रूप दे दिया है। विज्ञ इस पर विचारकर 'राम-कथा' रूपी अमृतपानकर प्रसन्न हों।]"

२. [कुछ विद्वान् 'शब्द-ब्रह्म-विदः' को कवि (भवभूति) का विशेषण मानकर यह अर्थ करते हैं—]

"शब्द-ब्रह्म-वेत्ता विद्वान् 'कवि' (भवभूति) के द्वारा रूपान्तरित इस (उत्तर-राम-चरित-रूप) वाणी की विद्वान् विवेचना करें।"

अथवा—

"यह सातवें अङ्क की आपके (वाल्मीकि) के द्वारा नाटक-रूप में रचित अभि-नव-कथा माता 'पृथ्वी' तथा 'गङ्गा' देवी की भाँति समस्त संसार का दुःख दूर करें !"

[सब चले जाते हैं।]

महाकवि 'भवभूति'—विरचित 'उत्तररामचरित' में 'सम्मेलन'
नामक सप्तम अङ्क समाप्त।

संस्कृत-व्याख्या

सर्वैः यह यथासुखं सर्वेषां परिचयानन्तरं भगवता वाल्मीकिना प्रदत्तो तौ पुत्रौ। सर्वे च सानन्दाः सम्पन्नाः। (नेपथ्ये) लवणमुत्खात्य मधुरेश्वरः शत्रुघ्नः समा-यातः, इति श्रुत्वा सानन्दमाह लक्ष्मणः—सानुषङ्गाणि इति। कल्याणानि सानुषङ्गाणि भवन्ति। एकेन कल्याणेन सहान्यान्यपि कल्याणानि सम्बद्धानि भवन्ति। आर्या लब्धा पुत्रौ प्राप्तौ, लवणो राक्षसोऽपि विनाशितः, अनुजः शत्रुघ्नोऽपि समायातः, इति महा-नानन्दः।

रामः साश्चर्यमाह—सर्वमिदमिति।

इदं सर्वं प्रत्यक्षतो वर्तमानमनुभवन्नपि नाहं विश्वसिमि। कदाचित्स्वप्न एवायमिति भावः। अथवा—अभ्युदयानां=माङ्गलिक-सुखानामियं प्रकृतिः=स्वभाव एवायम्। कल्याणं कल्याणान्तरैः सम्बद्धं सदेवायाति।

भगवान् वाल्मीकिः रामम्प्रत्याह—रामभद्रेति। राम ! कथय, अतोऽधिकं किन्तव प्रियमुपहरामि ? किमन्यत् प्रियमुपस्थापयामि ? यत् कृतम्, तत्तु स्व-

कर्त्तव्य-बुध्यैव, अतः परं यथाभिलषितमपि कथय येन तवेप्सितस्यापि पूर्तिं कृत्वा ऽऽत्मा कृतार्थनीयः ! इति भावः ।

भगवान् रामः परमप्रसन्नः सन् प्राह—अत इति । अतः परमपि किंचित् प्रियम्भविष्यति किमु ? यद्भवद्भिः कृतम्, तत्तु परमं प्रियमेव । अतोऽधिकं किमपि नाभिलषणीयम् तथापि, नियमानुसारं नाटकान्तेऽवश्यकर्तव्यत्त्वेनेदं भरतवाक्यमस्तु-मयाइत्येवमाशीर्वादो दीयताम् भवद्भिरिति भावः ।

किं तद्वाक्यमित्याह भगवान् रामः—पाप्मभ्यश्चेति ।

जगतः माता इव गङ्गेव चेयं माङ्गल्या=मङ्गलैः शुभैः परिपूर्णा मनोहरा च सेयं कथा पाप्मभ्यः=पापेभ्यः पुनाति=सर्वानपि पवित्रीकरोति । श्रेयांसि=कल्याणानि च वर्धयति, अस्याः सीतारामयोः कथायाः श्रवणेन सर्वविध-सुखसम्पत्ति-प्राप्तिर्भवति, सर्वविधञ्च मङ्गलमायाति भवने, अथ च शब्दब्रह्मविदः=शब्दतत्त्वज्ञस्य भगवतो वाल्मीकेः परिणतां=परिणामं प्राप्ताम्, इमां कवेः वाल्मीकेः, भवभूतेः, अन्यस्य यस्यकस्यचिद्रामचरित्रनिबद्धुः कवेः प्राज्ञस्य=बुद्धिमतः, इमां वाणीम्=रामायणरूपां वाचम्, बुधाः=विज्ञाः, अभिनयः=अवस्थानुसाररूपै-र्नाटकादिभिः, विन्यस्तम्=यथायथं वर्णितं रूपं यस्यास्तामेतां वाणीं, परिभावयन्तु=विवेचयन्तु । रामायण-कथैव विज्ञेन कविनोत्तररामचरितरूपेणोपस्थापिता, विज्ञा एनां सम्यग् विचार्य रामकथामृतपानेन प्रसन्ना भवन्तु । सर्वदा नित्यनवीनरूपां रामायण-कथामा-स्वाद्य सम्मदरसमनुभवन्तु । इत्येव भरतमुनेर्वाक्यं सफलं भवत्विति कामये ।

इत्युक्त्वा सर्वे नरा प्रयोगशालातो वहिर्निष्क्रान्ताः । अङ्कान्ते सर्वेषां निर्गमन-नियमात् ।

अथ चात्र—इयं कथा नवीनसप्तमाङ्करूपापन्ना यादृशी भवद्भिः—श्री वाल्मीकिभिः नाटकरूपेणोद्भाविता, इयं कथा सर्वदा सर्वेषां जगताम् जननीव=भगवती धरेव, गङ्गादेवी च सर्वविधपापप्रणोदन-परा भवतु, इत्यपि कामना ।

क्वचित् 'पुनात्विति' पाठः । आशंसावचनमिदम् ।

अत्र उपमा अलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं च्छन्दः । माधुर्यं गुणः । वैदर्भी रीति ॥२१॥

अस्मिन्नङ्के सर्वेषां सम्मेलनं सुकविना समुपवर्णितमिति 'सम्मेलनाङ्क'-नामायं चरमोऽङ्कः ।

ग्रन्थादौ, ग्रन्थमध्ये, ग्रन्थान्ते च मङ्गलमाचरणीयमिति शिष्टाचारपरिपालना-र्थमस्मिन्नाटके प्रारम्भे 'इदं कविभ्यः' इति, मध्ये—'अवनिरमरसिन्धुः' इति, अन्ते चेदं पद्यं मङ्गलरूपतया विन्यस्तमिति समङ्गलमिदं सर्वेषां मङ्गलमातनोति ।

सर्व-पाप-विनाशाय, यदीयं, चरितं शुभम् ।
गायन्ति कवयोः नित्यं, साम्बास्मानपि पावयेत् ॥
पुण्या रामकथालोके, पुण्या सीता कथा तथा ।
यथामति सुविख्याता, सुव्याख्याता नवाक्षरा ॥
विश्वात्मा प्रीयतां देवो, देवी च जनकात्मजा ।
यदीयप्रेरणा हेतुर्जाता टीका निरूपणे ॥

मुजफ्फरनगर-मण्डलान्तर्गत-'चरथावल'-अभिजनानाम्, श्रीपण्डितबद्रीदत्तशुक्लानां पौत्रेण
श्री पण्डित माईदयालुशुक्लानां पुत्रेण, श्री तुलसादेव्या गर्भसम्भवेन, 'वसिष्ठ' गोत्रेण
'उद्बोधन'–'मणि-निग्रह'–'भारत-सुषमा'–'आश्वासन'–'गान्धिचरिता'दि
संस्कृत-हिन्दी-काव्य प्रणेत्रा 'मृच्छकटिक'-'मुद्राराक्षस' 'हर्षचरिता-
द्यनेकग्रन्थव्याख्यात्रा एम. ए. साहित्याचार्येण,
व्याकरणालङ्कार–शास्त्रिणा, काव्यतीर्थेण
'कविरत्न' श्री ब्रह्मानन्द शुक्लेन
उत्तरप्रदेशान्तर्गत 'खुरजा'-स्थ श्री राधाकृष्ण-संस्कृत-कालेजे,
साहित्य-विभागाध्यक्षेण, प्रधानाचार्येण च विरचितायाम् 'उत्तररामचरितस्य'
'प्रियम्वदा'ख्य संस्कृतटीकायां सप्तमोऽङ्कः सम्पूर्णः ॥७॥
सम्पूर्णञ्चेदं नाटकम् ।
शुभमस्तु सर्वेषाम् ।

टिप्पणी

(१) **उत्खातलवणो मधुरेश्वरः प्राप्तः**—मधुरेश्वर=शत्रुघ्न । लवणवध से पूर्व ही श्री रामचन्द्रजी शत्रुघ्न को मधुरेश्वर कह चुके थे । विशेष देखिये—रामायण उत्तरकाण्ड, सर्ग ६२/७२ ।

प्रथम अङ्क में लवण के लिये 'माधुर' शब्द का प्रयोग हुआ है । देखिये—श्लोक ५० के अनन्तर । प्रो० कान्तानाथ तैलङ्ग उसे भ्रष्ट पाठ मानते हैं । उनका तर्क है—"मधुरा निवासः अस्य सः माधुरः । मधुरा तो लवण को मारकर शत्रुघ्न ने बसाई थी । तब लवण को माधुर कैसे कहा जा सकता है ? अतः वहाँ (प्रथम अङ्क) से 'माधुरस्य' यह शब्द निकाल देना चाहिए ।"

(२) **भरतवाक्यम्**—नाटक के अन्त में प्रयुक्त मङ्गलात्मक वाक्य को भरत-वाक्य कहा जाता है । नाटचाचार्य भरतमुनि के नाम के आधार पर इसे 'भरतवाक्य' कहते हैं 'भरतस्य नाटचाचार्यस्य वाक्य वचनं' । अथवा एक और भी अभिप्राय हो सकता है । 'भरत' का अर्थ 'नट' (Actor) भी होता है । इस प्रकार—नटों के द्वारा अन्त में उच्चारित वाक्य भरतवाक्य कहलाता है । तुलना—"भवभूतिर्नाम कवि-र्निसर्गसौहृदेन भरतेषु" । (मालतीमाधव)

(३) [श्लोक २१]—

१. पाठान्तर, पुनाति वर्धयति च—'पुनातु वर्धयतु च' माङ्गल्या—मङ्गल्या' । तामेताम—'वाल्मीकेः' । परिणतां प्राज्ञस्य—परिणतप्रज्ञस्य' ।

२. **पाप्मभ्यश्च पुनाति**—वीरराघव ने 'पुनाति' का अर्थ 'विभाजयति' किया है । 'पाप्मभ्यः दुरितेभ्यः जगत् पुनाति विभाजयति । जगत् इति षष्ठचन्तं विपरिणम्य योजनीयम् । पूङ् धातुः यद्यपि दुरितविभजनात्मकदोषनिर्हरणवाची तथापि पाप्मभ्यः पुनातीति 'स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः' इतिवद् व्याख्येयम् ।"

(३) **वर्धयति च श्रेयांसि**—ऊपर विभक्ति-विपरिणाम के द्वारा पुनाति के साथ 'जगतः' को द्वितीयान्त मानकर कर्म माना था। यहाँ षष्ठ्यन्त है—'जगतः श्रेयांसि पुत्रमित्रादीनि वर्द्धयति, मोक्षपर्यन्तानि उत्तरोत्तरमधिकानि करोति।'

(४) **जगतः मातेव गङ्गेव च**—जगतः मातेव=जगत की माता (पृथ्वी के समान। वीरराघव ने 'जगतः' को माता के साथ नहीं जोड़ा है। 'मातेव गङ्गेव च' को पृथक् रक्खा है—'मातेव गङ्गेव माङ्गल्या मनोहरा च। माता हि दुःखविस्मारिणी सुखदा च भवति। गङ्गा च पापनाशनी मोक्षदा च भवति। तद्वद्रामायणमपीति भावः।

कवि ने कथा के उपमानों के रूप में माता (पृथ्वी) और गङ्गा को विशेष अभिप्राय से रखा है। कथानक के विस्तार में इन दोनों पात्रों का जो योगदान है, वह सहृदयों से छिपा नहीं है।

(५) **शब्दब्रह्मविदः**—इसे 'बुधाः' और 'कवेः' दोनों के साथ लगाया जा सकता है। वीरराघव ने 'बुधाः' के साथ इसे लगाया है—'शब्दब्रह्मविदः शब्द एव ब्रह्म परिच्छिन्नत्वापरिच्छित्वाभ्यां परब्रह्मसादृश्यात्तद्रूपणम्। तद्विदन्तीति शब्दब्रह्मविदः बुधाः सहृदया······शब्दब्रह्मविदो बुधाः अभिनयैः सह विन्यस्तरूपां प्राज्ञस्य कवेर्वाणीं परिणतामेनां परिभावयन्त्विति योजना। विशेष—हिन्दी-अनुवाद देखिये।

(६) **परिभावयन्तु**—'परितश्चिन्तयन्तु'। 'भू अवकल्पने'। अवकल्पनं चिन्तनमित्युक्तम्' (वीर०)। अथवा—परि–परितः। 'परिस्यात्परितोऽर्थेऽपि' इति केदारः। भावयन्तु=लालयन्तु। "आदरे लालने च स्याद् भावना' इति जयः।" (घनश्याम)।

भाव यह है कि इस कथा का सम्मान हो और इस पर विचार किया जाय। यह विचार या सम्मान अभिनयों के द्वारा होना चाहिए। 'अभिनय के दो अर्थ हो सकते हैं—'अभिनयैः=लेखेन पठनपाठनप्रचारणाभिनन्दनादिभिः।' 'प्रचारणादौ भावाङ्गदर्शनेऽभिनयो मतः इत्यगस्त्यः।' (घनश्याम) अथवा 'अभिनयाः सात्त्विकाङ्गिकाहार्यवाचिकभेदेन चतुर्विधाः। अभिनयैरितीत्थम्भूतलक्षणे तृतीया।' (वीरराघव)

(७) **परिणताम्**—परिपक्वाम्। अथवा "उत्तररामचरितनाटकरूपभवभूतिवागात्मना यः परिणामः तद्वतीम्"। परि+√नम्+क्त।

(८) **सम्मेलनम्** के लिए 'सप्तम् अङ्क का नाटकीय महत्त्व' शीर्षक देखिये।

'श्रीप्रियम्वदा'-टीकालङ्कृत 'उत्तररामचरित' नाटक के
'सम्मेलन' नामक सप्तम अङ्क का सटिप्पण
हिन्दी-भाषानुवाद समाप्त।

॥ महाकवि 'भवभूति'-विरचित 'उत्तररामचरित' नाटक समाप्त ॥

परिशिष्ट (क)

उत्तररामचरित-प्रयुक्त-वृत्त-सूची

संस्कृत में छन्द (वृत्त) दो प्रकार के प्राप्त होते हैं—(क) वैदिक छन्द एवं (ख) लौकिक छन्द ।

लौकिक छन्दों के भी दो रूप होते हैं—

(१) मात्रावृत्त (आर्या-आदि) तथा (२) वर्णवृत्त (शिखरिणी-आदि)। मात्रा-वृत्त मात्राओं के परिणाम पर आधारित होते है तथा वर्णवृत्त अक्षरों के परिणाम पर।

अक्षरों का परिणाम गणों द्वारा किया जाता है। लघु (छोटे) और गुरु (लम्बे) अक्षरों के समूह को गण कहते हैं। ये आठ हैं जिनके स्वरूप को समझने के लिये यह पद्य बहुत औपायिक है—

"मस्त्रिगुरुस्त्रिलघुश्च नकारो, भादिगुरुः पुनरादिलघुर्यः ।
जो गुरुमध्यगतो रलमध्ये, सोऽन्तगुरुः कथितोऽन्तलघुस्तः ।।" —अर्थात्

मगण (ऽऽऽ), नगण (।।।), भगन (ऽ।।), यगण (।ऽऽ), जगण (।ऽ।), रगण (ऽ।ऽ), सगण (।।ऽ), तगण (ऽऽ।)

छन्दों के लक्षणों में इन गणों के आद्यक्षर (म न भ आदि) इनके द्योतक होते हैं।

छन्दोज्ञान के लिए लघु-गुरु का ज्ञान भी आवश्यक है। इसके लिए पद्य प्रसिद्ध है—

"संयुक्ताद्यं दीर्घं, सानुस्वारं विसर्गसम्मिश्रम् ।
विज्ञेयक्षरं गुरुः पादान्तस्थं विकल्पेन ।।"

अर्थात् संयुक्त वर्ण का पूर्ववर्ती, अनुस्वारयुक्त, विसर्गसहित तथा कहीं-कहीं पद्य के चरण के अन्त में स्थित अक्षर दीर्घ होता है। लघु में एकमात्र का परिणाम होता है और दीर्घ में दो का।

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए पाठक-गण को उत्तररामचरित में आए हुए छन्दों के लक्षणों को समझ लेना चाहिए—

१. अनुष्टुप् अथवा श्लोक

"श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं, सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं, सप्तमं दीर्घमन्ययोः ।।"

(१) १, २, ३, ४, ५, ६, ८, १०, १२, १३, १६, १७, १९, २१, २२ ३२, ४१, ४३, ४६, ४७, ४८, ५०, ५१,। (२) ५, ७, ८, १२, १५, १७, १८, १९, २४,। (३) १, ३, ७, ९, १०, १४, १७, २९, ३३, ३४, ४६, (४) २, ७, ९, २४, २७, २९; (५) ७, १५, १७, २०, २१, २२, २३, २५, २९, ३१; (६) २, ३, ५, ६. १०, २०, २१, २३, २९, ३१, ३२, ३४, ३६, ४२, (७) १, २, ३, ५, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १८, १९, २०। [९० पद्य]

१. आर्या—

"यस्याः पादे प्रथमे, द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या॥"

(३) ४१, (६) १३। [२ पद्य]

३. इन्द्रवज्रा— "स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः।' [त, त, ज, गुरु' गुरु]

(१) १४, ४४; (२) ३; (४) ८; (७) ४, १६। [६ पद्य]

४. उपजाति— (इन्द्रवज्रा + उपेन्द्रवज्रा = उपजातिः)

['स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगो गः। उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ॥"]
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ, पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।
[इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु, वदन्ति जातिष्विदमेव नाम॥]

(१) १५, (२) ६; (३) ३५, (४) ४२; (५) १६; (६) १५, २७। [७ पद्य]

५. द्रुतविलम्बित—"द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।" (न, भ, भ, र)

(३) २७; (४) १५। [२ पद्य]

६. पुष्पिताग्रा—"अयुजि न युगरेफतो यकारो, युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।"

[प्रथम-तृतीय चरण में—न, न, र, य, तृतीय-चतुर्थ चरण में न ज ज, र, गुरु]·

(३) १८, २०; (४); (५) ४, (६) ८। (५ पद्य)

७. पृथ्वी—"जसो जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः।'

[ज, स, ज, स, य, लघु, गुरु। ८, ९ पर यति।]

(५) ५; (६) १, ३७। [३ पद्य]

८. प्रहर्षिणी—"म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्।"

[म, न, ज, र, गुरु। २, १० पर यति।]

(१) ३०, ३१, ४०, ४९; (२) ३९; (३) १, १८। [७ पद्य]

९. मञ्जुभाषिणी—"सजसा जगौ च यदि मञ्जुभाषिणी।" [स, ज, स, ज, गुरु]

(१) १८; (३) ३; (६) ४, १७, ५१। [५ पद्य]

१०. मन्दाक्रान्ता—"मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम् ।"

["मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ न तौ ताद् गुरु चेत् ।"]

[म, भ, न त, त, गुरु, गुरु]

(१) ३३; (२) १३, १४, २५; (३) ६, १५, ३६, ३८; (४) २६;
(५) १२; (६) ९, २२; (७) ६ । [१३ पद्य]

११. मालभारिणी (औपच्छन्दसिक)—

"विषमे ससजा गुरु समे चेत्सभरा येन तु मालभारिणीयम् ।"

[प्रथम-तृतीय चरण में—स, स, ज, गुरु, गुरु,
तृतीय-चतुर्थ चरण में—स, भ, र, य]

(५) ८ । [१ पद्य]

१२. मालिनी—"ननमययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ।

[न, न, म, य, य, । ८, ७ पर यति]

(१) २४, २६, ३७; (२) २०, २१; (३) ५, १९, २३, २५, ४८;
(५) २, ३, १३; (६) २, २४, २६ । [१६ पद्य]

१३. रथोद्धता—"रान्नराविह रथोद्धता लगौ ।' [र, न, र, लघु, गुरु]

(१) ३४, ३७, ४५ । [३ पद्य]

१४. वंशस्थ—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ।'

१५. वसन्ततिलका—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ।'

(६) २५ । [ज, त, ज, र] [१ पद्य]

[त, भ, ज, ज, गुरु, गुरु]

(१) ७, ९, १४, २५, ३६; (२) १०, ११, २२, ३३; (३) ८, ११,
१२, २१, २६, २८, ४७; (४) ६, २३, २९; (५) १०, '११, २४,
३३; (६) ७, १६, १९ । [२६ पद्य]

१६. शार्दूलविक्रीडित—"सूर्याश्ववैर्यसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् ।"

[म, स, ज, स, त, त]

(१) ३९; (२) ९, १६, २८, २९, ३०; (६) १, ३७, ४३, ४५;
(४) १, ५, १७, २०, २२, २४; (४) ६, ४, १९, २७, ३४, ३५;
(६) १८, ४०; (७) २० । । [२५ पद्य]

१७. शालिनी—'शालिन्युक्ता म्नौ तगौ गोऽब्धिलोकैः ।'

[म, त, त, गुरु, गुरु]

(१) ४२; (३) २; (४) १८; (५) ३०, ३२ । [५ पद्य]

१८. शिखरिणी—"रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी ।"

[य, म, न, स, भ, लघु, गुरु]

(१) २८, २६, ३५, ३८; (२) १, २, २६, २७; (३) १३, ३०, ४०; ४४; (४) ३, १०, ११, १२, १३, १४, २१; (५) ६, १६, २६; (६) ११, १४, २८, ३०, ३३, ३५, ३८, ३९ । [३० पद्य]

१९. हरिणी—"न समरसलागः षड्वेदैर्हयैरिणी मता ।"

["रसयुगहयैन्सौं म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा ।"]

[न, स, म, र, स, लघु, गुरु]

(१) २०, २३; (२) ४; (३) २२, २४, ३१, ३३; (४) १९; (५) २८ ।

[९ पद्य]

[योग २५६ पद्य]

टिप्पणी—कुछ संस्करणों में 'वसिष्ठ एव···' आदि पद्य (७/१४) नहीं मिलता, अतः उनके अनुसार पद्य-संख्या २५५ होती है । इसी प्रकार कुछ संस्करणों में 'अजितं पुण्यमूर्जस्वि···' यदि पद्य पाँचवे अङ्क की २७ वीं संख्या पर मिलता है किन्तु इन संस्करणों में 'वसिष्ठ एव···' आदि पद्य नहीं मिलता । संक्षेप में—उक्त दोनों श्लोकों को स्वीकार करने पर पद्य-संख्या २५७, किसी एक को स्वीकार करने पर २५६ एवं किसी को भी न स्वीकार करने पर २५५ होगी। प्रस्तुत संस्करण में "वसिष्ठ···" आदि श्लोक स्वीकार किया गया है ।

परिशिष्ट (ख)

'उत्तररामचरित' में प्रयुक्त प्रमुख अलङ्कारों के लक्षण

१. अतिशयोक्ति— "सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते ।"

१/२८, ३८, २/१३; ३/२६; ४/१३, २७; ६/६ ।

२. अनुमान— "अनुमानं तु विच्छित्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात् ।"

१/२९; ५/१३, ३५ ।

३. अपह्नुति— "प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः ।"

३/३४ ।

४. अर्थान्तरन्यास—"सामान्यं वा विशेषेण, विशेषस्तेन वा यदि ।
कार्यञ्च कारणेनेदं, कार्येण च समर्थ्यते ।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ।"

१/१८, ४१; २/१, ११, १९; ३/१०; ४/११, १२, १८; ५/१७, १६; ६/११, १२, १४, ३०; ७/४ ।

५. अर्थापत्ति— "दण्डापूपिकयाऽन्यार्थगमोऽर्थापत्तिरिष्यते ।"
३/८; ४/१४; ५/२८; ६/४०; ७/४ ।

६. अप्रस्तुतप्रशंसा— "क्वचिद्विशेषः सामान्यात् सामान्यं वा विशेषतः ।
कार्यान्निमित्तं कार्यञ्च, हेतोरथ समात्समम् ॥
अप्रस्तुतात्प्रस्तुतञ्चेद् गम्यते पञ्चधा ततः ।
अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात् ॥"
१/१०, ३६, ४१; २/२, ७, १९ ।

७. असङ्गति— "कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः ।"
४/१४ ।

८. आक्षेप— "वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य, यो विशेषाभिधित्सया ।
निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा ॥"
३/२६; ५/३४ ।

८. उत्प्रेक्षा— "सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।"
१/२, १८, ३१, ३१, ४८; २/६, ९, २४, २६, २७; ३/४, १३, १४, २३, ३३, ३६, ३८, ४९, ४६; ४/३, ७, ८, १२, १९; ५/६, १४; ६/९, १०, १३, १४, १९, २२, २६, ३६, ३८; ७/१७ ।

९. उदात्त— "लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते ।
यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्ग महतां चरितं भवेत् ।"
१/१५, १७, २३, २५, ३२; ४/१ ।

१०. उपमा— "साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः ।"
१/५, ९, २०, २४, २९, ३०, ३६, ४०, ४५, ४७, ४९; २/४, २४; ३/१, ४, ७, ९, १५, १८, १९, २०, २२, २३, २५, २७, २८, ३०, ३५, ३७, ४०, ४२, ४३, ४७; ४/२, ३, ४, ५, ६, ७, १०, १५, १६, १७, १९, २१, २९, ५/१, ३, ४, ५, ८, ९, १३, १८, २६; ६/१, २, ३, ६, ८, ११, १७, १९, २४, २५, २८; ७/२१ ।

११. उल्लेख— "क्वचिद्भेदाद् गृहीतॄणां, विषयाणां तथा क्वचित् ।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख इष्यते ॥"
१/३८ ।

१२. काव्यलिङ्ग— "हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते ।"
१/५, ६, ८, ११, १७, ३०, ३३, ३५, ३९, ४४; २/५, १०, १३, २१, ३७; ३/३, १०, २४, ४४, ४/१३, २५, ५/१, ७, १६, १८, २४; ६/२०, ३९, ४२; ७/३ ।

१३. तुल्ययोगिता— "पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ।
एकधर्माभिसम्बन्धः, स्यात्तदा तुल्ययोगिता ॥"
१/१६, ४१; २/२२, २३; ३/४८; ४/२०, २२, २३;
५/२३, २८; ७/५ ।

१४. दीपक— "अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते ।
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत् ॥"
१/१२, २६; ४/५ ।

१५. दृष्टान्त— "दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् ।"
१/१३, १४; २/४; ३/२६; ५/२० ।

१६. निदर्शना— "सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन्वापि कुत्रचित् ।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना ॥"
१/२२, ३४, ४६; ५/११, २७, ३०, ३५; ६/४, २७, २९ ।

१७. परिणाम— "विषयात्मतयारोप्ये, प्रकृतार्थोपयोगिनि ।
परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा ।"
१/३९; ३/१७, ३०; ६/३० ।

१८. परिसंख्या— "प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद्वस्तुनो भवेत् ।
तादृगन्यव्यपोहाच्छाब्दो आर्थोऽथवा तदा ॥
परिसंख्या··· ।"
४/११; ५/३२ ।

१९. पर्याय— "क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात् ।
भवति, क्रियते, वा चेत्तदा पर्याय इष्यते ॥"
५/१५; ६/३५ ।

२०. पुनरुक्तवदाभास—"आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्येनभासनम् ।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारणशब्दगः ॥"
१/९ ।

२१. भाविक— "अद्भुतस्य पदार्थतस्य, भूतस्याथ भविष्यतः ।
यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं, तद्भाविकमुदाहृतम् ॥"
१/१५, १८, २/१७ ।

२२. यथासंख्य— "यथासंख्यमनुद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत् ।"
३/५, ४२ ।

२३. यमक— "सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहते ।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥"
५/७ ।

२४. रूपक— "रूपकं रूपितारोपाद्विषये निरपह्नवे ।"
१/१५, ३०, ३६, ३८, ५१; २/२९; ३/५, १६, २६, ३५;
४/७, १३, २९; ५/९, १०, १७, २९, ३३; ६/१६, १८ ।

२५. विभावना— "विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।"
१/६; ७/३७ ।

२६. विरोधाभास— "जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः ।
क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद् द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः ।
विरुद्धमिव भासेत, विरोधोऽसौ दशाकृतिः ।"
१/४३; २/२८; ३/१२, १३; ६/३५; ७/१ ।

२७. विशेषोक्ति— "सति हेतौ फलाभावे, विशेषोक्तिर्निगद्यते ।"
१/६; ३/१, ३२; ६/३३ ।

२८. विषम— "गुणक्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः ।
यद्वाऽऽरब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः ।
विरूपयोः सङ्घटना या च तद्विषमं मतम् ।।"
१/१०; २/७, ११, १३; ३/२७; ४/१५; ५/१२, २६ ।

२९. व्यतिरेक— "उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।"
१/१०, २२; २/२; ३/४४, ४५ ।

३०. श्लेष— "शिलष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते ।"
१/१; ३/४० ।

३१. सन्देह— "सन्देह प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः ।
शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ, निश्चयान्त इति त्रिधा ।"
"१/३५; ३/११; ५/१६; ६/३ ।

३२. सङ्कर— "अङ्गाङ्गित्वेलङ्कृतीनां, तद्वदेकाश्रयस्थितौ ।
सन्दिग्धत्वे च भवति, सङ्करस्त्रिविधः पुनः ।।"
१/८, ९, १५, २०; २९, ४१; २/२७, २९; ३/५, २६;
४/४, १३, १५, १९, २९; ५/४, ९, १३, १८; ६/११,
२६; ३५ ।

३३. समाहित— "रसाभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा ।
गुणीभूतत्वमायान्ति यदालङ्कृतस्यतदा ।।
रसवत्प्रेय ऊर्जस्वि समाहितमिति क्रमात् ।
६/७ ।

३४. समुच्चय— "समुच्चयोऽयमेकस्मिन्, सति कार्यस्य साधके ।
खले कपोतिकान्यायात्, तत्करः स्यात्परोऽपि चेत् ।
गुणौ क्रिये वा युगपत् स्यातां यद्वा गुणक्रिये ।"
१/९, ११, १९; २/१२; ४/५; ७/६ ।

३५. सहोक्ति— "सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः ।
सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत् ।।"
३/६ ।

३६. संसृष्टि— "मिथुनोऽनपेक्षयैतेषां (अलङ्काराणां) स्थतिः संसृष्टिरुच्यते ।"
१/५, २; २/११, २४, २६; ३/२३; ४/४, ६, ७, १२; ५/६ ।

३७. स्मरण— "सदृशानुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते ।"
५/४ ।

३८. स्वभावोक्ति— "स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ।"
१/२७; २/१४, १६, २०, २१, २५, २९, ३०; ३/२, १६, ४/१, ४, २६ ।

परिशिष्ट (ग)

कतिपय नाटकीय पारिभाषिक शब्दों के लक्षण

नाटक— "नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पञ्चसन्धिसमन्वितम् ।
विलासद्धर्यादि गुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः ॥
सुखदुःखसमुद्भूतिर्नानारसनिरन्तरम् ।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः ।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ॥
एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा ।
अङ्गमन्ये रसा सर्वे कार्यं निर्वहणेऽद्भुतम् ॥
चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः ।
गोपुच्छाग्रसमग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ॥"
(साहित्यदर्पण ६/७–११)

अङ्क— "प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः ।
भवेदगूढशब्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः ॥
विच्छिन्नावान्तरैकार्थः किञ्चित्संलग्नबिन्दुकः ।
युक्तो न बहुभिः कार्यैबीजसंहृतिमान्न च ॥
नानाविधानसंयुक्तो नातिप्रचुरपद्यवान् ।
आवश्यकानां कार्याणामविरोधाद्विनिर्मितः ॥
नानेकदिननिर्वर्त्यकथया सम्प्रयोजितः ।
आसन्ननायकः पात्रैर्युतस्त्रिचतुरैर्यथा ॥
दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः ।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा ॥
दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद्व्रीडाकरञ्च यत् ।
शयनाधरपानादि नगराद्यवरोधनम् ॥

स्नानानुलेपने चैभिर्वर्जितो नातिविस्तरः ।
देवोपरिजनादीनाममात्यवणिजामपि ॥
प्रत्यक्षचित्रचरितैर्युक्तो भावरसोद्भवैः ।
अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्तितः ॥"

(साहित्यदर्पण, ६/१२–१६)

गर्भाङ्क— "अङ्कोदरप्रविष्टो यो रङ्गद्वारामुखादिमान् ।
अङ्कोऽपरः स गर्भाङ्कः सवीजः फलवानपि ॥"

(साहित्यदर्पण, ६/२०)

धीरोदात्त नायक— "अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्वः ।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ॥

(साहित्यदर्पण, ३/३२)

स्वीया नायिका— "विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया ।"

(साहित्यदर्पण, ३/५६)

मुग्धा नायिका— "प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा ।
कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ॥"

(साहित्यदर्पण, ३/५८)

पूर्वरङ्ग— "यन्नाटचवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपाशान्तये ।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः सः उच्यते ॥
प्रत्याहारादिकान्यङ्गायस्य भूयांसि यद्यपि ।
तथाऽप्यवश्यं कर्त्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ॥"

(साहित्यदर्पण, ६/२२–२३)

नान्दी— "आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥
मङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी ।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैस्त ॥

(साहित्यदर्पण, ६/२४-२५)

प्रस्तावना— "नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि स ॥"

(साहित्यदर्पण, ६/३१–३२)

प्रस्तावनाभेद— "उद्घात(त्य) कः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा ।
प्रवर्त्तकावलगिते पञ्च प्रस्तावनाभिदाः ।"

× × ×

यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते ।
तेन पात्रप्रवेशश्चेत् प्रयोगातिशयस्तदा ॥
कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रधृग् यत्र वर्णयेत् ।
तदाश्रयश्च पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवर्त्तकम् ॥
यत्रैकस्य समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ।
प्रयोगे खलु तज्ज्ञेयं नाम्नावलगितं बुधैः ॥"
(साहित्यदर्पण, ६/३४, ३६–३८)

पताकास्थानक— "यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते ।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ॥

अर्थोपक्षेपक— "अर्थोपक्षेपकाः पञ्च विष्कम्भकप्रवेशकौ ।
चूलिकाऽङ्कावतारोऽथ स्यादङ्कमुमित्यपि ॥ (सा० द०, ६/५४)

विष्कम्भक— "वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः ।
शुद्धः स्यात्स तु संकीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥
(साहित्यदर्पण, ६/५५–६५)

प्रवेशक— "प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥" (सा० द० ६/५७)

चूलिका— "अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका ।" (सा० द०, ६/५८)

अर्थप्रकृति— "बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ।
अर्थ प्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि ॥"

बीच— "अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति ।
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते ।

बिन्दु— "अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ।

पताका— व्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते ॥

प्रकरी— प्रासङ्गिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता ।

कार्य— अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः ।
समापनं तु यत्सिध्यै तत्कार्यमिति संमतम् ॥"
(साहित्यदर्पण, ६/६४–६६)

पञ्च कार्यावस्था— "अवस्था पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ॥
भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये ॥
प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः ।
उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः ।
अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिस्तु निश्चिता ।
साऽवस्था फलयोगः स्याद्यः समग्रफलोदयः ॥"
(साहित्यदर्पण, ७/६१-७३)

पञ्च सन्धि— "अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति ।"
मुखं प्रतिमुख गर्भो विमर्श उपसंहृतिः ।
इति पञ्चास्य भेदाः स्युः············ ॥
(साहित्यदर्पण, ६/७४–७५)

भारती वृत्ति— "भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः ।
तस्याः प्ररोचना वीथी तथा प्रहसनामुखे ।
अङ्गानि··· ॥" (साहित्यदर्पण, ६/२९–३०)

स्वगत— "अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम् ।"

प्रकाश— "सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात् ।"

अपवारित— "······तद्भवेदपवारितम्
रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाशते ।"

जनान्तिक— त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ।
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्यात्तज्जनान्ते जनान्तिकम् ।"
(साहित्यदर्पण, ५/१३७–२३६)

कञ्चुकी— "अन्तःपुरचरो राज्ञो विप्रो गुणगणान्वितः ।
उक्तिप्रत्युक्तिकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ।।" (साहित्यदर्पण)

परिशिष्ट (च)

सूक्तिसञ्चय*

(अ) वाक्य

	पृष्ठ सं०
१. अन्धतामिस्रा ह्यसुर्या नाम ते लोकास्तेभ्यः प्रतिविधीयन्ते य आत्मघातिनः ।	२९१
२. अपि ग्रावा रोदत्यपि दलति वज्रस्य हृदयम् ।	७१
३. अव्याहताऽन्तःप्रकाशा हि देवताः सत्वेषु ।	४८७
४. अहो ! अनवस्थितो भूतसन्निवेशः ।	१७१
५. आपातदुःसह स्नेहसंवेगः ।	४८७
६. एते हि मर्माच्छिदः संसारभावा, येभ्यो बीभत्समाना संत्यज्य सर्वान् कामानरण्ये विश्राम्यन्ति मनीषिणः ।	३२
७. कर्त्तव्यानि खलु दुखितैर्दुःख-निर्धारि (निर्वापि)–णानि ।	२३४
८. कियच्चिरं वा मेघान्तरेण पूर्णचन्द्रदर्शनम् ?	२६८
९. को नाम पाकाऽभिमुखस्य जन्तुर्द्वाराणि दैवस्य पिधातुमीष्टे ?	४५१
१०. गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ।	३०४ 306

*सूक्तियों के पाठान्तर पाद-टिप्पणियों में द्रष्टव्य हैं ।

(आ) श्लोक

अङ्क श्लोक संख्या

१. अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथप्येकं हि तत्प्राप्य (र्थ्यं) ते ॥ (१–३९)

२. अन्तःकरणतत्त्वस्य, दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात् ।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽप्ययमपत्यमपत्यमिति पठ्यते ॥ (३–१७)

३. अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया ।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्भूतानि सीव्यति ॥ (५–१७)

४. आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां, ये व्याहारास्तेषु मा संशयो भूत् ।
भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता, नैते वाचं विप्लुतार्थां वदन्ति ॥ (४–१८)

५. ऋषयो राक्षसीमाहुर्वाचमुन्मत्तदृप्तयोः ।
सा योनिः सर्ववैराणां, सा हि लोकस्य निष्कृतिः (निऋतिः) ॥ (५–२९)

६. एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्, भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयानविकारानम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ॥ (३–४७)

७. कामं (कामान्) दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीम्, कीर्ति सूते, सहृदो निष्प्रलान्ति ।
शुद्धां शान्तां मातरं मङ्गलानां धेनुं धीरा सूनृतां वाचमाहुः ॥ (४–३०)

८. चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरतः,
प्रवासे चाश्वासं न खलु न करोति प्रियजनः ।
जगज्जीर्णारण्यं भवति च कलत्रे ह्यु (प्युं) परते,
कुकूलानां राशौ तदनु हृदयं पच्यत इव ॥ (६–६८)

९. न किञ्चिदपि कुर्वाणः, सौख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं, यो हि यस्य प्रियो जनः ॥

१०. न तेजस्तेजस्वी प्रसृतमपरेषां विषहते,
स तस्य स्वो भावः, प्रकृतिनियतत्वादकृतकः ।
मयूखैरश्रान्तं तपति यदि देवो दिनकरः,
किमाग्नेयो ग्रावा निकृत इव तेजांसि वमति ॥ (६–१४)

११. पूरोत्पीडे तडागस्य, परीवाहः प्रतिक्रिया ।
शोकक्षोभे च हृदयं, प्रलापैरेव धार्यते ॥ (३–२९)

१२. प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः,
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः ।
पुरो वा पश्चाद्वा तदिदमविपर्यासितरसं,
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते ॥ (२–२)

१३. लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते ।
ऋषीणां पुनराद्यानां, वाचमर्थोऽनुधावति ॥ (१-१०)

१४. वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि, को नु विज्ञातुमर्हति ? (२-७)

१५. वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे,
न तु खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा ।
भवति हि पुनर्भूयान् भेदः फलं प्रति तद्यथा,
प्रभवति शुचिर्बिम्बग्राहे मणिर्न मृदादयः ॥ (२-४)

१६. व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते ।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकम्
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः ॥ (६-१२)

१७. सन्तानवाहीन्यपि मानुषाणाम्, दुःखानि सम्बन्धिवियोगजानि ।
दृष्टे जने प्रेयसि दुःसहानि, स्रोतःसहस्रैरिव संप्लवन्ते ॥ (४-८)

१८. सर्वथा व्यवहर्त्तव्यं, कुतो ह्यवचनीयता ?
यथा स्त्रीणां तथा वाचां, साधुत्वे दुर्जनो जनः ॥

१९. सुहृदिव प्रकटय्य सुखप्रदां, प्रथमेमकरसामनुकूलताम् ।
पुनरकाण्डविवर्तनदारुणः परिशिनष्टि विधिर्मनभो रुजम् ॥ (४-१५)

परिशिष्ट (ङ)

भवभूति-सम्बन्धित साहित्यिक प्रशस्तियाँ

(१) स्पष्टभावरसा चित्रैः पादन्यासैः प्रवर्तिता ।
नाटकेषु नटस्त्रीव भारती भवभूतिना ॥
(धनपालकृत 'तिलकमञ्जरी', प्रस्तावना, श्लोक ३०)

(२) भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी ।
रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति ॥' (क्षेमेन्द्रकृत 'सुवृत्ततिलक', ३/३३)

(३) 'भवभूतेः सम्बन्धाद्, भूधरभूरेव भारती भाति ।
एतत्कृतकारुण्ये, किमन्यथा रोदिति ग्रावा ?'
(गोवर्धनाचार्य, 'आर्यासप्तशती', १/३६)

(४) 'सुकविद्वितयं मन्ये, निखिलेऽपि महीतले ।
भवभूतिः शुकश्चायं, वाल्मीकिस्त्रितयोऽन्ययोः ॥" (भोजप्रबन्ध, १९१)

(५) 'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते ।' (व्याख्याकार घनश्याम के अनुसार)

(६) 'रत्नावलीपूर्वकमन्यदास्तामसीमभोगस्य वचोमयस्य ।
पयोधरस्येव हिमाद्रिजायाः परं विभूषां भवभूतिरेव ॥'
(जल्हणकृत 'सूक्तिमुक्तावली' में ऊद्धृत)

(७) 'भवभूतिमनादृत्य निर्वाणमतिना मया ।
मुरारिपदचिन्तायामिदमाधीयते मनः ॥'
('सूक्तिमुक्तावली' और शार्ङ्गधरपद्धति' में उद्धृत)

(८) 'मान्यो जगत्यां भवभूतिरार्यः सारस्वते वर्त्मनि सार्थवाहः ।
वाचं पताकामिव यस्य दृष्ट्वा, जनः कवीनामनुपृष्ठमेति ॥' (उदयसुन्दरीचम्पू)

(९) 'भवभूइजलहिणिग्गदकव्वामयरसकरणा इव फुरंति ।
जस्स विसेसा अज्ज वि वियडेसु कहाणिवेसेसु ॥'
(वाक्पतिराजकृत 'गौडवहो', ७९९)

(१०) 'बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा, ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम् ।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया, स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः ॥''
(राजशेखर—'बालरामायण', १/१६)

(११) 'कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते ।' (अज्ञात)

(१२) 'भव्यां यदि भवभूतिं तात कामयसे तदा । (अज्ञात)
भवभूतिप-दे चित्तमविलम्बं निवेशय ॥'

(१३) 'कवयः कालिदासाद्या भवभूतिर्महाकविः ।' (अज्ञात)

(१४) 'सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते ?
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम् ।
विशुद्धोक्तिं शूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिरः,
तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते ॥' ('सुदुक्तिचरितामृत' में उद्धृत)

परिशिष्ट (च)

उत्तररामचरित-उद्धरण-सूची*

(अ) 'उत्तररामचरित' में अन्य ग्रन्थों के उद्धरण—

उत्तर०	उपजीव्य ग्रन्थ
(१) अङ्क २, पद्य १२ (१ पंक्ति)	ऋग्वेद, ९/११३/११
(२) अङ्क ३, पद्य १८ (४ पंक्ति)	ऋग्वेद, १०/७१/२
['भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता']	['भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि']

(*) विस्तृत विवरण के लिये संकेतित श्लोकों की टिप्पणियाँ द्रष्टव्य हैं। अन्य ग्रन्थों से उद्धृत अंशों का उल्लेख साम्य और तादूप्य—दोनों के आधार पर किया गया है ।

(३) अङ्क ४, (विष्कम्भक) ['समांसो मधुपर्कः']	एक गृह्यसूत्र के आधार पर
(४) अङ्क २, पद्य ५	रामायण, १/२/१५
(५) अङ्क ६, पद्य १५ (१ पंक्ति)	" ४/२६/३५
(६) अङ्क ६, पद्य ३०, ३१	" १/७७/२६–२७
(७) अङ्क ६, पद्य ३६	" २/६५/५, ६
(८) अङ्क ५, पद्य ३० (१ पंक्ति) ('कामान् दुग्धे···')	निरुक्त, १/२०
(९) अङ्क ७, ('साक्षात्कृतधर्माणो ऋषयः')	१/६/५

(आ) 'उत्तररामचरित' से अन्य ग्रन्थों में उद्धरण—

उद्धर्ता ग्रन्थ	उत्तररामचरित
(१) 'औचित्य-विचार-चर्चा	अङ्क २/२७
	" ४/२७, २८, २९
	" ५/३४
(२) अलङ्कार-कौस्तुभ	" ३/२६
	" ६/१२
(३) अलङ्कारशेखर	" १/६
(४) दशरूपक	" १/२४, २६, २७, ३५, ३७
	अङ्क २/(नेपथ्ये) (स्वागतं तपोधनायाः)
	" ३/२६/३७
	" ५/३४
	" ६/१९, ३४
(५) कुवलयानन्द	" २/२७
(६) कवीन्द्ररचनासमुच्चय	" १/२७
(७) काव्यालङ्कारवृत्ति	" १/३८
(८) रसगङ्गाधर	" २/२७
(९) रसरत्नहार	" १/२४, ३५
(१०) शार्ङ्गधरपद्धति	" २/४, ७
(११) सरस्वतीकण्ठाभरण	" १/१, ९ २३, ३८, ३९
	" २/१०, २७
	" ३/५, ४०, ४५
	" ४/१९, २०

" ५/१७, २४, ३४
" ६/११, १८, २६
(१२) साहित्यदर्पण " ३/५
" ६/१६

परिशिष्ट (छ)

भवभूति–विरचित 'महावीरचरित', मालतीमाधव' एवं 'उत्तररामचरित' में आये समान श्लोक, पाद एवं पादांशों का सङ्कलन

(१)

रामः— किं त्वनुष्ठाननित्यत्वं, स्वातन्त्र्यमपकर्षति ।
सङ्कटा ह्याहिताग्नीनां, प्रत्यवायैर्गृहस्थता ॥ (उत्तरराम०, १/८)

विश्वामित्रः—किं त्वनुष्ठाननित्यत्वं, स्वातन्त्र्यमपकर्षति ।
सङ्कटा ह्याहिताग्नीनां प्रत्यवायैर्गृहस्थता ॥ (महावीर०, ४/३३)

(२)

रामः— ब्रह्मादयो ब्रह्महिताय तप्त्वा, परस्सहस्रं शरदां तपांसि ।
एतान्यदर्शन्गुरवः पुराणा, स्वान्येव तेजांसि तपोमयानि ॥
(उत्तरराम०, १/१५)

रामः— ब्रह्मादयो ब्रह्महिताय तत्वा, परःसहस्रं शरदस्तपांति ।
एतान्यदर्शन्गुरवः पुराणाः, स्वान्येव तेजांसि तपोमयानि ॥
(उत्तरराम०, १/१५)

विश्वामित्रः—ब्रह्मादयो ब्रह्माहिताय तत्वा, परस्सहस्रं शरदस्तपांसि ।
एतान्यदर्शन्गुरवः पुराणाः, स्वान्येव तेजांसि तपोमयानि ॥
(महावीर०, १/१७)

(३)

रामः— जनकानां रघूणां च, सम्बन्धः कस्य न प्रियः ?
यत्र दाता गृहीता च, स्वयं कुशिकनन्दनः ॥ (उत्तरराम०, १/१७)

राजा— जनकानां रघूणां च, सम्बन्धः कस्य न प्रियः ।
यत्र दाता गृहीता च, कल्याणप्रतिभूर्भवान् ।। (महावीर०, १/५०)

(४)

लक्ष्मणः— पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीर्यद्वृद्धेक्ष्वाकुभिर्धृतम् ।
धृतं बाल्ये तदार्येण, पुण्यमारण्यकव्रतम् ।। (उत्तरराम०, १/३२)

जनकः— पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकैर्यद्वृद्धेक्ष्वाकुभिर्धृतम् ।
त्वया तत्क्षीरकण्ठेन, प्राप्तमारण्यकव्रतम् ।। (महावीर० ४/५१)

(५)

रामः— एतस्मिन्मदकलमल्लिकाक्षपक्षाव्याधूतस्फुरदुरुदण्डपुण्डरीकाः ।
वाष्पाम्भःपरिपतनोद्गमान्तराले, संदृष्टाः कुवलयिनो मया विभागाः ।।
(उत्तरराम०, १/३१)

मकरन्द— एतस्मिन्मदकलमल्लिकाक्षपक्षाव्याधूतस्फुरदुरुण्डपुण्डरीकाः ।
वाष्पाम्भःपरिपतनोद्गमान्तराले, दृश्यन्तामविरहितश्रियो विभागाः ।।
(मालतीमाधव, ९/१४)

(६)

रामः— उत्पत्तिपरिपूतायाः, किमस्याः पावनान्तरैः ?
तीर्थोदकं च वह्निश्च, नान्यतः शुद्धिमर्हतः ।। (उत्तरराम०, १/१३)

दशरथः— निसर्गतः पवित्रस्य, किमन्यत् पावनं तव ?
तीर्थोदकं च वह्निश्च, नान्यतः शुद्धिमर्हतः ।। (महावीर०)

(७)

माधवः— नैसर्गिकी सुरभिणीः कुमुमस्य सिद्धा,
मूर्ध्नि स्थितिर्न मुसलैर्बत कुट्टनानि । (मालतीमाधव, ९/५१)

रामः— नैसर्गिकी सुरभिणः कुसुमस्य सिद्धा,
मूर्ध्नि स्थितिर्न चरणैरवताडनानि । (उत्तरराम०, १/१६)

(८)

लक्ष्मणः— सम्बन्धिनो वसिष्ठादीनेष तातस्तवार्चति ।
गौतमश्च शतानन्दो, जनकानां पुरोहितः ।। (उत्तरराम०, १/१६)

विश्वामित्रः— अपि प्रवृत्तयज्ञोऽसौ, विदेहाधिपतिः सुखी ?
गौतमश्च शतानन्दो, जनकानां पुरोहितः ।। (महावीर०, १/१९)

(९)

रामः— जीवयन्निव ससाध्वसश्रमस्वेदबिन्दुरधिकण्ठमर्प्यताम् ।
बाहुरैन्दवमयूखचुम्बितस्यन्दिचन्द्रमणिहारविभ्रमः ।।
(उत्तरराम०, १/३४)

माधवः— जीवयन्निव समूढसाध्वसस्वेदबिन्दुरधिकण्ठमर्प्यताम्।
बाहुरैन्दवमयूखचुम्बितस्यन्दिचन्द्रमणिहारविभ्रमः ॥
(मालतीमाधव, ८/१३)

(१०)

रामः— म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि, सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहकानि ॥
एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि ! कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि ॥
(उत्तरराम०, १।३६)

माधवः— म्लानस्य जीवनकुसुमस्य विकासनानि, सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि ।
आनन्दनानि हृदयैकरसायनानि, दिष्टया मयाप्यधिगतानि वचोऽमृतानि ॥
(मालतीमाधव, ६/८)

(११)

रामः— जनकानां रघूणां च, यत् कृत्स्नं गोत्रमङ्गलम् ।
यां देवयजने पुण्ये, पुण्यशीलामजीजनः ॥ (उत्तरराम०, १/५१)

रामः— जनकानां रघूणां च, यत्कृत्स्नं गोत्रमङ्गलम् ।
तत्राप्यकरुणे पापे, वृथा वः करुणा मयि ॥ (उत्तरराम०, ६/४२)

(१२)

रामः— यस्य वीर्येण कृतिनो वयं च भुवनानि च । (उत्तरराम०, १/३२)

वसिष्ठः— यत्कृतास्तेन कृतिनो वयं च भुवनानि च । (महावीर०, ४/१३)

(१३)

रामः— विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च सम्मीलयति च । (उत्तरराम०, १/३५)

माधवः— विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च तनुते ॥ (मालतीमाधव०, १/३१)

(१४)

शम्बूकः— चतुर्दश सहस्राणि, चतुर्दश च राक्षसाः ।
त्रयश्च दूषणखरत्रिमूर्धानो रणे हताः ॥ (उत्तरराम०, २/१५)

जटायुः— चतुर्दश सहस्राणि, चतुर्दश च राक्षसाः ।
त्रयश्च दूषणखरत्रिमूर्धानो रणे हताः ॥ (महावीर, ५/१३)

(१५)

रामः— न किञ्चिदपि कुर्वाणः, सौख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं, यो हि यस्य प्रियो जनः ॥ (उत्तरराम०, २/१९)

विद्याधरः— न किञ्चिदपि कुर्वाणः, सौख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं, यो हि यस्य प्रियो जनः ॥ (उत्तरराम०, ६/५)

(१६)

शम्बूकः— इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरमुक्तप्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति ।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्जस्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः ॥

अपि च—

दधति कुहरभाजामत्र भल्लूकयूनामनुरसितगुरूणि स्त्यानमम्बूकृतानि ।
शिशिरकटुकषायः स्त्यायते सल्लकीनामिभदलितविकर्णग्रन्थिनिष्यन्दगन्धः।।
(उत्तरराम०, २/२०, २१)

श्रमणा:— इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरमुक्तप्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति ।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्जस्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः ।।

अपि च—

दधति कुहरभाजामत्र भल्लूकयूनामनुरसितगुरुणि स्त्यानमम्बूकृतानि ।
शिशिरकटुकषायः स्त्यायते सल्लकीनामिभदलितविशीर्णग्रन्थिनिष्यन्दगन्धः।।
(महावीर०, ५/४०, ४१)

माधवः— फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज-
स्खलनतनुतरङ्गामुत्तरेण स्रवन्तीम् ।। (मालतीमाधव, ६/२४)

दामिनी:— दधति कुहरभाजामत्र भल्लूकयूना-
मनुरसितगुरुणि स्त्यानमम्बूकृतानि ।
शिशिरकटुकषायः स्त्यायते सल्लकीना-
मिभदलितविकर्णग्रन्थिनिष्यन्दगन्धः ।। (मालतीमाधव, ६/६)

(१७)

शम्बूकः— गुञ्जत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटाघुत्कारवत्कीचक-
स्तम्बाडम्बरमूकमौकुलिकुलः क्रौञ्चाभिधोऽयं गिरिः ।
(उत्तरराम०, २/१६)

माधवः— गुञ्जत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटाघूत्कारसंवेलित-
क्रन्दत्फेरवचण्डधात्कृतिभृतप्राग्भारभीमैस्तटैः । (मालतीमाधव, ५/१६)

(१८)

तमसा:— परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं, दधती विलोलकबरीकमाननम् ।
(उत्तरराम०, ३/४)

कामन्दकी:— परिपाण्डुपांसुलकपोलमाननम्, दधती मनोहपतरत्वमागता ।
(मालतीमाधव, २/४)

(१६)

रामः— लीलोत्खातमृणालकाण्डकवलच्छेदेषु सम्पादिताः,
पुष्यत्पुष्करवासितस्य पयसो गण्डूशसंक्रान्तयः ।
सेकः शीकरिणा करेण विहितः कामं विरामे पुन-
र्यत्स्नेहादनरालनालनलिनीपत्रातपत्रं धृतम् ।।
(उत्तरराम०; ३/१६)

माधवः— लीलोत्खातमृणालकाण्डकवलच्छेदेसु सम्पादिताः,
पुष्यत्पुष्करवासितस्य पयसो गण्डूषसंक्रान्तः ।
केकः शीकरिणा करेण विहितः कामं विरामे पुन-
र्न स्नेहादनरालनालनलिनीपत्रातपत्रं धृतम् ॥
(मालतीमाधव, ६/३४)

(२०)

रामः— त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे । (उत्तरराम०, ३/२६)
मकरन्दः— या कौमुदी नयनयोर्भवतः सुजला । (मालतीमाधव, १/३५)

(२१)

रामः— दलित हृदयं शोकोद्वेगाद्विधा तु न भिद्यते,
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम् ।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्,
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तनि जीवितम् ॥
(उत्तरराम०, ३/३१)

माधवः— दलित हृदयं गाढोद्वेगं द्विधा तु न भिद्यते,
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम् ।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्,
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम् ॥
(मालतीमाधव, ६/१२)

रामः— हा हा देवि ! स्फुटति हृदयं, ध्वंसते देहबन्धः,
शून्यं मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि ।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा,
विष्वङ्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि ?
(उत्तरराम०, ३/३८)

मकरन्दः— मातर्मातर्दलति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः,
शून्यं मन्ये जगदविकलज्वालमन्तर्ज्वलामि ।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा,
विष्वङ्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि ।
(मालतीमाधव, ६/२०)

(२३)

तमसावासन्त्यौ—तव वितरतु भद्रं भूयसे मङ्गलाय । (उत्तरराम० ६/४८)
सूत्रधारः— भद्रं भद्रं वितरं भगवन्भूयसे मङ्गलाय । (मालतीमाधव, १/३).

(२४)

जनकः— अनियतरुदितस्मितं विराजत्कतिपयकोमलदन्तकुङ्मलाग्रम् ।
वदनकमलकं शिशोः स्मरामि, स्खलदसमञ्जसमञ्जुजल्पितं ते ॥
(उत्तरराम०, ४/४)

कामन्दकी:— अनियतरुदितस्मितं विराजत्कतिपयकोमलदन्तकुङ्मलाग्रम् ।
वदनकमलकं शिशोः स्मरामि, स्खलदसमञ्जसमुग्धजल्पितं ते ॥
(मालतीमाधव, १०/२)

(२५)

अरुन्धती:— याज्ञवल्क्यो मुनिर्यस्मै ब्रह्मपारायणं जगौ ॥ (उत्तरराम०, ४/९)
याज्ञवल्क्यो मुनिर्यस्मै ब्रह्मपारायणं जगौ । (महावीर०, १/१४)

(२६)

कञ्चुकी:— सुहृदिव प्रकटय्य सुखप्रदां, प्रथममेकरसामनुकूलताम् ।
पुनरकाण्डविवर्त्तनदारुणः परिशिनष्टि विधिर्मनसो रुजम् ॥
(उत्तरराम०, ४/१५)

माधवः— सुहृदिव प्रकटय्य सुखप्रदां, प्रथममेकरसामनुकूलताम् ।
पुनरकाण्डविवर्त्तनदारुणः, प्रविशिनष्टि विधिर्मनसो रुजम् ॥
(मालतीमाधव, ४/७)

(२७)

जनकः— चूडाचुम्बितकङ्कपत्रमभितस्तूणीद्वयं पृष्ठतो
भस्मस्तोकपवित्रलाञ्छनमुरो धत्ते त्वचं रौरवीम् ।
मौर्व्या मेखलया नियन्त्रितमधो वासश्च माञ्जिष्ठकं
पाणौ कार्मुकमक्षसूत्रवलयं दण्डोऽपरः पैप्पलः ॥
(उत्तरराम०, ४/२०)

राजा:— चूडाचुम्बितकङ्कपत्रमभितस्तूणीद्वयं पृष्ठतो
भस्मस्तोकपवित्रलाञ्छनमुरो धत्ते त्वचं रौरवीम् ।
मौर्व्या मेखलया नियन्त्रितमधो वासश्च माञ्जिष्ठकं
पाणौ कार्मकमक्षसूत्रवलयं दण्डोऽपरः पैप्पलः ॥
(महावीर०, १/१८)

(२८)

लवः— ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्रमुद्भूरिघोरघनघर्घरघोषमेतद् ।
ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्रजृम्भाविडम्बिविकटोदरमस्तु चापम् ॥
(उत्तरराम०, ४/२९)

जनकः— ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्रमुद्गारिघोरघनघर्घरघोषमेतत् ।
ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्रजृम्भाविडम्बिविकटोदरमस्तु चापम् ॥
(महावीर०, ३/२६)

(२९)

चन्द्रकेतुः— व्यतिकर इव भीमस्तामसो वैद्युतश्च,
प्रणिहितमपि चक्षुर्ग्रस्तमुक्तं हिनस्ति । (उत्तरराम०, ५/१३)

मकरन्दः— व्यतिकर इव भीमस्तामसो वैद्युतश्च,
क्षणमुपहतचक्षुर्वृत्तिरुद्भूय शान्तः । (मालतीमाधव, ९/५४)

कामन्दकी:— व्यतिकर इव भीमस्तामसो वैद्युतश्च,
क्षणमुपहतचक्षुर्वृत्तिरुद्भूय शान्तः । (मालतीमाधव, १०/८)

(३०)

रामः— त्रातुं लोकानिव परिणत कायवानस्त्रवेदः,
छात्रो धर्मः श्रित इव तनुं ब्रह्मकोशस्य गुप्त्यै ।
सामर्थ्यानामिव समुदयः सञ्चयो वा गुणाना-
-माविर्भूय स्थित इव जगत्पुण्यनिर्माणराशिः ॥ (उत्तरराम०, ६/९)

जामदग्न्यः— त्रातुं लोकानिव परिणतः कायवानस्त्रवेदः,
छात्रो धर्मः श्रित इव तनुं ब्रह्मकोशस्य गुप्त्यै ।
सामर्थ्यानामिव समुदाय सञ्चयो वा गुणाम्
प्रादुर्भूय स्थित इव जगत्पुण्यनिर्माणराशिः । (महावीर०, २/४१)

(३१)

रामः— व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुर्न खलु बहिरुपाधीन्प्रीतयः संश्रयन्ते ।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं, द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः ॥
(उत्तरराम०, ६/१२)

मकरन्दः— व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुर्न खलु बहिरुपाधीन्प्रीतयः संश्रयन्ते ।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं, द्रवति च हिमश्मावद्गते चन्द्रकान्तः ॥
(मालतीमाधव, १/२७)

(३२)

रामः— वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव । (उत्तरराम०, ६/१९)
प्रचण्ड इव पिण्डतामुपगतश्च वीरो रसः । (महावीर०, २/२३)

(३३)

रामः— एह्येह्यायुष्मन् !
अमृताध्मातजीमूतस्निग्धसंहननस्य ते ।
परिष्वङ्गाय वात्सल्यादयमुत्कण्ठते जनः ॥ (उत्त० ६/२१)

जामदग्न्यः— अरे ! किमुद्भ्रान्तोऽसि !
अमृताध्मातजीमूतस्निग्धसंहननस्य ते ।
कुठारः कम्बुकण्ठस्य कष्टं कण्ठे पतिष्यति ॥ (महावीर०, २/४६)

(३४)

भागीरथीः— को नाम पाकाभिमुखस्य जन्तु-
र्द्वाराणि दैवस्य पिधातुमीष्टे ? (उत्तरराम०, ७/४)

माधवः— को नाम पाकाभिमुखस्य जन्तो-
र्द्वाराणि दैवस्य पिधातुमीष्टे ? (मालतीमाधव १०/१३)

(३५)

देव्यौ— नमो वः परमास्तेभ्यो धन्याः स्मो व परिग्रहात् ।
काले ध्यातैरुपथेयं वत्सयोर्भद्रयस्तु वः ॥ (उत्तरराम०, ७/११)

नेपथ्ये— ध्यातैर्ध्यातः सन्निधेयं भवद्भिः
स्वं स्वं स्थानं यातं भूयं नमो वः ॥ (महावीर०, १/५०)

परिशिष्ट (ज)

अकारादिक्रम से श्लोक सूची

श्लोकः	अङ्काङ्कः	श्लोकाङ्कः
मन्थादिव क्षुभ्यति	७	१७
महिम्नामेतस्मिन्विनय-	४	२१
मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं	२	५
मुनिजनशिशुरेकः	५	३
मेघमालेव यश्चायं	२	२४
म्लानस्य जीवकुसुमस्य	१	३६
य एव मे जन पूर्वं	४	७
यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि	३	८
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च	२	१२
यत्सावित्रैर्दीपितं	१	४२
व्यतिकर इव भीमः	५	१३
व्यतिषजति पदार्थान्	५	१२
व्यर्थं यत्र कपीन्द्रसख्यम्	३	४५
शम्बूको नाम वृषलः	२	८
शान्तं महापुरुषसंगदितं	६	७
शिशुर्वा शिष्या वा	४	११
शुक्लाच्छदन्तच्छवि-	६	२७
शैशवात्प्रभृति पोषितां	१	४५
श्रमाम्बुशिशिरीभव-	६	३७
स एष ते वल्लभशाभि-	२	६
संख्यातीतैर्द्विरदतुरग-	५	१२
सतां केनापि कार्येण	१	४१
सन्तानवाहीन्यपि	४	८
सम्बन्धिनो वसिष्ठादीन्	१	१६
सम्बन्ध स्पृहणीयता	६	४०
समयः स वर्त्तत इवैष	१	१८
समाश्वसिहि कल्याणि	७	३
स राजा तत्सौख्यं स च	४	११
सर्वथा व्यवहर्तव्यं	१	५
स सम्बन्धी श्लाघ्यः	४	१३
सस्वेदरामाञ्चितकम्पि-	३	४२
सिद्ध ह्येतद्वाचि वीर्यं	५	[illegible]
वसिष्ठो वाल्मीकिर्दशरथ[illegible]	[illegible]	[illegible]
वितरति गुरुः प्राज्ञे	[illegible]	[illegible]
विद्याकल्पेन मरुता	[illegible]	[illegible]
विना सीतादेव्या कि[illegible]	६	[illegible]
विनिर्वतित एष	५	[illegible]
विनिश्चेतुं शक्यो न	१	३५
विरोधी विश्रान्तः	३	११
विलुलितमतिपूरैर्वाष्प-	३	२३
विश्वंभरा भगवती	१	६
विस्रम्भादुरसि निपत्य	१	४६
वीचीवातैः शीकरक्षोद-	३	२
वृद्धास्ते न विचारणीय-	५	३४
वेलोल्लोलक्षुभिकरुणो	३	३६
विश्वंभरात्मजा देवी	७	२
सीतादेव्या स्वकरकलितैः	३	६
सुहृदिव प्रकटय्य	५	१५
सैनिकानां प्रमाथेन	५	३६
सोढश्चिचरं राक्षसमध्यवास	४	४
सोऽयं शैल ककुभ-	१	२३
स्निग्धश्यामाः क्वचिपद-	२	१४
स्नेहं दयां च सौख्यं च	१	१२
स्नेहात्सभाजयितुमेत्य	१	७
स्पर्शः पुरा परिचितो	३	१२
स्मरसि सूतनु तस्मिन्	१	२६
हा हा देवि स्फुटति	३	३८
हा हा धिक्परगृहवास-	१	४०
हृदि नित्यानुषक्तेन	४	२